महावीर निर्वाण विशेषांक

त्रैमासिक शोध पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष २८ | वीर निर्वाण सम्वत् २५०१ | १९७५

★

★

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर

२१, दरियागंज,

दिल्ली

मूल्य : १० रुपए

भगवान श्री बाहुबलि
गोम्मटेश

जैननगर, फिरोजाबाद
में
प्रतिष्ठार्थ

ीर्थंकर महावीर

[फोटो : श्री !

सम्पादकीय

महाश्रमण तीर्थंकर महावीर

विश्व-इतिहास में ईसा-पूर्व छठी शताब्दी का काल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। अनेक देशों में आध्यात्मिक व्यग्रता तथा बौद्धिक विक्षोभ के चिह्न दृष्टिगोचर हो रहे थे। भारत की स्थिति भी इस काल में अत्यन्त दयनीय थी। चारों ओर हिंसा, अनाचार, शोषण एवं कर्मकाण्ड का ताण्डव-नृत्य हो रहा था। वाणी-रहित दीन पशुओं की बलि देकर यज्ञादि धार्मिक कृत्य सम्पन्न किए जाते थे। शूद्र एवं नारी की स्थिति तो पशु से भी हीन तथा दयनीय हो चुकी थी। अहम्मन्य पण्डित विविध प्रकार के खण्डन-मण्डन से व्याप्त वितण्डावाद में व्यस्त थे तथा इतर सिद्धान्तों को हीन घोषित करके अपने ही दृष्टिकोण को श्रेष्ठ एवं सर्वमान्य प्रतिपादित कर रहे थे। सबसे बड़ी विडम्बना यह थी कि अधर्म, धर्म का तथा पाप, पुण्य का परिधान पहिन कर खड़ा हो गया था। ऐसी विषम परिस्थितियों में इस अनाचार का सफल विरोध किसी साधारण 'वीर' के लिए सम्भव न था। इसके लिए तो एक ऐसे 'महावीर' की आवश्यकता थी जो आत्म-बल द्वारा जन-जन के कल्याण हेतु अत्याचार का निराकरण कर सके तथा भटके हुए दुःख-ग्रस्त प्राणियों को सन्मार्ग प्रदर्शित कर उनको दुःखों से मुक्ति दिला सके।

युग की इसी आवश्यकता के समनुरूप वैशाली के एक सन्निवेश कुण्डग्राम में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के पुनीत दिवस को भगवान् महावीर का जन्म हुआ। समस्त सुख-साधनों से सम्पन्न क्षत्रिय राजकुमार होकर भी वे भोग-विलास में आसक्त नहीं हुए और ३० वर्ष की अवस्था में सभी राज्य-वैभव त्याग कर उन्होंने वीतराग प्रव्रज्या ग्रहण की। लगभग १२ वर्षों तक तीव्र तप-साधना करके तथा घोर उपसर्गों को सहन करके केवलज्ञान प्राप्त किया। सर्वज्ञ होकर उन्होंने अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, स्याद्वाद आदि सिद्धान्तो का प्रचार करके, सभी प्राणियों का कल्याण किया। सर्वतोमुखी क्रान्ति के सूत्रधार महावीर ने लोक-भाषा को अपने उपदेशों का माध्यम बना कर पण्डितों के भाषाभिमान का निराकरण किया। ७२ वर्ष की आयु तक प्राणिमात्र को दिव्य ध्वनि का रस-पान करा कर भगवान महावीर ने कार्तिक अमावस्या को पावापुरी में निर्वाण-लाभ किया।

ऐसे क्रान्तिकारी युग-पुरुष महाश्रमण तीर्थंकर महावीर की २५००वी निर्वाण-तिथि की पावन वेला में महावीर-परिनिर्वाण-वर्ष का आयोजन महती धर्म-प्रभावना तथा आत्मोन्नति का पुनीत अवसर है। इस उपलक्ष में जितने भी धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन हो, वे अल्प ही हैं। भगवान् महावीर के प्रति सच्ची श्रद्धा तभी व्यक्त हो सकेगी, जब हम आदर्श एवं व्यवहार में समता लाकर उनके आदर्शों को अपने जीवन में चरितार्थ कर सकें।

इस पुनीत पर्व पर 'अनेकान्त' का यह महावीर-निर्वाण-विशेषांक माननीय विद्वानों तथा जिज्ञासु पाठकों के कर-कमलों में सादर समर्पित है। भगवान् महावीर के जीवन दर्शन एवं सिद्धान्त, श्रमण संस्कृति और परम्परा, जैन दर्शन और साहित्य तथा जैन पुरातत्व, इतिहास, कला, स्थापत्य, ज्योतिष आदि विविध विषयों पर बिभिन्न अधिकारी विद्वानों के शोधपूर्ण लेखों से सुसज्जित करके इस विशेषांक को सर्वाङ्ग-सम्पन्न बनाने का हमारा प्रयास कितना सफल हुआ है इसका निर्णय तो सुविज्ञ पाठक ही कर सकेंगे। हम तो केवल त्रुटियों के लिए क्षमार्थी हैं।

प्रस्तुत विशेषांक के लिए हमें जिन विद्वान् लेखकों का सहयोग प्राप्त हुआ है, उसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। आशा है कि भविष्य में भी हमें इसी प्रकार उनका सहयोग एवं आशीर्वाद प्राप्त होता रहेगा।

—सम्पादक

चित्र परिचय

आवरण मुखपृष्ठ :

प्रथम जैन तीर्थंकर सम्राट् ऋषभदेव के द्वितीय पुत्र तथा सम्राट् भरत चक्रवर्ती के भ्राता, महाप्रतापी, दृढ़ तपस्वी एवं महायोगी महासत्व श्री बाहुबलि गोम्मटेश की मनोज्ञ ४५ फुट ऊंची मूर्ति। यह मूर्ति सेठ छदामी लाल जैन ट्रस्ट, जैन नगर, फिरोजाबाद द्वारा मंगलापाड़, कारकल (कर्नाटक) में, राष्ट्रपति द्वारा १९६१ में पुरस्कृत प्रसिद्ध शिल्पी श्री रेन्जाल गोपाल शेणै से उत्कीर्ण कराई गई है।

मूर्ति विवरण : अखण्ड शिला की लम्बाई ४५ फुट तथा चौड़ाई १२ फुट। मूर्ति की लम्बाई (आपाद-मस्तक) ३९½ फुट। मूर्ति का भार १८० टन। शिल्पकार्य : प्रारम्भ १२-६-१९७३; पूर्ण २०-२-१९७५।

इस मूर्ति की प्रतिष्ठा जैन नगर, फिरोजाबाद मे फरवरी १९७६ में होने की सम्भावना है। उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्द जी ने सेठ छदामी लाल जी को इस महत्कार्य के लिए 'आधुनिक चामुण्डराय' की उपाधि से विभूषित किया है। इस सम्पूर्ण कार्य में श्री रत्नत्रय धारी जैन एवं श्री विमल कुमार जैन दोनो ट्रस्टियों का विशेषतया अनुपम योगदान रहा है।

आवरण चतुर्थ पृष्ठ :

श्री महावीर जिन मन्दिर, जैन नगर, फिरोजाबाद (श्री छदामी लाल जैन ट्रस्ट द्वारा निर्मित)। मकराना धवल पाषाण (संगमरमर) निर्मित इस भव्य मन्दिर की स्थापना तथा भगवान महावीर की मूर्ति की प्रतिष्ठा (पंच कल्याणक) सन् १९६१ में हुई थी। ट्रस्ट के आदर्श संकल्पानुसार मन्दिर में केवल एक ही मूर्ति—भगवान महावीर की लगभग १० फुट ऊंची पद्मासन मूर्ति—विराजमान है। मन्दिर चारों ओर से उदासीन आश्रम, कान्जी पुस्तकालय, अतिथि-गृह, प्रवचन भवन, संग्रहालय एवं सुन्दर सरोवर से परिवृत्त है।

इसी मन्दिर के पीछे और संग्रहालय के सामने भगवान श्री बाहुबलि की उक्त सुविशाल खड्गासन मूर्ति की स्थापना की जाएगी।

वीर सेवा मन्दिर

'वीर सेवा मन्दिर सोसाइटी' का वार्षिक अधिवेशन २६ सितम्बर, **१९७५** को हुआ। नियमावली की धारा ६(१) के अन्तर्गत कार्यकारिणी समिति के एक तिहाई सदस्यों को अवकाश प्राप्त करना था। अतः लाटरी के आधार पर सर्व श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन, श्यामलाल जैन ठेकेदार, बाबूलाल जैन (श्रीमती) जयवन्ती देवी जैन, महेन्द्र सेन जैनी, शीलचन्द जैन तथा लक्ष्मीचन्द जैन ने अवकाश प्राप्त किया।

अधिवेशन मे इन सातों सदस्यों की सर्व सम्मति से पुनः कार्यकारिणी समिति का सदस्य निर्वाचित किया गया।

तत्पश्चात् १ अक्तूबर १९७५ को नवनिर्मित कार्यकारिणी समिति की बैठक मे निम्नलिखित पदाधिकारी भी सर्वसम्मति से पुनः निर्वाचित किए गए :—

श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन …… अध्यक्ष
श्री श्यामलाल जैन ठेकेदार ……… उपाध्यक्ष
श्री महेन्द्रसेन जैनी …………… महासचिव

—सचिव

'अनेकान्त' के सम्बन्ध में तथ्य सम्बन्धी घोषणा

प्रकाशन-स्थान — वीर सेवा मन्दिर,
२१, दरियागज, दिल्ली-६
प्रकाशन अवधि - त्रैमासिक
मुद्रक-प्रकाशक – वीर सेवा मन्दिर के निमित्त
श्री ओमप्रकाश जैन
राष्ट्रिकता — भारतीय
पता — २३, दरियागंज, दिल्ली-६
सम्पादक —श्री गोकुल प्रसाद जैन
राष्ट्रिकता —भारतीय
पता —३, रामनगर, नई दिल्ली-५५
स्वामित्व —वीर सेवा मन्दिर,
२१, दरियागज, दिल्ली-६

मैं, ओमप्रकाश जैन, एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

ओमप्रकाश जैन
प्रकाशक

विषयानुक्रमणिका

प्रारम्भिका

भगवान महावीर : उनका युग और जीवन-दर्शन

श्रमण संस्कृति और परम्परा

जैन दर्शन एवं न्याय

वार्षिक मूल्य ६) रुपये
महावीर निर्वाण विशेषांक का मूल्य
१०) रुपए

जो सदस्य इस विशेषांक से अनेकान्त के ग्राहक बनेंगे, उन्हें यह विशेषांक आधे मूल्य में दिया जाएगा।

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

महावीर निर्वाण विशेषांक

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर-निर्वाण संवत् २५०१, वि० सं० २०३२

श्री महावीर-स्तवनम्

तिहुवण-भवणप्पसरिय-पच्चक्खवबोह-किरण-परिवेढो ।
उइओ वि अणत्थवणो अरहंत-दिवायरो जयउ ॥

—महाबन्ध

अर्थ--अर्हत् (अर्हन्त) भगवान् रूपी उस सूर्य की जय हो, जो तीन लोक रूपी भवन में प्रसृत ज्ञान-किरणों से व्याप्त हैं तथा जो उदित हुए भी अस्त नहीं होते।

सो जयइ जस्स केवलणाणुज्जलदप्पणम्मि लोयालोयं ।
पुढ पदिबिंबं दीसइ वियसिय सयवत्तगब्भगउरो वीरो ॥

—कसायपाहुड (जयधवल)

अर्थ—जिसके केवलज्ञानरूपी उज्ज्वल दर्पण में लोक और अलोक विशद रूप से प्रतिबिम्ब के समान दिखाई देते हैं और जो विकसित कमल के गर्भ के समान समुज्ज्वल तथा सोनेके समान पीतवर्ण हैं, उन भगवान् महावीर की जय हो।

जयइ जगजीव जोणी, विहाण ओ जगगुरु जगाणन्दो ।
जगनाहो जगबन्धु, जयइ जगपियामहा भगवं ॥
जयइ सुयाणयभवो, तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ ।
जयइ गुरुलोयाणं, जयइ महप्पा महावीरो ॥

अर्थ—जगत् के सम्पूर्ण चराचर जीवों के ज्ञाता तथा जगत् के गुरु, नाथ, बन्धु और आनन्द-रूप पितामह भगवान् महावीर की जय हो, जय हो। द्वादशांग सूत्रों के जन्म-दाता, अन्तिम तीर्थंकर, समग्र लोक के गुरु तथा महान् आत्मा, भगवान् महावीर की जय हो, जय हो।

———

कुन्दकुन्दाचार्य और उनकी रचनाएँ

□ प्रेम चन्द्र जैन, शोध-छात्र, राजस्थान विश्वविद्यालय

दिगम्बर जैनवाङमय में भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद आचार्य कुन्दकुन्द एक अग्रगण्य एवं सम्माननीय मुनिवर तथा ग्रन्थकार है। दिगम्बर ग्रन्थों में इनका विविध नामों से उल्लेख प्राप्त होता है, जैसे पद्मनन्दी, गृधपिच्छ, चक्रग्रीव और एलाचार्य। परन्तु इन नामों की वास्तविकता शंकास्पद है। इनका समय भी विवादास्पद है। इस विषय में कोई स्पष्ट और प्रामाणिक उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। कोण्डकुण्ड के निवासी होने के कारण ये कुन्दकुन्द नाम से कहे जाते है। इसी नाम से इनकी वंश-परंपरा चली है अथवा 'कुन्दकुन्दान्वय' स्थापित हुआ है, जो अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त होकर दूर-दूर तक फैला है, मर्करा के ताम्रपत्र में, जो शक संवत ३८८ में उत्कीर्ण हुआ है, इसी कोण्डकुन्दान्वय की परम्परा में होने वाले छः पुरातन, आचार्यों का गुरु-शिष्य के क्रम से उल्लेख है।[1]

ये बहुत ही प्रामाणिक एवं सुप्रतिष्ठित आचार्य हुए। सम्भवतः इनको उक्त श्रुत-सुप्रतिष्ठा के कारण ही शास्त्र-सभाके आदि में जो मंगलाचरण 'मंगलं भगवान् वीरो' इत्यादि किया जाता है उसमें 'मंगलं कुन्दकुन्दार्यो इस रूप से इनके नाम का विशेष उल्लेख है।

इनके उपलब्ध ग्रंथों का परिचय निम्न प्रकार से है :

कुन्दकुन्दाचार्य के उपलब्ध सभी ग्रंथ प्राकृत पद्यो में हैं। अर्थात् उनका एक भी ग्रंथ न तो गद्य मे है और न ही संस्कृत मे[2]। दिगम्बर जैन वाङ्मय मे सबसे अधिक ग्रंथ (२२-२३) आपके ही उपलब्ध होते है, जो ८४ पाहुड़ ग्रंथों के कर्ता के नाम से प्रसिद्ध हैं[3]।

१. पंचास्तिकाय सार :

पंचस्थकायसंग्रहसुक्त[4] (पंचास्तिकायसंग्रहसूत्र) अथवा पंचस्थिकायसार[5] पद्यात्मक, जैन शौरसेनी मे रचित इस कृति के दो स्वरूप प्राप्त होते हैं। एक में अमृतचन्द्र के मत से इस समग्र कृति में १७३ गाथाएं है और दूसरे में जयसेन और बसुदेव कृत टीका के अनुसार १८१ पद्य हैं। अंतिम पद्य में यद्यपि 'पंचस्थिकायसंग्रहसूक्त' नाम आता है, परन्तु दूसरा नाम विशेष प्रचार में है। अमृतचन्द्र के अनुसार प्रथम स्कन्ध में १०४ गाथाएं तथा द्वितीय स्कन्ध में ६९ गाथाएं हैं, प्रारम्भ के २६ पद्य पीठबंध रूप है और ६४ वीं आदि गाथाओं का निर्देश सिद्धांतसूत्र के नाम से किया गया है। सौ इन्द्रों द्वारा नमस्कृत जिनों का वन्दन

१. देखो : कुर्ग—इन्स्क्रिपशन्स का निम्न अंश—(ई० सी० आई०)।

२. दस भक्ति मे गद्यात्मक अंश है, परन्तु उसके कुन्दकुन्द की मौलिक रचना होने में सन्देह है।

३. देवसेनाचार्य ने भी अपने दर्शनसार (वि० सं० ९९०) की निम्न गाथा में कुन्दकुन्द (पद्मनन्दि) के सीमंधर स्वामी से दिव्यज्ञान प्राप्त कराने की बात लिखी है :

जइपउमणंदि-णाहो सोमंधरसाभि-दिव्वणाणेण।
न विवोहइ तो समणा कहं सुभगं पयाणंति॥

श्रवणबेल्गोल शिलालेख न० ४०

४. यह कृति अमृतचन्द्र कृत तत्वदीपिका यानी समय व्याख्या नाम की संस्कृत टीका हेमराज पाण्डे के बालावबोध पर से पन्नालाल बाकलीवाल कृत हिन्दी अनुवाद के साथ (रायचन्द्र जैन ग्रंथमाला) ने १९०४ में तथा अंग्रेजी अनुवाद सहित आरा से प्रकाशित हुई है। इसी ग्रंथ-माला में प्रकाशित इसकी दूसरी आवृति में अमृतचन्द्र जयसेन की संस्कृत टीकायें तथा हेमराज पाण्डेय का बालावबोध छपा है। अमृतचन्द्र की टीका के साथ गुजराती अनुवाद 'दिगम्बर स्वाध्याय मन्दिर, से वि० सं० २०१४ में प्रकाशित हुआ है।

५. धवला में 'पंचस्थिकायसार' का उल्लेख है।

करके इसका प्रारम्भ किया गया है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध में षड्द्रव्य और पांच अस्तिकायों का व्याख्यान किया गया है। यहाँ द्रव्य का लक्षण, द्रव्य के भेद, सप्तभंगी, गुण और पर्याय, काल द्रव्य का स्वरूप, जीव का लक्षण, सिद्धों का स्वरूप, जीव और पुद्गल का बंध, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के लक्षण का प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय स्कन्ध में नौ पदार्थों के प्ररूपण के साथ मोक्षमार्ग का वर्णन किया गया है। पुण्य, पाप, जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का कथन किया गया है।

टीकाएं : उपरोक्त कृति पर अमृतचन्द्र ने तत्वदीपिका अथवा समय व्याख्या नाम की टीका लिखी है। व्याख्याकार ने इसमें कहा है कि द्रव्य में प्रति समय परिवर्तन होने पर भी उसके स्वभाव को अबाधित रखने का कार्य अगुरुलघु नामक गुण करता है। इसके अतिरिक्त जयसेन[6], ब्रह्मदेव, ज्ञानचन्द्र, मल्लिषेण और प्रभाचन्द्र[7] ने भी संस्कृत टीकाएं लिखी है[8], इसके अलावा अज्ञातकृतक दो संस्कृत टीकाएं भी है जिनमे से प्रथम का नाम तात्पर्यवृति है। ऐसा उल्लेख जिनरत्नकोष (विभाग १ पृष्ठ २३१) में है। मूल कृति पर हेमराज पाण्डे ने हिन्दी में बालावबोध लिखा[9]। बालचन्द्र देव की कन्नड़ टीकाएं भी हैं। प्रभाचन्द्र की हिन्दी टीका भी प्राप्त होती है।

२. प्रवचनसार :

"पवयणसार" प्राकृत के एक प्रकार के शौरसेनी में, आर्या छन्द में रचित है। इस ग्रन्थ में तीन श्रुतस्कन्ध है, प्रथम में ९२, द्वितीय में १०८ एवं तृतीय में ७५ गाथाएं है। इसमें क्रमशः ज्ञान, ज्ञेय और चरित्र का प्रतिपादन किया गया है। कुल मिलाकर २७५ गाथाएं हैं।

प्रथम श्रुतस्कन्ध :

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र का मोक्ष मार्ग के रूप में उल्लेख, चारित्र का धर्म के रूप में धर्म का शम के साथ ऐक्य, और शम द्रव्य के लक्षण, जीव के शुभाशुभ और शुद्ध परिणाम, सर्वज्ञ का स्वरूप, 'स्वयंभू' की व्याख्या, ज्ञान द्वारा सर्वव्यापिता, श्रुतकेवली, सूत्र और अतीन्द्रिय ज्ञान तथा क्षायिक ज्ञान की व्याख्या, तीर्थङ्कर द्रव्य, पर्यायों आदि के लक्षण, स्वभाव एवं अनन्तता, प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ज्ञान की व्याख्या, सिद्ध परमात्मा की सूर्य के साथ तुलना, इन्द्रियजन्य सुख की असारिता आदि।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध :

द्रव्य, गुण और पर्याय के लक्षण, स्वरूप तथा पारस्परिक सम्बन्ध, सप्तभगी की व्याख्या जीवादि पाँच और काल का निरूपण, परमाणु और प्रमेय की व्याख्या, शुद्ध आत्मा और बन्ध की व्याख्या आदि।

तृतीय श्रुतास्कन्ध :

चारित्र श्रुतस्कन्ध में श्रामण्य के चिह्न, छेदोपस्थापक श्रमण, छेद का स्वरूप, युक्त आहार, उत्सर्ग और अपवादमार्ग, आगमज्ञान का महत्व, श्रवण का लक्षण, मोक्ष तत्वादि का प्ररूपण है।

टीकाएं : पवयणसार पर संस्कृत, कन्नड़ और हिन्दी में अनेक व्याख्यायें की गई हैं। संस्कृत व्याख्याओं में अमृतचन्द्र की वृत्ति सबसे प्राचीन और महत्वपूर्ण है। दूसरी संस्कृत में जयसेन की टीका 'तात्पर्यवृत्ति' है। इसमें टीकाकार ने पंचास्थिकायसंग्रह की टीका का निर्देश किया

---

६. इनकी टीका का नाम 'तात्पर्यवृति' है। इसकी पुष्पिका के अनुसार मूलवृति तीन अधिकारों में विभक्त है। प्रथम अधिकार में १११ गाथाएं हैं और आठ अन्तराधिकार है, द्वितीय अधिकार में ५० गाथाएं हैं और दस अन्तराधिकार हैं तथा तृतीय अधिकार में २० गाथाएं हैं और वह बारह विभागों में विभक्त हैं। इस तरह इस टीका के अनुसार कुल १८१ गाथाएं होती हैं। जयसेन की इस टीका का उल्लेख पवयणसार की उनकी टीकाओं में है। इन तीनों में से पंचत्थिकाय संग्रह की टीका में सबसे अधिक उद्धरण आते हैं।

७. इनकी टीका का नाम 'प्रदीप' है।

८. कई लोगों के मत से देवजित ने भी संस्कृत में टीका लिखी है।

९. बालचन्द्र ने कन्नड़ में टीका लिखी है।

१०. देखिये—पृष्ठ १६२-१८९ जैन इतिहास—मेहता एण्ड कापड़िया।

है[10]। दार्शनिक विषयों के निरूपण में ये अमृतचन्द्र का अनुसरण करते हैं और उनकी वृत्ति का भी उपयोग करते हैं। इनका समय बारहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण के आसपास है। प्रभातचन्द्र कृत "सरोज भास्कर" पवयणसार की तीसरी टीका है। उसकी रचना समयसार की बालचन्द्र कृत टीका के पश्चात् हुई है। इनका समय चौदहवीं शताब्दी का है। मल्लिषेण नामक किसी दिगम्बर ने इस पर संस्कृत में टीका लिखी थी, ऐसा माना जाता है। इनके अलावा वर्धमान ने भी एक वृति लिखी है। हेमराज पाण्डे (वि० सं० १७०९) ने हिन्दी में बालावबोध लिखा है, इसका आधार अमृतचन्द्र की टीका है।

३. समयसार :

समयसार कुन्दकुन्दाचार्य को जैन शौरसेनी में पद्य में रचित एक महत्वपूर्ण कृति है। इसकी दो वाचनाए मिलती हैं[11]। प्रथम में ४१५ पद्य है तथा द्वितीय में ४३९ है। अमृतचन्द्र ने समग्र कृति को ९ विभागो में व्यक्त किया है। प्रथम ३८ गाथाओ को पूर्व रंग कहा है। कुन्दकुन्दाचार्य की प्राप्त सभी कृतियों मे समयसार सबसे बड़ा है। जयसेन को टीका में १० अधिकार है। पहले में स्वसमय, परसमय, शुद्धनय, आत्मभावना और सम्यक्त्व का प्ररूपण है। दूसरे में जीव-अजीव, तीसरे में कर्म-कर्ता, चौथे में पुण्य-पाप, पांचवें में आस्रव, छठे मे संवर, सातवें में निर्जरा, आठवें में बन्ध, नवें में मोक्ष और अन्तिम दसवें में शुद्ध पूर्ण ज्ञान का प्रतिपादन है।

समयसार का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए कहा है :

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो॥

जीव कर्म से बद्ध है या नहीं, यह नयों की अपेक्षा से ही जानना चाहिए। जो नयो की अपेक्षा से रहित है उसे समय का सार समझना चाहिए।

शुद्ध नय की अपेक्षा जीव को कर्मों से अस्पृष्ट माना गया है :

"जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं॥

व्यवहार नय की अपेक्षा जीव कर्मों से स्पष्ट है, शुद्ध नय की अपेक्षा तो उसे अबद्ध और अस्पष्ट समझना चाहिए।

कर्म भाव के नष्ट हो जाने पर कर्म का फिर से उदय नही होता :

पक्के फलम्मि पडिदे जहः ण फलं यज्झदे पुणो विंहे।
जीवस्स कम्मभावे पडिदे ण पुणोदयमुवेइ॥

जेसे पक्के फल के गिर जाने पर फिर अपने डंठल से युक्त नही होता, वैसे ही कर्मभाव के नष्ट हो जाने पर फिर से उसका उदय नही होता।

टीकाएं : समयसार पर अमृतचन्द्र ने 'आत्मख्याति' नामक टीका लिखी है। इसमें २६३ पद्य का एक कलश है[12]।

जयसेन ने 'तात्पर्यवृत्ति'[13] नाम की संस्कृत टीका लिखी है। इसके अलावा निम्न टीकाकार भी हैं—

(१) प्रभाचन्द्र, (२) नयकीर्ति के शिष्य बालचन्द्र, विशाला कीर्ति तथा जिनमुनि। इस पर एक अज्ञातकृतक संस्कृत टीका भी है।

४. नियमसार :

श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित यह पद्यात्मक कृति भी जैन शोरसेनी मे है तथा आध्यात्मिक विषय को लिए हुए है। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र को नियम—नियम से किया जाने वाला कार्य—एवं मोक्षोपाय बतलाया गया है और मोक्ष के उपाय भूत सम्यग्दर्शनादि का स्वरूपकथन करते हुए उनके अनुष्ठान

---

११. अनुवाद के साथ 'सेकरिड बुक आफ द जैन्स' सिरीज में १९३० में तथा अमृतचन्द्र और जयसेन की टीकाओं के साथ सनातन जैन 'ग्रंथमाला' बनारस ये से भी १९४४ में यह छप चुका है। इनके अतिरिक्त श्री हिम्मतलाल जेठालाल शाह का गुजराती पद्यात्मक अनुवाद जैन अतिथि सेवा समिति, सोनगढ़ की ओर से १९४० में प्रकाशित हुआ है।

१२. इस कलश पर शुभचन्द्र ने संस्कृत मे तथा रायमल्ल और जयचन्द्र ने एक-एक टीका हिन्दी मे लिखी है।

१३. इसमे पंचत्थिकाय संग्रह को अपनी टीका का उल्लेख किया है।

का तथा उनके विपरीत मिथ्या-दर्शनादिके त्याग का विधान किया गया है और इसी को जीवन का सार निर्दिष्ट किया गया है।

नियमसार में आप्त, आगम और तत्वों की श्रद्धा से सम्यकत्व की उत्पत्ति, अठारह दोषो का उल्लेख, आगम, जीव आदि छः तत्वार्थ, ज्ञान एवं दर्शनरूप उपयोग के प्रकार, स्वभाव पर्याय एवं विभाव पर्याय, मनुष्यादि के भेद, व्यवहार एवं निश्चय से कर्तृत्व और भोक्तृत्व पुद्गल आदि अजीव पदार्थों का स्वरूप, हेय एवं उपादेय तत्व, शुद्ध जीव में बन्ध स्थान, उदय स्थान, क्षायक आदि चार भावों के स्थान, जीव स्थान और मार्गणा स्थान का अभाव, शुद्ध जीव का स्वरूप, संसारी जीव का आत्मा से अभेद, सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान की व्याख्या, अहिंसा आदि पच महाव्रत की, ईर्या आदि पाँच समिति की तथा व्यवहार एवं निश्चय नय की अपेक्षा से मनोगुप्ति आदि तीन गुप्ति की स्पष्टता, पंच परमेष्ठी का स्वरूप, भेद विज्ञान के द्वारा निश्चय, चारित्र की प्राप्ति, निश्चय नय के अनुसार प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, चतुर्विध आलोचना, प्रायश्चित, परम समाधि, सामयिक एवं परम भक्ति का निरूपण, निश्चय बहिरात्मा और अन्तरात्मा, व्यवहार एवं निश्चय नय के अनुसार सर्वज्ञता, केवल ज्ञानी में ज्ञान और दर्शन का एक ही समय में सद्भाव आदि।

टीकाएं : इस ग्रन्थ पर एक मात्र संस्कृत टीका पद्मप्रभ मलचरिदेव की टीका उपलब्ध है। इसके अनुसार गाथाओं की संख्या १८७ है। टीका का नाम 'तात्पर्यवृति' है। इसमें उन्होने अमृताशीति, श्रुतबन्धु और मार्गप्रकाश में से उद्धरण दिये है।

इनके अतिरिक्त अकलंक, अमृतचन्द्र, गुणभद्र, चन्द्रकीर्ति, पूज्यपाद, माधवसेन, वीर नन्दी, समन्तभद्र, सिद्धसेन, और सोमदेव का भी उल्लेख आता है।

मूल कृति पर हेमराज पाण्डे ने हिन्दी में बालबोध लिखा है।

पाहुड़ :

कई विद्वानों की मान्यता है कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने ८४ पाहुड़ लिखे थे। परन्तु इन सबके अब तक भी नाम उपलब्ध नही हुए है[१४]। जैन शौरसेनी मे आठ पाहुड़ प्राप्त होते है। जो निम्न प्रकार से है :

१—दसणपाहुड़ (दर्शन प्राभृति)

इसमें सम्यग्दर्शना के महात्म्यादि का वर्णन ३६ गाथाओं मे है। इससे यह जाना जाता है कि सम्यग्दर्शन को ज्ञान और चरित्र पर प्रधानता प्राप्त है। वह धर्म का मूल है और इसलिए जो सम्यग्दर्शन से जीवादि तत्वों के यथार्थ-श्रद्धान से भ्रष्ट है, उसको मुक्ति की प्राप्ति नही हो सकती। २९वी गाथा में तीर्थङ्कर चौंसठ चामरों से युक्त होते है और जिनके चौतीस अतिशय होते है तथा ३५वी गाथा मे उनकी देह १००८ लक्षणों से लक्षित होती है, इस बात का प्ररूपण है।

टीका : दसणपाहुड़ पर विद्यानन्द के शिष्य श्रुतसागर[१५] ने संस्कृत मे टीका लिखी है। दसणपाहुड़ पर अमृतचन्द्र ने टीका लिखी थी। ऐसा कई लोगों का अनुमान है।

२—चारित्रपाहुड़ (चारित्र प्राभृत)

इस ग्रथकी गाथा संख्या ४४ तथा विषय सम्यक्चारित्र है। यह चारित्र तथा उसके दो भेद सम्यक्त्वचरण और सयम-चरण ऐसे दो भेदों मे विभक्त करके उनका अलग-अलग स्वरूप बताता है और सयमचरण के सागार और अनागार ऐसे दो भेद करके उनके द्वारा क्रमश. श्रावकधर्म का सूचनात्मक निर्देश करता है।

---

१४. ये पाहुड और प्रत्येक की संस्कृत छाया, दसपाहुड आदि प्रारम्भ के छ: पाहुडो की श्रुतसागर कृत संस्कृत टीका, रयणसार और बारसाणु-वेक्खा 'षट्प्राभृतादि-संग्रहः' के नाम से माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला में प्रकाशित हुए है।

१५, इनका परिचय इन्हीं की रचित औदार्यचिन्तामणि इत्यादि विविध कृतियों के निर्देश के साथ मैंने 'जैन संस्कृत साहित्यनों के इतिहास' [खंड १ : सार्वजनीन साहित्य पृष्ठ ४२-४४ और ४६ और ३००) में दिया है। श्रुत सागर विक्रम सोलहवीं सदी में हुए थे।

टीका : चारित्तपाहुड पर श्रुतसागर की टीका है।

३—सुत्तपाहुड (सूत्र प्राभृत)

यह ग्रन्थ २७ गाथात्मक है। इसमें सूत्रार्थ की मार्गणा का उपदेश है। आगम का महत्व ख्यापित करते हुए उसके अनुसार चलने की शिक्षा दी गई है, जैसे कि सूत्र से युक्त सूई हो तो वह नष्ट नही होती, गुम नहीं होती वैसे ही सूत्र का ज्ञाता संसार मे भटकता नही है।

टीका : इसकी टीका के रचयिता श्रुतसागर है।

४—बोधपाहुड (बोध प्राभृत)

इस पाहुड के शरीर में ६२ हड्डियों की गाथाओं से निर्मित हैं। इसका प्रारम्भ आचार्यों के नमस्कार से होता है। इसकी तीसरी तथा चौथी गाथाओ में इसमें आने वाले ग्यारह अधिकारों का निर्देश है—(१) आयतन, (२) चैत्यगृह, (३) जिन प्रतिमा, (४) दर्शन, (५) जिन बिम्ब, (६) जिन मुद्रा, (७) ज्ञान, (८) देव, (९) तीर्थ, (१०) तीर्थङ्कर एव (११) प्रब्रज्या।

टीका : इस पर श्रुतसागर की टीका है। अन्तिम तीन गाथाओं को उन्होंने 'चूलिका कहा है।

५—भावपाहुड (भाव प्राभृत)

१६३ गाथाओं से निर्मित यह ग्रन्थ बड़ा ही महत्व का है। इसमें भाव को चित्तशुद्धि की महत्ता को अनेक प्रकार से सर्वोपरि निरूपित किया गया है। बिना भाव के बाह्य परिग्रह का त्याग करके नग्न दिगम्बर साधु होने और बन में जाकर बैठने तक को व्यर्थ ठहराया गया है। परिणाम शुद्धि के बिना संसार परिभ्रमण नही रुकता और न बिना भाव के कोई पुरुषार्थ हो सकता है।

इसका महत्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि उपलब्ध सभी आठों पाहुडों में सबसे बड़ा है। इनमें से (१६३ में से) अधिकांश आर्या छन्द में है।

टीका : इस पर श्रुतसागर का टीका है।

६—मोक्ख पाहुड (मोक्ष प्राभृत)

इसमें १०६ पद्य है[१]। इसमें आत्मा के बहिरात्मा, और परमात्मा ऐसे तीन भेद करके उनके स्वरूप को समझाया है। मुक्ति अथवा मरमात्मा-पद कैसे प्राप्त हो सकता है, इसका अनेक प्रकार से निर्देश किया गया है।

खान में से निकलने वाला स्वर्ण और शुद्ध किये गये सुवर्ण में जैसा अन्तर है, वैसा अंतर अन्तरात्मा और परमात्मा में है।

इस दसपाहुड से मोक्खपाहुड तक के छः प्राभृत ग्रंथों पर श्रुतसागर का टीका भी उपलब्ध है, जो कि माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला के षट्प्राभृतादि संग्रह में मूल ग्रंथों के साथ प्रकाशित हो चुकी है।

७—लिंग पाहुड (लिंग प्राभृत)

यह २२ गाथात्मक ग्रंथ है। इसमे श्रमण लिंग को लक्ष्य लेकर उन आचरणों का उल्लेख किया गया है जो इस लिंगधारी जैन साधु के लिए निषिद्ध है। जो श्रमण अब्रह्म का आचरण करे, वह संसार में भटकता है। जो विवाह कराए, कृषि कर्म, वाणिज्य और जीवघात कराये, वह द्रव्य-लिंगी नरक मे जाता है।

टीका : लिंग पाहुड पर एक भी संस्कृत टीका अगर रची भी गई हो तो प्रभाचन्द्र की मानी जाती है।

८—सील पाहुड (शील प्राभृत)

इस ग्रंथ में ४० गाथाएं हैं। इसमें शील का, विषयों से विराग का महत्व बताया गया। पांचवीं गाथा में एसा उल्लेख है कि चारित्र रहित ज्ञान, दर्शन रहित लिंग ग्रहण और संयमरहित तप निरर्थक है। उन्नीसवें पद्य में जीव-दया, दम, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप को शील का परिवार कहा है। विषय-लोलुपता के कारण सत्यकि पुत्र नरक में गया, ऐसा उल्लेख किया गया है।

टीका : सील पाहुड पर भी एक भी संस्कृत टीका यदि रची गई है तो प्रभाचन्द्र की मानी जाती है। □□

---

१. कुछ पद्य अनुस्टुप में हैं। अधिकांश भाग आर्या छन्द में है।

सूफी और जैन रहस्य-भावना

☐ डा० श्रीमती पुष्पलता जैन

मध्यकालीन सूफी-हिन्दी जैन साहित्य के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि सूफी कवियो ने भारतीय साहित्य और दर्शन से जो कुछ ग्रहण किया है, उसमें जैनदर्शन की भी पर्याप्त मात्रा रही है। जायसी ब्रह्म को सर्व व्यापक, शाश्वत, अलख और अरूपी[1] मानते हैं। जैनदर्शन में भी आत्मा को अरस, अरूपी और चेतना गुण से युक्त मानते है[2]। सूफियो ने मूलतः आत्मा के दो भेद किये हैं—नफ्स और रूह। नफ्स ससार में भटकने वाला आत्मा है और रूह विवेक सम्पन्न है[3]। जैन दर्शन में भी आत्मा के दो स्वरूपों का चित्रण किया गया है—पारमार्थिक और व्यावहारिक। पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा शाश्वत है और व्यावहारिक दृष्टि से वह संसार में भटकती रहती है। सूफी दर्शन मे रूह को विवेक सम्पन्न माया गया है। जैनो ने आत्मा का गुण अनन्तज्ञान दर्शन माना है। सूफी दर्शन मे रूह (उच्चतर) के तीन भेद माने गए हैं—कल्ब (दिल) रूह (जान) सिर्र (अन्त.करण)। जैनों ने भी आत्मा के तीन भेद माने है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा सूफियों की आत्मा का सिर्र रूप जैनों का अन्तरात्मा कहा जा सकता है। यही से परमात्म पद की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। संसार की सृष्टि का हर कोना सूफी दर्शन के अनुसार ब्रह्म का ही अश है[4]। पर जैन दर्शन के अनुमार सृष्टि की संरचना में परमात्मा का कोई हाथ नही रहता। जैन दर्शन का आत्मा ही बिशुद्ध होकर परमात्मा बनता है अर्थात् उसकी आत्मा में ही परमात्मा का वास रहता है पर अज्ञान के आवरण के कारण वह प्रकट नही हो पाता। जायसी ने भी गुरु रूपी परमात्मा को अपने हृदय में पाया है[5]। जायसी का ब्रह्म सारे संसार में व्याप्त है और उसी के रूप से सारा संसार ज्योतिर्मान है[6]। जैनों का आत्मा भी सर्वव्यापक है और उसके विशुद्ध स्वरूप में संसार का हर पदार्थ दर्पणवत् प्रतिभाषित होता है[7]।

जायसी ने ब्रह्म के साथ अद्वैतावस्था पाने में माया (अलाउद्दीन) और शैतान (राघवदूत) को बाधक तत्व माना है[8]। वासनात्मक आसक्ति ही माया है। शैतान प्रेम-साधना की परीक्षा लेने वाला तत्व है। पद्मावत में नागमती को दुनियाँ धंधा, अलाउद्दीन को माया एवं राघव चेतन को शैतान के रूप में इसीलिए चित्रित किया गया है। जायसी ने लिखा है—मैंने जब तक आत्मा स्वरूपी गुरु को नही पहिचाना, तब तक करोड़ो पर्दे बीच में थे, किन्तु ज्ञानोदय हो जाने पर माया के सब आवरण नष्ट हो गए। आत्मा और जीवगत भेद नष्ट हो गया। जीव जब अपने आत्मभाव को पहिचान लेता है तो फिर यह अनुभव हो जाता है कि तन, मन, जीवन सब कुछ वही एक आत्मदेव है। लोग अहकार के वशीभूत होकर द्वैतभाव में फँसे रहते है, किन्तु ज्यों ही अहकार नष्ट हो जाता है, त्यों ही छाया और आतप वाला भेद नष्ट हो जाता है[9]। माया की अपरिमित शक्ति है। उसने रतनसेन जैसे सिद्ध माधक को पदच्युत कर दिया। अलाउद्दीन रूपी माया सदैव स्त्रियों मे आसक्त रहती है। छल-कपट भी उसकी अन्यतम विशेषता है। दशवें द्वार में

---

१. जायसी ग्रन्थावली पृ. ३
२. समयसार, ४६; नाटक समयसार, उत्थानिका ३६-३७
३. हिय कै जोति दीप वह सूझा-जायसी ग्रन्थावली, पृ ५१
४ जायसी ग्रथावली, पृ १५६
५. गुरू भोरे भोरे हिये दिये तुरंगम ठाट, वही पृ. १०५
६. नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
   हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नगहीर ॥
   वही पृ. २५
७. प्रवचनसार, प्रथम अधिकार; बनारसी विलास, ज्ञानबावनी, ४
८. जायसी ग्रन्थमाला, पृ. ३०१
९. जब लगि गुरू हौं अहा न चीन्हा।
   कोटि अन्तरपट बीचहिं दीन्हा ॥
   जब चीन्हा तब और कोई। तन मन जिउ जीवन सब सोई ॥
   'हौं हौं करत धोख इतराहीं। जब भा सिद्ध कहाँ परछाहीं ॥
   वही, पृ. १०५; जायसी का पद्मावत: काव्य और दर्शन, पृ. २१६-२०.

स्थित आत्मतत्त्व को अन्तर्मुखी दृष्टि से ही देखा जा सकता है पर माया इस आत्मदर्शन में बाधा डालती है। माया को इसीलिए ठग, बटमार आदि जैसी उपमायें भी दी गई हैं। संसार मिथ्या माया का प्रतीक है। यह सब असार है।

जैनदर्शन में माया-मोह अथवा कर्म को साध्य प्राप्ति में सर्वाधिक बाधक कारण माना गया है। इसमें आसक्त व्यक्ति ऐन्द्रिक सुख को ही यथार्थ सुख मानता है। यहां माया और शैतान जैसे पृथक् दो तत्त्व नहीं माने गये। सारा संसार माया और मिथ्यात्वजन्य ही है। मिथ्यात्व के कारण ही इस क्षणिक संसार को जीव अपना मानता है। जायसी ने जिसे अन्तरपद अथवा अन्तर्दर्शन कहा है, जैनधर्म उसे आत्मज्ञान अथवा भेदविज्ञान कहता है। जब तक भेद विज्ञान नही होता तब तक मिथ्यात्व, माया, कर्म अथवा अहंकार आदि दूर नही होते। जायसी के समान यहां जीव और आत्मा, दो पृथक् तत्त्व नही है। जीव ही आत्मा है। उसे माया रूपी ठगिनी जब ठग लेती है तो वह संसार में जन्म-मरण के चक्कर लगाता रहता है। वासना को यहां भी संसार का प्रमुख कारण माना गया है[1]। मिथ्यात्व को दुःखदायी और आत्मज्ञान को मोक्ष का कारण कहा गया है[2]।

जैन योग साधना के समान सूफी योग साधना भी है। अष्टांगयोग और यम-नियम लगभग समान है। जायसी का योग प्रेम से संबलित है पर जैनयोग नही। जायसी ने राजयोग माना है, हठयोग नहीं। जैन भी हठयोग को मुक्ति का साधन नहीं मानते। सूफियों में जीवन मुक्ति और जीवनोत्तर मुक्ति, दोनों मुक्तियो का वर्णन मिलता है। जीवन मुक्ति दिलाने वाली भावना है जो फना और बका को एक कर देती है। फना मे जीव की सारी सांसारिक आकांक्षायें, मोह, मिथ्यात्व आदि नष्ट हो जाते हैं। जैनधर्म में इसी अवस्था को वीतराग अवस्था कहा गया है। इसी को अद्वैतावस्था भी कह सकते है, जहां आत्मा अपनी परमोच्च अवस्था में लीन हो जाती है। यही निर्वाण है जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के परिपालन से प्राप्त होता है[3]। जायसी ने भी जैनों के समान तोता रूप सद्गुरु को महत्त्व दिया है। यही पद्मावती रूपी साध्य का दर्शन कराता है।

जायसी ने विरह को प्रेम से भी अधिक महत्त्व दिया है। इसलिए जायसी का विरह-वर्णन साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में एक अनुपम योगदान है। उत्तरकालीन जैन भक्त साधक भी इस विरह की ज्वाला मे जले है। बनारसीदास और आनंदघन को इस दृष्टि से नही भुलाया जा सकता। जायसी के समान ही हिन्दी जैन कवियों ने भी आध्यात्मिक विवाह और मिलन रचाये है। जायसी ने परमात्मा को पति रूप माना है पर वह है स्त्री—पद्मावती। परन्तु जैन साधकों—भक्तों ने परमात्मा को पति रूप में स्वीकार किया है पर उसका रूप स्त्री नहीं, पुरुष रहा है। बनारसीदास का नाम दाम्पत्यमूलक जैन साधकों मे अग्रणी है।

जायसी और हिन्दी जैन कवियों की वर्णन शैली में अवश्य अन्तर है। जायसी ने भारतीय लोक कथा का आधार लेकर एक सरस रूपक खड़ा किया है और उसी के माध्यम से सूफी दर्शन को स्पष्ट किया है। परन्तु जैन साहित्य के कवियों ने लोक कथाओं का आश्रय तो लिया है परन्तु उनमे वह रहस्यानुभूति नहीं जो जायसी में दिखाई देती है। जैनो ने अपने तीर्थङ्कर नेमिनाथ के विवाह का खूब वर्णन किया और उनके विरह में राजुल रूप साधक की आत्मा को तडफाया भी है परन्तु मिलन के माध्यम से अनिर्वचनीय आनंद की प्राप्ति में प्रस्फुटन को भूल गये जिसे जायसी ने अपनी जादूभरी कलम से प्राप्त कराया है। वहा पद्मावती रूपी परमात्मा भी रत्नसेन रूपी प्रियतम साधक के विरह से आकुल-व्याकुल हुई है। जैनों का परमात्मा साधक के लिए इतना तड़पता हुआ दिखाई नही देता। वह तड़फे भी क्यो? वह तो बेचारा वीतरागी है। रागी आत्मा भले ही तड़पती रहे।

इस प्रकार सूफी और रहस्यभावना के तुलनात्मक अध्ययन से यह पता चलता है कि सूफी कवि जैन साधना से बहुत कुछ प्रभावित रहे है। उन्होंने अपनी साहित्यिक सक्षमता से इस प्रभाव को भलीभांति अन्तर्भूत किया है।

---

१. प्रवचनसार, ६४; बनारसी विलास, ज्ञानबावनी १६-३०

२. उत्तराध्ययन, २०-३७; हिन्दी पद संग्रह, पृ. ३६

३. पंचास्तिकाय, १६२; नाटक समयसार, संवरद्वार, ६, पृ. १२५ नाटक समयसार, जीवद्वार, २३

निर्गुण रहस्य भावना और जैन रहस्य भावना

□ डा० श्रीमती पुष्पलता जैन

निर्गुण का तात्पर्य है—पूर्ण वीतराग अवस्था। कबीर आदि निर्गुणी सन्तों का ब्रह्म इसी प्रकार का निर्गुण और निराकार माना जाता है। कबीर ने निर्गुण के साथ ही सगुण ब्रह्म का भी वर्णन किया है[1]। इसका अर्थ यह है कि कबीर का ब्रह्म निराकार और साकार, द्वैत और अद्वैत तथा भावरूप और अभावरूप है। जैसे जैनों के अनेकान्त में दो विरोधी पहलू अपेक्षाकृत दृष्टि से निभ सकते हैं, वैसे कबीर के ब्रह्म में भी है। कबीर पर जाने अनजाने एक ऐसी परम्परा का जबरदस्त प्रभाव पड़ा था, जो अपने में पूर्ण थी और स्पष्टतः कबीरदास की सत्यान्वेषक बुद्धि ने उसे स्वीकार किया। उन्होने अनुभूति के माध्यम से उसे पहिचाना[2]। जैन परम्परा में भी आत्मा के दो भेद मिलते है। निष्कल और सकल[3]। इसे ही हम क्रमशः निर्गुण और सगुण कह सकते है। रामसिंह ने निर्गुण को ही निःसंग कहा है[4]। उसे ही निरंजन भी कहा जाता है[5]। दूसरे शब्दो में हम कह सकते हैं कि पञ्चपरमेष्ठियों में अर्हन्त और सिद्ध क्रमशः सगुण और निर्गुण ब्रह्म है जिसे कबीर ने स्वीकार किया है। बनारसीदास ने इसी निर्गुण को शुद्ध, बुद्ध, अविनाशी और शिव संज्ञाओं से अभिहित किया है[6]।

कबीर की माया, भ्रम, मिथ्याज्ञान, क्रोध, लोभ, मोह, वासना, आसक्ति आदि मनोविकार मन के परिधान है, जिन्होने त्रिलोक को अपने वश मे किया है[7]। यह माया ब्रह्म की लीला की शक्ति है[8]। इसी के कारण मनुष्य दिग्भ्रमित होता है। इसीलिए इसे ठगौरी, ठगिनी, छलनी, नागिन आदि कहा गया गया है[9]। कबीर ने व्यावहारिक दृष्टि से माया के तीन भेद माने है - मोटी माया, झीनी माया और विद्यारूपिणी। मोटी माया को कर्म कहा गया है। इसके अन्तर्गत धन, सम्पदा, कनक, कामिनी आदि आते है। पूजा-पाठ आदि बाह्याडम्बर में उलझना भी ऐसे कर्म है जिनसे व्यक्ति परमपद की प्राप्ति नही कर पाता। झीनी माया के अन्तर्गत आशा, तृष्णा, मान आदि मनोविकार आते है। विद्यारूपिणी माया के माध्यम से सन्त साध्य तक पहुंचने का प्रयत्न करते है। यह आत्मा का व्यावहारिक स्वरूप है।

जैनों का मिथ्यात्व अथवा कर्म कबीर की माया के सिद्धान्त के समानार्थक है। कबीर के समान जैन कवियों ने भी माया को ठगिनी कहा है। कबीर की मोटी माया जैनों का कर्म है जिसके कारण जीव में मोहासक्ति बनी रहती है। जैसा हम देख चुके हैं, जैन कवि भी कबीर के

उनकी कथायें जहां एक तरफ लौकिक दिखाई देती है, वहां रूपक के माध्यम से वही पारलौकिक दिखती है, जबकि जैन कवि प्रतिभा सम्पन्न होते हुए भी इस शैली को नहीं अपना सके। उनका विशेष उद्देश्य आध्यात्मिक सिद्धान्तों का निरूपण करना रहा। जायसी का आत्मा और ब्रह्म ये दोनों पृथक्-पृथक् तत्व है जो अन्तर्मुखी वृत्तियों के माध्यम से अद्वैत अवस्था में पहुंचते हैं; जबकि जैनों का परमात्मा आत्मा की ही विशुद्धतम स्थिति है। वहां दो पृथक्-पृथक् तत्व नहीं इसलिए मिलन या ब्रह्मसाक्षात्कार की समान तीव्रता होते हुए भी दिशायें अलग-अलग रहीं। ......

---

१. सतों, धोखा कासूं कहिये,
   गुण में निरगुण, निरगुण में गुण,
   बांट छाड़ि क्यू नहिये ? —कबीर ग्रंथावली, पद १८०
२. जैन शोध और समीक्षा—पृ० ६२
३. परमात्मप्रकाश, १-२५
४. पाहुड़दोहा, १००
५. परमात्मप्रकाश, १-१९
६. बनारसी बिलास, शिवपच्चीसी, १-२५
७. कबीर ग्रंथावली, पु० १९९
८. वही, पृ० १५१   ९. वही पृ० ११६

समान बाह्याडम्बर के पक्ष में बिलकुल नहीं हैं। वे तो आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने के लिए विशुद्ध साधन को ही अपनाने की बात करते हैं। त्रिगुणरूपिणी माया का सम्बन्ध मुनियों के चारित्र से जोड़ा जा सकता है। कबीर और जैनों की माया में मूलभूत अन्तर यही है कि कबीर माया को ब्रह्म की लीला की शक्ति मानते है पर जैन उसे एक मनोविकार जन्य कर्म का भेद स्वीकार करते हैं।

माया अथवा मनोविकारों से मुक्त होना ही मुक्ति को प्राप्त करना है। उसके बिना संसार-सागर से पार नहीं हुआ जा सकता[1]। इसलिए "आपा पर सब एक समान, तब हम पाया पद निरबाण" कहकर कबीर ने मुक्ति-मार्ग को निर्दिष्ट किया है। जैन कवियों ने इसे ही भेदविज्ञान कहा है और वही मोक्ष का कारण माना गया है[2]। कबीर और जैन, दोनों संसार को दुःखमय, क्षणिक और अनित्य मानते है। नरभव—दुर्लभता को भी दोनों ने स्वीकार किया है। दोनों ने ही दुविधाभाव का अन्त करके मुक्तावस्था प्राप्त करने की बात कही है। कबीर की जीवन्मुक्त और विदेह अवस्था जैनों की केवली और सिद्ध अवस्था कही जा सकती है।

स्वानुभूति को जैनों के समान निर्गुणी सन्तों ने भी महत्त्व दिया है। कबीर ने ब्रह्म को ही पारमार्थिक सत् माना है और कहा है कि ब्रह्म स्वयं ज्ञानरूप है, सर्वज्ञ व्यापक है और प्रकाशित है—"अविगत अपरंपार ब्रह्म, ग्यान रूप सब ठाम[3]।" जैनों का विशुद्ध आत्मा भी चेतन गुण रूप है और ज्ञान-दर्शन शक्ति से समन्वित है। इसी ज्ञान शक्ति से मिथ्याज्ञान का विनाश होता है। कबीर की 'आतमदृष्टि' जैनो का भेदविज्ञान अथवा आत्मज्ञान है[4]। बनारसीदास, द्यानतराय आदि हिन्दी जैन कवियों ने सहजभाव को भी कबीर के समान अपने ढग से लिया है। अष्टांग योगो का भी लगभग समान वर्णन हुआ है। शुष्क हठयोग को जैनों ने अवश्य स्वीकार नही किया है।

कबीर के समान जैन कवि भी समदरसी हुए है और प्रेम के खूब प्याले पिये हैं। तभी तो उनका दुविधा भाव जा सका। कबीर ने लिखा है—

पाणी ही तें हिम भया, हिम है गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछु कह्या न जाइ॥[5]

बनारसीदास ने भी ऐसा ही कहा है—

पिय मोरे घट, मैं पिय मांहि,
जल तरंग ज्यौं दुविधा नांहि॥[6]

"राम की बहुरिया" मानकर ब्रह्म का साक्षात्कार किया है। पिया के प्रेमरस में भी कबीर खूब नहाये है। बनारसीदास और आनन्दघन ने भी इसी प्रकार दाम्पत्यमूलक प्रेम को अपनाया है। कबीर के समान ही छीहल भी अपने प्रियतम के विरह से पीड़ित है। आनन्दघन की आत्मा तो कबीर से भी अधिक प्रियतम के वियोग में तड़पती दिखाई देती है[7]। कबीर की चुनरिया को उसके प्रीतम ने संवारा[8] और भगवती दास ने अपनी चुनरिया को इष्टदेव के रंग में रंगा[9]। कबीर और बनारसीदास दोनों का प्रेम अहेतुक है। दोनो की पत्नियां अपने प्रियतम के वियोग मे जल के बिना मछली के समान तड़फी है। आध्यात्मिक विवाह रचाकर भी वियोग की सर्जना हुई है। ब्रह्ममिलन के लिए निर्गुण सन्तों और जैन कवियो ने खूब रगरलियां भी खेली हैं।

इस प्रकार निर्गुणियां सन्तों और मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने थोड़ी बहुत असमानताओं के साथ समान रूप से गुरू की प्रेरणा पाकर ब्रह्म का साक्षात्कार किया है। इसके लिए उन्होंने भक्ति अथवा प्रपत्ति की सारी विधाओं का आश्रय लिया है। जैन साधकों ने अपने इष्ट देव की वीतरागता को जानते हुए भी श्रद्धावशात् उनकी साधना की है। □□

न्यू एक्सटेन्सन एरिया,
सदर, नागपुर

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४५
२. नाटक समय सार, निर्जरा द्वार, पृ० २१०
३. कबीर ग्रन्थावली, पृ० २४१
४. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १००
५. कबीर ग्रन्थावली, परचा कौ अंग, १७
६. बनारसी विलास, अध्यात्मगीत, १६
७. आनन्दघन बहोत्तरी, ३२-४१
८. कबीर—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५८७
९. चूनरी, हस्तलिखित प्रति; अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ० ९०

श्रमण साहित्य में वर्णित विभिन्न सम्प्रदाय

□ डा० भागचन्द जैन भास्कर, नागपुर विश्वविद्यालय

प्राचीन साहित्य मे साहित्यकार स्वपालित दर्शन को उपस्थित करने के साथ ही इतर दर्शनों का खण्डन किया करता था। श्रमण (जैन-बौद्ध) साहित्य में यह खण्डन-मण्डन परम्परा भलीभांति उपलब्ध होती है। यहाँ हम भ० महावीर और भ० बुद्ध कालीन ऐसे ही सम्प्रदायों का उल्लेख कर रहे है जिनकी परम्परा लगभग छिन्न-भिन्न हो चुकी है।

पालि-साहित्य[1] में महात्मा बुद्ध के समकालीन छः तीर्थंकरों का उल्लेख आता है—पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल, अजित-केसकम्बलि, प्रबुध कच्चायन, संजय वेलट्ठिपुत्त तथा निगण्ठनातपुत (महावीर)। इनके अतिरिक्त और भी छोटे-मोटे शास्ता थे जो अपने सिद्धांतो को समाज मे प्रचलित कर रहे थे। ब्रह्मजालसुत्त के ६२ दार्शनिक मत इस प्रसंग में उल्लेखनीय है जिन्हें वहां दुर्ज्ञेय कहा गया है।

१. आदि सम्बन्धी १८ मत (पुब्बान्तानुदिट्ठि अठारसहि वत्थूहि)

(i)	सस्सतवाद	४	} १८
(ii)	एकच्चसस्सतवाद	४	
(iii)	अन्तानन्तवाद	४	
(iv)	अमराविक्खेपवाद	४	
(v)	अधिच्चसमुपान्तवाद	२	

२. अन्त सम्बन्धो ४४ मत (अपरन्तानुदिट्ठी-चतुचतारी वत्थूहि)

१.	उद्धमाघातनिका सञ्ञीवादा	१६	} ४४+१८=६२
२.	" असञ्ञीवादा	८	
३.	" नेवसञ्ञीनासञ्ञीवादा	८	
४.	उच्छेदवाद	७	
५.	दिट्ठधम्मनिब्बानवाद	५	

इन बासठ मिथ्यादृष्टियों में आत्मा, लोक, पुनर्जन्म जैसे प्रश्नों पर विशेष रूप से विचार किया गया है। किसी निश्चित स्थिति-ज्ञान तक न पहुंचने पर अमराविक्खेपवाद, नेवसञ्ञीनासञ्ञीवाद, उच्छेदवाद आदि जैसे सिद्धान्तों की स्थापना की गई। प्राकृत साहित्य में सम्भवत इन्हीं मतों को ३६३ भेदो मे विभाजित किया गया है—क्रियावाद के १८०, अक्रियावाद के ८४, अज्ञानवाद के ६७ और विनयवाद के ३२।[२] बारहवें अग दृष्टिवाद में भी जैनेतरः मतों का वर्णन रहा होगा। सम्भव है, इन मतों के मूलत दो भेद रहे हो—क्रियावाद और अक्रियावाद। तटस्थ-वृति-ने इसके बाद अज्ञानवाद को, और उसके उपरान्त विनय वाद को जन्म दिया होगा।

१. **क्रियावाद**—इस दर्शन के अनुसार जीव का अस्तित्व है और वह अपने पुण्य-पाप रूप कर्मों के फल का भोक्ता है। इन कर्मों की निर्जरा कर उसके मत में जीव निर्वाण प्राप्त कर लेता है। कही-कही क्रिया का अर्थ चारित्र भी किया गया है। तदनुसार व्यक्ति को क्रिया ही फलदायी होती है, ज्ञान नही; क्योंकि वह ज्ञान से संतुष्ट नही होता। अतः एकान्त रूप से जीवादि पदार्थों को स्वीकारने वाला मत क्रियावाद है। उसके १८० भेद हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप, ये नव पदार्थों के स्वतः और परत के भेद से दो प्रकार के है। वे नित्य और अनित्य भी रहते है। पुनः ये सभी भेद काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा के भेद से ५ प्रकार के है। इस प्रकार ९×२×२×५ =१८० भेद हुए।

क्रियावाद की दृष्टि में ज्ञान रहित क्रिया से किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं होती। 'इसीलिए पढमं नाणं तओ दया" कहा गया है। 'अहं सु विज्जाचरणं पमोक्खम' का भी यही सदर्भ है[३]। इसी प्रसंग में सांख्य, वैशेषिक, नैयायिक एवं बौद्धों को क्रियावादी कहा गया

१. दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त।
२. सूत्रकृतांग, निर्युक्ति १, १२, ११९।
३. वही, १, १२, ११।

है। जैन दर्शन भी क्रियावादी है। उसके अनुसार काल, स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ, कर्म आदि समस्त पदार्थों को पृथक्-पृथक् मानना मिथ्या है। उनके सम्मिलित स्वरूप को ही यहाँ स्वीकार किया गया है[१]।

२. **अक्रियावाद**—क्रियावाद के विपरीत अक्रियावाद आत्मा, पुण्य, पाप आदि कर्मों का कोई स्थान नहीं। लोकायतिक और बौद्धों को इस दृष्टि से अक्रियावादी कहा जा सकता है। पालि साहित्य मे निगण्ठनातपुत्त को क्रियावादी कहा गया है जबकि बुद्ध ने स्वयं को क्रियावादी और अक्रियावादी, दोनो माना है। क्रियावादी इसलिए कि वे जीवों को सत्कर्म करने के लिए प्रेरित करते है और अक्रियावादी इसलिए कि वे इस कर्म को त्यागने का उपदेश देते है। सूत्रकृतांग में भी बुद्ध को एक स्थान पर क्रियावादी और दूसरे स्थान पर अक्रियावादी कहा गया है। आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करने के कारण उसे यहाँ सम्मिलित किया गया है; अन्यथा वह क्रियावादी ही है।

अक्रियावाद के ८४ भेद है। जीवादि सप्त पदार्थ और उनके स्व-पर के भेद से दो भेद है। वे सभी भेद पुनः काल, यदृच्छा आदि के भेद से छ प्रकार के हैं। इस प्रकार ७×२×६=८४ हुए।[६] आत्माके अक्रिय होने पर अक्रियावाद में कृतनाश और अकृताभ्यागमदोष आवेगे। समस्त वस्तु जगत भी सर्व वस्तु स्वरूप हो जायेगा[१]।

३. **अज्ञानवाद**—इसके अनुसार श्रमण ब्राह्मणों के मत परस्पर विरुद्ध है, अतः असत्य के अधिक निकट है। इसलिए अज्ञान को ही श्रेष्ठ माना जाना चाहिए। फिर संसार में कोई अतिशय ज्ञानी नहीं जिसे सर्वज्ञ कहा जा सके। ज्ञान ज्ञेय पदार्थ के पूर्ण स्वरूप को एक साथ जान भी नही सकता। अज्ञानता होने से चित्त-विशुद्धि अधिक बनी रह सकती है। अज्ञानवादी जिस अज्ञान को कल्याण का कारण मानते है। वह ६७ प्रकार का है—सत्, असत्, सद्सत्, अवक्तव्य, असद् वक्तव्य और सद्सद्वक्तव्य। इन सात प्रकारों से जीवादिक नव पदार्थ नही जाने जा सकते। अजीवादि पदार्थों में भी प्रत्येक के सात विकल्प होते है। अतः ९×७=६३ मत हुए। इनमें चार भेद और मिलाये जाते है—(i-iii) अर्थ की उत्पत्ति सत् असत्, सद्सत् से होती है, यह कौन जानता है और उससे फल भी क्या है, (iv) वह अवक्तव्य भी होती है, यह कौन जानता है और उस जानने से फल भी क्या है[३]।

दीघनिकाय के अनुसार अज्ञानवाद का प्रस्थापक सञ्जयवेलट्ठिपुत्त है। वे हर दार्शनिक समस्या के प्रति अज्ञानता और अनिश्चितता व्यक्त करते है। शीलांक सञ्जय का नाम ही भूल गये। उन्होंने उपर्युक्त सिद्धान्त जिन आचार्यों से सम्बद्ध मानते है वे शत प्रतिशत् सही नहीं लगते। उदाहरणार्थ उन्होने मक्खलि गोसाल का सम्बन्ध अज्ञानवाद, नियतिवाद और विनयवाद से जोड़ा है जबकि सञ्जय वेलट्ठिपुत्त से अपरिचितता व्यक्त की है। वस्तुतः अज्ञानवाद संजय वेलट्ठिपुत्त का सिद्धान्त है। और नियतिवाद मक्खलि गोसाल का। पालि साहित्य में इसे अधिक स्पष्ट किया गया है। भगवती सूत्र में भी गोसालक को नियतिवाद का प्रवक्ता माना गया है। सूत्रकृतांग ने अज्ञानवाद को 'पासबद्धा', 'मिच्छादिट्ठी', 'अणारिया' जैसे विशेषणों से सम्बद्ध किया है। भ० महावीर के धर्म को स्वीकारने वालों में सञ्जय का नाम आता है। संभव है, वे संजय वेलट्ठिपुत्त ही हों।

४. **विनयवाद**—विनयवादी विनय से ही मुक्ति मानते है। समस्त प्राणियों के प्रति वे आदर भाव व्यक्त करते है। किसी की निन्दा नही करते। विनयवाद के ३२ भेद हैं—देवता, राजा, यति, ज्ञाति, वृद्ध, अधम, माता और पिता। इन आठ व्यक्तियों का मन, वचन, काय और दान के द्वारा विनय करना अभीष्ट है। अतः ८×४=३२ भेद हुए। पालि साहित्य से पता चलता है कि यह बात लोकप्रिय रहा होगा। महात्मा बुद्ध भी स्वयं को वेनयिको समणो गोतमो कहते[५] है। सूत्रकृतांग ने वही विनय कल्याणकारी बताया है जो सम्यग्दर्शन से युक्त हो।

१. वही, १, १२ : निर्युक्ति १२१, वृत्ति पृ. २१०-१।
२. सूत्रकृतांग १, १, १२, वृ. पृ. २०८-१; निर्युक्ति ११६-१२१; ६, २७, वृ. पृ. १५२।
३. वही, १, १२, नि. १२१, वृत्ति पृ. २१०-१।
४. वही, १, १२, २ की वृत्ति।
५. अंगुत्तरनिकाय, भाग ३, पृ. २९५।

उपर्युक्त चारों मतों के पुरस्कर्ताओं के विषय में पर्याप्त मतभेद है। अकलंक[1] ने इस सन्दर्भ में कुछ नाम गिनाये है। उनके अनुसार कौत्कल, काणेविद्धि, कौशिक, हरिस्मश्रु, मांछपिक, रोमश, हारीत, मुण्ड, अश्वलायन आदि आचार्य क्रियावादी है। मरीचिकुमार, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वादूलि, माठर, मौद्गलायन आदि आचार्य अक्रियावादी परम्परा के है। साकल्य, वल्कल, कुथुमि, सात्यमुग्र, नारायण, वृद्ध, माध्यन्दिन, मौद, पैप्लाद, वादरायण, अम्बष्ठि, कृदौविकायन, वसु, जेमिनि आदि आचार्य अज्ञानवादी है। वसिष्ठ, पाराशर, जतुकर्णी, वाल्मीकि, रोमहर्षिणी, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यव, इन्द्रदत्त, अयस्थूण आदि वैनयिक आचार्य हैं। इन मतों का निरूपण दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग में हुआ है। चूकि यह अग उपलब्ध नहीं, अत: इस विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। फिर भी यह द्रष्टव्य है कि उक्त आचार्यों में अधिकांश आचार्य पौराणिक है। व्याख्या प्रज्ञप्ति के तीसवें शतक में इन चारों वादों की अपेक्षा से समस्त जीवों का विचार किया गया है।

नियतिवाद :

नियतिवाद का प्रस्थापक मक्खलि पुत्त गोशालक को माना जाता है। यही आजीविक सम्प्रदाय का प्रवर्तक है। पालि साहित्य में मक्खलि शब्द मिलता है पर प्राकृत साहित्य 'मंखलिपुत्र' शब्द का उल्लेख आता है। मंख का अर्थ है—हाथ में चित्रपट लेकर उनके द्वारा लोगों को उपदेश देकर आजीविका चलाने वाला भिक्षुक। व्याख्या प्रज्ञप्ति के पन्द्रहवें शतक के उल्लेख से ऐसा लगता है कि यह मंख परम्परा भ० महावीर से पूर्व भी प्रचलित थी। मंखलि महावीर का शिष्य भी बना और बाद मे सघ से पृथक् भी हुआ। उसके शांत, कलंद, कणिकार, अछिद्र, अग्निवेश्यायन और गोमायुपुत्र अर्जुन इन छः शिष्यों (दिशाचरों) का भी उल्लेख मिलता है। ये शिष्य महावीर के पथभ्रष्ट शिष्य थे। इसलिए मक्खलि को और इन शिष्यों को चूर्णिकार ने 'पासत्थ कहा है। पासत्थ पथभ्रष्ट भिक्षुओं के लिए ही अधिक प्रयुक्त हुआ है।[2]

इस मत के अनुसार सत्त्वों के क्लेश और शुद्धि का कोई हेतु-प्रत्यय नही। वे निर्बल, निर्वीर्य, भाग्य और संयोग से छः जातियों में उत्पन्न होते हैं और सुख-दुःख भोगते है। वहाँ शील, व्रत, तप, ब्रह्मचर्य आदि का कोई स्थान नही। सुख-दुःख द्रोण से तुले हुए है। जैसे सूत की गोली फेंकने पर उछलती हुई गिरती है, वैसे ही मूर्ख और पण्डित दौड़कर आवागमन मे पड़कर दुःखों का अन्त करेंगे।[3] प्राकृत साहित्य मे भी नियतिवाद इसी रूप में वर्णित है। वहाँ कहा गया है कि नियतिवाद के अनुसार बाह्य कारणों से उत्पन्न सुख-दुःख स्वयंकृत अथवा परकृत नहीं। इसके पीछे काल, ईश्वर, स्वभाव, कर्म और पुरुषार्थ भी कारण नहीं। उसके पीछे मात्र एक कारण नियति है। महान् प्रयत्न करने पर भी अभव्य वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती और भव्य वस्तु का विनाश नहीं होता।

शीलांक ने आजीवक, अज्ञानवादी और वैनयिक के सिद्धान्तों को मिश्रित कर दिया है और इन तीनों का प्रस्थापक गोशालक को मान लिया है। यह निश्चित ही भ्रामक है। पर इससे यह अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है कि अज्ञानवाद और विनयवाद अधिक लोकप्रिय नहीं हो सके और शीलांक के समय तक ये आजीविक सम्प्रदाय के अग बन गये। गोशालक का त्रैराशिक सिद्धान्त प्रसिद्ध ही है। उसे भी शीलांक ने अस्पष्ट ही रहने दिया।

तज्जीवतच्छरीरवाद :

सूत्रकृताग में प्रथमतः चार्वाक और तज्जीवतच्छरीरवादियों के मत को पृथक्-पृथक् बताया है और बाद में दोनो को एक कर दिया है। तज्जीवतच्छरीरवादी वह है जो शरीर और जीव को एक माने। भूतवादी चार्वाक और तज्जीवच्छरीरवादी में अन्तर यह है कि भूतवादी के अनुसार पांच भूत ही शरीर रूप में परिणत होकर सब क्रियायें करते है परन्तु तज्जीवतच्छरीरवादी के मत में शरीर रूप में परिणत उन पांच भूतो से चैतन्य शक्ति की उत्पत्ति होती है। शरीर के नष्ट होने पर उसका भी विनाश हो जाता है। कर्मफलभोक्ता परलोकगामी आत्मा

१. तत्त्वार्थ वार्तिक १, २०, १२ पृ. ७४।
२. सूत्रकृतांग ३, ४, ६ वृत्ति पृ. ६८; ११, ११३ वृत्ति पृ. १९६ इत्यादि।
३. दीघनिकाय, सामञ्ज फल सुत्त।

जैसे पदार्थ का शरीर से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं। इस दृष्टि से यहाँ पुण्य-पाप कर्मों का भी कोई अस्तित्व नहीं।[१] राजप्रश्नीय में केशी और प्रदेशी के बीच जीव और आत्मा के सन्दर्भ में जो विवाद हुआ, उसमें प्रदेशी तज्जीवतच्छरीरवादी दिखाई देता है।

पालि साहित्य में तज्जीवतच्छरीरवाद को उच्छेदवाद के भेदों में देखा जा सकता है सम्भव है चार्वाक् सम्प्रदाय में कुछ मतमतान्तर रहे हों। और तज्जीवतच्छरीरवाद उनमें से एक रहा हो। शीलांक ने भी इन दोनों को कहीं कहीं अपृथक् माना है।

आत्मषष्ठवादी :

सूत्र-कृतांग मे इसे सांख्य तथा वैशेषिक दर्शन से सम्बद्ध माना है। पांच महाभूत के बाद आत्मा को छठा पदार्थ मान लेने के कारण वे आत्मषष्ठवादी कहे गये है।[२]

आत्माद्वैतवाद :

शीलांक आत्माद्वैतवाद एवं एकान्तात्मद्वैतवाद दोनों शब्दों को समानार्थक मानते है। इसके अनुसार जैसे एक ही पृथ्वी समूह विविध रूपों में लक्षित होती है, उसी प्रकार एक आत्मस्वरूप यह समस्त जगत नाना रूपों में देखा जाला है। उसकी दृष्टि में एक ही ज्ञान पिण्ड आत्मा पृथ्वी आदि भूतों के आकार में अनेक प्रकार का देखा जाता है परन्तु इस भेद के कारण आत्मा के उस स्वरूप में कोई भेद नहीं होता। चेतन अचेतन रूप समस्त पदार्थ एक ही आत्मा है[३]। आत्माद्वैतवाद में न प्रमाण है, न प्रमेय, न प्रतिपाद्य है, न प्रतिपादक, न हेतु है, न दृष्टान्त और न उनका आभास। समस्त जगत आत्मा से अभिन्न होने के कारण एक हो जाता है। इस स्थिति मे पिता, पुत्र, मित्र आदि का भेद नहीं रहता, सुखादिक नहीं रहते। अतः आत्माद्वैतवाद निर्दोष नहीं।

स्वभाववाद :

स्वभाववाद के अनुसार जगत की विचित्रता का मूल कारण स्वभाव है। कण्टक की तीक्ष्णता, मयूर की विचित्रता और मुर्गे का रंग यह सब स्वभाव से ही होता है।[४] बुद्धचरित[५] और शास्त्रवार्तासमुच्चय[६] में भी स्वभाववाद की यही व्याख्या की गई है। शीलांक ने इसे तज्जीवतच्छरीरवाद से सम्बद्ध किया है और यह कारण दिया है कि चूकि पंच महाभूतों से आत्मा पृथक् नही है; इसलिए जगत की विचित्रता में स्वभाववाद कारण रूप माना जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त अव्याकृतवाद, कालवाद, यदृच्छावाद, पुरुषवाद, पुरुषार्थवाद, ईश्वरवाद, दैववाद आदि जैसे अनेक वादों के उल्लेख मिलते है जिन्हें लोकनिर्माण के कारण के रूप में स्वीकार किया गया है। जैन दर्शन में भी इन सभी को कारण माना गया है, परन्तु उनके समन्वित रूप को, न कि पृथक्-पृथक् रूप को।

नहि कालादि हिंतो केवलए हिंतो जायए किंचि।
इह मुग्गरधणाइवि ता सब्बे समुदिया हेउ॥[७]

इसके साथ ही जैनदर्शन मे कर्म को भी ससार के इस वैचित्र्य का कारण बताया गया है। उसको भी सुख दुख का कारण माना गया है। कर्म मूर्त है क्योकि सुखादि से सम्बद्ध होने के कारण भी व्यक्ति तदनुकूल अनुभव करता है। मूर्त कर्म द्वारा अमूर्त आत्मा का उपघात अथवा उपकार उसी प्रकार होता है जिस प्रकार मदिरा आदि मूर्त वस्तुओं द्वारा विज्ञानादि अमूर्त वस्तुओं का। लोक षड् द्रव्यमय है। द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। उसका नूतन पर्यायों में परिणमन, पूर्व पर्यायो का विनाश तथा मूल अंश की स्थिति रहती है। इसमें ईश्वर को परिचालक मानने की आवश्यकता ही नहीं।

आरण्यक :

आरण्यक आरण्य में ही रहना अपना धर्म समझते थे। वे कन्दमूल फलाहारी, वृक्षमूलवासी, ग्रामन्तकवासी तथा सर्वसावद्यानुष्ठान से अनिवृत रहते थे और एकेन्द्रिय जीवों के घात से प्रायः वे अपना निर्वाह करते थे। तापस आदि ऐसे ही होते थे। वे द्रव्यतः अनेक व्रतों का आचरण

१. सूत्रकृतांग १, १, ११ वृत्ति पृ. २०, २।
२. वही १, १, १६ वृत्ति पृ. २४।
३. वही, १, १, ६ वृत्ति पृ. १६।
४. वही, चूर्णि पृ. ३८, दीपिका पृ० ५।
५. बुद्धचरित ५।
६. शास्त्रवार्ता समुच्चय १६६-१७२।
७. सूत्रकृतांग २, ५, १५ वृत्ति।

करने पर भावतः उनसे शून्य रहते थे। इसके पालक प्रायः ब्राह्मण रहा करते थे। अत. वे अपने आपको अहन्तव्य मानते थे। उनका मत था शूद्रं व्यापाद्य प्राणाय मं जपेत् किञ्चिद् दद्यात्।[1] पालि साहित्य मे भी आरण्यकों और परिव्राजकों के पर्याप्त उल्लेख मिलते है।

अन्य सम्प्रदाय :

उपर्युक्त सम्प्रदायो के अतिरिक्त श्रमण साहित्य में और भी अनेक प्रकार के सम्प्रदायों के उल्लेख मिलते है। प्रश्न व्याकरण मे असत्यमापक के रूप में सम्प्रदायों का विभाजन इस प्रकार किया है—

१. नास्तिकवादी अथवा वामलोकवादी—चार्वाक
२. पंचस्कन्धवादी— बौद्ध
३. मनोजीववादी—
४. वायुजीववादी—
५. अन्डे से जगत की उत्पत्ति मानने वाले।
६. लोक को स्वयंभूकृत मानने वाले।
७. संसार को प्रजापति निर्मित मानने वाले।
८. सारे संसार को विष्णुमय मानने वाले।
९. आत्मा को एक अकर्ता, वेदक, नित्य, निष्क्रिय, और निर्लिप्त मानने वाले।
१०. जगत को यादृच्छिक मानने वाले।
११. स्वभाववादी।
१२. देववादी।
१३. नियतिवादी।
१४. ईश्वरवादी।

'नायाधम्मकहाओ' के नंदीमूल नामक पन्द्रहवें अध्याय में एक संघ के साथ विविध मत वालों के प्रवास का उल्लेख है। उन मत वालों के नाम ये हैं—

१. चरक–त्रिदण्डी अथवा कछनीधारी-कौपीनधारी तापस
२. चीरिक —चीथड़ों से निर्मित वस्त्रधारी।
३ चर्मखण्डिक चर्मवस्त्र अथवा चर्मोपकरण रखने वाले।
४. भिच्छुड—भिक्षुक अथवा बौद्ध भिक्षुक।
५. पंडुरग- शिवभक्त, भस्म लगाने वाले।
६. गौतम —साथ मे बैल रखने वाले भिक्षुक।
७. गोव्रती—गोव्रत रखने वाले।
८. गृहिधर्मी—गृहस्थाश्रम को ही श्रेष्ठ मानने वाले।
९. धर्मचिन्तक—धर्मशास्त्र का अध्ययन करने वाले।
१०. अविरुद्ध—विनयवादी।
११. वृद्धा—संन्यास में विश्वास रखने वाले।
१२. श्रावक—धर्मश्रोता।
रक्तपट—रक्त वस्त्रधारी परिव्राजक[1]।

श्रमण साहित्य में पर मतों का उल्लेख अनेक नामों से हुआ है—जैसे एगे पवयमाणा, अन्ययूथिकाः, पासत्था, दिसाचरा, अन्यतीर्थिकाः, मिथ्यादृष्टि वाला आदि। इसलिए उनका सही विवरण मिलना कठिन हो जाता है। सूत्र कृतांग के कुशील अध्ययन में चूर्णिकार ने कुछ असंयमी सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। उनमें प्रमुख हैं—गौतम, गोव्रतिक, रंडदेवता, वीरभद्रक, अग्निहोमवादी तथा जलशौचवादी। ऋषिभाषित[1] ग्रंथ में कुछ अर्हद्रूप ऋषियों का उल्लेख है। उनमे से कुछ ये है—असितदेवल, अंगिरस, (भारद्वाज), महाकश्यप, मंखलिपुत्त, याज्ञवल्क्य, बाहुक, माथुरायण, सोरियायण, वरिसव कण्ह, अरियायण, गाथापतिपुत्र तरुण, रामपुत्र, हरिगिरि, मातंग, वायु, पिंग ब्राह्मणपरिव्राजक, अरुण महासाल, तारायण, सातिपुत्र (बुद्ध), द्वैपायन, सोम, यम, वरुण, वैश्रमण।

औपपातिक सूत्र में गंगातटवासी वानप्रस्थों का उल्लेख मिलता है—

१. होत्तिय—अग्नि होम करने वाले।
२. पोत्तिय—वस्त्रधारी।
३. कोत्तिय—भूशायी।
४. जण्णई—याज्ञिक।
५ सड्ढई—श्रद्धाशील।
६ थालई—सारा सामान लेकर चलने वाले।
७ हुंबउड्ढ—कुण्डी लेकर चलने वाले।
८ दंतुक्खलिय—दांतों से चबाकर खाने वाले।
९ उम्मज्जक, सम्मज्जक और निमज्जक—स्नान करने वाले।
१०. संपक्खाल—शरीर पर मिट्टी लगाकर स्नान करनेवाले

१. सूत्र. २, २, २८-२९।
१. अध्ययन २९ व ३१।
२. औपपातिक ३८वां सूत्र भी देखिये।

११. दक्खिकूलग—गंगा के दक्षिण तट पर रहने वाले।
१२. उत्तरकूलग—गंगा उत्तर तट पर रहने वाले।
१३. संखधमक—शंख बजाकर भोजन करने वाले।
१४. कूलधमक—किनारे पर खड़े होकर आवाज कर भोजन करने वाले।
१५. मियलुद्धय—पशु भक्षण करने वाले।
१६. हत्थितावस—हाथी को मार कर एक वर्ष तक उसे खाने वाले।
१७. उड्डंडक—दण्ड को ऊपर कर चलने वाले।
१८. दिसापोक्खी—दिशा सिञ्चन करने वाले।
१९ वक्कपोसी—वल्कल पहनने वाले।
२०. अंबुवासी—जलवासी।
२१. बिलवासी—विल में रहने वाले।
२२. वेलवासी—समुद्र के किनारे रहने वाले।
२३. रुक्खमूलिआ—वृक्ष के नीचे रहने वाले।
२४. अंबुभक्खी (जलभक्षी), वायुभक्खी और सेवालभक्खी।

इसी सूत्र में प्रव्रजित श्रमण का अलग से उल्लेख किया गया है। संखा (साख्य), जोई (योगी), कविल (कपिल), भिउच्च (भृगु ऋषि के अनुयायी), हस (वनवासी पर भिक्षार्थ ग्रामभ्रमण करने वाले), परमहस (नदी तटवासी तथा वस्त्रादि छोड़कर प्राण त्याग करने वाले), बहुउदय (गाँव में एक रात और नगर में पांच रात रहने वाले), कुडिव्वय (गृहवासी तथा रागादि त्यागी), वृण्ह-परिव्वायग (कृष्ण परिव्राजक) उनमें प्रमुख है। ब्राह्मण परिव्राजकों में कण्डु, करकण्डु, अंबड, परासर, कण्हदीवायण, देवगुप्त और णारय तथा क्षत्रिय परिव्राजकों मे सेलई, ससिहार, णग्गई, भग्गई, विदेह, रायाराय प्रमुख है। ये परिव्राजक वेद-वेदांग में निष्णात, स्नानादि में विश्वास करने वाले, सादे ढंग से रहने वाले अनर्थदण्ड से विरत रहने वाले थे।

अध्यक्ष पाली-प्राकृत विभाग
नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

औपपातिक सूत्र में ही आजीविक श्रमणों के सात प्रकार बताये गये हैं—दुघरंतरिया (दो घर छोड़कर भिक्षा लेने वाले, तिघरतरिया, सताघरंतरिया, उप्पल-बेंटिया (कमल के डंठल खाकर रहने वाले), घरसमुदाणिय (प्रत्येक घर से भिक्षा लेने वाले), विज्जुअंतरिया (विद्युतपात के समय भिक्षा न लेने वाले) तथा उट्टिय-समण किसी बड़े मिट्टी के वर्तन में बैठकर तप करने वाले)। इनके अतिरिक्त अत्तुवकोसिय, परपरिवाइय तथा भूइकम्मिय श्रमण भी थे। सात निह्नवों का भी यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है—बहुरय जीवपएसिय (प्रवर्तक — तिस्यगुप्त), अव्वत्तिय (प्रवर्तक–आविढाचार्य), सामुच्छेइय (संस्थापक–अश्वमित्र, दोकरिया (प्रवर्तक–गगाचार्य), तेरासिया (रहिगुहा सस्थापक) तथा अवद्धिय (सस्थापक माहिल) ये मूलतः किसी न किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध आचार्य थे। आगम साहित्य मे श्रमणों के पांच भेद भी दिये गये है। निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरिक और आजीविक। इनमें से आज निर्ग्रन्थ और शाक्य ही शेष रहे है।

इस प्रकार पालि-प्राकृत-संस्कृत साहित्य में षड्दर्शनों के अतिरिक्त प्राचीनकाल में विशेषतः भ० महावीर के काल मे अनेकवादों का विवरण मिलता है। परन्तु उनका मूल सैद्धान्तिक साहित्य उपलब्ध नही होता। सम्भवतः अधिकांश उक्तवादों का कोई विशेष साहित्य था भी नहीं; अन्यथा उनका उल्लेख अवश्य मिलता। इसलिए प्रतीत होता है कि ये वाद अधिक प्रभावक सिद्ध नही रहे होंगे तथा यह भी सभव है कि उनका जीवन काल अधिक नहीं रहा होगा। आवश्यकता यह है कि इस विषय पर गंभीर शोध की जाय और उनके समूचे सिद्धान्त विविध साहित्य से एकत्रित कर भारतीय सस्कृति में उनके स्थान का निर्णय किया जाय। मानव के लिए उनकी कहाँ तक उपयोगिता है, इसका भी मूल्यांकन किया जाना अपेक्षित है।

□□

भारतीय संस्कृति में अरहन्त की प्रतिष्ठा

□ डा० हरीन्द्र भूषण

'अरहंत' जैन धर्मावलम्बियों के परमाराध्य देव है। इसी कारण अनादिनिधन मंत्र में इन्हें सर्वप्रथम नमस्कार किया गया है—'णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं।' अरहंत शब्द प्राकृत है। इसका संस्कृत रूप है 'अर्हत्'। 'अर्हपूजायाम्' अर्थात्—पूजार्थक 'अर्ह' धातु से 'अर्हः प्रशंसायाम्' पाणिनि-सूत्र से प्रशंसा अर्थ में 'शतृ' प्रत्यय होकर 'अर्हत्' शब्द निष्पन्न होता है। प्रथमा के एक वचन में 'उगिदचां सर्वनामस्थाने धातो.' पाणिनि-सूत्र से 'नुम्' का आगम होकर 'अर्हन्' पद बनता है। सम्बोधन एक वचन में भी 'अर्हन्' रूप बनता है।

प्राकृत भाषा में 'शतृ' प्रत्यय के स्थान पर 'न्त' प्रत्यय होकर 'अर्हंत' रूप बनता है। साथ में प्राकृत व्याकरण के 'इः श्री ह्रीक्रीतक्लान्तक्लेशम्लास्वप्नस्पर्शहर्षार्हगर्हेषु'(प्राकृत-प्रकाश ३.६२), सूत्र के अनुसार र् ह् के मध्य इकार का आगम होकर 'अरिहंत' तथा प्राकृत की परम्परा के अनुसार अकार का आगम होकर 'अरहंत' रूप प्राकृत भाषा में बनते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्राकृत भाषा मे इसका एक रूप 'अरुह भी प्रयोग किया है—'अरुहा सिद्धायरिया' (मोक्त पाहुड ६।१०४) सम्भवतः इस अरुहा शब्द पर तमिल का प्रभाय हो।

'अरहंत' शब्द के विभिन्न भाषाओं में अनेक रूप इस प्रकार हैं—

संस्कृत	अर्हत्
प्राकृत	अरहंत तथा अरिहंत
पालि	अरहन्त
जैन शौरसेनी	अरुह
मागधी	अलहंत तथा अलिहंत
अपभ्रंश	अलहतु तथा अलिहतु
तमिल	अरुह
कन्नड़	अरुहंत, अरुह

अरहंत शब्द का अति प्राचीन इतिहास है। जैन-वाङ्मय के अति प्राचीन ग्रन्थों में तो इस शब्द का प्रयोग हुआ ही है, किन्तु वैदिक बौद्ध एवं संस्कृत वाङ्मय में भी इस शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है।

वैदिक-वाङ्मय में अर्हत् शब्द

आचार्य विनोबा भावे ने ऋग्वेद के एक मंत्र का उद्धरण देते हुए जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध की है। वे कहते हैं—'ऋग्वेद में भगवान की प्रार्थना में एक जगह कहा गया है—'अर्हत् इदं दयसे विश्वमम्बम्' (ऋग्वेद २.३३.१०)—हे अर्हत्, तुम इस तुच्छ दुनिया पर दया करते हो। इसमें अर्हत् और दया दोनों जैनों के प्यारे शब्द हैं। मेरी तो मान्यता है कि जितना हिन्दू धर्म प्राचीन है शायद उतना ही जैन धर्म प्राचीन है।'[1]

ऋग्वेद का उपर्युक्त मंत्र इस प्रकार है—

अर्हत् विभर्षि सायकानि
धन्वार्हन्निष्कं यजत विश्व रूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमम्बं
न वा ओ जीओ रुद्र त्वदन्यदस्ति॥

'प्रतिष्ठातिलक के कर्ता आचार्य नेमिचन्द्र ऋग्वेद के उपर्युक्त मंत्र से अत्यन्त प्रभावित प्रतीत होते हैं। उन्होंने उपर्युक्त मंत्र के प्रायः समस्त पदों को ग्रहण करके अर्हन्त के गुणों का निम्न प्रकार विस्तार से वर्णन किया है—

'अर्हत् बिभर्षि मोहारिविध्वंसिनयसायकान्।
अनेकान्तद्योतिनिर्बाधप्रमाणोदारधनुः च॥
ततस्त्वमेव देवासि युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
दृष्टेष्टवाधितेष्टाः स्युः सर्वथैकान्तवादिनः॥
अर्हन्निष्कमिवात्मानं बहिरन्तर्मलक्षयम्।
विश्वरूपं च विश्वार्थं वेदितं लभसे सदा॥
अर्हन्निदं च दयसे विश्वमभ्यंतराश्रयम्।

१. आचार्य विनोबा भावे—श्रमण संस्कृति, पृ० ५७

२. आचार्य नेमिचन्द्र—प्रतिष्ठातिलक १७४-७८

नृसुरासुरसंघातं मोक्षमार्गोपदेशनात् ।।
ब्रह्मासुरजयी वान्यो देश रुद्रस्त्वदस्ति ।[३]

'हे अर्हन् ! आप मोह—शत्रु को नष्ट करने वाले 'नय' रूपी बाणों को धारण करते हो तथा अनेकान्त की प्रकाशित करने वाले निर्बाध प्रमाण रूप विशाल धनुष के धारक हो। युक्ति एवं शास्त्र से अविरुद्ध वचन होने के कार आप ही हमारे आराध्य देव हो। सर्वथा एकान्तवादी हमारे देवता नहीं हो सकते; क्योंकि उनका उपदेश प्रत्यक्ष एवं अनुमान से बाधित है।

'हे अर्हन, आप ऐसी आत्मा को धारण करते हो जो निष्क अर्थात् आभूषण या रत्न की तरह प्रकाशमान है, बाह्य और अन्त: मल से रहित है और जो समस्त विश्व के पदार्थों को एक साथ निरन्तर जानता है। हे अर्हन्, आप मनुष्य, सुर एवं असुर सभी को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हो; अतः विश्व पर दया-भाव से परिपूर्ण हो आप से अन्य कोई और ब्रह्म अथवा असुर को जीतने वाला बलवान् देवता नहीं है।'

ऋग्वेद में अन्य स्थानों पर भी अर्हत पद का प्रयोग मिलता है—

'अर्हन् देवान् यक्षि मानुषत् पूर्वो अद्य।'[३]
'अर्हन्तो ये सुदानवो नरो असामि शव स:।'[४]
अर्हन्ता चित्पुरोदधे शेव देवावर्वते।[५]

ऋग्वेद के उपर्युक्त उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद काल में जैन धर्मावलम्बी अर्हन्त की उपासना करते थे।

वराहमिहिरसंहिता, योगवासिष्ठ, वायुपुराण तथा ब्रह्मसूत्रशंकरभाष्य में भी अर्हत्-मत का उल्लेख मिलता है।

'दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतांदेव:।'[६]

'वेदान्तार्हतसांख्यसौगतगुरुयभ्क्षादिसूक्तादृशो।'[७]
'ब्राह्मं शैवं वैष्णवं च सौरं शाक्तं तथार्हतम्।'[८]
शरीरपरिमाणो हि जीव इत्यार्हतामन्यन्ते।[९]

संस्कृत साहित्य के मूर्धन्य कवि कालिदास ने अपने काव्य-नाटकों मे अनेकत्र 'अर्हत्' का प्रयोग किया है। रघुवंश में, राजा रघु गुरुदक्षिणाभिलाषी कौत्स ऋषि को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—हे अर्हत्, आप दो तीन दिन ठहरने का कष्ट करें तब तक मैं आपके लिए गुरु-दक्षिणा का प्रबन्ध करता हूं—

द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन् यावद्यते साधयितुं त्वदर्थम्।'[१०]

रघुवंश में एक अन्य स्थान पर कालिदास अर्हत् को 'नयचक्षुषे' विशेषण देकर सम्भवत: उनके प्रमाण एव नयो के ज्ञातृत्व की ओर सकेत करते है—

'अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुष।'[११]

शाश्वतकोष तथा शारदीय नाम माला मे अर्हत् शब्द 'जिन' का पर्यायवाची कहा गया है।

'स्तादर्हन् जिनपूज्ययो: ।।[१२]
'तीर्थङ्करो जगन्नाथो जिनोऽर्हन् भगवान् प्रभु:।'[१३]

अमरकोषकार ने अर्हत् को मानने वाले लोगों को आर्हक, स्याद्वादिक तथा आर्हत् कहा है।

'स्यात् स्याद्वादिक आर्हक:-आर्हत् इत्यदि।'[१४]

आचार्य हेमचन्द्र अर्हत् को पदार्थ का यथार्थ वर्णत् करने वाले परमेश्वर कहते हैं—

'यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हत् परमेश्वर:।'[१५]

हनुमन्नाटक में कहा गया है कि जैन शासन के मानने वाले अपने ईश्वर को अर्हत् कहते हैं—

अर्हन्नित्यथ जैनशासनरत: कर्मेति मीमांसका:।'[१६]

---

३. ऋग्वेद—२।५।२२।४।१
४. वही -४।३।६।५२।५
५. वही—३।८६।५
६. वराहमिहिर संहिता ४५।५८
७. वाल्मीकि, योगवासिष्ठ ६।१७३।३४
८. वायुपुराण १०४।१६
९. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, २।२।३३
१०. रघुवंश ५।२५
११. वही १।५५
१२. शाश्वतकोष—६४१
१३. शारदीयास्य नाममाला—हर्षकीर्ति:, ६
१४. अमरकोष २।७।१८ (वणिप्रभा टीका)
१५. हेमचन्द्र, योगशास्त्र २-४
१६. हनुमन्नाटक १, ३

बौद्ध वाङ्मय में अर्हत् शब्द

बौद्ध वाङ्मय में अरहन्त शब्द महात्मा बुद्ध के लिए प्रयुक्त प्रयोग है। अरहन्त के जो गुण पालि-साहित्य में कहे गये हैं। वे बहुत अंशों में जैन अरहन्त के गुणों से समानता रखते हैं। पालि-भाषा के बौद्ध आगम (त्रिपिटिक), 'धम्मपद' में 'अरहन्तवग्गो' नामक एक प्रकरण है। इसमें दश गाथाओं में अरहन्त का वर्णन किया गया है। धम्मपद के अनुसार अरहन्त वह है जिसने अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर ली है, जो शोक रहित है, जो संसार से मुक्त है, जिसने सब प्रकार के परिग्रह को छोड़ दिया है और जो कष्ट रहित है—

'गतद्धिनो विसोकस्स विप्पमुत्तस्स सब्बधि।
सब्बगन्थपहीनस्स परिलाहो न विज्जति॥'
(धम्मपद, अरहन्तवग्गो, ६०)

ऐसा अरहन्त जहां कहीं भी विहार करता है वह भूमि रमणीय (पवित्र) है—

'यत्थारहन्तो बिहरन्ति तं भूमिं रामणेय्यकं।'
(धम्मपद, अरहन्त वग्गो ६२)

महात्मा बुद्ध ने कहा था 'भिक्षुओ, प्राचीनकाल में जो भी अरहन्त तथा बुद्ध हुए थे, उनके भी ऐसे ही दो मुख्य अनुयायी थे जैसे मेरे अनुयायी सारिपुत्त और मौग्गलायन है।' 'संयुक्त निकाय', ५.१६४ (गौतम बुद्ध पृ० १४७)

जैनों के उपास्य अरहन्त

जैन धर्म में पांच अवस्थाओं से सम्पन्न आत्मा सर्वोत्कृष्ट एवं पूज्य मानी गई है। इनमें अरहन्त सर्वप्रथम हैं। अरहन्त किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है। वह तो आध्यात्मिक गुणों के विकास से प्राप्त होने वाला महान् मङ्गलमय पद है।

जैनागम में अरहंत का स्वरूप निम्न प्रकार बताया गया है—जिन्होंने चार घातियाकर्मों का नाश कर दिया है, जो अनन्त दर्शन सुख ज्ञान और वीर्य के धारक हैं, जो उत्तम देह में विराजमान अर्थात् जीवनमुक्त हैं, और जिनकी आत्मा शुद्ध है, वे अर्हत् हैं। णट्ठचदुघाइकम्मो दसणसुहणाण वीरियमईओ।

सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचितिज्जो॥
(द्रव्य संग्रह ५०)

धवला टीका में अरिहन्त का अर्थ करते हुए लिखा है कि—

अरिहननादरिहंता, ... रजोहननादा अरिहन्ता, अतिशय पूजार्हत्वादा अरिहन्ताः[१७]

अर्थात् अरिहन्त वे हैं जिन्होंने कर्म-शत्रुओं का अथवा कर्ममल का नाश कर दिया है तथा जो अतिशय पूजा के योग्य हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द 'बोधपाहुड में अरिहन्त के गुणों का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

जरवाहिजम्ममरणं चउगइगमणं च पुण्णपावं च।
हंतूण दोषकम्मे हुउणाणमयं च अरहंतो॥[१८]

अर्थात् जिन्होंने जरा, व्याधि, जन्म, मरण, चतुर्गति-गमन, पुण्य, पाप—इन दोषों तथा कर्मों का नाश कर दिया है और जो ज्ञानमय हो गये हैं वे अरहत हैं।

अरहंत की इन्हीं विशेषताओं को पंचाध्यायी में इस प्रकार कहा गया है—

दिव्यौदारिकदेहस्था धौतघातिचतुष्टयः।
ज्ञानदृग्वीर्यसौख्याढ्यः सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः॥[१९]

उपसंहार

भारतीय समस्त साहित्य में अरहन्त शब्द अतिशय पूज्य आत्मा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वेदकाल से लेकर अद्यावधि इस शब्द का महत्व है। अरहन्त, जैनों के तो परमाराध्य देव हैं। जैन धर्म में जो चार शरण बतलाए हैं उनमें अरहन्त सबसे पहले शरण हैं—

चत्तारि शरणं पव्वज्जामि। अरहन्ते शरणं पव्वजामि। सिद्धं शरण पव्वज्जामि। साहू शरण पव्वजामि केवलि पणत्तो धम्मो शरणं पव्वज्जामि।

□□

१७. धवला-टीका, प्रथम पुस्तक, पृ० ४२-४४
१८. बोधपाहुड, ३०
१९. पञ्चाध्यायी—२।६०७

श्रमण-साहित्य : एक दृष्टि

☐ मुनि श्री दुलहराज जी

भगवान् महावीर का जीवन-काल ई० पूर्व छठी-पांचवीं शताब्दी [B. C. 527-455] था। उस समय अनेक मत प्रचलित थे। सभी धर्म-प्रवर्तकों का अपना-अपना साहित्य था। सारा साहित्य चार भागों में विभक्त था।

(१) श्रमण साहित्य।
(२) ब्राह्मण साहित्य।
(३) बौद्ध-साहित्य।
(४) जैन साहित्य।

इन चार विभागों में प्रथम विभाग 'श्रमण-साहित्य' ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

उस काल में सभी संप्रदाय दो भागों में विभक्त थे—(१) वैदिक संप्रदाय (२) श्रमण संप्रदाय।

वैदिक संप्रदाय के अन्तर्गत ईश्वरवादी तापस आदि आते थे और श्रमण-संप्रदाय में जैन, बौद्ध, आजीवक, त्रिदण्डी आदि-आदि संप्रदाय आते थे। वैदिक मान्यता के प्रतिनिधि ग्रन्थ वेद सबसे प्राचीन माने जाते थे। कालानुक्रम से उनके ऋषि-महर्षियों ने ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, कल्प-सूत्र आदि की रचना की और वैदिक साहित्य को अपनी उपलब्धियों से समृद्ध किया। महात्मा बुद्ध के उपदेशों को संगृहीत कर बौद्ध-मनीषियों ने उसे त्रिपिटक की संज्ञा दी। भगवान् महावीर की वाणी का संग्रह करके जैन महर्षियों ने उसे अंग और अंग-बाह्य आगम के रूप में उपस्थित किया। यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन कहलाया। भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध से पूर्व जो वैदिकेतर साहित्य था, उसे 'श्रमण-साहित्य' कहा गया। प्रो० ई० ल्यूमेन ने इसे परिव्राजक-साहित्य कहा और डा० विन्टरनिट्ज ने इसे (ऐसेटिक लिटरेचर) श्रमण-साहित्य की संज्ञा दी।[1] इस श्रमण-साहित्य में चौदह पूर्व, क्रियावाद, अक्रियावाद, नियतिवाद आदि सिद्धान्तों को पोषण देने वाला साहित्य समाविष्ट हुआ। जैन, बौद्ध और वैदिक साहित्य में इस प्राचीन 'श्रमण साहित्य' की झांकी उपलब्ध होती है। डा० विन्टरनिट्ज ने लिखा है—In the Sacred texts of the Jainas, a great part of the ascetic literature of ancient India is embodied, which has also left its traces in Buddhist literature as well as in the Epics and the Puranas. Jaina literature is, therefore, closely connected with the other branehes of post vedic religious literature.

"आगम साहित्य में प्राचीन भारत के श्रमण-साहित्य का बहुत बड़ा भाग है। श्रमण-साहित्य का कुछ अंश बौद्ध साहित्य तथा पौराणिक काव्यों में भी मिलता है। अतः जैन-साहित्य वेदों के उत्तरवर्ती वैदिक धर्म-साहित्य से बहुत संबधित है।"

महाभारत आदि ग्रन्थों में अनेक स्थल ऐसे है जिनसे यह स्पष्ट विदित होता है कि उसमे प्रतिपादित धर्म-रहस्य ब्राह्मणेतर-परम्परा का है।[2] यह ब्राह्मणेतर परम्परा श्रमण-परम्परा से अतिरिक्त नहीं है।

भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध सम-सामयिक थे। उनका कार्य क्षेत्र एक था। राजगृह, नालन्दा, वैशाली श्रावस्ती, पाटलिपुत्र आदि-आदि नगर इनके प्रचार के केन्द्र थे। अतः यह स्वाभाविक था कि उनकी साधना-पद्धति भी कई समान रेखाओं पर चली। आचार और विचार की कुछ समानताओं का प्रतिबिंब उनके साहित्य में आज भी उपलब्ध होता है। इन समानताओं के आधार

1. Some Problems of Indian literature–Ascetic literature of ancient India· Page 21.
2. Jainas in Indian iiterature Page 6, 7.

पर किस पद्धति का किस पर प्रभाव पड़ा है, यह असंदिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता। इस विषय में हमें यह नहीं भुला देना चाहिए कि कोई भी साहित्य पारिपार्श्विक वातावरण के आदान-प्रदान से मुक्त नहीं रह सकता। इस विषय पर हम आगे चर्चा करेंगे।

जैन आगम-साहित्य के ऐसे अनेक स्थल है जिनकी तुलना बौद्ध-साहित्य से तथा ब्राह्मण-साहित्य से भी की जा सकती है। हजारों श्लोक ऐसे है जिनमे शब्द-साम्य तथा अर्थ-साम्य है। इस प्रकार की रचनाओं से पाठक के मन में यह प्रश्न उभर आता है कि पहले कौन ? इस प्रश्न का उत्तर इतना सहज नही है। जैन आगम वीर निर्वाण की दशवीं शताब्दी (९९३) मे लिपिबद्ध किए गये। इससे पूर्व वे नहीं लिखे गये—यह असंदिग्ध रूप से नही कहा जा सकता। इस एक सहस्राब्दी में स्मृतिभ्रंश आदि दोषों के कारण अनेक स्थल पूर्ण विस्मृत हो गए, अनेक स्थल अर्द्ध-विस्मृत हुए और अनेक नए स्थलों का यथा-स्थान समावेश हुआ। स्वयं आगम इसके साक्षी हैं।

बौद्ध साहित्य भी इसका अपवाद नही रहा। उसमें भी नए-नए समावेश हुए और बौद्धाचार्यों ने उसे साहित्यिक रूप देकर जन योग्य प्रणाली में प्रस्तुत किया। इस कार्य पद्धति से अनेक प्राचीन स्थल बदल गए। नए स्थलों को यथा स्थान बैठाया गया।

भिक्षु आनन्द कौशल्यायन ने लिखा है—"प्रश्न हो सकता है कि त्रिपिटक तो बुद्ध के ५०० वर्ष बाद लिपिबद्ध किया गया। इतने समय में उसमे कुछ मिलावट की काफी संभावना है। हो सकता है लेकिन फिर त्रिपिटक पर किस दूसरे साहित्य को प्राथमिकता दें ? यदि यह मान भी लिया जाय कि बुद्ध की अपनी शिक्षाओं के साथ कहीं-कहीं त्रिपिटक में कुछ ऐसी शिक्षाएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं जिनकी संगति बुद्ध की शिक्षाओं से आसानी से नहीं मिलायी जा सकती, तो भी हम बुद्ध की शिक्षाओं के लिए त्रिपिटक को छोड़कर और किसी दूसरे साहित्य की शरण लें।"[3]

डा० आर० सी० मजूमदार ने माना—'यह कोई नही मानता कि पिटकों में केवल बुद्ध के ही वचन है। यह सही है कि बुद्ध के वचनों का बहुलांश भाग बौद्ध भिक्षुओं में प्रचलित था और उन्हीं का संग्रह पिटकों में किया गया है। परन्तु वर्तमान में पिटकों के विभिन्न अंश, उन का वर्तमान व्यवस्थापन और विभाग निश्चित ही बहुत काल बाद का है।'[4]

बौद्ध पिटक का बहुलांश भाग अशोक के समय में लिखा गया और उसको पूर्णरूप बहुत आगे तक मिलता रहा।

बौद्ध साहित्य महात्मा बुद्ध तथा उनके उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा ग्रन्थित है। इससे पूर्व उनका साहित्य किसी भी रूप में रहा हो, यह नहीं माना जाता। जो वर्तमान जैन आगम है, वे भगवान् महावीर की परम्परा के हैं। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इन पर व्याख्यात्मक ग्रन्थ लिखे और उसे सुबोध बनाने का प्रयास किया; परन्तु भगवान् महावीर से पूर्व भगवान् पार्श्व की परम्परा का साहित्य उपलब्ध था और अनेक पार्श्वापत्यीय श्रमण उस साहित्य के उद्गाता थे। भगवान् महावीर के समय में वे काफी संख्या में थे। पार्श्वापत्यीय श्रमणोंपासकों का उल्लेख आगम साहित्य में भी आया है। जब पार्श्व की परम्परा भगवान् महावीर की परम्परा में विलीन हो गयी, तब उस परम्परा से चतुर्दश पूर्व का ज्ञान भी उसी में अन्तर्निहित हो गया। अत: जैन परम्परा भगवान् महावीर से प्राचीन है और उसका साहित्य भी पुराना है। उस साहित्य को लिपिबद्ध करने के लिए तीन प्रमुख वाचनायें हुई और अन्तिम वाचना वीर (९९३) में उसे व्यवस्थित रूप दिया गया। इस वाचना में अनेक प्राचीन घटनायें संगृहीत हुई। इससे उन घटनाओं की प्रामाणिकता बढ़ी। अत: जैन साहित्य को केवल लिपिबद्धता के आधार पर अर्वाचीन और अविश्वसनीय मानना उचित नहीं लगता।

जैन, बौद्ध और वैदिक साहित्य में अनेक समान कथानक आते है। कहीं-कही वे एक से लगते हैं, कहीं-कहीं उनकी व्याख्या—पद्धति और कथावस्तु में अन्तर भी लगता है। उत्तराध्ययन सूत्र मे अनेक कथायें ऐसी हैं जिनका उल्लेख बौद्ध तथा वैदिक साहित्य में भी हुआ है। जैसे—

3. बुद्ध वचन (द्वितीय संस्करण) भूमिका पृ० २

4. Ancient India, Page 182.

श्रमण-संस्कृति : इतिहास और पुरातत्त्व के संदर्भ में

☐ अणुव्रत-परामर्शक मुनि श्री नगराज जी

आर्यों का आगमन :

मेक्समूलर तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों की गवेषणाओं ने यह तो सर्व-सम्मत रूप से प्रमाणित कर दिया है कि किसी युग मे उत्तरी क्षेत्रों से बहुत बड़ी सख्या में आर्य लोग भारतवर्ष में आए। उन लोगों की एक व्यवस्थित सभ्यता थी। यहां के आदिवासी लोगों को उन्होने सामाजिक, राजनैतिक आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों मे परास्त किया और उत्तर से दक्षिण तक समग्र देश में *अपनी संस्कृति का प्रभाव बढाया। यह वही सभ्यता* है, जिसे लोग वैदिक सभ्यता के नाम से अभिहित करते है।

प्राग्-आर्य सभ्यता :

इस गवेषणा के साथ अब तक यह तथ्य भी जुड़ा हुआ था कि आर्यों के आगमन से पूर्व इस भारतवर्ष में कोई समुन्नत, सभ्यता या संस्कृति नही थी। जैन और बौद्ध परम्पराएं भी इसी संस्कृति की उत्क्रान्तिया-मात्र हैं। इन दिनों में जिस प्रकार इतिहास करवट ले रहा है, उससे यह स्पष्ट होता जा रहा है कि आर्यों के आगमन से पूर्व यहां एक समुन्नत संस्कृति और सभ्यता विद्यमान थी।[1] वह संस्कृति अहिंसा, सत्य और त्याग पर आधारित थी। यहां तक कि उस संस्कृति मे पले-पुसे लोग अपने सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक हितों के संरक्षण के लिए भी युद्ध करना पसन्द नही करते थे। अहिंसा उनके जीवन-व्यवहार गा प्रमुख अंग थी।[2]

भौतिक विकास की दिशा मे भी वे लोग प्रगति के शिखर पर थे। उनके आवास, उनके ग्राम और उनके नगर बहुत व्यवस्थित थे और हाथी व घोड़ों की सवारी भी वे करते थे। उनके पास गमनामगन के यान भी थे,[3] यहां तक कि उनमें भक्ति और पुनर्जन्म के विचारों का भी विकास था।[4]

त्रिमुख मूर्ति :

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से मिलने वाले पुरातत्त्वावशेष उपरोक्त धाराओं के आधार बनते हैं। इन अवशेषों में एक योगासन स्थित त्रिमुख योगी की प्रतिमा विशेष उल्लेखनीय है। उस मूर्ति के सम्मुख हाथी, व्याघ्र, महिष और मृग आदि पशु स्थित है।[5] इस मूर्ति के विषय में विद्वानों द्वारा नाना कल्पनाएं की गई है।

बहुतों का कथन है—यह पशुपति शिव की मूर्ति है।[6] यह भी सोचा गया है कि योगसूत्र —'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत् सन्निधौ वैरत्याग, के सूचक किसी पहुचे हुए योगी की मूर्ति है।[7]

शिव या शान्ति जिन ?

त्रिमुख मूर्ति के अवलोकन से अर्हत्-अतिशयों से अभिज्ञ व्यक्ति के मन में यह कल्पना भी सहज रूप से होती है कि समवसरण-स्थित चतुर्मुख तीर्थंकर का ही वह कोई शिल्प-चित्रण है। उसकी बनावट के साथ एक मुख

---

1. Ancient India (An Ancient History of India—Part I) By Majumdar, Roy Chaudhary and K. C. Datta, P. 23.
2. The Religion of Ahinsa, By Prof. A. Chakaravarti, M. A. P. 17.
3. Mohan-Jo-dro and the Indus civilization (1931) Vol 1 P.P. 93-5.
4. Ancient Indla (An Ancicnt History of India Part 1) By majumdar, Ray Chaudhary and K. C. Dutta P. 21)
5. Mohan-jo-dro and the Indur civilization (1931) vol. 1, P.P. 32-3.
6. mohan-jo dro and the Indus civilization (1931) Vol. 1, P.P. 52-3.
7. Ahinsa in Indian culture, by Dr. Nathmal Tantia m.A., D. Litt.

का अदृश्य होना स्वाभाविक है। यह विशेषता तो तीर्थकरों की स्वय-सिद्धि है ही कि उनके सान्निध्य में व्याघ्र, गज, मृग आदि नित्य विरोधी पशु भी मैत्री पूर्वक बैठते है। मृग की अवस्थिति ठीक वैसे ही है, जैसे वर्तमान युग में शान्तिनाथ प्रभु की मूर्तियों में हुआ करती है। मृग सोलहवें तीर्थङ्कर का लाछन भी है। यह कल्पना इस लिए की जा सकती है कि हड़प्पा और मोहनजोदडों की खुदाइयों मे कुछ अन्य मूर्तिया तथा मुद्राएं उपलब्ध हुई है, जिनसे जैन तीर्थकर और जैन सस्कृति का आभास मिलता है, ऐसा विद्वानो का अभिमत[8] है।

त्रिमुख मूर्ति के विषय मे उपर्युक्त कल्पना एकाएक भले ही कुछ दूर की लगे, पर उस सम्बन्ध से शिव की कल्पना करने में भी विद्वान् पूरा निर्वाह नहीं कर पा रहे है। उनका कहना है कि तीन नेत्रो के स्थान पर तीन मुख हो सकते है और त्रिशूल के द्योतक, मूर्ति के दिखलाये दो सीग हो सकते है। सचमुच ही यह कल्पना बहुत ही लचीली और खीचतान की सी है। कुछ भी हो; त्रिमुख मूर्ति से इतना तो निर्विवाद है ही कि आर्यों के आगमन से पूर्व उस प्रदेश मे ध्यान और मुनित्व का अस्तित्व वर्तमान था।

प्रागार्य वंश :

सुप्रसिद्ध विद्वान प्रो० ए० चक्रवर्ती का कहना है,[9] 'ऐसा कहा जाता है, भगवान् ऋषभ इक्ष्वाकुवंश के थे। अन्य अधिकाश तीर्थङ्कर भी इसी वश के थे। भगवान् श्री महावीर के समकालीन शाक्य मुनि गौतम बुद्ध भी इसी इक्ष्वाकुवंश के थे। अवतार पुरुष माने जाने वाले राम भी इक्ष्वाकुवंश के थे। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत मे इक्ष्वाकुवंश का एक सम्मानित स्थान था। बहुत सम्भव है, इक्ष्वाकु लोग प्रागार्य थे; क्योकि वैदिक संहिताओं मे उन्हे उस देश के प्राचीन लोगों में से माना है। यद्यपि भगवान् ऋषभ इक्ष्वाकुवंश के थे तथापि एक विद्याधर राज-कन्या से भी उन्होने विवाह किया। इसीलिए उनकी रानी और देश के प्रथम चक्रवर्ती की माता विद्याधर वंश की थी। इससे यह प्रमाणित होता है कि इक्ष्वाकु और विद्याधर प्राग्-आर्य-काल में यहाँ रहते थे और उनमे मैत्री-सम्बन्ध था, जो उक्त विवाह-प्रसंग से जाना जाता है।

एक और प्रागार्य वश पर भी हमें यहां ध्यान देना चाहिए। हरिवंश के लोग देश के पश्चिम भाग में रहने वाले थे। श्रीकृष्ण और भगवान् अरिष्टनेमि दोनो हरि-वंश के थे। इस वंश के राजा अहिंसा धर्म के रक्षक होने के रूप मे सुविख्यात है। इतिहास के इस सिंहावलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यों के आने से पहले भी अहिंसा-धर्म इस देश मे व्यापक था और वह राज-परिवारों के द्वारा समादृत था। सम्भव तो यह भी है कि वह देश के बहुत सारे भागों में राजधर्म भी था। प्रागार्य विद्याधर, जो कि प्रागार्य सभ्यता और संस्कृति के मूल पुरुष थे, द्रविड लोगो के पूर्वज माने जाते है। यदि पुरातत्त्व-गवेषक विद्वानों की यह मान्यता स्वीकार हो जाती है तो इस निश्चय पर पहुंच ही जाते हैं कि वह अहिंसा-धर्म ही है जो प्राचीन द्रविड संस्कृति और सभ्यता का आधार था।

डा० ए० सी० सैन, एम० ए०, एल-एल० बी, पी-एच० डी० (हैम्बुर्ग) का भी अभिमत है[10]—बुद्ध और महा-वीर के विचार वैदिक संस्कृति से स्वतन्त्र रूप मे विकसित हुए है और यह बहुत सम्भव है कि इनमे से बहुत सारे विचारों का प्रारम्भ प्राचीन प्रागार्य और प्राग् वैदिक युग में हो चुका था।

नवागत संस्कृति और श्रीकृष्ण :

इतिहास और अनुसन्धान के क्षेत्र में यह तो निर्विवाद निश्चित है ही कि आर्य-संस्कृति लोकैषणा-प्रधान थी; आत्मा, पुनर्जन्म, मोक्ष, अहिंसा, सत्य तथा त्याग जैसी मान्यताएं उनमे नहीं थी। विभिन्न देवों की हिंसा-प्रधान यज्ञों से उपासना करना और अपना भौतिकी इष्ट मांगना

8. Kamta Prasad Jain in his paper in the Voice of Ahinsa-Tirthankar Rishbhadeva Number, Vol. VII N. 3-4 march-April 1957, P.P. 152-6.
9. Ancient India (An Advanced History of India Part 1) By Majumdar Ray, Chaudhary and K.C. Dutta, P. 20.
10. The Religion of Ahinsa, p.p. 37-31.
11. Elements of Jainism, p. 2.

भारत का ही स्वर्णयुग नहीं था प्रत्युत जिस काल में महावीर और बुद्ध भारत का नेतृत्व कर रहे थे, विश्व का नेतृत्व भी कही ईसा तो कहीं मोहम्मद साहब सम्भाले हुए थे। यह सब हो रहा था सापेक्षता के आधार पर।

महावीर आज भी विद्यमान है, इसलिए कि जैन विद्यमान है। और अब जैन है तो वे बिना नेता के नही हो सकते। संसार कहीं भी बिना नेतृत्व के कभी खड़ा नहीं हुआ। नेतृत्व ने जब चाहा भयानक नर संहार की घोषणा कर दी, विसंगतियों को पनपने की छूट दे दी। नेतृत्व ने चाहा तो आनन्द की वर्षा होने लगी, स्वर्ण और रत्न बरसने लगे।

हमारा देश स्वतन्त्र हो चुका है। महावीर का जन-तन्त्र, प्रजातन्त्र के रूप में पुनः स्थापित हुआ है, तो दीर्घ-कालीन तमिस्रापूर्ण रात्रि का यह अन्तिम प्रहर है। अभ्युदय निकट है। प्राची से प्रकाश की ओर कदम रखता अंशुमालि पुनः प्रकट हो रहा है। हमे जीवन की ओर अग्रसर होना है। हमें सही पथ प्रदर्शन चाहिए। महावीर से अनुप्राणित ही सही नेतृत्व दे सकता है गन्तव्य की प्राप्ति के लिए। तो हमें नेता की ओर दृष्टिपात करना होगा। महावीर पर एक दृष्टि डालें तो वे नग्न दिखाई देते हैं। यह नग्नता स्वय की ओर जितनी अर्थपूर्ण है, उतनी ही समष्टि की ओर भी। महावीर प्रस्तुत है सब त्याग कर परमार्थ की ओर। घर होगा तो घर के आग्रह होंगे, वस्त्र होंगे तो शरीर के आग्रह होंगे। उनकी, समग्र को कल्याण भावना भटक न जाये, महावीर पूर्ण अपरि-ग्रही हो जाते हैं। जैसे ही जनका व्यक्तिगत घर छूटता है तो वे बराबर के निकट हो जाते हैं। एक और दृष्टि महावीर को सोचने की। महावीर को दीन, दुखी और दरिद्र के भी निकट जाना था तो वे वैभव को त्याग कर ही सामीप्य प्राप्त कर सकते थे। वे उनके कष्टों को जीवन में अनुभव करके जानना चाहते थे और उन्होंने जाना, और उनसे तादात्म्य स्थापित किया।

जिन्होंने भी सही नेतृत्व किया है, इसी स्थिति में ठहरे है। नेता आदेश नही देता, आदर्श उपस्थित करता है। आदेशों की अवज्ञा होती है, आदर्शों का अनुकरण और सम्मान। चाणक्य पूरे गुप्त साम्राज्य का संचालक रहा पर उसका निवास झोंपड़ी था। समर्थ रामदास, शिवाजी और हिन्दू राष्ट्र के पथ प्रदर्शक थे पर स्वयं एक लंगोटी मे सन्तुष्ट थे। ऋषि और मुनि कुटियो में रहते थे, सम्राटों के राज्य संचालन के केन्द्र-बिन्दु थे। वर्तमान भारत के स्वातन्त्र्य यज्ञ के अधिष्ठाता महात्मा गांधी भी संत ही थे। क्या वे वैभव का जीवन बिताने में असमर्थ थे? नही, किन्तु यह समर्थता धारण करना उनकी आत्म-स्वीकृति के बाहर था। नेतृत्व सदैव उदार, निस्पृह, निस्वार्थ एवं अपरिग्रही होता है; तभी नेतृत्व सफल होता है। महावीर ऐसे ही नेता थे। सब को सब कुछ दिया निष्काम होकर। उन्होने जन-जन को समृद्ध किया जड़ता रहित विवेक से सम-अभ्युदय के लिए, सम-विकास के लिए।

प्रजातन्त्र का अर्थ भी यही है। प्रजा का तन्त्र केवल समानता है। एक ओर पूंजी और दूसरी ओर दरिद्रता, यह प्रजातन्त्र की घोषणा के विपरीत हैं। इसलिए जन-तन्त्र में जन्मे महावीर समत्व की घोषणा करते है प्रजा के यथार्थ तन्त्र की व्यवस्था के लिए। प्रजातन्त्र का अर्थ है जातीयता का भाव। महावीर ने जातीयता को सजातीयता में बदल दिया। प्रजातन्त्र का अर्थ है एकता। महावीर ने अनेकान्त से एकता की स्थापना की। भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ भेद का कारण बनती हैं, महावीर ने इस विज्ञान को जान लेने की बात कही जिसे जान लेने के उपरान्त भेद की दीवारे गिर जाती है, एकता का धरातल निर्मित हो जाता है। प्रजातन्त्र का अर्थ है पूर्ण विकास। इसके लिए महावीर ने सम्यकत्व प्रतिपादित किया, जहा केवल समानता होगी, कलह नही होगा, घृणा नहीं होगी और तब होगी केवल समृद्धि, जो आज खीचातानी मे टूट रही है। प्रजातन्त्र का अर्थ है चरित्र की उज्ज्वलता। महावीर ने सम्यक् चारित्र की घोषणा की, ब्रह्मचर्य को प्रतिष्ठित किया। यह आचरण जीवन के ओज, पुरुषार्थ का आचरण होगा। यहाँ जमाखोरी नही होगी, भ्रष्टाचार नही होगा, तस्करी नही होगी, व्यभिचार नही होगा, समाज उद्दण्ड नहीं होगा, विद्यार्थी सद्आचरण के होगे, गुरुजन विज्ञ एव आदर्श होगे, व्यापारी अर्थचारी नही होगा, अधिकारी स्वेच्छाचारी नही होंगे, कर्मचारी अमोचारी नहीं होगे। यह है नेतृत्व की आदर्शवादिता।

भगवान महावीर का क्रांति-तत्त्व और वर्तमान सन्दर्भ

☐ डा० नरेन्द्र भानावत

क्रान्ति पुरुष

वर्धमान महावीर क्रांतिकारी व्यक्तित्व लेकर प्रकट हुए। उनमें स्वस्थ समाज निर्माण और आदर्श-व्यक्ति-निर्माण की तड़प थी। यद्यपि स्वयं उसके लिए समस्त ऐश्वर्य और वैज्ञानिक उपादान प्रस्तुत थे, तथापि उनका मन उनमें नहीं लगा। वे जिस बिन्दु पर व्यक्ति और समाज को ले जाना चाहते थे, उसके अनुकूल परि-स्थितियां उस समय न थी। धार्मिक जड़ता और अन्धश्रद्धा ने सबको पुरुषार्थरहित बना रखा था, आर्थिक विषमता अपने पूरे उभार पर थी। जाति-भेद और सामाजिक वैषम्य समाज-देह में घाव बन चुके थे। गतानुगतिकता का छोर पकड़ कर ही सभी चले जा रहे थे। इस विषम और चेतनारहित परिवेश में महावीर ने दायित्व को समझा। दूसरों के प्रति सहानुभूति और सदाशयता के भाव उनमें जगे और एक क्रान्तदर्शी व्यक्तित्व के रूप में वे सामने आये, जिसने सबको जागृत कर दिया, अपने-अपने कर्तव्यों का भान करा दिया और व्यक्ति तथा समाज को भूलभुलैया से बाहर निकाल कर सही दिशा-निर्देश ही नहीं किया, वरन् उसका मार्ग भी प्रशस्त कर दिया।

क्रान्ति की पृष्ठभूमि

परिवेश के विभिन्न सूत्रों को वही व्यक्ति पकड़ सकता है जो सूक्ष्मद्रष्टा हो, जिसकी वृत्ति निर्मल, स्वार्थरहित और सम्पूर्ण मानवता के हितों की संवाहिका हो। महावीर ने भौतिक ऐश्वर्य की चरमसीमा का स्पर्श किया था, पर एक विचित्र प्रकार की रिक्तता का अनुभव वे बराबर करते रहे, जिसकी पूर्ति किसी बाह्य साधना से सम्भव न थी। वह आन्तरिक चेतना और मानसिक तटस्थता से ही पाटी जा सकती थी। इसी रिक्तता को पाटने के लिए उन्होंने घर-बार छोड़ दिया, राज-वैभव को लात मार दी और बन गये अटल वैरागी, महान् त्यागी, एकदम अपरि-ग्रही, निस्पृह।

उनके जीवन-दर्शन की यही पृष्ठभूमि उन्हें क्रांति की ओर ले गई। उन्होंने जीवन के विभिन्न परिपार्श्वों को जड़, गतिहीन और निष्क्रिय देखा। वे सबमें चेतनता, गति-शीलता और पुरुषार्थ भावना भरना चाहते थे। धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक क्षेत्र में उन्होंने जो क्रान्ति की, उसका यही दर्शन था।

धार्मिक क्रांति

महावीर ने देखा कि धर्म को लोग उपासना की नहीं, प्रदर्शन की वस्तु समझने लगे हैं। उसके लिए मन के विकारों और विभावों का त्याग आवश्यक नहीं रहा, आवश्यक रहा यज्ञ में भौतिक सामग्री की आहुति देना, यहाँ तक कि पशुओं का बलिदान करना। धर्म अपने स्वभाव को भूल कर एकदम क्रियाकाण्ड बन गया था। उसका सामान्यीकृत रूप विकृत होकर विशेषाधिकार के कठघरे में बन्द हो गया था। ईश्वर की उपासना सभी मुक्त हृदय से नहीं कर सकते थे। उस पर एक वर्ग का एकाधिपत्य-सा हो गया था। उसकी दृष्टि सूक्ष्म से स्थूल और अन्तर से बाह्य हो गई थी। इस स्थिति को चुनौती दिये बिना आगे बढ़ना दुष्कर था। अतः भगवान महावीर ने प्रचलित धर्म और उपासना पद्धति का तीव्र शब्दों में

(पृष्ठ २८ का शेषांश)

इसलिए लोकनायक महावीर के नायकत्व की घोषणा धर्मानुप्राणित राजनीति है, प्रजातन्त्र की जीवनरक्षा के लिए, प्रजातन्त्र के समुन्नत विकास के लिए महावीर २५०० वर्ष पूर्व जनतन्त्र के नायक थे। आज उनका दर्शन ही प्रजातन्त्र का नायकत्व करेगा। अन्तर निर्मल है, केवल मल को हटाना है। ☐☐

सिविल वार्ड नं० १
सेठ भोजराज का बाड़ा
सिनेमा रोड-दमोह (म० प्र०)

खंडन किया और बताया कि ईश्वरत्व को प्राप्त करने के साधनों पर किसी वर्ग विशेष या व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं है। वह तो स्वयं मे स्वतन्त्र, मुक्त, निर्लेप और निर्विकार है। उसे हर व्यक्ति, चाहे वह किसी जाति, वर्ग, धर्म या लिंग का हो—मन की शुद्धता और आचरण की पवित्रता के बल पर प्राप्त कर सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि वह अपने कषायों— क्रोध, मान लोभ— का त्याग कर दे।

धर्म के क्षेत्र मे उस समय उच्छृङ्खलता फैल गई थी। हर प्रमुख साधक अपने को तीर्थंकर मान कर चल रहा था। उपासक की स्वतंत्र चेतना का कोई महत्व नहीं रह गया था। महावीर ने ईश्वर को इतना व्यापक बना दिया कि कोई भी आत्म साधक ईश्वर को प्राप्त ही नही करे, वरन् स्वयं ही ईश्वर बन जाय। इस भावना ने असहाय, निष्क्रिय जनता के हृदय में शक्ति, आत्म-विश्वास और आत्मबल का तेज भरा। वह सारे आवरणों को भेद कर, एकबारगी उठ खड़ी हुई। अब उसे ईश्वर-प्राप्ति के लिए परमुखापेक्षी बन कर नही रहना पड़ा। उसे लगा कि साधक भी वही है और साध्य भी वही है। ज्यों-ज्यो साधक तप, सयम और अहिंसा को आत्मसात् करता जायगा, त्यों-त्यों यह साध्य के रूप में परिवर्तित होता जायगा। इस प्रकार धर्म के क्षेत्र से दलालों और मध्यस्थो को बाहर निकाल कर, महावीर ने सही उपासना पद्धति का सूत्रपात किया।

सामाजिक क्रांति

महावीर यह अच्छी तरह जानते थे कि धार्मिक क्रांति के फलस्वरूप जो नयी जीवन-दृष्टि मिलेगी। उसका क्रियान्वयन करने के लिए समाज के प्रचलित रूढ़ मूल्यों को भी बदलना पड़ेगा। इसी सन्दर्भ मे महावीर ने सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। महावीर ने देखा कि समाज में दो वर्ग है। एक कुलीन वर्ग जो कि शोषक है, दूसरा निम्न वर्ग जिसका कि शोषण किया जा रहा है। इसे रोकना होगा। इसके लिए उन्होंने अपरिग्रह दर्शन की विचारधारा रखी, जिसकी भित्ति पर आगे चल कर आर्थिक क्रान्ति हुई। उस समय समाज में वर्ण-भेद अपने उभार पर था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की जो अवतारणा कभी कर्म के आधार पर सामाजिक सुधार के लिए श्रम-विभाजन को ध्यान में रख कर की गई थी, वह आते-आते रूढ़िग्रस्त ही रह गई और उसका आधार अब जन्म ही रह गया। जन्म से व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहलाने लगा। फल यह हुआ कि शूद्रों की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई। नारी जाति की भी यही स्थिति थी। शूद्रों की और नारी जाति की इस दयनीय अवस्था के रहते हुए धार्मिक क्षेत्र में प्रवर्तित क्रांति का कोई महत्व नहीं था। अतः महावीर ने बड़ी दृढ़ता और निश्चितता के साथ शूद्रो और नारी जाति को अपने धर्म मे दीक्षित किया और यह घोषणा की कि जन्म से कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि नहीं होता, कर्म से ही सब होता है। हरिकेशी चाण्डाल के लिए, सद्दाल पुत्र कुम्भकार के लिए, चन्दनबाला (स्त्री) के लिए उन्होंने अध्यात्म-साधना का रास्ता खोल दिया।

आदर्श समाज कैसा हो ? इस पर भी महावीर की दृष्टि रही। इसीलिए उन्होने व्यक्ति के जीवन मे व्रत-साधना की भूमिका प्रस्तुत की। श्रावक के बारह व्रतों में समाजवादी समाज रचना के अनिवार्य तत्व किसी न किसी रूप में समाविष्ट है। निरपराध को दण्ड न देना, असत्य न बोलना, चोरी न करना, न चोर को किसी प्रकार की सहायता देना, स्वदार-संतोष के प्रकाश मे काम भावना पर नियन्त्रण रखना, आवश्यकता से अधिक सग्रह न करना, व्यय प्रवृत्ति के क्षेत्र की मर्यादा करना, जीवन मे समता, संयम, तप और त्याग वृत्ति को विकसित करना— इस व्रत-साधना का मूल भाव है। कहना न होगा कि इस साधना को अपने जीवन में उतारने वाले व्यक्ति जिस समाज के अंग होंगे, वह समाज कितना आदर्श, प्रगतिशील और चरित्रनिष्ठ होगा। शक्ति और शील का, प्रवृत्ति और निवृत्ति का वह सुन्दर सामञ्जस्य ही समाजवादी समाज-रचना का मूलाधार होना चाहिए। महावीर की यह सामाजिक क्रान्ति हिंसक न होकर अहिंसक है, संघर्ष-मूलक न होकर समन्वय-मूलक है।

आर्थिक क्रान्ति

महावीर स्वयं राजपुत्र थे। धन-सम्पदा और भौतिक वैभव की रंगीनियों से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध था, इसी-

लिए वे अर्थ की उपयोगिता को और उसकी महत्ता को ठीक-ठीक समझ सके थे। उनका निश्चित मत था कि सच्चे जीवनानन्द के लिए आवश्यकता से अधिक संग्रह उचित नही। आवश्यकता से अधिक सग्रह करने पर दो समस्यायें उठ खडी होती है। पहली समस्या का सम्बन्ध व्यक्ति से है, दूसरी का समाज से। अनावश्यक संग्रह करने से व्यक्ति लोभ-वृत्ति की ओर अग्रसर होता है और समाज का शेष अंग उस वस्तु विशेष से वंचित रहता है। फलस्वरूप समाज मे दो वर्ग हो जाते हैं—एक सम्पन्न, दूसरा विपन्न और दोनों में संघर्ष प्रारम्भ होता है। कार्ल मार्क्स ने इसे वर्ग-संघर्ष की संज्ञा दी है और इसका हल हिंसक क्राति में ढूढा है। पर महावीर ने इस आर्थिक वैषम्य को मिटाने के लिए अपरिग्रह की विचारधारा रखी है। इसका सीधा अर्थ है--ममत्व को कम करना, अनावश्यक संग्रह न करना। अपनी जितनी आवश्यकता हो, उसे पूरा करने की दृष्टि से प्रवृत्ति को मर्यादित और आत्मा को परिष्कृत करना जरूरी है। श्रावक के बारह व्रतों में इन सबकी भूमिकायें निहित हैं। मार्क्स की आर्थिक क्राति का मूल आधार भौतिक है, उसमे चेतना को नकारा गया है जबकि महावीर की यह आर्थिक क्रांति चेतनामूलक है। इसका केन्द्र-बिन्दु कोई जड़ पदार्थ नहीं, वरन् व्यक्ति स्वयं है।

बौद्धिक क्रान्ति

महावीर ने यह अच्छी तरह जान लिया था कि जीवन तत्व अपने में पूर्ण होते हुए भी वह कई अशों की अखण्ड समष्टि है। इसीलिए अंशों को समझने के लिए अंश का समझना भी जरूरी है। यदि हम अंश को नकारते रहे, उसकी उपेक्षा करते रहे तो हम अंशों को उसके सर्वाङ्ग सम्पूर्ण रूप में नहीं समझ सकेंगे। सामान्यत: समाज में जो झगड़ा या वाद विवाद होता है, वह दुराग्रह, हठवादिता और एक पक्ष पर खड़े रहने के ही कारण होता है। यदि उसके समस्त पहलुओं को अच्छी तरह देख लिया जाय तो कहीं न कहीं सत्यांश निकल आयेगा। एक ही वस्तु को विचार वा एक तरफ से ही न देख कर उसे चारों ओर से देख लिया जाय, फिर किसी को एतराज न रहेगा। इस बौद्धिक दृष्टिकोण को ही महावीर ने स्याद्वाद या अनेकान्त दर्शन कहा। आइन्स्टीन का सापेक्षवाद इसी भूमिका पर खड़ा है। इस भूमिका पर ही आगे चल कर सगुण-निर्गुण के वाद-विवाद को, ज्ञान और भक्ति के झगड़े को सुलझाया गया। आचार में अहिंसा की और विचार में अनेकान्त की प्रतिष्ठा कर महावीर ने अपनी क्रान्तिमूलक दृष्टि को व्यापकता दी।

अहिंसक दृष्टि

इन विभिन्न क्रान्तियों के मूल में महावीर का वीर व्यक्तित्व ही सर्वत्र झांकता है। वे वीर ही नहीं, महावीर थे। इनकी महावीरता का स्वरूप आत्मगत अधिक था। उसमें दुष्टों से प्रतिकार या प्रतिशोध लेने की भावना नहीं, वरन् दुष्ट के हृदय को परिवर्तित कर उसमें मानवीय सद्गुणों दया, प्रेम, करुणा आदि को प्रस्थापित करने की स्पृहा अधिक है। चण्डकौशिक के विष को अमृत बना देने में यही मूल प्रवृत्ति रही है। महावीर ने ऐसा नहीं किया कि चण्डकौशिक को ही नष्ट कर दिया हो। उनकी वीरता में शत्रु का दमन नही, शत्रु के दुर्भावों का दमन है। वे बुराई का बदला बुराई से नहीं, बल्कि भलाई से देकर बुरे व्यक्ति को भला मनुष्य बना देना चाहते है। यही अहिंसक दृष्टि महावीर की क्रान्ति की पृष्ठ-भूमि रही है।

वर्तमान संदर्भ और महावीर

भगवान महावीर को हुए आज २५०० वर्ष हो गये हैं पर अभी भी हम उन मूल्यो को आत्मसात् नही कर पाये हैं जिनकी प्रतिष्ठापना उन्होंने अपने समय मे की थी। सच तो यह है कि महावीर के तत्व—चिन्तन का महत्व उनके अपने समय की अपेक्षा आज वर्तमान संदर्भ में कहीं अधिक सार्थक और प्रासंगिक लगने लगा है। वैज्ञानिक चिन्तन ने यद्यपि धर्म के नाम पर होने वाले बाह्य क्रियाकाण्डों, अत्याचारों और उन्मादकारी प्रवृत्तियों के विरुद्ध जनमानस को संघर्षशील बना दिया है, उसकी इन्द्रियों के विषय-सेवन के क्षेत्र का विस्तार कर दिया है, औद्योगीकरण के माध्यम से उत्पादन की प्रक्रिया को तेज कर दिया है, राष्ट्रों की दूरी परस्पर कम कर दी है, तथापि आज का मानव सुखी और शांत नहीं

है। उसकी दूरियां बढ गई है। जातिवाद, रंगभेद, भुखमरी, गुटपरस्ती जैसे सूक्ष्म संहारी कीटाणुओं से वह ग्रस्त है। वह अपने परिचितों के बीच रह कर भी अपरिचित है, अजनबी है, पराया है। मानसिक कुण्ठाओं, वैयक्तिक पीड़ाओं और युग की कडवाहट से वह त्रस्त है, सन्तप्त है। इसका मूल कारण है—आत्मगत मूल्यों के प्रति उनकी निष्ठा का अभाव। इस अभाव को वैज्ञानिक प्रगति और आध्यात्मिक स्फुरणा के सामंजस्य से ही दूर किया जा सकता है।

आध्यात्मिक स्फुरण की पहली शर्त है—व्यक्ति के स्वतन्त्रचेता अस्तित्व की मान्यता जिस पर भगवान महावीर ने सर्वाधिक बल दिया और आज की विचारधारा भी व्यक्ति में वाञ्छित मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए अनुकूल परिस्थिति के निर्माण पर विशेष बल देती है। आज सरकारी और गैर-सरकारी स्तर पर मानव-कल्याण के लिए नानाविध संस्थाएं और एजेन्सियां कार्यरत है। शहरी सम्पत्ति की सीमाबन्दी, भूमि की सीलिंग और आयकर-पद्धति आदि कुछ ऐसे कदम है जो आर्थिक विषमता को कम करने में सहायक सिद्ध हो सकते है। धर्म निरपेक्षता का सिद्धान्त भी मूलत इस बात पर बल देता है कि अपनी-अपनी भावना के अनुकूल प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी धर्म के अनुपालन की स्वतन्त्रता है। ये परिस्थितियां मानव इतिहास में इस रूप में इतनी सार्वजनिक बन कर पहले कभी नही आई। प्रकारान्तर से भगवान महावीर का अपरिग्रह व अनेकान्त सिद्धान्त ही इस चिन्तन के मूल में प्रेरक रहा है।

वर्तमान परिस्थितियों ने आध्यात्मिकता के विकास के लिए अच्छा वातावरण तैयार कर दिया है। आज आवश्यकता इस बात की है कि भगवान महावीर के तत्व-चिन्तन का उपयोग समसामयिक जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए भी प्रभावकारी तरीके से किया जाय। वर्तमान परिस्थितिया इतनी जटिल एवं भयावह बन गयी है कि व्यक्ति अपने आवेगों को रोक नही पाता और यह विवेकहीन होकर आत्मघात कर बैठता है। आत्महत्याओं के ये आकडे दिल दहलाने वाले है। ऐसी परिस्थितियों से बचाव तभी हो सकता है जबकि व्यक्ति का दृष्टिकोण आत्मोन्मुखी बने। इसके लिए आवश्यक है कि वह जड तत्व से परे चेतन तत्व की सत्ता मे विश्वास कर यह चिन्तन करे कि मै कौन हू, कहा से आया हू, किससे बना हूं मुझे कहा जाना है? यह चिंतन-क्रम उसमें आत्म-विश्वास, स्थिरता, धैर्य, एकाग्रता जैसे सद्भावों का विकास करेगा। □□

जैन साहित्य में पुद्गल

सृष्टि जिन मूल ६ द्रव्यों से रची हुई है, पुद्गल उनमें से एक है। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, ये चार पुद्गल के गुण हैं। पुद्गल की गलन मिलन की प्रक्रिया में द्वितीयक गुण उत्पन्न होते है, जिसमें भारहीनता एक है। स्निग्ध स्पर्श गुण की अत्यधिक वृद्धि से पुद्गल भारी हो जाता है तथा रुक्ष स्पर्श गुण की अत्यधिक वृद्धि से हलका हो जाता है। विज्ञान की भाषा में स्निग्ध विद्युत ऋणात्मकता का कम होना और रुक्षता विद्युत ऋणात्मकता का बढ़ना है। परमाणुओं का बन्ध विशेष नियमों से होता है। जैन विचार के अनुसार स्निग्ध तथा रुक्ष अपने ही सदृश्य गुण वाले परमाणुओं से जब बन्ध करता है; तो परस्पर में दो अथवा दो से अधिक अंशों का अंतर होना चाहिए। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में ये परमाणु की नाभियें अधिक स्थाई होते हैं तथा बहुतायत में ऐसे तत्त्व पाये जाते हैं जिनमें प्रोटीन की संख्या में दो का भाग जा सके। स्कन्ध दो प्रकार के हैं स्थूल, सूक्ष्म। सूक्ष्म स्कन्ध भी दो प्रकार के हैं—अष्ट स्पर्शी तथा चतुस्पर्शी। चतुस्पर्शी पुद्गलों का व्यवहार अत्यन्त निराला है। ये भारहीन होते हैं। विज्ञान की दृष्टि में भारहीन की कल्पना कठिन है किन्तु क्योंकि भौतिक कण वे ही माने जाते है। जिनमें 'प्रापर मास' तथा गति हो। जैन विचार के अनुसार भौतिक कण भार तभी ग्रहण करते हैं जब उनमें विद्युत ऋणात्मकता की गहरी कमी होती है। पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान जो जैन साहित्य में उपलब्ध है वह आधुनिक विज्ञान के लिए बहुत उपयोगी हो सकता है। □□

महाराज अशोक और जैनधर्म

□ श्री दिगम्बर दास जैन, एडवोकेट, सहारनपुर

बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर

मौर्य सम्राट अशोक (२३२-२७१ ई० पू०) को कुछ विद्वान बौद्ध ग्रन्थो के आधार पर बौद्ध धर्मी समझते है, परन्तु प्रसिद्ध बौद्ध इतिहासकार डा० विन्सेन्ट स्मिथ बौद्ध ग्रन्थों को शेखचिल्ली की कहानियो से अधिक महत्व नही देते और कहते है कि उनका कोई ऐतिहासिक महत्व नही है[1]। प्रो०भण्डारकर बौद्ध कथाओं को सच्चाई के विरुद्ध और विपरीत कथन पाते है और उनका ऐतिहासिक सत्य स्वीकार नहीं करते[2]। प्रो० आर० के० मुकर्जी बौद्ध ग्रन्थों के एक वर्णन को दूसरे से अनेक स्थानो पर इतना विपरीत पाते है कि वे बौद्ध ग्रन्थो का ऐतिहासिक रूप अस्वीकार करते है[3]। प्रो० डेविड भी बौद्ध ग्रन्थो के ऐतिहासिक और धार्मिक कथन को महत्व नही देते[4]। डा० कर्न बौद्ध ग्रन्थों से तत्व की बात निकाल कर असुरक्षित स्वीकार करते है[5] और कहते है कि अशोक की राजनीति बौद्ध तत्व प्रकट नही करती[6]। मि० हैराम का कथन है कि बौद्ध साहित्य ने बहुत से विद्वानों को धोखे में रखा और बौद्ध ग्रन्थो का यह कहना कि महाराज अशोक म० बुद्ध का शिष्य था, बिल्कुल विश्वास योग्य नही[7]। स्वय बौद्ध ग्रन्थ [समानता प्रसादिका] (१४४ ४५) मे स्पष्ट वर्णन है कि

---

1. Dr. Vincent Smith admits that Buddhist Chronicles are full of 'Silli fictions" and hence are of no historical value. They should be treated simply edifying romances. —Smith, Ashoka, pp. 19-23.
2. Prof. D R. Bhandarkar supports him that the Buddhist traditions contain such down-right absurdities and inconsistencies and disclose so much of dogmatical and sectarian tendency that very little that is contained in these traditions, may be accepted as historical truth. —Bhandarkar, Ashoka p 96.
3. In the words of Prof R K. Mookerjee, "These (Buddhist's) legends are themselves at conflict with one another in many places and thus betray themselves all the more. —Mookerjee, Ashoka, p. 2
4. Prof. T.W. Rhys David remarks, 'The pictursque accounts, written by well meaning members of the Buddhist order, who were thinking the while not historical criticism, but of religious edification, seems of poor accounts." —The Buddhist India, p. 274.
5. Dr. Kern says, "It is unsafe to draw inference from such narrations". —Manual of India, Buddhism, p 115.
6. Nothing of the Buddhist spirit can be discovered in his (Ashoka'a) State Policy. —Prof. Kern, Journal ot Royal Asiatic Society, 1887, p. 187.
7. Rev. Fr. H. Heras, S.J. declares, The Buddhist Chronicles of 4th, 5th & 6th centuries have deceived many a scholar. To count so great monarch as Ashoka among the disciple of Gautama was unquestionably a distinct advantage to the declining Buddhist monarchism. Hence their statement is not reliable at all. —Quarterly Journal of Mythic Society Vol XVII p. 225.

अशोक 'Heretics' सिद्धांत का अनुगामी था[8]। Heretics (रायल एशियाटिक सोसाटी, बोम्बे ब्रान्च के जरनल, भाग ४, जनवरी १८५५, पृ. ४०१ के अनुसार) अधिकतर जैन धर्मी को कहते है[9]। कहाँ तक लिखें फ्लीट[10], विलसन[11], थोमस[12], मेकफैल[13], मोनाहन[14] आदि अनेक प्रचण्ड ऐतिहासिक विद्वानो का अभिमत है कि अशोक बौद्ध धर्मी नहीं था[15]।

शिलालेखों के आधार पर

कुछ विद्वान शिलालेखों के आधार पर अशोक को बौद्ध धर्मी मान बैठते है परन्तु ये शिलालेख तथा स्तम्भ-लेख अशोक ने जिस क्रम से लिखवाये है और जिस प्रकार इनका आरभ किया गया, इन्डियन ऐन्टीक्वरी, १९१४ के तीनों भागों के अनुसार उनका लिखवाने वाला बौद्धधर्मी नहीं, बल्कि जैन धर्मी ही होना चाहिए। प्रसिद्ध इतिहासकार ज्ञान सुन्दर ने भी अपने 'प्राचीन जैन इतिहास संग्रह' भाग २ (फलौदी) पृ० २४ में बताया कि अशोक के शिलालेखों की लिपि तथा शब्दों से यह स्पष्ट है कि इन शिलालेखों को लिखवाने वाला बौद्ध धर्मी नहीं, बल्कि कट्टर जैन धर्मी होना चाहिए। २२वें तीर्थङ्कर श्री नेमिनाथ की निर्वाण-भूमि गिरिनार जी के शिलालेख न० ३ में शब्द 'स्वामिवात्सल्यता' का (प्राचीन जैन इतिहास सग्रह भाग ५ पृ० ७१ के अनुसार) बौद्ध धर्म मे कदाचित प्रयोग नहीं होता, बल्कि जैन धर्म मे प्रयोग होता है। इन्डियन एन्टिक्वरी भाग ३७ पृ० २४ में भी गिरिनार पर्वत के अशोक स्तम्भ लेख न० ३ का कर्ता जैन धर्मी है, यह अनुमान मिलता है। शिलालेख न० ९ में 'मंगल' शब्द का उपयोग (प्राचीन जैन इतिहास संग्रह के अनुसार) बौद्धों मे नही बल्कि जैन धर्म में प्रयुक्त होता है। शिलालेख न० १३ में शब्द 'पाखण्ड' क लिए प्रो० एच० एच० विलसन जोरदार शब्दो में (रायल एशियाटिक सोसायटी के जरनल भाग १२ पृ० २३६ मे) कहते है कि यह शब्द कदाचित बौद्ध धर्म का नही है। प्रो० हल्टश ने इंस्क्रिप्शन कारपोरम इंडिकेरम पुस्तक प्रथम मे धारणा प्रकट की, 'अशोक के स्तम्भ लेख न० ३ मे जी मलिन विकृति के 'स्वरूप और मनोविकार तथा आसिव की जो टिप्पणी दी है उसका और बौद्ध धर्म मे वर्णित 'आसिव' एवं 'कलेश' का कोई मेल नही बैठता।' कुछ विद्वानो का कहना है कि जब अशोक जैन था तो उसने अपने अभिलेखो मे देवाना-प्रिय का उल्लेख क्यो किया ? यह शब्द तो बौद्ध साहित्य की देन है। ऐसे विद्वानों ने जैन साहित्य का भली प्रकार अध्ययन नहीं किया। जैन साहित्य मे देवानां-प्रिय का प्रयोग साधारण जनता से लेकर राजाओं-महाराजाओ तक ने किया है। भ० महावीर के पिता महाराजा सिद्धार्थ ने कल्पसूत्र पृ० १३५-१३६ के अनुसार अपनी रानी त्रिशला देवी को देवाना-प्रिय कहकर सम्बोधित किया। वीर निर्वाण सं० १२०६ मे रचित पद्म पुराण मे आचार्य रविषेण ने गौतम गणधर द्वारा राजा श्रेणिक को (देवाना-प्रिय) आदर सूचक शब्द से सम्बोधित किया, इस प्रकार अति प्राचीन काल से विक्रमी आठवी शताब्दी सक जैन साहित्य मे इस शब्द का प्रयोग मिलता है। इसको केवल बौद्ध धर्म की देन कहना भ्रम है। अशोक का अपने लेखों मे इस शब्द का प्रयोग जैन साहित्य के अनुकूल है, प्रतिकूल नही है।

---

8. Even Buddhist literature—Samanta Pasadika (1044-4) said clearly that Ashoka followed the doctrine of the heretics.
—Buddhist Studies pp. 49-492.
9. The heretics (Tithyas) are mostly jains.
—Journal Bombay Branch of Royal Asiatic Society vol. IV, January 1855, p 401
It is not a new idea that the religion of Ashoka was not Buddhistic
10. Fleet—Journal, Royal Asiatic Society 1908 pp. 491-492.
11. Wilson—Journal, Royal Asiatic Society 1908 p. 238.
12. Thomas—Journal, Royal Asiatic Society IX p. 181
13. Macphail—Ashoka, p. 48
14. Monohan—Early History of Bengal p 21
15. Others—Journal of Mythic Society XVII pp. 271-273 & HindiVishwa Kosh vol.VII 4

प्राचीन जैन इतिहास संग्रह भाग ५ पृ० ४० के अनुसार अशोक के स्तम्भ लेखो मे पशु-वध और जल-प्राणियों का शिकार आदि अनेक प्रकार की हिंसा पर अष्टमी, चतुर्दशी, पर्यूषण (दशलक्षण पर्व) तीनो ऋतुओ के (कार्तिक, फाल्गन, आषाढ़के अन्तिम आठ-आठ दिन) अठाई-पर्व आदि जिन ५६ दिनो मे पाबन्दी लगाई है, ये सब दिन जैन धर्म के पवित्र पर्व हैं। इनकी जैसी मान्यता जैनधर्म में है, बौद्ध धर्म मे नही। अनेक विद्वानो का विश्वास है कि जैन पर्व के दिनो मे जीवहिंसा का रोकना अवश्य यह प्रकट करता है कि इनको लिखवाने वाला महाराज अशोक जैन धर्मी था।

अशोक के स्तम्भ लेखो के ऊपरी सिरे पर बने हुए सिंह-चिह्न का महात्मा बुद्ध के सिद्धान्तो से कोई सम्बन्ध नही। सिंह भ० महावीर का सुप्रसिद्ध चिह्न है जिनकी स्मृति मे अशोक ने सिंहयुक्त स्तम्भ स्थापित कराये। इतिहास रत्न डा० ज्योति प्रसाद का कहना है कि अशोक के शिलालेखो मे कोई ऐसी बात प्रकट नही होती जिससे उसका बौद्धधर्मी होना सिद्ध होता हो। अनेक विद्वानो का कथन है कि अशोक के स्तम्भ लेखो की लिपि, शब्दों तथा भावों को तर्क रूपी कसौटी पर घिसकर जांच करने से उसका लिखवाने वाला जैनधर्मी स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। (विस्तार के लिये, प्राचीन जैन इतिहास संग्रह भाग ५ पृ० ३४ से ४० तथा भारतीय इतिहास : एक दृष्टि) मि० एस० बैल भी एशियाटिक सोसायटी के जरनल भाग ६ पृष्ट १६६ पर लिखते है कि अशोक के स्तम्भ लेखों से उसका प्रेम न केवल पशु पक्षियों से बल्कि जलकाय, वायुकाय आदि सूक्ष्म जीव जन्तु से भी प्रकट होता है।[16] अशोक के स्तम्भ लेख यह प्रकट नही करते कि वह बौद्ध धर्मी था।[17] निःसन्देह अशोक जैन सिद्धान्तों से अत्यन्त प्रभावित था।[18] अशोक के आज्ञापत्र) प्रो० विलसन के शब्दो में, बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म से अधिक मिलते है[19] और उसके शिलालेख उसको जैन धर्मी सिद्ध करते है।[20] मेजर जनरल फरलाग के शब्दो मे अशोक के स्तम्भ लेख एक सच्चे जैनधर्मी सम्राट के खुदवाये हुए है[21]। रायल एशियटिक सोसाइटी के जरनल भाग ६ पृ० १६१-१६८ के अनुसार अशोक ने स्तम्भ स्थापित करने के विचार जैन धर्म से ही लिये[22]। अशोक ने अपने लेखों मे जैन पारिभाषिक शब्दो और भाषा का

---

16. Pillar Edicts show Ashoka's love towards the poor anafficted, towards the hip ds and quaerapede, towards the fouls of the air and beings that move in water.
—Rev. S Beal. Journal of Royal Asia-Society vol. IX p. 199.

17. Inscriptions do not say that Ashoka embraced the doctrine of Gautama Budha.
—Journal of mythic Society vol. XVII. p. 276.

18. Ashoka was specially influenced by the Jain doctrines as regard sacredness of inviolability of life.
—Rev. H. Heras. Journal of Mythic Society XVII p. 271.

19. His (Ashoka's) Ordinance concerning sparing of animal life agree much more closey with the dicos of the heretical Jain than those of the Buddhists.
—Prof. Wilson. (a) Journal of Royal Asiatic Society, 188J, p. 275.
(b) Indian Antiquary vol. V p. 205.

20. Inscriptions of Asnoka prove his faith in Jainism.
—Jain Antiquary, vol. V p. 86.

21 His (Asoka's) Inscriptions are really those of a Jaina Sovereign.
—Major General Furlong, Short Studies in Science of Comparative Religions.

22. Asoka graped the idea of building pillars from Jainism. The animals and symbols, which he used, are also found in Jainism.
—Journal of Royal Asiatic Society, Vol IX, PP. 161 to 168.

प्रयोग किया है।[22]a और उनपर वृषभ, सिंह, अश्व आदि चिह्न बनवाना जैन धर्म के प्रभाव का फल है[22]b। इस प्रकार सन्मति सन्देश मार्च १९६१ के अनुसार अशोक के शिलालेखो पर वास्तव मे जैन धर्म की गहरी छाप है।

अहिंसा आदि सिद्धान्तों के आधार पर :

कुछ विद्वान अशोक को दयालु होने के कारण बौद्ध-धर्मी बताते है परन्तु श्री राजमल मडवैया, (पुरातत्वान्वेषक, भूतमार्गदर्शक शासकीय जिला पुरातत्व संग्रहालय, विदिशा म० प्र०) ने अपने विदिशा-वैभव के पृ० ३३४ पर कथन किया है कि अशोक बड़ा निर्दयी था। उसने वंश के वंश नष्ट कर दिये। कलिंग-विजय के नरसंहार को सुनकर हृदय काँप उठता है। अशोक ने राज्य-लिप्सा के पीछे अपने दसो बडे भाइयो का घात कर दिया। लाखों मनुष्यों को मौत के घाट उतार कर दिग्विजय की। हजारों बच्चों को अनाथ और हजारो स्त्रियो को विधवा बनाया। यह विदिशा के जैनधर्मी नगर सेठ श्रेष्ठि की प्रभावशाली जैन अहिंसा की प्रेरणा का ही फल है कि अशोक ने हिंसा न करने का प्रण किया और इस प्रकार जैन धर्म को ही यह श्रेय प्राप्त है कि उसने अशोक का हृदय पलट दिया और उसका जीवन इतना अहिंसामयी बना दिया कि न केवल नर नारियो, पशु-पक्षियो बल्कि जलकाय, अग्निकाय और वायुकाय के जीव-जन्तुओं की हत्या बन्द करने के आदेश अपने स्तम्भ लेखों मे अंकित कराये।[23] ऐसी सूक्ष्म दया जैन धर्म के अतिरिक्त किसी अन्य धर्म या सम्प्रदाय मे नहीं पायी जाती।

बौद्ध धर्म मे मास-भक्षण का निषेध नही। स्वयं महात्मा बुद्ध का शरीरान्त मांस-भक्षण के कारण हुआ था।[24] इसके विपरीत जैन धर्म मे मास-भक्षी को नरकगामी की संज्ञा दी है। स्वयं बुद्ध के समय केवल जैनधर्मी ही मास के त्यागी थे। जैन अन्टीक्वरी भाग ५ के अनुसार उस समय ब्राह्मण व बौद्ध आदि स्पष्ट रूप से मांस-भक्षण करते थे। अशोक ने जैन धर्म के प्रभाव से न केवल स्वय मास का त्याग किया बल्कि अपने परिवार तक को इस महान पाप से रोकने के लिए राज्य भोजन शाला मे भी मास भक्षण पर रोक लगा दी[25]।

अशोक ने मास-भक्षण, पशु-बध, पशुबलि तथा पशु-यज्ञ आदि धर्म के नाम पर होने वाली हर प्रकार की हिंसा पर राज्य-आज्ञा द्वारा प्रतिबन्ध लगाकर हर प्राणी को जिओ और जीने दो (Live & Let Live) की गारन्टी दी[26]।

22-A. Asoka used technical terms and language of Jains in composing of his edicts.
(i)—E. Senari Les Inscriptions Piyasidsi, PP. 505-513.
(ii)—Jai Antiquary, Vol. PP. 9—15.

22-B. The monuments of Asoka and their symbols betray the influence of Jainism on Asoka and he closely followed and copied Jain ideas in his buildings.
—Jain Antiquary, Vol. VI, P. 9.

23 Asoka gave practical example of his piety towards living beings. Regulations were instituted for the protection of animals and birds and forests were not to be burnt. No animal food was served at the Imperial table :
—Dr. Zimmir : Philosophies of India, pp. 497-498.

24. Buddha does not appear to have been a vegetarian, if he were one. he would not have died from the effect of eating bad pork, with which he had been treated by a sweeper host",
—Traditional History of India p. 198.

25. In the Budhist period, it was only Jainism, who condemned meat dishes. Brahmans and Buddhists and others freely partake them, hence the statement of Asoka that in the end, he abolished hinsa for his royal kitchen altogether, betrays the influence of Jainism on him. Asoka's reign was TRUELY A JAIN RAJYA, J. Antiquary vol. V PP. 53 to 60 & 81 to 89.

26. Asoka abolished killing of animals on all account. No body was allowed to kill any living being even for sake of religious belief or to santiate to sensual cravings.

डा० कर्न के शब्दों मे अशोक ने जिस अहिंसा को अपनाया और जिस अहिंसा का प्रचार किया, वह बौद्ध सिद्धान्तो के नही बल्कि जैन धर्म के अनुसार है[२७]। डा० बुल्हर का भी कहना है कि जैनियों के समान हस्पताल खोल कर और हर प्रकार की जीव हत्या रोकने की घोषणा आदि करने से अशोक सुदृढ जैनधर्मी सिद्ध होता है[२८]।

इस प्रकार अशोक का राज्य वास्तव मे जैन राज्य था और वह अपने अन्तिम स्तम्भ लेख लिखवाने तक अवश्य दिल से जैनधर्मी था।

अशोक का कुल धर्म :

१. चन्द्रगुप्त (३१७–३६८ ई०) मौर्य वंश के संस्थापक और अशोक के पितामह थे, जो स्मिथ के शब्दो मे जैन गुरु अन्तिम श्रुत केवली भद्रबाहु के शिष्य थे और जिसने जैन मुनि होकर जैनधर्म का प्रचार किया। अनेक सुप्रसिद्ध और प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थ इस सत्य की पुष्टि करते है[२९]।

२. **बिन्दुसार** (२९८–२७४)— अशोक के पिता थे जिनके जैनधर्मी होने मे विद्वानो को न पहले कोई शका थी और न अब है। इन्होने अनेक जैन मन्दिर बनवाये तथा मिस्र, सीरिया, यूनान आदि विदेशों के राजदूत इनकी राजसभा मे अनेक प्रकार की भेट लेकर आते थे, जैनधर्म का प्रचार किया।

३. **असविमित्रा**—अशोक की रानी जैनधर्मी थी। उसके पिता श्रेष्ठि विदिशा (म० प्र०) के नगर सेठ और सुदृढ जैनधर्मी थे। इतिहास-रत्न डा० ज्योतिप्रसाद (भारतीय इतिहास एक दृष्टि पृ० ९४) के शब्दो मे, इस जैन रानी से राजकुमार कुणाल पैदा हुआ। 'विदिशा-वैभव' मे अशोक और उसकी रानी असविमित्रा का वर और वधू के भेष मे इकट्ठा एक चित्र भी दे रखा है।

४. **पद्मक**— अशोक के सगे भ्राता थे जो जैन मुनि हो गये थे। बौद्ध लेखक तारानाथ ने इन्डियन हिस्टोरिकल क्वाटरली भाग ९ पृ० ३३५ के अनुसार पद्मक को निर्ग्रन्थ (जैन मुनि पिंगल) का उपासक स्वीकार किया है।

५. **विशोक**—अशोक का एक और भाई था। यह भी जैनधर्मी था। यह जैन तीर्थों की यात्रा करने और उनकी उन्नति तथा जीर्णोद्धार के लिए दान देने मे इतना प्रसिद्ध था कि वीर (मेरठ, वर्ष ६ पृ० २५७) के अनुसार 'दिव्यावदान' नामक ग्रन्थ मे उसे तीर्थ—भक्त लिखा है।

६. **कुणाल**—अशोक का पुत्र और उसके राज्य का अधिकारी जैनधर्मी था।

७ **सम्प्रति**— अशोक का पौत्र और कुणाल का पुत्र था। पिछले जन्म मे यह अत्यन्त निर्धन और रोगी था। एक जैन मुनि के उपदेश से वह जैन मुनि हो गया था जिसके पुण्यफल से वह इस जन्म मे इतना प्रसिद्ध और प्रतापी सम्राट हुआ कि समूचे भारत का अधिकारी बना।

27. Asoka professed and preached Ahinsa for the good of men and beasts alike. His Royal Instructions are a kin to the idea of Ahinsa in Jainism, nothing of Buddhist Spirit His Ordinances concerning the sparing of animal life agree much more closely with the ideas of the heretical Jain as than those of the Buddhists.
    —Dr. Kern, Manual of Indian Buddhists.

28. Dr. Bulher also remarked that "like Jain, Asoka opened Hospitals even for animal life" and proclaimed "Amari-Ghosh" (Not to Kill). In fact Asoka was an ideal Jaina King and an ardent follower of the faith like a TRUE JAINA
    —Indian antiquary, Vol III (1874) pp. 71-80.

29 Chandra Gupta was Jain and disciple of Jain Acharya Bhadr a Bahu. He became Jain monk under his influence :—
  (a) Smith's Early History of India (Revised Edn.) P. 154.
  (b) Epigraphia Indica, Vol. II Introd. PP. 36-40.
  (c) Journal of Royal Asiatic Society, Vol. I, P. 176.
  (d) Cambridge History of India, Vol. I, P. 484.
  (e) Journal of Mythetic Society, Vol. XVII, P 272.
  (f) Indian antiquary, Vol XVII, P. 272.
  (g) Journal of Bihar & Orissa Research Society Vol. XIII P. 24.

भारतीय इतिहास : एक दृष्टि के पृ० १०० के अनुसार वह जैन आचार्य सम्प्रति का शिष्य था। इसने अपने राज्य में हजारों जैन मन्दिर और हीरे-पन्ने, रत्नों आदि बहुमूल्य जवाहरातों की हजारो मूर्तिया (२४ तीर्थङ्करो की) बनवा कर स्थापित की। न केवल भारत में बल्कि विदेशों तक मे जैनधर्म फैलाने के लिए चन्द्रगुप्त के समान प्रचारक भेजे[30]। डा० विन्सेन्ट स्मिथ के अनुसार (अर्ली हिस्टरी आफ इण्डिया पृ० २०२–२०४) सम्प्रति ने अरब, ईरान, अफगानिस्तान आदि अनेक देशो में जैन सस्कृति स्थापित की।

८. शालिशुक (१६०–१७० ई० पू०)—अशोक का प्रपौत्र और सम्प्रति का पुत्र और उसका उत्तराधिकारी था। यह भी सुदृढ़ जैन श्रावक था। स्मिथ की अर्ली हिस्टरी आफ इन्डिया पृ० १९६ के अनुसार इसने भी अपने पिता सम्प्रति के समान दूर-दूर तक विदेशों में जैन-धर्म का प्रचार किया।

अशोक के दूसरे सम्बन्धी दशरथ और उसके देव-वर्मन, फिर सतधनुष और फिर बृहद्रथ मौर्य्य वश के राजा हुए जो जैनधर्मी थे और उन्होने जैनधर्मका ही प्रचार किया। भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ० १००–१०२ के अनुसार उन्होने जैन धर्म की प्रभावना के अनेक कार्य किये। इस प्रकार अशोक का उससे पहले और उसके बाद समस्त परिवार तथा उसका मौर्य्य वश और कुल जैनधर्मी था तो ऐसी शक्ति के अभाव में जो उसके हृदय को बदल दे, अशोक जैन धर्म से कैसे अछूता रह सकता था ?

अशोक द्वारा विदेशों में धर्म-प्रचार :

चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन काल में अशोक तक्षशिला (पाकिस्तान) का गवर्नर था, उसने वहाँ बुद्ध-धर्म का नही, बल्कि जैनधर्म का प्रचार किया। उस समय सिकन्दर महान् भारत में आया तो उसे तक्षशिला में बौद्ध-भिक्षु नहीं बल्कि जैन नग्न साधु अधिक संख्या में मिले। रायल एशियाटिक सोसायटी, बोम्बे ब्रान्च के जरनल भाग ४ पृ० ४०१ के अनुसार सिकन्दर उन जैन मुनियो के ज्ञान, तप तथा आचरण से प्रभावित होकर स्वयं उनके पास तत्त्व-चर्चा के लिए गया और यूनान ले जाने का निमन्त्रण दिया। अशोक के स्तम्भ लेखो से सिद्ध है कि उसने सीरिया, मिश्र, यूनान, अरब, लंका, अफगानिस्तान आदि अनेक देशो मे अपने धर्म का प्रचार करने के लिए प्रचारक भेजे[31]। यदि अशोक बोद्ध धर्मी होता तो वह वहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार कराता और वहाँ कुछ न कुछ बौद्ध धर्म के चिह्न निश्चित रूप से अवश्य मिलने चाहिए थे परन्तु बौद्ध-धर्म के स्थान पर वहाँ, एशियाटिक रीसर्चेस भाग ३

30. Samprati was a great Jain Monarch and a staunch supporter of the faith. He errected thousands Jaina temples throughout his Empire and constructed a large number of images. He sent Jain Missionaries and asects abroad to preach Jainism in the distant countries and spread the faith there.

—Jain Siddhant Bhaskar, Vol. XVI PP. 114-117.

31. A nacked Sraman–Acharya (Jain Preacher) went to Greece as his Samadhi spot was found marked at Athens. Indian Historical Quarterly vol. II p. 293. The Gymnophists, whom Alexahder the great encountered near Taxilla were no doubt Jain sarmans. JBBRAS vol. IV p. 401. Likewise Ceylon was a great resort of Jains till the begining of chronicles. It is evedent even from Buddhist Chronicles that Nirgranthas (Jain naked Saints) predominated at Anuradha-pur in Ceylon, and were influcntial enough to attract the attention of the ruling monarch; who built a vihar (Jain temple) and a monastry for them in 3rd century B.C.—The Indian Seat of the Jainas p. 15. These continued to flourish till 80 B.C. It means that Jainism remained in Ceylon long after Asoka. J.A. Vol. VII p. 22. The traces of existence of Jainism in the countries of Arabia, Persia, and Afghanisthan, (Cunnigham's Ancient Geography of India (New Edn) p. 674) are also available, which proves that Asoka formed his religion on the basis of Jainism and preached in as well.

—Jain Antiquary vol VII PP. 23 to 25.

पृ० ६ के अनुसार, जैनधर्म के चिह्न प्राप्त हुए[32], जिनसे सिद्ध है कि विदेशो मे अशोक ने बौद्ध-धर्म का नहीं, बल्कि जैनधर्म का ही प्रचार कराया। बौद्ध-धर्म के विशेषज्ञ एम० बिल भी जनरल रायल एशियाटिक सोसायटी भाग १९ के पृ० ४२० पर इस कथन की पुष्टि करते है। प्रसिद्ध विद्वान बैन के अनुसार यूनान से कोई बौद्ध चिह्न प्राप्त नही हुआ[33]। मैथिक सोसायटी के जरनल भाग १७ पृ० २७२ पर अशोक के विदेशों में जैनधर्म के प्रचार का कथन है। 'राज तरगिणी' मे वर्णन है कि अशोक ने कश्मीर में जैन धर्म का प्रचार कराया। अबुल-फजल ने 'आईन ए-अकबरी' में इस सत्य की पुष्टि की[34]। अशोक के राज्य-समय में विदेशो में बौद्ध धर्म का पाया जाना किसी प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थ से सिद्ध नही होता। जैन धर्म और बौद्ध धर्म मे अन्तर न जानने और आज-कल बर्मा, लका, चीन, जापान, तिब्बत आदि में बौद्ध मिलने के कारण आधुनिक इतिहासकारो को यह भ्रम हो गया कि वहा अशोक ने बौद्ध धर्म फैलाया और इस भ्रम के कारण ही वे अशोक को बौद्ध-धर्मी कहनेलगे।

अंग्रेजी मासिक (oriental) १८९२ ई० पृ० २३-२४ मे कथन है कि अशोक पर जैन धर्म का अधिक प्रभाव होने के कारण उसने मिस्र, मैसेडोनिया और कोरिया मे धर्म प्रचारक भेजे। वहा बौद्ध नही, जैन स्मारक मिले है। (Modern Review मार्च १९४९ पृ० २२) के अनुसार मिस्र से भारतीय शैली की मूर्तियां प्राप्त हुई। मिस्र निवासी जैन धर्म के समान ईश्वर को जग का कर्ता नही मानते। मास मछली तो क्या, मूली आदि कन्द भी नही खाते। महावीर स्मृति ग्रंथ (आगरा) १९४८ भा० १ पृ० ११४ के अनुसार अशोक ने विदेशों में जैन धर्म का प्रचार किया।

अशोक द्वारा जैन धर्म की प्रभावना :

अशोक ने जैन धर्म की प्रभावना के इतने अधिक महत्वपूर्ण कार्य किये जो बौद्ध-धर्मी नही कर पाता।

१. अशोक ने प्रसिद्ध जैन तीर्थ श्रवण बेल गोल (मैसूर) की यात्रा और वन्दना की और वहां विशाल जैन मन्दिर बनवाये[35]।

२. राज तरंगिणी पृ० ८ के अनुसार अशोक ने वितस्तापुर के विहार मे एक अत्यन्त आकर्षक और दर्शनीय जैन मन्दिर बनवाया।

३. अशोक ने श्रवण बेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर एक मन्दिर बनवाया और उसका नाम अपने पितामह चन्द्रगुप्त के नाम पर चन्द्रगुप्त बस्ती रखा जहाँ Rice · Archieological Survey Report १८८७ के अनुसार, चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने जीवन के अन्तिम १२ वर्ष व्यतीत किये थे और जहाँ की ९० जालियों पर चन्द्रगुप्त के जीवन

---

32. Egypt, Macedonia, Cyrene, Carynth, Ceylon and Afganisthan, are named in Asoka's edicts, where he sent preachers to propogate his religion (Jainism). If Asoka was follower of Buddhsim, he would have preached in these countries Buddhism, surely some evidence of it should have come from there, but it is a striking fact that, "No Buddhist records are kept in the History of Egypt, Mecedonia, Corynth and Cyrene, which countries were supposed to be converted to Buddhism, by the zeal of Asoka ; on the other hand it can be said about Jainism that the influence of the religion is traceable in the above countries, in one or the other form. The Egyptian and Greek Philosophy do betray Jain influence —Confluence of Opposites. Ancient Greek found the sromanas, who should be Jain, traveling the countries of Euthopis and Abiyssinia.

    —Asiatic Reasearches vol III p. 6.

33. I doubt very much whether there is any reference to 11 Buddhists in the Greek account.

    —Rev. S. Beal, Journal of Royal Asiatic Society, vol. XIX P. 420.

34. Asoka supported Jainism in Kashmir as his father Bindusar and grand father Chander Gupta throughout Magadha Empire.

    —Abulfazal, Aina-i-Akbari, p. 29

35. Rajvali-Katha indicates that Asoka having visited Sravanbelgola, a Holi Jain Tirth in Mysore) built a lofty Jain Temple there.

    —Jain Shilalekha Sangrah, vol. I Intro. P. 6.

सम्बन्धी चित्र अंकित है।

४. अशोक ने भ० महावीर के जन्म स्थान वैशाली में महावीर-चिह्न-युक्त सिंह स्तम्भ बनवाया[36]। प्रो० डा० पुष्पमित्र ने अनेकान्त वर्ष २५ पृ० १७६ पर कहा कि वैशाली का यह स्तम्भ महात्मा बुद्ध की स्मृति मे बनवाया, संगत नहीं है क्योंकि ऐसा होता तो वह वीर-चिह्न सिंह के स्थान पर बुद्ध के प्रतीक ही स्थापित करता।

५. डा० पुष्पमित्र ने अनेकान्त वर्ष २५ पृ० १७० पर यह भी बताया कि केवल ज्ञान के पश्चात तीर्थङ्कर भगवान चतुर्मुखी प्रतीत होते है। अनेक अत्यन्त प्राचीन चौमुखी तीर्थङ्कर मूर्तियों का पुरातत्व विभाग के अधिकारियों को कंकाली टीला मथुरा आदि अनेक स्थानों से प्राप्त होना और लखनऊ आदि अनेक राज्य-पुरातत्व-सग्रहालयों में आज भी उनका सुरक्षित होना जैन-धर्म मे चौमुखी मूर्तियों की पुष्टि करता है। अशोक ने जैन धर्म की इस प्रथा से प्रभावित होकर ११वें जैन तीर्थङ्कर श्रेयास जी की जन्म भूमि सिंहपुरी में (वाराणसी के निकट) अपने स्तम्भ में चौमुखीसिंह स्थापित किये और अहिंसामयी भारत सरकार भी महावीर के इस चौमुखी सिंहचिह्न को राष्ट्रीय चिह्न बना कर सिक्कों और नोटो पर इसका प्रयोग करती है।

६. तीर्थङ्कर जब विहार करते है तो धर्म चक्र आगे-आगे चलता है और यह धर्म चक्र समस्त तीर्थङ्करो का विशेष चिह्न है। अशोक तीर्थङ्करों का परम भक्त था। तीर्थङ्कर हर युग में चौबीस होते है। अशोक ने अपने धर्म चक्र में चौबीस आरे बनवाये। अहिंसा वाणी वर्ष १५ पृ० ३२१ के अनुसार, भूतपूर्व प्रधान मन्त्री, भारत पंडित जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में भी धर्म चक्र के चौबीस आरे जैनियों के चौबीस तीर्थङ्करों के प्रतीक हैं। धर्मयुग २४-१-७१ के अनुसार भारत सरकार ने २२-७-१९४७ से इस आरे युक्त धर्मचक्र को अपने राष्ट्रीय ध्वज मे अपनाया।

७. प्रसिद्ध हिन्दू प्रामाणिक मासिक कल्याण १९५० पृ० ७३९ मे कथन है कि प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव का भी अशोक उपासक था। उसने अपने रामपुरषा स्तम्भ में ऋषभ-चिह्न वृषभ स्थापित किया।

८. इतिहास के खोजी विद्वान मुकर्जी के 'अशोक,' पृ० ८८ के अनुसार अशोक ने जैन साधुओं के प्रयोग के लिए बहुत सी गुफाएं बनवाई।[37] अशोक तथा इसके प्रपौत्र दशरथ ने भी बिहार प्रान्त के बरेबर तथा नागारजुनी की पहाड़ियो मे भी अनेक गुफायें बनवायी[38] और उनकी देखभाल के लिए विशिष्ट अधिकारी नियुक्त किये[39]।

९. सांची के तोरण-द्वार पर अशोक ने बाईसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ के समोशरण की रचना कराई। कुछ विद्वान इसको बौद्ध विहार समझते है किन्तु सुप्रसिद्ध विद्वान त्रिभुवन दास लहेर चन्द शाह ने प्राचीन भारत (गुजराती) में इस सांची स्तूप पर तर्क पूर्वक प्रकाश डालते हुए स्वीकार किया कि ये बौद्ध विहार नही है और न इसका बौद्ध धर्म से कोई सम्बन्ध है। यह सम्पूर्ण रूप से जैन धर्म का स्मारक है।

१०. अशोक बौद्ध सम्वत का नही बल्कि वीर सम्वत का प्रयोग करता था। अशोक के आठवें स्तम्भ-अभिलेख में सम्वत २५६ अंकित है। कुछ विद्वान इसे बुद्ध निर्वाण सम्वत समझते है किन्तु ऐसा मानने से अशोक का समय ५४४ से २५६ घटा कर २८८ ई० पू० होता है जबकि

36 Asoka Pillar is surmounted by a lion, which is the signifying emblem of the last Thirthankara, Lord Vardhamana Mahavira.
—Journal of Bihar & Orissa Research Society, vol. III PP. 465-467.

37. Asoka also got excaved many a caves for the use of Sramans (Jain monks).
—Mookerjee's Asoka P. 88.

38. A group of caves in Barbara and Nagarjuni hills (Bihar) dedicated by Asoka and Dasarath for the use of Ajivika Sect. (Jain Ssints)
—Kuraishi, List of Ancient Monuments Protected under Act VII of 1904 in the Bihar and Orissa Provinces (1938) p. 33.

39. The edicts of Asoka show that he appointed special officers for looking into the affairs of Jainism. Prof. Keran's Asoka.

अशोक का राज्याभिषेक २७२ ई० पू० मे हुआ था, इस प्रकार अशोक और बौद्ध सम्वत की गणना ठीक नही बैठती। वीर निर्वाण ५२७ ई० पू० मे हुआ था, इसमे से २५६ कम करे तो २७१ ई० पू० अशोक का राज्याभिषेक समय बिलकुल ठीक बैठता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इतने अत्यन्त प्राचीन समय मे भी जनता तथा नरेश वीर सम्वत का उपयोग करते थे।

११. राजतरंगिणी पृ० ९८ के आधार पर प्रो० थाम्स का कहना है कि अशोक ने कश्मीर में जैन धर्म का प्रचार किया। अबुल ने आइन-ए-अकबरी मे इस सत्य की पुष्टि की[४०]।

१४. प्रसिद्ध इतिहासकार श्री ज्ञान सुन्दर ने प्राचीन जैन इतिहास संग्रह भा० ५ पृ० ४० पर बताया कि अष्टमी, चौदस, दशलक्षण पर्व आदि ५६ जैन पवित्र पर्वो मे जीव हिंसा का सम्पूर्ण रूप से राजाज्ञा द्वारा रोकना भी अशोक की धार्मिक नीति जैन प्रकट करती है।

१३. अपने आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति के लिये अशोक जैन सिद्धान्तो से अत्यन्त प्रभावित था[४१]।

१४. बाईसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ की निर्वाण-भूमि गिरनार पर्वत की तलहटी मे अशोक ने निर्वाण स्थान की वन्दना करने वाले यात्रियों की सुविधा के लिए सुदर्शन नाम की भील खुदवायी।

१५. हिन्दू पत्रिका कल्याण १९५९ पृ० ७३९ मे कथन है कि अशोक ने अपने राज्यकाल मे तीसरे तीर्थङ्कर सम्भवनाथ की स्मृति मे उनके चिह्न 'अश्व' युक्त सिक्के प्रचलित किये जिनके चित्र प्राचीन जैन इतिहास संग्रह मे छपे है।

इन समस्त प्रमाणो से स्पष्ट है कि यदि अशोक बौद्ध धर्मी होता तो वह जैन धर्म की प्रभावना के इतने अधिक कार्य न करता।

अशोक को बौद्ध धर्मी समझने के कारण :

जैन इतिहास से भली प्रकार परिचित न होने के कारण जिस प्रकार अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त को कुछ विद्वान् ब्राह्मण और कुछ बौद्ध धर्मी समझ रहे थे, जिस प्रकार महाराजा श्रेणिक बिम्बसार को कुछ विद्वान भ्रम से बौद्ध-धमी समझते थे और जिस प्रकार जैन धर्म को बौद्ध-धर्म से बाद का प्रचलित तथा भ० महावीर को जैन धर्म का संस्थापक मान बैठे थे; उसी प्रकार की भूल से वे अशोक को बौद्ध-धमी समझ रहे है।

दक्कन कालिज रिसर्च इन्स्टीट्यूट के बुलेटिन के अनुसार बडौदा के पुरातत्व विभाग को विजयपुर की खुदाई से चार प्राचीन धातु-मूर्तियां प्राप्त हुई जो वे बौद्ध धर्म की बताई गई। डा० संकलियां ने उन मूर्तियों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करके प्रकट किया कि ये बौद्ध धर्म की नही, अपितु जैन तीर्थङ्करों की है, तब से विद्वान उनको म० बुद्ध के स्थान पर जैन तीर्थङ्करों की मूर्तियां मानने लगे[४२]।

जैन संस्कृति के विस्मृत प्रतीक पृ० ७८ के अनुसार ३ अगस्त सन १९७२ को प० बाबूलाल जमादार पश्चिमी बंगाल के जिला पुरुलिया से १३ मील पर स्थित पोलिया ग्राम गये तो उन्होंने वहां के एक मन्दिर में जिसको वहाँ के लोग शिव मन्दिर कहते थे, दो विशाल मूर्तियाँ देखी। एक पर बैल का चिह्न युक्त ऋषभदेव की २४ तीर्थङ्करो सहित और दूसरी ग्यारहवें तीर्थङ्कर श्री श्रेयांसनाथ की उनके चिह्न 'गैंडा' युक्त २४ तीर्थंकरों सहित। इन दोनो मूर्तियों को वहाँ के लोग म० बुद्ध की मूर्ति

40. Thomas finds about preaching of Jainism in Kashmir by Asoka.
    (i)—Journal of Royal Asiatic Society vol. IX P. 155.
    (ii)—Bibloteea Indica, Aina-i-Akbari, Vol. II.
    2nd Epn. translated by Col. H S. Jarret.
41. There was nothing to show that he (Asoka) was not a Jain and his desire for eternal happiness may have been influnced by his Jain back ground.
    —Traditional History of India p 198.
42. Archaeological Department of Baroda State found four metal images from Mahudi in Vijapur and declared them as to those of Buddha, but Prof Dr. Sankalia proves them to the Jain ones.
    —Bulletin of Decan College Research Institute, vol. I March 1940, pp. 185 to 188.

मानते थे। जमादार जी ने तीर्थङ्करों की महिमा और उनके चिह्नों को दिखा कर समझाया कि ये जैन तीर्थङ्करों की मूर्तियां हैं, तब से उन लोगों ने उनको तीर्थङ्करों की मूर्तियां स्वीकार कीं।

'The Temples and Sculptures of South East Asia' के चित्र नं० ३३, ३४, ३५ तथा ३७, में सप्त सर्पफन युक्त पूर्ण नग्न ध्यानमयी, नासादृष्टि मूर्तियो के चार अलग-अलग चित्र है जिनको पुस्तक के लेखक ने थाईलैंड के नेशनल म्यूजियम, बैंकाक मे सुरक्षित बताकर लिखा है कि वे महात्मा बुद्ध की है। म० बुद्ध का सर्पफन युक्त कोई दृष्टान्त नहीं मिलता, हमने पंजाब युनिवर्सिटी लायब्रेरी, चंडीगढ मे इस पुस्तक और इन चित्रों का भली-भाँति अध्ययन किया। वे स्पष्ट रूप से तेईसवें तीर्थङ्कर भ० पार्श्वनाथ की है। लेखक जैन धर्म से अनभिज्ञ है। इन चित्रों में से एक खड्गासनस्थ नग्न होनेके कारण लेखक स्वयं पृ० २३९ पर लिखता है कि यह म० बुद्ध की प्रतीत नहीं होती, किसी अन्य धर्म के महात्मा की है। यदि वह जैन धर्म से परिचित होता तो ऐसा कदाचित न लिखता। अज्ञानता के कारण जिस प्रकार जैन मूर्तियो मे बुद्ध मूर्ति का भ्रम हो जाता है, उसी प्रकार अशोक को जैन धर्मी के स्थान पर बौद्ध धर्मी समझने का भ्रम हो गया।

Conninghim जैसे पुरातत्व अधिकारी ने खजुराहो से प्राप्त जैन मूर्तियो को बौद्ध बताया। डा० (Fergusson) ने अनेक प्रभावशाली उद्धरणों से सिद्ध किया कि ये जैन मूर्तियां है तब उन्होने भी जैन मूर्तियां स्वीकार कीं—Immortal Khajuraho (Asia Press) P. 222. डा०—स्मिथ का विश्वास है कि अनेक बार जैन मूर्तियों को विद्वान भूल से बौद्ध मान देठे है[42]a। फ्लीट साहब इस सत्य की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि अनेक विद्वानों की यह धारणा—कि समस्त स्तूप और मूर्तियां बौद्धों की है, जैन मूर्तियो की पहचान में बाधक रही[42]b।

Qev. Fr. Heras ने तो से स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि बौद्धों ने विद्वानो को भूल में रखा। आधुनिक विद्वान अशोक के अपने शिलालेखों के अतिरिक्त और साक्षी को मानने के लिए तैयार नही और ये शिलालेख किसी प्रकार भी अशोक को बौद्ध-धर्मी प्रकट नही करते[43]। जैन समाज यदि इस प्रकार की ऐतिहासिक भूलों के सुधार का यत्न करती तो अशोक को आज बौद्ध-धर्मी न कहा जाता।

उपसंहार

अशोक का आरम्भिक जीवन मे जैन-धर्मी होना तो बौद्ध विद्वान राईस (Mysore and Coorg पृ० १२-१५) और थामस (रायल एशियाटिक सोसायटी बोम्बे ब्रांच के जरनल भाग-४, जनवरी १८५५, पृ० १५०) स्वीकार करते है। प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'कल्याण' १९५० पृ० ८६४ तथा ५७६ पर अशोक को जैन धर्मी बताया गया है किन्तु अशोक का अपना अतिम स्तम्भ लेख सिद्ध करता है कि वह निश्चित रूप से उसके लिखवाने तक जैन धर्मी था[44]।

उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्य मन्त्री तथा राजस्थान के राज्यपाल डा० सम्पूर्णानन्द ने अपनी रचना 'सम्राट अशोक' पृ० ३५-३६ पर बताया है कि राग-द्वेष एव वाम

42-A. In some cases, monuments, which are really Jainas, have been erroneously discarded as Buddhists.
—Dr. V A. Smith. Jain Shasan, p. 294.

42-B. The Prejudice that all stups and Stone railings must necessarily be Buddhists, has probably prevented the recognization of Jain Structures.
—Dr, Fleet : Imperial Gazette Vol II. Page 111.

43. Rev. Hears says, "We have been misleaded by Buddhist's Chronicles long ag. Modern Criticisms can not accept other documents referring to Asoka than HIS OWN INSCRIPTIONS and these do not say that Asoka embraced the doctrines of Gautma Bhuddha."
—Journal of Mythic Society, vol. XIII p. 276.

44. Asoka was Certainly a Jain layman. Even his last of all pillars edict proves that his belief in Jainism remained till then.
—Jain Antiquary, Vol. VII P. 25.

आदि महा पापों पर विजय करने वालों की चारों श्रेणियों में सर्वश्रेष्ठ श्रमण अरहन्त होते है। अशोक की दृष्टि मे ऐसे अरहन्तों को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। 'सन्मति-संदेश' जनवरी १९६१ पृ० १५ पर वर्णन है कि जैन ग्रथो मे अशोक के जैन धर्मी होने के अनेक प्रमाण मिलते है। डा० कामता प्रसाद का कहना है कि कोई कारण नहीं कि जैन ग्रन्थो को स्वीकार न किया जाए। दिल्ली जैन डायरेक्टरी, (१९६१) पृ० १९ पर अशोक को जैन धर्मी लिखा है। पं० प्रभुदयाल ने भी अपने जैन इतिहास (१९०२) पृ० १८ पर अशोक को जैन धर्मी बताया। साऊथ इन्डियन इन्सक्रिप्शन भाग १ पृ० ८८ भी अशोक को जैन धर्मी बताता है। उत्तर प्रदेश के Director of Indology श्री जी० के० पिल्ले भी अशोक को जैन धर्मी स्वीकार करते है[45]।

डा० राधा कुमुद मुकर्जी के शब्दों में दो बौद्ध धर्मी चीनी, यात्री फाहियान एवं युवानचवॉंग, प्राचीन समय में भारत आये। उन्होने अपने वर्णनों में अशोक की चर्चा जरूर की और उसके स्तम्भ लेख भी देखे, परन्तु उन्हें कोई बात ऐसी नहीं मिली जिससे अशोक बुद्ध धर्मी माना जा सके[46]।

अनेक विद्वानों का विश्वास है कि वास्तव मे अशोक जैन शिक्षा से प्रभावित था[47]। इन्डियन एन्टीक्वरी भाग ७ पृ० २१ के अनुसार अशोक की धार्मिक नीति की नींव आरम्भ से अन्त तक जैन सिद्धांतों पर स्थित थी और वह जैनधर्म का अनुयायी था[48]। ट्रेडिशनल हिस्ट्री आफ इंडिया पृ० १८८ के अनुसार अशोक का जैन कन्या से विवाह और सम्पूर्ण रूप से मांस—त्याग अशोक को जैन धर्मी सिद्ध करता है[49]।

अशोक के हृदय मे जैनत्व के लिए प्रेम समस्त आयु रहा। स्वय उसका अपना शिला लेख भी अशोक के जैन धर्मी होने का साक्षी है[50]। डा० कामता प्रसाद का कहना है कि अशोक स्पष्ट रूप से जैन धर्म का पालन करता था इसीलिए डा० मुखर्जी अशोक को जैन सम्राट और उसके धर्म को जैन बताते है[51]। वास्तव मे अशोक जैन और उसका राज्य जैन राज्य था[52]। ☐☐

गौरीशंकर बाजार, ससारनपुर।

45. Asoka was a Jain at First
    —G.K. Pillai, Director, U.P. Central Indology, Allahabad.
46. It should be noted that these Chinese Pilgrims (Fe-hain and you an Chavan) Visited India and saw the inscriptions. Both inspite of being Buddhists, did not feel from them that Asoka was Buddhist.
    —Dr. Radha Kumood Mukerji.
47. In fact Asoka was greatly influnced by the human teachings of the Jinas.
    —(a) Indian Antiquary vol. XX p. 243.
    —(b) Journal of Royal Asiatic Society IX p. 155.
48. It is obivious that Asoka certainly professed Jainism and composed his religious code mainly based on Jain dogmas from begining to end. No doubt he seems to be a jain at heart when he got inscribed his last pillar edict.
    —Indian Antiquery vol. VII p. 21.
49. His marriage with the daughter or a Sethi of Beenagar and his endeavour to stop meat eating both may indicate that he was a Jain.
    —Traditional History of India p. 188.
50. At any rate the spirit of Jainism was near and dear to the heart of Asoka through out his whole life. His last of all inscription proves his belief in Jainism.
    —Jaina Antiquary, vol. VII p. 23.
51. According to Dr. Kamata Prasad Asoka followed Jainism openly.
    — Jain Antiquary, vol. V p. 59.
52. Asoka was an ideal of Jain Kings and or dent afollower of the faith like a TRUE JAINA.
    —(i) Mookerji's Asoka, p. 22.
    —(ii) Indian Antiquary, vol. III pp. 77-81,
53. And as such Asoka's rign was TRUELY A JAIN RAJYA.
    —Jain Antiquary vol. V. p. 86.

श्रमण और समाज : पुरातन इतिहास के परिप्रेक्ष्य में

□ श्री चित्रेश गोस्वामी, दिल्ली

(प्रस्तुत लेख में विद्वान् लेखक ने ऐतिहासिक दृष्टि से श्रमण एव समाज के पारस्परिक सम्बन्धों का विशद विवेचन किया है। लेखक ने 'श्रमण' एव 'पुरोहित' शब्दो का संकुचित अर्थ न ले लेकर व्यापक अर्थ ग्रहण किया है तथा विश्व की अति प्राचीन सभ्यताओं—मिस्र, सुमेर, असुर, बाबुल, यूनान, रोम, चीन, मध्य एशिया, प्राचीन अमेरिका, सिन्धु-घाटी एवं वैदिक आदि—के इतिहासो मे श्रमण-तत्त्वों का अन्वेषण किया है। इस लेख मे प्रस्तुत कुछ मान्यताए विवादास्पद हो सकती हैं। विस्तार-भय से इसमे उद्धरण एवं प्रमाण प्रस्तुत नही किए गए है, अतः जिन पाठकों के मन मे लेखक की मान्यताओं के सम्बन्ध में किसी प्रकार की शंकाए उत्पन्न हों, वे 'अनेकान्त-कार्यालय' को भेजे। हम लेखक से उनके समाधान का निवेदन करेंगे। —सम्पादक)

भूमिका

सृष्टि के आरम्भ से अब तक, ससार के प्रत्येक क्षेत्र मे दो विचार-धाराओ का प्राधान्य रहा है—निवृत्तिपरक और प्रवृत्तिपरक। इसी को यों भी कह सकते है कि सस्कृति के दो रूप रहे, श्रमण और गृहस्थ। इन दोनो रूपो मे टकराव भी रहा है, यह सत्य है, पर वास्तव मे दोनों परस्पर पूरक हैं। जब भी दोनों मे से एक भी अग निर्बल पड़ा, समाज का ह्रास हुआ है; इतिहास इसका साक्षी है। गृहस्थ के बिना श्रमण—पुरोहित, ऋषि, प्रीस्ट सगन कुछ भी कहो—शरीर-यापन ही नही कर पाएगा और उसके बिना गृहस्थ का मार्ग-दर्शन नही होगा, वह एकांगी होकर भटक जाएगा। श्रमण गृहस्थ का मार्ग-निर्देशक है, वह सदा उसे स्मरण दिलाता रहता है कि केवल अपने ही प्रति नही, अपितु समाज के प्रति भी उस का कर्तव्य है। दोनो ही विचार-धाराओं के मध्य पवित्र-त्रिवेणी की गुप्त-सरस्वती है, लोक-हितैषणा। लोक-हितैषणा के बिना श्रमण का त्याग और तप और गृहस्थ का सचय दोनो ही व्यर्थ है, इतना ही नही अपितु समाज के स्वस्थ विकास के लिए घातक भी है।

प्रागैतिहासिक काल

वर्तमान इतिहास के दृष्टिकोण से, अगण्य ब्रह्माण्डो मे से हमारी इस धरती की आयु इस समय पाच अरब वर्ष से एक अरब वर्ष के मध्य कूती गयी है। मानव का इतिहास भी एक लाख वर्ष मे अधिक का है; परन्तु विश्वसनीय इतिहास गुहावासी मानव से आरम्भ होता है, जब से उसमे सामाजिकता का आभास होने लगा।

एशिया और यूरोप मे अनेक स्थानो पर गुहावासी मानवों के स्मृति-चिह्न प्राप्त हुए है। स्पेन की अल्लामीरा, फ्रास की लासौक्स आदि गुहाओं मे गुहा-मानव की चित्र-कला के जो नमूने प्राप्त हुए है, उनमें कई स्थानो पर साम्प्रतिक मानव-समाज के अगुआ पुरोहित-वर्ग का भी चित्रण है, जो उस समाज के कल्याण के लिए विविध अनुष्ठान करते थे। समाज अपने सन्चय मे से अंशभाग देकर उनके भरण-पोषण की व्यवस्था करता था। यही आज की पुरोहित, संन्यासी या श्रमण-परम्परा का बीज है।

मिस्र, सुमेर, असुर, और बाबुल

प्राचीन सभ्यताओं मे, मिस्र की सभ्यता अत्यन्त प्राचीन है, जिसकी परम्परा भारत की ही भाति सात

सहस्र से भी अधिक वर्षों से अक्षुण्ण चली आ रही है। इसी की समकालीन सभ्यताएँ सुमेर, असुर और बाबुल की हैं, जो मिटती और बनती रही है। इन सभी सभ्यताओं मे पुरोहित-परम्परा का पूर्ण विकास हुआ है। ये पुरोहित प्राय. पूरे समाज के ही सचालक बन गए थे, साम्राज्यो के निर्माण-विनाश तक की सामर्थ्य उन्होने प्राप्त कर ली थी। इनमे अधिकाश पुरोहित श्रमण के अर्थ मे केवल लोक-हितैषी तो अवश्य ही रहे होगे, किन्तु सर्व-त्यागी सन्यासी की भाति जीवन-यापन करने की परम्परा के असदिग्ध प्रमाण इनमे नही प्राप्त होते। निःसन्देह तुर्की से अफगानिस्तान तक की मरुभूमि और निर्जन स्थलियो मे उस समय भी स्थान-स्थान पर गृह-त्यागी श्रमण घूमते थे। लेकिन समाज के कल्याण के लिए सर्वस्व त्याग कर निस्पृह घूमने वाले सन्यासी-वर्ग की अक्षुण्ण-परम्परा यहूदी समाज ने ही स्थापित की। मूसा से ईसा तक यह परम्परा चली आई है। ये पैगम्बर प्रायः निर्जन-वास करते; अत्यन्त अल्प और मोटे वस्त्र, या वृक्षो की खाल पहनते; परिव्राजकों की भाति घूमते और कठोर तप करते थे। स्वयं मूसा को परमात्मा की प्राप्ति के लिए चालीस दिन तक सिनाई-पर्वत पर भूखे-प्यासे रह कर तप करना पडता था। धीरे-धीरे यह परम्परा अन्य साम्प्रतिक सभ्यताओं मे भी फैली और पुरोहित तथा सर्वत्यागी संन्यासी का भेद स्पष्ट होने लगा। ईसा के जन्म से चार-सौ वर्ष से भी पहले से ऐसे संन्यासियों के आश्रम और संघ विधिवत् स्थापित होने लगे थे। इतिहास साक्षी है कि इस जीवन-शैली पर भारतीय विचार-धारा का गहरा प्रभाव है। व्यापार के माध्यम से जो सास्कृतिक लेन-देन स्वाभाविक ही होता है, उसके परिणाम-स्वरूप उत्तरी अफ्रीका के उत्तरी तट पर, लेबनान और सीरिया मे भारतीय दर्शन और उसी के परिणाम स्वरूप संन्यासी-सघ-शैली का प्रचार हुआ होगा।

यूनान और रोम

यूनान मे सभ्यता का विकास ईसा से लगभग १५०० वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ है। वहा भी इस प्रकार के लोक-हितैषी सतों की परम्पराएँ अत्यन्त प्राचीन है, जो प्रचलित कर्मकाण्ड से दूर रहकर दूसरो को भी सरल जीवन-यापन का उपदेश देते थे। इसी समय वर्तमान तुर्की और उससे दक्षिण मे लेबनान और सीरिया मे हत्ती और मित्तन्नी सभ्यताये विकसित हो रही थी। इन दोनो सभ्यताओ की भारतीय सभ्यता से गहरी समानता थी, पूज्य देव तक दोनो के एक ही प्रतीत होते है। इसी प्रकार, दोनो ही मे पुरोहितो और संन्यासियो की सुस्थापित परम्पराएं थी। इनका सीधा प्रभाव यूनान की सभ्यता और उसकी उत्तराधिकारी रोम की सभ्यता पर भी पड़ा। किन्तु रोम की कर्म-काण्ड तथा इहलोक-प्रधान जीवन-शैली म यह विचार धारा जमी न रह सकी। रोम मे सन्यास का प्रवेश बाद मे यहूदियो और ईसाइयो के माध्यम से हुआ सातवी छटी शताब्दी ईसवी पूर्व म ईरान के माध्यम से यूनान के साथ सास्कृतिक सम्बन्ध स्थापित होने के बाद से, यूनान के दर्शन पर भारतीय दर्शन का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होने लगा; साथ ही, सन्यास की परम्परा भी वहाँ बल पकड़ती गई।

चीन और मध्य एशिया

चीन का दर्शन इहलोक-प्रधान रहा। इस कारण वहाँ के सतो मे, बौद्ध-धर्म से पूर्व, गृहत्यागी सन्यासियो या श्रमणो की प्रवृत्ति का तो परिचय नही मिलता; किन्तु पुरोहितो से पृथक ऐसे सतो की परम्परा अवश्य थी, जो लोक-हितैषणा से ही कार्य करते थे, सन्यासी न होते हुए भी, सादा जीवन बिताते थे। ईसवी पूर्व पहली शती मे बौद्ध-धर्म के प्रवेश के पश्चात् तो श्रमण शैली समाज का प्रधान और पूज्य अंग ही बन गई। चीन से पश्चिम और उत्तर-पश्चिम के पठारो-खोतान, काशगर आदि क्षेत्रो के साथ भारत के सम्बन्ध और भी प्राचीन है; बौद्ध-धर्म से पूर्व ही भारतीय सन्यासी वहाँ विचरण करते थे। इस प्रकार, श्रमण-सघ वहाँ स्थापित हो चुके थे। चीन मे बौद्ध-धर्म का प्रसार वास्तव मे इन्ही परिव्राजको का प्रसाद है। आज भी, बौद्धेतर अन्य समाज अपने पुरोहितो को शमन ही कहता है।

प्राचीन अमरीका

प्राचीन अमरीका मे ईसवी पूर्व प्रथम शती से ही माया-सभ्यता उन्नति के शिखर पर पहुँच चुकी थी। अब इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिल चुके है कि माया-सभ्यता

पर भारतीय सभ्यता की पूरी छाप है। माया-सभ्यता की अनुश्रुतियों के अनुसार उनके पूर्वज पूर्व से वहाँ पहुँचे। माया-जन की सर्वाधिक पूज्या और इष्ट देवनाता माया है, जो भारतीय लक्ष्मी की भाँति कमल धारण किए हैं और प्रधान देव 'हुइत्जलीपोस्तली' नागधारी शिव है, जो संन्यासियो के आदि गुरू है। मैक्सिको के इण्डियन एजटैक वास्तव मे आस्तीक की सन्तान है। सम्भवतः जनमेजय से संधि के पश्चात् आस्तीक नागो, नहुषो, और मर्गो को पोलीनेशिया के मार्ग से वर्तमान अमरीका मे ले गए थे। आज भी मैक्सिको के आदिवासी नाग की पूजा करते है। भारत से दूर जा बसने पर भी, वे भारतीय परम्पराओ को नही भूले। अन्य परम्पराओ के साथ, भारत में पूरी विकसित संन्यास परामपरा भी वहाँ पहुँची। प्राचीन इतिहासकारो और यात्रियों की साक्षी है कि आस्तीक अपने पुरोहितों को 'शमन' कहते थे, जो स्पष्ट ही 'श्रमण का ही रूपान्तर है।

ईसाइयत और इस्लाम

पहले ही कहा जा चुका है कि ईसा से कई शताब्दी पूर्व संन्यास की परम्परा अरब, मिस्र, इजरायल और यूनान मे जड़ पकड़ चुकी थी। सीरिया में निर्जनवासी संन्यासियों के सघ और आश्रम स्थापित थे ही। उनमें से कुछ तो अत्यन्त कठोर तप करते थे। स्वयं ईसा के दीक्षा-गुरू यूहन्ना इसी सम्प्रदाय के थे। कुछ परम्पराओं के अनुसार, ईसा ने भी भारत मे आकर, संन्यास और भारतीय दर्शन का अध्ययन किया था। आज भी भारत में सबसे प्राचीत ईसाई सीरियाई-ईसाई हैं, जो एक प्रकार से विश्व के प्राचीनतम ईसाई-मतावलम्बी है; क्योंकि अनुश्रुतियों के अनुसार, वे महात्मा ईसा के प्रत्यक्ष शिष्य सत तामस की शिष्य परम्परा मे है। सीरियाई ईसाइयों की जीवन-चर्या भारतीय संन्यासियों से अधिक भिन्न नही है। उनकी जीवन-चर्या का प्रभाव थोड़ा बहुत सभी ईसाई संप्रदायों पर पड़ा है।

इस्लाम का प्रवर्तन हजरत मुहम्मद से है। मुहम्मद साहब स्वयं तो प्रचलित अर्थों में संन्यासी नहीं थे, किन्तु उनको दैवी उपदेशो का दर्शन निर्जन मरुस्थलों में एकान्त जीवन बिताने और तप करने के बाद ही हुआ था। बाद में तो, सूफी, दरवेश, ख्वाजा, फकीर, पीर आदि अनेकों गृह-त्यागी संन्यासियों के सम्प्रदाय इस्लाम का प्रधान अंग बन गए। यह मानने में संकोच नही होना चाहिये कि इस्लाम में संन्यास का प्रवेश ईसाई संन्यासी सम्प्रदायों, ईरान, अफगानिस्तान और मध्य एसिया के बौद्ध और बौद्धेत्तर श्रमण-सम्प्रदायों तथा काश्मीर, सिन्धु और निकटवर्ती क्षेत्रो के हिन्दू संन्यासियों के साथ सम्पर्क का ही परिणाम है।

भारत

भारत में तो श्रमण और गृहस्थ का सम्बन्ध और भी स्पष्ट है। भारत की ज्ञात सभ्यताओं में सर्वाधिक प्राचीन सभ्यता सिन्धु-सभ्यता मानी जाती है। उस काल की मुद्राओ पर उत्कीर्ण चित्रो से यह स्पष्ट है कि सब कुछ त्याग कर वनों मे निवास और कठोर तप करने वाले संन्यासियो, योगियों की परम्पराएँ तब तक समाज मे सुस्थापित ही नही हो चुकी थी; अपितु समाज का पूज्य अग बन चुकी थी। एक मुद्रा पर एक योगी वृक्ष के नीचे समाधिस्थ है और अन्य पशुओ से परिवृत है। यद्यपि इस सभ्यता को पूर्व-वैदिक कहना तो भूल ही होगा, किन्तु यह स्पष्ट है कि मुद्राओ से प्रकट होने वाला धर्म और जीवन-शैली वेदो से प्राप्त धर्म और दर्शन से भिन्न ही प्रतीत होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि इहलोक-परक होने के कारण, प्रवृति-परक वैदिक उपासना और जीवन शैली तो अभिलिखित हो गई, किन्तु इहैषणा-रहित सर्वत्यागियो की जीवन-शैली का अभिलेखन, स्वभावतः नहीं हो सका। तथाकथित पूर्व-वैदिक या वेदेतर जीवन और उपासना शैली के अभिलेख—प्रमाणो का अभाव सम्भवत. इसी कारण है। सिन्धु लिपि के उद्धार के बाद इस अभाव की पूर्ति शायद हो सके।

वेदो के अन्तिम अंशो, आरण्यकों और उपनिषदों में अवश्य यह भेद उभर कर आया है। श्रमण शब्द का उल्लेख भी पहले-पहल वृहदारण्यक उपनिषद् में ही है। वेदों के ऋषियो की परम्परा और श्रमणों की परम्परा में प्रधान भेद यही रहा है कि ऋषि अधिकांशतः गृहस्थ रहे, जबकि श्रमण कठोर तप करने वाले परिव्राजक सर्वस्व त्यागी संन्यासी थे।

'श्रमण' शब्द की व्युत्पति ही 'श्रम' धातु मे युच् या ल्युट् प्रत्यय के योग से होती है । यो श्रमण का अर्थ कठोर तपस्वी होता है । किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि संन्यासियों के विभिन्न भेद बहुत पहले ही हो चुके थे । रामायण में (१. १.८ १२) मे श्रमण और तापस शब्द इकट्ठे आए है जिसमे स्पष्ट है कि श्रमण और कठोर तपस्वी मे भी भेद है ।

इनमें भी सबसे महान् संवर्ग अवधूतों का है । पुराणो ने अवधूतों की परम्परा स्वयं शिव से स्थापित की है । किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से अवधूत परम्परा के आदि—आचार्य भगवान ऋषभदेव है । भगवान् ऋषभदेव परम-अवधूत श्रेणी को प्राप्त संन्यासी थे । ये विष्णु के अवतार और आदिनाथ नाम से जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर माने गए है । इन भगवान ऋषभदेव से ही दिगम्बर अवधूतो की परम्परा का प्रारम्भ है । इतिहास-क्रम से यह घटना सिन्धु काल के आरम्भ की भी हो सकती है क्योंकि एक सिन्धु-मुद्रा पर योगी और वृषभ चिन्ह अंकित पाया गया है । लेख तो अभी निर्भ्रान्त रूप से पढा नही गया है, किन्तु चिन्ह से वह योगी-मूर्ति ऋषभदेव की भी मानी जा सकती है, क्योकि जैन-परम्परा में वृषभ भगवान ऋषभ देव का चिन्ह है ।

ऋषभदेव के पुत्र भरत भी अवधूत थे, जिन्होंने भद्र-काली के सम्मुख बलि-पशु के स्थान पर स्वय को उपस्थित करके पशु-बलि के विरुद्ध मौन-सत्याग्रह किया । शायद वेदों के शुनःशेष के बाद पशु-बलि के विरुद्ध प्रथम सशक्त स्वर भरत का ही है ।

भगवान ऋषभदेव के बाद, अवधूत परम्परा के बाइस आचार्य और हुए, लेकिन तेईसवे आचार्य भगवान पार्श्वनाथ के समय से अवधूतो का एक सम्प्रदाय उनसे पृथक हो गया और नाथ सम्प्रदाय कहाया । पार्श्वनाथ का मूल सम्प्रदाय इस युग से निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय कहा जाने लगा । इसी निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय में चौबीसवें आचार्य वर्द्धमान थे, जिनको जैन मतावलम्बियों ने चौबीसवां और अन्तिम तीर्थंकर माना है । वास्तव में, अवधूतों या नाथों से पृथक् जैन धर्म का आरम्भ, ऐतिहासिक दृष्टि से, भगवान वर्द्धमान महावीर से माना जाना चाहिए । वर्द्धमान महावीर को बुद्ध ने 'निगण्ठ' (निर्ग्रन्थ) कहा है । बाद मे उन्हें ही 'जिन' भी कहा गया । पर, स्वय बुद्ध को भी अनेक स्थानो पर 'जिन' और 'अर्हत्' कहा गया है और यही विशेषण स्वयं महावीर के लिए भी प्रयुक्त हुए है । इसी प्रकार दोनो सम्प्रदायो के संन्यासी भी आगे चल कर 'श्रमण' कहलाए । खेद यही रहा है कि बौद्ध धर्म का स्थायी प्रभाव भारत की सीमा से बाहर भी रहा है, किन्तु वर्द्धमान की श्रमण-परम्परा भारत से बाहर स्थायी प्रसार न पा सकी ।

उपसंहार

यों मानव समाज में इतिहास काल के आरम्भ मे अब तक श्रमण या संन्यासी ने सम्मान पूर्ण स्थान पाया है । श्रमण समाज का गुरु है । श्रमण के पतन से सदा समाज का पतन हुआ है, या समाज यदि सबल रहा है तो उसी ने पतित श्रमण का नाश करके अपने आपको पतन से बचाया है । भारत से बौद्ध धर्म का लोप कुछ बौद्ध भिक्षुओं की इसी प्रवृति का परिणाम है । यह हुआ है और होता रहेगा । समाज ने सदा से अब तक जिस श्रमण का सम्मान किया है, वह मठों या सघारामो का ऐश्वर्यशाली स्वामी श्रमण नही था; वह वही था, जो गीता की भाषा मे स्थितप्रज्ञ, निस्पृह, निसग योगी था, जिसे बुद्ध ने धम्मपद मे 'बम्हन' कहा, जो निर्ग्रन्थ, इन्द्रिय-जेता, जिन कहलाने का वास्तविक अधिकारी था.

जिसने लोक-कल्याण के लिये सदा अपना बलिदान दिया है । ऐसे 'श्रमण' जब तक रहेंगे, मानव समाज सदा पतन के गम्भीरतम गह्वरो से उभर कर कल्याण मार्ग पर आता रहेगा । मानव समाज भी जब तक ऐसे सच्चे संन्यासियो को वास्तविक हार्दिक सम्मान देता रहेगा, जब तक उनके चरण-चिन्हो का अनुसरण करता रहेगा, तब तक कोई भय नही है । □□

पता :— मकान नं० १८१७, गली नं० ४५,
नाईवाला, करौल बाग, नई दिल्ली

पर भारतीय सभ्यता की पूरी छाप है। माया-सभ्यता की अनुश्रुतियों के अनुसार उनके पूर्वज पूर्व से वहाँ पहुँचे। माया-जन की सर्वाधिक पूज्या और इष्ट देवमाता माया है, जो भारतीय लक्ष्मी की भाँति कमल धारण किए हैं और प्रधान देव 'हुइत्ज्लीपोस्त्ली' नागधारी शिव है, जो संन्यासियों के आदि गुरू है। मैक्सिको के इण्डियन एजटेक वास्तव मे आस्तीक की सन्तान है। सम्भवतः जनमेजय से संधि के पश्चात् आस्तीक नागो, नहुषो, और मर्गो को पोलीनेशिया के मार्ग से वर्तमान अमरीका मे ले गए थे। आज भी मैक्सिको के आदिवासी नाग की पूजा करते है। भारत से दूर जा बसने पर भी, वे भारतीय परम्पराओं को नही भूले। अन्य परम्पराओ के साथ, भारत में पूरी विकसित संन्यास परम्परा भी वहाँ पहुँची। प्राचीन इतिहासकारो और यात्रियों की साक्षी है कि आस्तीक अपने पुरोहितो को 'शमन' कहते थे, जो स्पष्ट ही 'श्रमण का ही रूपान्तर है।

ईसाइयत और इस्लाम

पहले ही कहा जा चुका है कि ईसा से कई शताब्दी पूर्व संन्यास की परम्परा अरब, मिस्र, इजरायल और यूनान मे जड़ पकड़ चुकी थी। सीरिया मे निर्जनवासी संन्यासियों के संघ और आश्रम स्थापित थे ही। उनमें से कुछ तो अत्यन्त कठोर तप करते थे। स्वयं ईसा के दीक्षा-गुरू यूहन्ना इसी सम्प्रदाय के थे। कुछ परम्पराओं के अनुसार, ईसा ने भी भारत मे आकर, संन्यास और भारतीय दर्शन का अध्ययन किया था। आज भी भारत मे सबसे प्राचीन ईसाई सीरियाई-ईसाई है, जो एक प्रकार से विश्व के प्राचीनतम ईसाई-मतावलम्बी है; क्योंकि अनुश्रुतियों के अनुसार, वे महात्मा ईसा के प्रत्यक्ष शिष्य सत तामस की शिष्य परम्परा मे है। सीरियाई ईसाइयों की जीवन-चर्या भारतीय संन्यासियों से अधिक भिन्न नहीं है। उनकी जीवन-चर्या का प्रभाव थोड़ा बहुत सभी ईसाई संप्रदायों पर पडा है।

इस्लाम का प्रवर्तन हजरत मुहम्मद से है। मुहम्मद साहब स्वयं तो प्रचलित अर्थों में संन्यासी नही थे, किन्तु उनको दैवी उपदेशों का दर्शन निर्जन मरुस्थलों में एकान्त जीवन बिताने और तप करने के बाद ही हुआ था। बाद में तो, सूफी, दरवेश, ख्वाजा, फकीर, पीर आदि अनेकों गृह-त्यागी संन्यासियो के सम्प्रदाय इस्लाम का प्रधान अंग बन गए। यह मानने मे संकोच नही होना चाहिये कि इस्लाम मे संन्यास का प्रवेश ईसाई संन्यासी सम्प्रदायों, ईरान, अफगानिस्तान और मध्य एसिया के बौद्ध और बौद्धेतर श्रमण-सम्प्रदायों तथा काश्मीर, सिन्धु और निकटवर्ती क्षेत्रों के हिन्दू संन्यासियों के साथ सम्पर्क का ही परिणाम है।

भारत

भारत मे तो श्रमण और गृहस्थ का सम्बन्ध और भी स्पष्ट है। भारत की ज्ञात सभ्यताओं में सर्वाधिक प्राचीन सभ्यता सिन्धु-सभ्यता मानी जाती है। उस काल की मुद्राओ पर उत्कीर्ण चित्रों से यह स्पष्ट है कि सब कुछ त्याग कर वनों मे निवास और कठोर तप करने वाले संन्यासियों, योगियों की परम्पराएँ तब तक समाज मे सुस्थापित ही नही हो चुकी थी; अपितु समाज का पूज्य अग बन चुकी थी। एक मुद्रा पर एक योगी वृक्ष के नीचे समाधिस्थ है और अन्य पशुओ से परिवृत है। यद्यपि इस सभ्यता को पूर्व-वैदिक कहना तो भूल ही होगा, किन्तु यह स्पष्ट है कि मुद्राओं से प्रकट होने वाला धर्म और जीवन-शैली वेदो से प्राप्त धर्म और दर्शन से भिन्न ही प्रतीत होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि इहलोक-परक होने के कारण, प्रवृति-परक वैदिक उपासना और जीवन शैली तो अभिलिखित हो गई, किन्तु इहैषणा-रहित सर्वत्यागियों की जीवन-शैली का अभिलेखन, स्वभावतः नही हो सका। तथाकथित पूर्व-वैदिक या वेदेतर जीवन और उपासना शैली के अभिलेख—प्रमाणों का अभाव सम्भवत. इसी कारण है। सिन्धु लिपि के उद्धार के बाद इस अभाव की पूर्ति शायद हो सके।

वेदो के अन्तिम अंशों, आरण्यकों और उपनिषदों में अवश्य यह भेद उभर कर आया है। श्रमण शब्द का उल्लेख भी पहले-पहल वृहदारण्यक उपनिषद् में ही है। वेदों के ऋषियों की परम्परा और श्रमणों की परम्परा मे प्रधान भेद यही रहा है कि ऋषि अधिकांशतः गृहस्थ रहे, जबकि श्रमण कठोर तप करने वाले परिव्राजक सर्वस्व त्यागी संन्यासी थे।

'श्रमण' शब्द की व्युत्पत्ति ही 'श्रम' धातु में युच् या ल्युट् प्रत्यय के योग से होती है । यों श्रमण का अर्थ कठोर तपस्वी होता है । किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि संन्यासियो के विभिन्न भेद बहुत पहले ही हो चुके थे । रामायण मे (१. १.८ १२.) मे श्रमण और तापस शब्द इकट्ठे आए है जिसमे स्पष्ट है कि श्रमण और कठोर तपस्वी मे भी भेद है ।

इनमे भी सबसे महान् संवर्ग अवधूतो का है । पुराणो ने अवधूतो की परम्परा स्वयं शिव से स्थापित की है । किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से अवधूत परम्परा के आदि—आचार्य भगवान ऋषभदेव है । भगवान् ऋषभदेव परम-अवधूत श्रेणी को प्राप्त संन्यासी थे । ये विष्णु के अवतार और आदिनाथ नाम से जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर माने गए हैं । इन भगवान ऋषभदेव से ही दिगम्बर अवधूतो की परम्परा का प्रारम्भ है । इतिहास-क्रम से यह घटना सिन्धु काल के आरम्भ की भी हो सकती है क्योकि एक सिन्धु-मुद्रा पर योगी और वृषभ चिन्ह अकित पाया गया है । लेख तो अभी निर्भ्रान्ति रूप से पढा नही गया है, किन्तु चिन्ह से वह योगी-मूर्ति ऋषभदेव की भी मानी जा सकती है, क्योकि जैन-परम्परा में वृषभ भगवान ऋषभ देव का चिन्ह है ।

ऋषभदेव के पुत्र भरत भी अवधूत थे, जिन्होने भद्र-काली के सम्मुख बलि-पशु के स्थान पर स्वय को उपस्थित करके पशु-बलि के विरुद्ध मौन-सत्याग्रह किया । शायद वेदों के शुनःशेष के बाद पशु-बलि के विरुद्ध प्रथम सशक्त स्वर भरत का ही है ।

भगवान ऋषभदेव के बाद, अवधूत पराम्परा के बाइस आचार्य और हुए, लेकिन तेईसवें आचार्य भगवान पार्श्वनाथ के समय से अवधूतो का एक सम्प्रदाय उनसे पृथक हो गया और नाथ सम्प्रदाय कहाया । पार्श्वनाथ का मूल सम्प्रदाय इस युग से निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय कहा जाने लगा । इसी निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय मे चौबीसवे आचार्य वर्द्धमान थे, जिनको जैन मतावलम्बियो ने चौबीसवां और अन्तिम तीर्थंकर माना है । वास्तव में, अवधूतों या नाथों से पृथक् जैन धर्म का आरम्भ, ऐतिहासिक दृष्टि से, भगवान वर्द्धमान महावीर से माना जाना चाहिए । वर्द्धमान महावीर को बुद्ध ने 'निगण्ठ' (निर्ग्रन्थ) कहा है । बाद मे उन्हें ही 'जिन' भी कहा गया । पर, स्वयं बुद्ध को भी अनेक स्थानों पर 'जिन' और 'अर्हत्' कहा गया है और यही विशेषण स्वय महावीर के लिए भी प्रयुक्त हुए है । इसी प्रकार दोनो सम्प्रदायो के संन्यासी भी आगे चल कर 'श्रमण' कहलाए । खेद यही रहा है कि बौद्ध धर्म का स्थायी प्रभाव भारत की सीमा से बाहर भी रहा है, किन्तु वर्द्धमान की श्रमण-परम्परा भारत से बाहर स्थायी प्रसार न पा सकी ।

उपसंहार

यों मानव समाज मे इतिहास काल के आरम्भ से अब तक श्रमण या संन्यासी ने सम्मान पूर्ण स्थान पाया है । श्रमण समाज का गुरु है । श्रमण के पतन से सदा समाज का पतन हुआ है; या समाज यदि सबल रहा है तो उसी ने पतित श्रमण का नाश करके अपने आपको पतन से बचाया है । भारत से बौद्ध धर्म का लोप कुछ बौद्ध भिक्षुओं की इसी प्रवृति का परिणाम है । यह हुआ है और होता रहेगा । समाज ने सदा से अब तक जिस श्रमण का सम्मान किया है, वह मठों या सघारामो का ऐश्वर्यशाली स्वामी श्रमण नही था, वह वही था, जो गीता की भाषा मे स्थितप्रज्ञ, निस्पृह, निमग योगी था, जिसे बुद्ध ने धम्मपद मे 'बम्हन' कहा, जो निर्ग्रन्थ, इन्द्रिय-जेता, जिन कहलाने का वास्तविक अधिकारी था, जिसने लोक-कल्याण के लिये सदा अपना बलिदान दिया है । ऐसे 'श्रमण' जब तक रहेंगे, मानव समाज सदा पतन के गम्भीरतम गह्वरो मे उभर कर कल्याण मार्ग पर आता रहेगा । मानव समाज भी जब तक ऐसे सच्चे संन्यासियों को वास्तविक हार्दिक सम्मान देता रहेगा, जब तक उनके चरण-चिन्हों का अनुसरण करता रहेगा, तब तक कोई भय नही है । □□

पता :— मकान नं० १८१७, गली नं० ४५,
नाईवाला, करौल बाग, नई दिल्ली

जैन कवि कुशललाभ का हिन्दी साहित्य को योगदान

□ डा० मनमोहन स्वरूप माथुर, उदयपुर

अनेक जैन आचार्यो ने हिन्दी साहित्य की सेवा की है। ऐसे ही एक जैन आचार्य है—कुशललाभ, जिन्होने हिन्दी भाषा और साहित्य की अपूर्व सेवा की। कुशललाभ धर्म से जैन यति थे और जैसलमेर के रावल हरराज के आश्रित थे। आरम्भ मे उन्होने हरराज के कुतूहलार्थ माधवानल कामकदला चौपाई, ढोला, मारवणी चौपाई जैसी शृगार-परक कृतियों और शिक्षण के लिए पिंगल-शिरोमणि जैसे छंद-ग्रन्थ का निर्माण किया। रावल हरराज की मृत्यु के पश्चात् प्राय परिव्राजक बन कर उपाश्रयो मे ही आपने अपना शेष जीवन बिताया। इस काल मे उन्होने जैन चरित-काव्यो का प्रणयन किया। इनमे से किसी भी ग्रन्थ में कविने अपने जीवन-वृत्त संबधी कोई सकेत नही दिया है। किन्तु ग्रन्थो मे वर्णित कतिपय घटनाओं के आधार पर कुशललाभ का अस्तित्व-काल विक्रम सवत् १५६०–१५६५ से वि० सं० १६५५ तक माना जा सकता है। इसी भाँति कुशललाभ की भाषा के आधार पर यह सम्भावना की जा सकती है कि आपका जन्म गुजरात के निकटवर्ती मारवाड़ प्रान्त मे ही हुआ होगा। कृतियो की पुष्पिकाओ से स्पष्ट होता है कि कुशललाभ खरतरगच्छ सम्प्रदाय के अधिष्ठाता जिनचन्द्र के शिष्य जिनभद्र सूरि की शिष्य-परम्परा मे उपाध्याय अभयधर्म के शिष्य थे।[1]

कुशललाभ ने अपने जीवन-काल में जैन एवं जैनेतर विषयो से सम्बन्धित १८ ग्रन्थो[2] की रचना की। इन्हें विषय-वस्तु की दृष्टि से इन चार भागों मे विभक्त किया जा सकता है—१. प्रेमाख्यानक रचनाएँ, २. जैन भक्ति सम्बन्धी रचनायें, ३. पौराणिक साहित्य तथा ४. रीति-सम्बन्धी रचनायें।

कवि की रीति-विवेचक रचना है–पिंगल-शिरोमणि[3]। यह राजस्थानी भाषा का प्रथम छन्द-विवेचक ग्रन्थ है। इसमें कवि ने अलंकार, कोश और राजस्थानी भाषा के छन्द विशेष 'गीत' का भी विवेचन किया है। कुशललाभ की यही परम्परा हरिपिंगल प्रबन्ध, रघुवरजस प्रकास, रघुनाथ रूपक गीता रो, कवि कुलबोध, सज्जन चित्र-चन्द्रिका आदि राजस्थानी रीति-ग्रन्थो के रूप मे विकसित हुई। राजस्थानी मे अलंकार-विवेचन की दृष्टि से यह ग्रन्थ अभी भी सर्व प्रथम एव मौलिक है।

इन सभी कृतियों का आरम्भ मगलाचरण से किया गया है। ये मगलाचरण गणपति, सरस्वती, शंकर, विष्णु, महामाई, कामदेव, जिनप्रभू जिनेश्वर, पार्श्वनाथ, गौतम-ऋषि की स्तुति से सम्बन्धित है। जैन भक्ति सम्बन्धी रचनाओ मे जम्बूद्वीप, शत्रुञ्जयगिरि आदि का भी परिचय दिया गया है। कवि की इन रचनाओं का अन्त पुष्पिका द्वारा हुआ ह, जिनमे कवि ने अपना और अपने गुरु खरतरगच्छीय उपाध्याय अभयधर्म का नामोल्लेख किया है। स्तोत्र एवं देवी-भक्ति रचनाओं में यह अन्त कवि ने 'कलश' छन्द के माध्यम से किया है, यथा—

---

१. राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर।

२. माधवानल कामकन्दला चौपाई, ढोलामारवणी चौपाई, जिनपालित जिनरक्षित सधि गाथा, पार्श्वनाथ दश-भव स्तवन, अगड़दत्त रास, तेजसार रास चौपाई, पिंगल-शिरोमणि, स्तम्भन पार्श्वनाथ स्तवन, भीमसेन हँसराज चौपाई, शत्रुञ्जय यात्रा स्तवन, श्रीपूज्य वाहण वाहण गीत, महामाई दुर्गा सातसी, जगदम्बा छन्द अथवा भवानी छन्द, स्फुट छद, कवित्त और गुण-सुन्दरी चौपाई (?)।

३. परम्परा, भाग १३.—राजस्थानी शोध सस्थान, जोधपुर।

इन्द्रादिक सुर असुरः सदा तुझ सेवा सारैः
स्वर्ग मृत्यु पाताल अचल तुमचि आधारः
गिर गह्वर वर विवर नगर पुरवर त्रिक चाचर
आप छन्वि आणंद शक्ति पीले सचराचर
शिव संगति युगति बेलि सदा विविध रूप विश्वेश्वरी
कवि कुशललाभ कल्याण करि जय जय जगदीश्वरी।[४]

कवि की अधिकांश प्रेमाख्यानक रचनाओं मे आधिकारिक कथा का आरम्भ प्रायः किसी नि संतान राजा अथवा पुरोहित द्वारा सन्तान प्राप्ति के प्रयत्न के वरण से हुआ है। देवी-देवता, ऋषि मुनि के आमन्त्रित फल अथवा उनके बताये अनुसार पुष्कर या अन्य पवित्र स्थलो की 'जात' देने पर उस राजा के यहां पुत्र अथवा पुत्री का जन्म हुआ है।[५] युवा होने पर किसी अपराध पर पिता[६] से कहा सुनी होने पर अथवा राजाज्ञा[७] से नायक को घर छोड़ना पड़ा है। इसी निष्कासन से नायक के वैशिष्ट्य के द्वारा इन रचनाओ मे कवि ने प्रेम-तत्व को उभारा है।

नायक-नायिकाओं मे प्रेम का आरम्भ प्रत्यक्ष-दर्शन और रूप-गुण-श्रवण द्वारा होता है। नायक-नायिका मे प्रेमोद्दीपन एव उसके संयोग मे तोता, मंत्री-पुत्र, भाट खवास, सखियाँ आदि सहायक हुए है। नायिका की प्राप्ति के पश्चात् जब नायक पुनः अपने निवास को लौटता है तो मार्ग मे उसका प्रतिनायक के साथ युद्ध दिखलाया गया है। नायक विजयी होकर जैसे ही आगे बढ़ता है, नायिका की मृत्यु हो जाती है।[८] इसके पश्चात् नायिका को पुनर्जीवन योगी-योगिनी[९] अथवा विद्याधर[१०] द्वारा प्राप्त होता है। घर लौटने पर सभी प्रेमाख्यानक रचनाओ मे नायक के माता-पिता एव उस नगर की प्रजा नायक का स्वागत करती है—

पुत्र उलख्यो प्रोहित जिसई, हरखई बूढा आंसू तिसई।
आयो ले आलिगन दीयई अति आणद खोलइ लियइ॥

× × ×

नगर साहू सिणगारियो, सयल लोक आणंद कीयउ॥"

जैन कथानक सम्बन्धी रचनाओं में नायक के स्वदेश लौटने पर कोई गुरु उसको धर्म मे दीक्षित करता है। तत्पश्चात् नायक अपने बडे पुत्र को राज्यभार सभाल कर सन्यासी बनते चित्रित किया जाता है, जबकि जैनेतर रचनाओं मे सुखमय पारिवारिक जीवन के साथ कथा का अन्त है। इस प्रकार जहा जैनेतर रचनाओं की कथा-वस्तु सुखान्त है, वहाँ जैन चरित सम्बन्धी रचनाओ की प्रसादान्त।

कुशललाभ ने शृङ्गार, भक्ति, काव्य-शास्त्र, चरित्र-आख्यान आदि विविध विषयो को लेकर प्रबन्ध, लघु-गीत छन्द, स्तोत्र आदि रचनायें लिखी। इनमें प्रधानता शृंगार रस की ही है। शान्तरस तो सहायक है एव उद्देश्यपूर्ति के निमित्त ही प्रयुक्त हुआ है। इस सदर्भ मे श्री श्रीचन्द जैन का कथन है—"जैन काव्य में शाति या शम की प्रधानता है अवश्य, किन्तु वह आरम्भ नही, परिणति है ······ नारी के शृगारी रूप, यौवन एवं तज्जन्य कामोत्तेजना आदि का चित्रण इसी कारण जैन कवियो ने बहुत सूक्ष्मता से किया है।[१२]

इन रसो के अतिरिक्त करुणा, वात्सल्य, वीर, रौद्र, भयानक रसो का भी यथा प्रसग प्रयोग हुआ है।

कवि ने अपनी कृतियो मे अनेक छन्दों का सुन्दर प्रयोग किया है। 'पिगल शिरोमणि' नामक अपने रीति

(शेष पृष्ठ ५४ पर)

४. राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर, ग्रं० २०६ छंद ४८. (जगदम्बा छद)।

५ माधवानल कामकदला चौपाई, ढोला मारवाणी चौपाई तेजसार रास चौपाई इत्यादि रचनाएं।

६. तेजसार रास, पार्श्वनाथ दशभत्र स्तवन इत्यादि रचनायें।

७. माधवानल कामकन्दला चौपाई, स्थूलिभद्र छतीसी, अगड़दत्त रास।

८. ढोला मारवणी चौपाई, अगड़दत्त रास, भीमसेन हंसराज चौपाई।

९. ढोला मारवणी चौपाई, भीमसेन हंसराज चौपाई।

१०. अगड़दत्त रास, माधवानल कामकन्दला, तेजसार-रास चौपाई।

११. माधवानल काम-कंदला चौपाई—आनन्द काव्य महोदधि, मौ० ७, पृ० १८०, चौपाई ६४४—६४७।

१२. जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १३२—१३३,।

महावीर की तपस्या और सिद्धि

□ उपाध्याय मुनिश्री विद्यानन्द

महान कार्य-सिद्धि के लिए महान परिश्रम करना पड़ता है। श्री वर्द्धमान तीर्थंकर को अनादि समय का कर्म-बन्धन, जिसने अनन्त शक्तिशाली आत्माओं को दीन, हीन बलहीन बनाकर संसार के बन्दीघर (जेलखाने) में डाल रखा है, नष्ट करने के लिए कठोर तपस्या करनी पड़ी, तदर्थ- वह जब आत्म-साधना निमग्न हो जाते थे, तब कई दिन तक एक ही आसन में अचल बैठे या खड़े रहते थे। कभी-कभी एक मास तक लगातार आत्म-ध्यान करते रहते थे। उस समय भोजन-पान बन्द रहता ही था, किन्तु इसके साथ बाहरी वातावरण का भी अनुभव नहीं हो पाता था। शीत ऋतु में पर्वत पर या नदी के तट पर अथवा किसी खुले मैदान में बैठे रहते थे, उन्हें भयंकर शीत का भी अनुभव नहीं होता था। ग्रीष्म ऋतु में वह पर्वत पर बैठे ध्यान करते थे, ऊपर से दोपहर की धूप, नीचे से गरम पत्थर, चारों ओर से लू (गरम हवा) उनके नग्न शरीर को तपाती रहती थी, किन्तु तपस्वी वर्द्धमान को उसका भान नहीं होता था। वर्षा ऋतु में नग्न शरीर पर मूसलाधार पानी गिरता था, तेज हवा चलती थी, परन्तु महान योगी तीर्थंकर महावीर अचल आसन से आत्म चिंतन में रहते थे।

जब वह आत्म-ध्यान से निवृत्त हुए और शरीर को कुछ भोजन देने का विचार हुआ तो निकट के गाँव या नगर में चले गये। वहाँ यदि विधि-अनुसार शुद्ध भोजन मिल गया तो निःस्पृह भावना से थोड़ा-सा भोजन कर लिया और तपस्या करने वन, पर्वत पर चले गए। कही दो दिन ठहरे, कही चार दिन, कही एक सप्ताह, फिर विहार करके किसी अन्य स्थान को चले गये। यदि सोना आवश्यक समझते, तो रात को पिछले पहर कुछ देर के लिये करवट से सो जाते। इस तरह से आत्म-साधन के लिये अधिक से अधिक और शरीर की स्थिति के लिए कम से कम समय लगाते थे।

ऐसी कठोर तपश्चर्या करते हुए वह देश-देशान्तर में भ्रमण करते रहे, नगर या गाँव में केवल भोजन के लिये आते थे। उसके सिवाय अपना शेष समय एकान्त स्थान, वन, पर्वत, गुफा, नदी के किनारे, श्मशान, बाग आदि निर्जन स्थान में बिताते थे। वन के भयानक हिंसक पशु जब तीर्थंकर महावीर के निकट आते तो उन्हें देखते ही उनकी क्रूर हिंसक भावना शान्त हो जाती थी, अतः उनके निकट सिंह, हरिण, सर्प, न्योला, बिल्ली, चूहा आदि जाति-विरोधी जीव भी द्वेष, वैर-भावना छोड़कर प्रेम शान्ति से क्रीड़ा किया करते थे।

निःसंग वायु जिस प्रकार भ्रमण करती रहती है, एक ही स्थान पर नही रुकी रहती, इसी प्रकार असंग निर्ग्रन्थ तीर्थंकर महावीर तपश्चरण करने के लिये भ्रमण करते रहे। भ्रमण करते हुए जब वह उज्जयिनी नगरी के निकट पहुंचे तब वहाँ नगर के बाहर 'अतिमुक्तक' नामक श्मशान को एकान्त-शान्त प्रदेश जानकर वहाँ आत्मध्यान करने ठहर गये। जब रात्रि का समय हुआ तो वहाँ पर 'स्थाणु' नामक एक रुद्र आया। उस स्थाणु रुद्र ने ध्यान-मग्न तीर्थंकर महावीर को देखा। देखते ही उसने उन्हें ध्यान से विचलित करने के लिये घोर उपसर्ग करने का विचार किया।

तदनुसार अपने सिद्ध विद्याबल से अपना भयानक विकराल रूप बनाया और कानों के पर्दे फाड़ देने वाला अट्टहास किया। अपने मुख से अग्नि-ज्वाला निकाल कर ध्यानारूढ़ तीर्थंकर महावीर की ओर झपटा। भूत-प्रेतों ने भयानक नृत्य दिखलाये। सर्प, सिंह, हाथी, आदि ने भयानक शब्द किये। धूलि, अग्निवर्षा की। इस प्रकार के अनेक उपद्रव तीर्थंकर को भयभीत करने तथा आत्म-ध्यान से चलायमान करने के लिये किये, परन्तु उसे कुछ भी सफलता न मिली। न तो परम तपस्वी वर्द्धमान रच-मात्र भयभीत हुए और न उनका चित्त ध्यान से चलायमान हुआ। वह उसी प्रकार अपने अचल आसन से ठहरे रहे, जिस प्रकार आँधी के चलते रहने पर भी पर्वत ज्यों का त्यों खड़ा रहता है। अन्त में अपना घोर उपसर्ग विफल होते देख, स्थाणु रुद्र चुपचाप चला गया।

जगत में कोई भी पदार्थ बहुमूल्य एवं आदरणीय बनता है तो वह बहुत परिश्रम तथा कष्ट सहन करने के पश्चात ही बना करता है। गहरी खुदाई करने पर मिट्टी-पत्थरों मे मिला हुआ भद्दा रत्न-पाषाण निकलता है, उसको छैनी, टाँकी, हथौड़ो की मार सहनी पड़ती है, शाण की तीक्ष्ण रगड़ खानी पडती है, तब कहीं झिलमिलाता हुआ बहुमूल्य रत्न प्रकट होता। अग्नि के भारी सन्ताप मे बार-बार पिघलकर सोना चमकीला बनता है, तभी संसार उसका आदर करता है और पूर्णमूल्य देकर उत्कंठा से खरीदता है।

आत्मा अनन्त वैभव का पुंज है, उसके समान अमूल्य पदार्थ ससार मे एक भी नही है। रत्न की तरह उसका वैभव भी अनादि कालीन कर्म के मैल से छिपा हुआ है। उस गहन कर्म-मल में छिपे हुए वैभव को पूर्ण शुद्ध प्रकट करने के लिये महान परिश्रम करना पड़ता है और महान कष्ट सहन करना पड़ता है, तब यह आत्मा परम शुद्ध विश्ववन्द्य परमात्मा बना करता है।

तीर्थंकर महावीर को भी आत्मशुद्धि के लिए कठोर तपस्या करनी पड़ी। तपश्चरण करते हुए उनकी पूर्व संचित कर्मराशि निर्जीर्ण (निर्जरा) हो रही थी, कर्म-आगमन (आस्रव) तथा बन्ध कम होता जा रहा था। अर्थात् आत्मा का कर्म-मल कटता जा रहा था या घटता जा रहा था। अतः आत्मा का प्रच्छन्न तेज क्रमशः उदीयमान हो रहा था, आत्मा कर्म-भार से हलका हो रहा था, मुक्ति निकट आती जा रही थी।

विहार करते-करते तपस्वी योगी, तीर्थंकर महावीर मगध (बिहार) प्रान्तीय 'जृम्भिका' गाँव के निकट बहने वाली 'ऋजुकूला' नदी के तट पर आये। वहाँ आकर उन्होने साल वृक्ष के नीचे प्रतिमायोग धारण किया। स्वात्म-चिन्तन में निमग्न हो जाने पर उन्हें सातिशय अप्रमत्तगुण स्थान प्राप्त हुआ। तदनन्तर चारित्र मोहनीय कर्म की शेष २१ कृतियों का क्षय करने के लिये क्षपक श्रेणी का आद्यस्थान आठवाँ गुण स्थान हुआ। तदर्थ प्रथम शुक्ल ध्यान (पृथक्त्व वितर्क विचार) हुआ।

जैसे ऊंचे भवन पर शीघ्र चढ़ने के लिये सीढी उपयोगी होती है, उसी प्रकार संसार-भ्रमण एवं कर्म-बन्धन के मूल कारण दुर्द्धर्ष मोहनीय कर्म का शीघ्र क्षय करने के लिये क्षपक श्रेणी उपयोगी होती है। कर्म-क्षय के योग्य आत्मा के परिणामों का प्रति क्षय असख्य गुणा उन्नत होना ही क्षपक श्रेणी है। क्षपक आठवें, नौवें, दसवें और बारहवें गुण स्थान मे होती है। इन गुण-स्थानों मे चारित्र्य मोहनीय की शेष २१ प्रकृतियो की शक्ति का क्रमशः ह्रास होता है, क्षय बारहवें गुण-स्थान मे हो जाता है :

उस समय आत्मा के समस्त क्रोध, मान, काम, लोभ, माया, द्वेष आदि कषाय समूल नष्ट हो जाते है, आत्मा पूर्ण शुद्ध वीतराग इच्छा-विहीन हो जाता है, तदनुसार दूसरा शुक्ल ध्यान (एकत्व वितर्क) होता है, जिससे ज्ञान-दर्शन के आवरक तथा बलहीन कारक (ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय) कर्म क्षय हो जाते है, तब आत्मा मे पूर्ण ज्ञान, पूर्ण दर्शन और पूर्ण बल का विकास हो जाता है, जिनको दूसरे शब्दों में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त बल कहते है। इन गुणों के पूर्ण विकसित हो जाने से आत्मा पूर्णज्ञाता—द्रष्टा बन जाता है। यह आत्मा का १३वाँ गुण-स्थान कहलाता है।

क्षपक श्रेणी के गुण-स्थानो का समय अन्तर्मुहूर्त है, उसी मे योगी सर्वज्ञ हो जाता है। वीतराग सर्वज्ञ हो जाना ही आत्मा का जीवन-मुक्त परमात्मा (अर्हन्त) हो जाना है। आत्मोन्नति या आत्म-शुद्धि का इतना बड़ा कार्य होने मे इतना थोड़ा समय लगता है, किन्तु यह महान कार्य होता तभी है, जबकि आत्मा तपश्चरण के द्वारा शुक्ल ध्यान के योग्य बन चुका हो।

तेरहवें गुण स्थान मे तीसरा शुक्ल ध्यान (सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती) होता है।

आत्मोन्नति या आत्मशुद्धि अथवा वीतराग, सर्वज्ञ अर्हन्त, जीवन्मुक्त परमात्मा बनने का सही विधि-विधान तीर्थंकर महावीर को भी करना पड़ा। १२ वर्ष ५ मास १५ दिवस तक तपश्चर्या करने के अनन्तर उन्होंने प्रथम शुक्ल ध्यान की योग्यता प्राप्त की, तत्पश्चात् पहले लिखे अनुसार उन्होंने मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय चार घातिया कर्मों का क्षय अन्तर्मुहूर्त मे करके सर्वज्ञ वीतराग या अर्हन्त जीव-मुक्त परमात्म-पद प्राप्त किया। अतः वह पूर्ण शुद्ध एवं त्रिकालज्ञाता त्रिलोकज्ञ बन गये। □□

भगवान महावीर की वाणी के स्फुलिंग

□ आचार्य श्री तुलसी

भगवान् महावीर ने शाश्वत सत्य की खोज की और उसी का प्रतिपादन किया। वे कोरे युगद्रष्टा नहीं थे। युगद्रष्टा केवल सामयिक सत्य को देखता है। जो शाश्वत-दर्शी होता है, वह युगदर्शी होता ही है, किन्तु युगातीत-दर्शी भी होता है। शाश्वत सत्य का प्रस्फुटन युग के संदर्भ में भी होता है और उससे परे भी होता है। महावीर भारत की मिट्टी में जन्मे। भारतीय समाज उनका अपना समाज था। उनके पिता लिच्छविगण के एक सदस्य थे। वैशाली का विपुल वैभव और प्रभुत्व उनके आस पास परिक्रमा कर रहा था। वे जिस समाज में पले-पुसे, वह समाज उन दिनों भारतीय समाज कहलाता था और आज वह हिन्दू समाज कहलाता है। उस समय में धर्म की दो धाराएं प्रवाहित हो रही थीं—वैदिक और श्रमण। महावीर ने दोनो धाराओं का निकटता से परिचय किया। तीस वर्ष की अवस्था में वह श्रमण बने। साढ़े बारह वर्ष तक उन्होंने दीर्घ तपस्या और साधना की। उसके बाद उन्हें कैवल्य प्राप्त हुआ। उन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया। जनहित के लिये उन्होंने धर्म-व्याख्या की। उन्होंने बताया—समता धर्म है। राग और द्वेष—ये दोनों विषमता के बीज हैं। अन्तर जगत की जितनी समस्याएं है, उनका मूल हेतु राग-द्वेष ही है। सामाजिक और राजनैतिक स्तर पर भी जो समस्याएं उभरती है, उनके पीछे भी राग-द्वेष का बहुत बड़ा हाथ होता है। राग-द्वेष पर विजय पाये बिना समता नहीं सधती और समता की सिद्धि हुए बिना धर्म प्राप्त नहीं हो सकता। जहां जितनी और जो विषमता है, वह सब अधर्म है। जहां जितनी और जो समता हैं, वह सब धर्म है। इस कसोटी पर उन्होंने धर्म को कसा और धर्म की प्रचलित धारणाओं में जहां-जहां विषमता दिखाई दी, उसका प्रतिरोध किया।

कुछ विद्वान कहते है कि वैदिक धर्म में प्रचलित रूढ़ियों का विरोध करने के लिये महावीर समाज के सम्मुख एक सुधारक के रूप में प्रस्तुत हुए। उनकी प्रवृत्तियों और धार्मिक प्रेरणाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है। किन्तु मेरी दृष्टि में यह यथार्थ नहीं है। उन्होंने अवश्य ही विषमतापूर्ण रूढ़ियों का प्रतिरोध किया, पर वह प्रतिरोध करने के लिये एक सुधारक के रूप में प्रस्तुत नहीं हुए। वह समतामय धर्म की समग्र धारणा को लेकर समाज के सामने प्रस्तुत हुए और प्रासंगिक रूप मे प्रतिरोध भी उनके लिये अनिवार्य हो गया। समाज का बहुत बड़ा भाग जन्मना जाति मे विश्वास करता था। यह विषमतापूर्ण सिद्धान्त था। जाति से यदि आदमी ऊंचा और नीचा हो सकता है तो फिर पुरुषार्थ का कोई महत्व ही नही रहता। जाति से कोई आदमी नीचा है तो फिर वह अच्छा आचरण करने पर भी नीचा ही रहेगा और उच्चजाति वाला बुरा आचरण करने पर भी ऊंचा रहेगा। इस व्याख्या मे पुरुषार्थ और आचरण शून्य हो जाते है। जाति ही सब कुछ हो जाती है। इस व्याख्या के पीछे छिपा हुआ जो पक्षपात था वह समता-धर्म के अनुकूल नही हो सकता। धर्म से मनुष्य तटस्थता की अपेक्षा रखता है। वही धर्म यदि पक्षपात और राग-द्वेष का पाठ पढ़ाये तो धर्म की प्रयोजनीयता ही समाप्त हो जाती है। महावीर ने प्रचलित जातियों को अस्वीकृत नहीं किया। जाति-व्यवस्था के पीछे रहे हुये मनोवैज्ञानिक कारणों की उपेक्षा नहीं की। उन्होंने केवल जन्मना जाति के सूत्र को बदल कर कर्मणा जाति का

सूत्र प्रस्तुत किया। इसके अनुसार एक ही मनुष्य एक ही जन्म में ब्राह्मण भी हो सकता है, क्षत्रिय भी हो सकता है, कुछ भी हो सकता है, पिता क्षत्रिय और पुत्र वैश्य हो सकता है। वैश्य पिता का पुत्र शूद्र भी हो सकता है। कर्मणा जाति की इस परिवर्तनशील व्यवस्था में ऊँच, नीच और छुआछूत का भेद नहीं पनप सकता।

समता के दो प्रमुख प्रतिफल हैं—अहिंसा एवं अपरिग्रह। अहिंसा का सिद्धान्त अपनी आत्मा के प्रति जागरूक रहने का सिद्धान्त है। अपनी आत्मा के प्रति जागरूक वही रह सकता है जो आत्मा के परमात्म स्वरूप को जानता है। ऐसा व्यक्ति दूसरों के प्रति विषमतापूर्ण व्यवहार नहीं कर सकता। इस आधार पर भगवान महावीर ने पशु-बलि-अनौचित्य ठहराया। अनिवार्य हिंसा भी हिंसा है। धर्म के नाम पर हिंसा विहित नहीं हो सकती।

वनस्पति का आहार जीवन की अनिवार्यता है या हो सकती है, किन्तु माँस का भोजन जीवन की अनिवार्यता नही है। उससे सात्विक वृत्तियों का उपघात भी होता है। भगवान् महावीर ने माँसाहार के प्रति जनता में अवांछनीयता की भावना पैदा की और भारतीय समाज में माँसाहार-विरोधी दृष्टिकोण प्रभावशाली हो गया।

भगवान् महावीर ने कर्मकाण्डों को आध्यात्मिक रूप दिया। उस समय यज्ञसस्था बहुत प्रभावशाली थी। भगवान् के यज्ञ के प्रति होने वाले जनता के आकर्षण को समाप्त नही किया, किन्तु यज्ञ की आध्यात्मिक योजना कर उसे रूपान्तरित कर दिया।

हिंसा का विधान स्वर्ग के लिये किया गया था। भगवान महावीर ने निर्वाण के विचार को इतनी प्रखरता से प्रस्तुत किया कि स्वर्ग की आकांक्षा और स्वर्ग के लिये की जाने वाली हिंसा—दोनो के आसन हिल गये। हिंसा का अर्थ केवल प्राणहरण ही नही है। घृणा भी हिंसा है। स्वतंत्रता का अपहरण भी हिंसा है। तत्कालीन समाज व्यवस्था मे स्त्रियो और शूद्रों को अपेक्षित स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी। भगवान् महावीर ने स्त्रियों और शूद्रों को अपने संघ में दीक्षित कर उन्हें समानता के आसन पर प्रतिष्ठित किया। उन्हें अन्य वर्णों की स्वतंत्रता का समभागी बना मानवीय एकता की आधारभूमि प्रशस्त की।

उस समय वैचारिक हिंसा का भी दौर चल रहा था। अपने से भिन्न विचार रखने वालों पर प्रहार करना, उनके विचारों की असत्यता प्रामाणिक करना धर्म-सम्प्रदायों में भी मान्य था। एक धर्म के लोग दूसरे धर्म वालों पर कटाक्ष करते थे। भगवान् महावीर ने अनेकान्त का दर्शन प्रस्तुत कर जनता को समझाया। सत्य की उपलब्धि समन्वय और सापेक्षता के द्वारा ही हो सकती है। एकाँकी दृष्टि से प्रस्तुत किया जाने वाला कोई भी विचारपूर्ण सत्य से विच्छिन्न होने के कारण सत्य नहीं हो सकता। इस अनेकान्त की धारा ने साम्प्रदायिक सकीर्णता के स्थान पर उदार विचार, सर्वग्राही दृष्टिकोण और समन्वय की प्रतिष्ठा की।

ढाई हजार वर्ष पहले समाज को आर्थिक स्वतंत्रता अधिक प्राप्त थी। कोई व्यक्ति चाहे जितना धन अर्जित कर सकता था। राजकीय कर भी बहुत कम थे। कुछ व्यक्ति धन कुबेर थे। कुछ बहुत दरिद्र भी थे। आर्थिक विषमता के प्रति कोई सामाजिक चिंतन विकसित नहीं हुआ था। सामान्य जनता मे यह धारणा थी कि जो धनी बना है, उसने पूर्व जन्म मे अच्छे कर्म किए है। जो गरीब है उसने पूर्व जन्म में बुरे कर्म किए है। अपने-अपने किए हुए कर्मो का फल भुगतना पड़ता है। इस धारणा के आधार पर गरीब के मन मे अमीर के प्रति आक्रोश नही था। सामाजिक स्तर पर भी वह विषमता-पूर्ण व्यवस्था मान्य थी। किन्तु समता की कसौटी पर वह खरी नहीं उतर रही थी। इस लिए भगवान् महावीर ने अपरिग्रह का सिद्धात समझाया। उन्होने कहा—प्रत्येक गृहस्थ को व्रती बनना चाहिए और जो व्रती बने, उसे परिग्रह की सीमा अवश्य करनी चाहिए। अर्जन के साधनों की शुद्धि, परिग्रह की सीमा और उपभोग का सयम—इन तीनों को शृंखलित कर धर्म की एक ऐसी दशा का उद्घाटन किया, जिसकी व्यावहारिक परिणति आर्थिक समानता में होती है।

उस युग का समाज-व्यवस्था में धन की भांति मनुष्य का भी परिग्रह होता था। स्त्री-पुरुष बिकते थे। बिका हुआ आदमी दास होता था और उस पर मालिक का पूर्ण अधिकार रहता था। भगवान् महावीर ने इस प्रथा को हिंसा और परिग्रह दोनो दृष्टियों से अनुचित बताया और जनता को इसे छोड़ने के लिए प्रेरित किया। दास-प्रथा-उन्मूलन, परिग्रह, मानवीय एकता, स्वतंत्रता, समानता, सापेक्षता, सहअस्तित्व, आदि समता के विभिन्न पहलुओं की मूलधारा भगवान् महावीर के वचनो तथा प्रयत्नों मे खोजी जा सकती है। उन्होंने जनभाषा में अपनी बात कही और उनकी बात सीधी जनता तक पहुची। जनता ने इसे अपनाया. पर कोई भी पुराना संस्कार एक साथ नही टूट जाता। ढाई हजार वर्षों के बाद हम अनुभव कर रहे है कि भगवान् महावीर की वाणी के वे सारे स्फुलिंग आज महाशिखा बनकर न केवल भारतीय समाज को, किन्तु समूचे मानव-समाज को प्रकाश दे रहे है।

□□

[पृ० ४६ का शेषांश]

विवेचक ग्रन्थ में कुशल लाभ ने १०४ छन्दों का सोदाहरण लाक्षणिक विवेचन किया है। उन्हीं में से कुछ छन्दों में कवि ने अपनी अनुभूति को विभिन्न कृतियों मे वाणी दी है। ये प्रमुख छन्द है—दूहा, चौपाई, गाहा, त्रोटक, हणूफाल, विग्रक्खरी, पद्धड़ी, मोतीदाम वस्तु, चावकी, रोमवती, हाटकी, कलश आदि। इन छन्दों की प्रधान विशेषता यही है कि अनेक स्थलों पर ये छन्द लक्षण से मेल नहीं खाते। इसके अतिरिक्त तुक के आग्रह से छंदों के पदान्त हकार, इ-कार, अ-कार हो गये हैं। कवि ने छंदों को जनरुचि के अनुकूल बनाने के लिए तत्कालीन प्रचलित शास्त्रीय एवं लौकिक राग-रागिनियों और बंधों को भी ग्रहण किया है। इन रागों के प्रयोग से कवि के परिपक्व संगीत-ज्ञान का परिचय भी मिलता है।

कुशल लाभ के साहित्य का हिन्दी भाषा के विकास की दृष्टि से विशेष महत्व है। कवि के साहित्य में मूलतः दो प्रकार की भाषा का प्रयोग हुआ है—प्रथम, शुद्ध डिंगल और द्वितीय, मध्यकाल में प्रचलित लोक-भाषा राजस्थानी जिसे कुछ विद्वानों ने जूनी-गुजराती अथवा प्राचीन राजस्थानी नाम भी दिए है। कवि की अधिकांश रचनाओं की यही भाषा है। वस्तुतः कुशल लाभ लोक-कवि था। अतः उसकी भाषा का जनता की भाषा होना अनिवार्य भी था।

साहित्य को समाज का सांस्कृतिक इतिहास कहा जाता है। कवि समाज में रहता है। अतः उसका समाज की गतिविधियों से प्रभावित होना स्वाभाविक ही है। सभी युगीन प्रवृत्तियों का चित्रण कुशल लाभ ने अपने साहित्य मे किया है। ये वर्णन सामन्ती एवं जैन संस्कृति से सम्बद्ध है। कारण, कवि का साहित्य विशेष रूप से इन दो समाजों से सम्बन्धित है। कवि ने अपने साहित्य मे उस युग में प्रचलित अलौकिक शक्तियों में आस्था, ज्योतिषियो की भविष्यवाणियों मे श्रद्धा, स्वप्न-फल और शकुनो में विश्वास रखने आदि का बड़ा सरल उल्लेख किया है। पूर्व कर्म-फल के प्रति श्रद्धा का एक उदाहरण प्रस्तुत है।

पैले भव पाप में किया, तो तुझ विण इतरा दिन गया।
सैमुष बात करे वाषाण, जीवन जन्म आज सुप्रमाण ॥[1]

□□

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
भूपाल नोबल्स महाविद्यालय,
उदयपुर (राज०)

---

1. ढोला मारवणी चौपाई, चौपाई स० ५५७।

भगवान महावीर की वैचारिक क्रान्ति

☐ साहू श्रेयांस प्रसाद जैन, बम्बई

क्रांति का सूत्रपात विचारों से होता है और विचार ही आचार और व्यवहार में परिवर्तन लाते है। विश्व इतिहास इस बात का गवाह है कि दुनिया में जब भी कुछ परिवर्तन हुआ तो उसके पीछे चिन्तन और विचार की भूमिका अवश्य रही। समय समय पर संसार में अनेक महापुरुष हुए जिन्होंने अपने अनुभव, चिन्तन एवं मनन से मानवजाति का मार्गदर्शन किया।

आज से लगभग अढ़ाई हजार वर्ष पहले भारत की पुण्य धरती पर भगवान महावीर ने जन्म लिया। २५०० वर्ष पहले का वह युग संसार में वैचारिक क्रांति का युग था। दुनियां के और देशों में भी अनेक महापुरुष उस समय मे हुए जिसमें सुकरात, कनफ्यूशियस, बुद्ध, जरथुश्र आदि उल्लेखनीय हैं। भगवान महावीर जिस युग में हुए उस समय की स्थिति में उन्होंने महान क्रांतिकारी चिंतन लोगों के सामने रखा। सचमुच महावीर क्रांतदृष्टा थे। क्रांति का प्रथम चरण स्वयं जीवन से ही शुरू होता है। वैभव, विलास और भोगों को छोड़ कर त्याग एवं संयम की ओर उनका सहज झुकाव मानव जीवन के लक्ष्य के प्रति एक क्रांति थी। संसार के सभी भौतिक सुखो को क्षणिक मानकर आत्मसुख के लिए महावीर ने घर-संसार छोड़कर साढ़े बारह वर्षो तक कठोरतम साधना की। कैवल्यज्ञान की प्राप्ति के बाद अपने चरम ज्ञान को प्राणी मात्र के लिए पावन गंगा की तरह प्रवाहित किया।

महावीर की क्रांति, भाषा से शुरू होती है। विद्वानों एवं बौद्धिकों के लिए वह युग संस्कृत भाषा एव प्राकृत का पांडित्यपूर्ण युग था। किन्तु महावीर ने जनभाषा अर्द्धमागधी को ही अपने उपदेशों के लिए चुना। क्रांति के लिए यह जरूरी है कि जन-जन तक चिन्तन को पहुचाया जाय और इसीलिए विद्वानों की भाषा के स्था नपर जनभाषा को भगवान महावीर ने अपनाया। महावीर ने चिन्तन के क्षेत्र में नई क्रांति दी, नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन्होंने सुख की प्राप्ति के लिए अहिंसा का मार्ग बताया। अहिंसा का सूक्ष्म विवेचन करते हुए भी महावीर ने उसे एकान्तिक या एकपक्षीय नहीं बनाया। व्यक्ति विशेष साधना की उच्च भूमिका में भले ही पूर्ण अहिंसक हो सके किन्तु सबके लिए पूर्ण अहिंसा सम्भव नही है इसीलिए भगवान महावीर ने मुनियों के लिए महाव्रत और श्रावकों के लिए अणुव्रतों का उपदेश दिया। 'जीओ और जीने दो' का सन्देश देने वाले भगवान महावीर ने जीने की कला सिखाई। जीवन एक दूसरे के सहयोग पर आधारित होता है। प्रत्येक व्यक्ति जीने और सुख से जीने की कामना करता है। दुःख कोई नहीं चाहता, इसलिए महावीर ने सभी जीवों के प्रति समता का उपदेश दिया और हिंसा का विरोध किया।

महावीर के युग मे धर्म के नाम पर अनेक क्रियाकाण्ड यज्ञ एवं पाखण्ड प्रचलित थे और हिंसा को भी धार्मिक मान्यता देकर धर्म का एक अंग मान लिया गया था। महावीर ने इस स्थिति में अपने क्रांतिकारी विचारों से धर्म के नाम पर चलने वाले पाखण्ड और हिंसा का प्रतिकार किया। ठीक उसी युग मे भगवान बुद्ध ने भी ऐसी ही धर्म-क्रांति की और अहिंसा की पावन धारा में सारा विश्व पवित्र हो उठा।

सामाजिक क्षेत्र में जाति-पांति और छूआछूत का बोलबाला था। भगवान महावीर ने कहा—'मनुष्य जन्म से नही, कर्म से महान बनता है। जाति से कोई उच्च अथवा नीच नही होता।' साधना के क्षेत्र में गरीब और अमीर, राजा या रंक, हरिजन या महाजन का भेद महावीर ने नही स्वीकारा। उन्होंने मनुष्य मात्र को एक जाति माना। खण्डवन की ओर जाते हुए भगवान महावीर धीर-गंभीर मुद्रा मे बढ रहे थे। सामने स एक वृद्ध व्यक्ति उनकी ओर तेजी से दौड़ता हुआ आया और महावीर के पीछे चलने वाली भीड़ ने चिल्ला कर कहा—'उसे रोको, आगे मत आने दो। यह हरिकेशी चाण्डाल है, छू जायगा किसी को—'

महावीर दो कदम आगे बढ़ते हुए धीर-गंभीर वाणी में बोले—'उसे रोको मत, आगे आने दो।' हरिकेशी-चाण्डाल महावीर के चरणो में झुकने लगा और महावीर ने उसे गले से लगा लिया। सारे राजकुमार विस्मित हो

उठे, किन्तु महावीर हरिकेशी की साधना से परिचित थे अतः मन्द मन्द मुस्करा रहे थे।

महावीर की अहिंसा समता पर आधारित थी। उसका वैचारिक पहलू अनेकान्त था। अनेकान्त अर्थात् सत्य के पूर्ण रूप को जानने के लिए उसे अनेक पहलुओ से देखना। परस्पर विरोधी लगने वाले चिन्तन मे भी कहीं साम्य का अंश हो सकता है अतः उसके लिए उदार मन एवं अनाग्रह भावना से सत्य की खोज मे लगना अनेकान्त है। महावीर की यही अहिंसा ढाई हजार वर्षो के बाद भी संसार के अनेक चिन्तकों द्वारा युग और परिस्थितियो के अनुसार आज भी विकसित होती रही है। महावीर की अहिंसा का वह विस्फोट पाश्चात्य विद्वान् टाल्स्टाय, रसैल और स्वाइत्जर तथा राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के चिन्तन में खरा उतरा है। महात्मा गाधी ने महावीर की अहिसा का प्रयोगात्मक रूप स्वाधीनता संग्राम में प्रस्तुत कर अहिंसा को व्यावहारिक प्रतिष्ठा पुनः दिलाई।

महावीर के सन्तुलित और सुखी जीवन जीने के लिए चिन्तन मे अनेकान्त, भाषा में स्याद्वाद और आचार-व्यवहार के लिए अणुव्रत की कला सिखाई। दूसरे के विचारो के प्रति सहिष्णुता रखना और दूसरे सिद्धान्त के प्रति अनादर नहीं करना जब हम स्वीकार लेते है तो सहज ही संघर्ष, वैमनस्य और विवाद कम हो जाता है। आज के शब्दों में अनेकान्त का चिन्तन प्रजातान्त्रिक पद्धति और समाजवादी समाज-रचना की आधार-शिला है; इसीलिए राष्ट्रसन्त विनोबा भावे एवं काका कालेलकर जैसे चिन्तक भी मानते है कि अनेकान्त दर्शन भगवान महावीर की मौलिक देन है।

समाज-रचना के लिए महावीर ने अपरिग्रह पर बल दिया। सग्रह, शोषण के विरुद्ध आवाज उठाते हुए धन-उपार्जन में भी महावीर ने प्रामाणिकता और न्याय का सन्देश दिया। एक ओर मुनियों के लिए जहां महावीर ने पूर्णतः अपरिग्रह का व्रत बताया, वहां गृहस्थों के लिए परिग्रह परिणाम का उपदेश दिया। संग्रह की सीमा करने के लिए उपदेश दिया। अपार सम्पत्ति और अतुल वैभव से सम्पन्न आनन्द श्रावक परिग्रह परिमाण व्रतधारी थे। सम्पत्ति और वैभव के सीमांकन के बाद धन का अपने लिए ही नहीं बल्कि जन-कल्याण के लिए उपयोग करना एक श्रावक के लिए उचित है।

भगवान महावीर की चिन्तन के क्षेत्र में एक अभिनव देन यह भी है कि उन्होंने व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व को महत्व देते हुए पौरुष और आत्म-शक्ति का सन्देश दिया। श्रमण शब्द का अर्थ ही श्रम करने वाला पुरुषार्थी। महावीर ने कहा था—प्रत्येक प्राणी एक स्वतंत्र आत्मा है जो अपने गुणों का विकास कर परमात्मा बन सकता है। वह कभी भी किसी अन्य आत्मा मे विलय नही होता और न नष्ट ही होता है। महावीर ने मानव को अपने अस्तित्व के प्रति आस्था दी एवं व्यक्तित्व के चरम विकास की ओर प्रयत्नशील बनाया। इसी प्रकार व्यक्ति अपने को हीन अथवा तुच्छ मानकर किसी दूसरे के भरोसे जीवन नही जीता बल्कि स्वयं अपने पुरुषार्थ से आगे बढ़ता है। वर्तमान युग में महावीर का यह क्रांतिकारी चिन्तन जन जन को आकृष्ट कर रहा है।

आज से पच्चीस सौ वर्षो पूर्व जिन सिद्धान्तो की महावीर ने देन दी है, वे वर्तमान युग मे भी उतने ही उपयोगी सिद्ध हो रहे है बल्कि आज तो उन सिद्धान्तों की और भी ज्यादा आवश्यकता है। हिसा और भयसे पीड़ित प्राणियो के लिए अहिंसा के सिवाय कोई मार्ग नहीं। अणु अस्त्रो की होड़ मे लगे देश भी विरोधों के बावजूद एक मंच पर बैठकर सह-अस्तित्व का चिन्तन करते है। वैज्ञानिक अपने द्वारा बनाये हुए विनाश के हथियारों से खुद परेशान है और बहुमत से स्वीकार करने लगे है कि संयम और अहिंसा के बिना दुनिया मे सुख-शांति सम्भव नहीं, ऐसी स्थिति मे भगवान महावीर ने जो अहिंसा और सयम का मार्ग बताया, वही एकमात्र औषधि है।

सत्य हमेशा सत्य रहता है। उसे काल अथवा परि-स्थिति धूमिल नहीं कर सकती। वह अटल ध्रुव की तरह जगती को आलोकित करता रहता है। भगवान महावीर के क्रांतिकारी चिन्तन से वर्तमान युग की समस्याओं का सहज समाधान मिल सकता है। आवश्यक है कि उनके द्वारा चलाए गए अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह को जीवन-व्यवहार मे उतारें। हमें आशा करनी चाहिए कि महावीर के इस २५००वें निर्वाण महोत्सव वर्ष में सारा विश्व उनके जीवन एवं दर्शन को समझकर व्यवहार मे अपने जीवनमे उतारेगा। □□

वैशाली–गणतन्त्र

□ श्री राजमल जैन दिल्ली

वैशाली–गणतन्त्र के वर्णन के बिना जैन राजशास्त्र का इतिहास अपूर्ण ही रहेगा। वैशाली-गणतन्त्र के निर्वाचित राष्ट्रपति ('राजा' शब्द से प्रसिद्ध) चेटक की पुत्री त्रिशला भगवान् महावीर की पूज्य माता थीं" । (श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार, त्रिशला चेटक की बहन थी) भगवान् महावीर के पिता सिद्धार्थ वैशालीके एक उपनगर 'कुण्डग्राम' के शासक थे। अतः महावीर भी 'वैशालिक' अथवा 'वैशालीय' के नाम से प्रसिद्ध थे। भगवान महावीर ने संसार-त्याग के पश्चात् ४२ चातुर्मासों में से छः चातुर्मास वैशाली में किये थे। कल्प-सूत्र (१२२) के अनुसार महावीर ने बारह चातुर्मास वैशाली में व्यतीत किये थे।[1]

महात्मा बुद्ध एवं वैशाली :

इसका यह तात्पर्य नहीं कि केवल महावीर को ही वैशाली प्रिय थी। इस गणतन्त्र तथा नगर के प्रति महात्मा बुद्ध का भी अधिक स्नेह था। उन्होंने कई बार वैशाली में विहार किया था तथा चातुर्मास बिताए। निर्वाण से पूर्व जब बुद्ध इस नगर में से गुजरे तो उन्होंने पीछे मुड़कर वैशाली पर दृष्टिपात किया और अपने शिष्य आनन्द से कहा, "आनन्द ! इस नगर में यह मेरी अन्तिम यात्रा होगी।"[2] यहीं पर उन्होने सर्वप्रथम भिक्षुणी-संघ की स्थापना की तथा आनन्द के अनुरोध पर गौतमी को अपने संघ में प्रविष्ट किया। एक अवसर पर जब बुद्ध को लिच्छिवियों द्वारा निमन्त्रण दिया गया तो उन्होंने कहा–"हे भिक्षुओं ! देव-सभा के समान सुन्दर इस लिच्छवि-परिषद को देखो।[3]

महात्मा बुद्ध ने वैशाली-गणतन्त्र के आदर्श पर भिक्षु संघ की स्थापना की। भिक्षु संघ के छन्द (मत-दान) तथा दूसरे प्रबन्ध के ढंगों में लिच्छवि (वैशाली) गणतंत्र का अनुकरण किया गया है।" (राहुल सांकृत्यायन-पुरातत्व-निबन्धावली-पृष्ठ १२) यद्यपि बुद्ध शाक्य-गणतन्त्र से सम्बद्ध थे (जिसके अध्यक्ष बुद्ध के पिता शुद्धोदन थे), तथापि उन्होंने वैशाली-गणतन्त्र की पद्धति को अपनाया। हिन्दू राजशास्त्र के विशेषज्ञ श्री काशीप्रसाद जायसवाल के शब्दों मे "बौद्ध संघ ने राजनैतिक संघों से अनेक बातें ग्रहण की। बुद्ध का जन्म गणतन्त्र में हुआ था। उनके पड़ोसी गणतन्त्र-संघ थे और वे उन्हीं लोगों में बड़े हुए। उन्होने अपने संघ का नामकरण 'भिक्षु-संघ' अर्थात् भिक्षुओं का गणतन्त्र किया। अपने समकालीन गुरुओं का अनुकरण करके उन्होंने अपने धर्म-संघ की स्थापना में गणतन्त्र संघों के नाम तथा संविधान को ग्रहण किया। पालि-सूत्रों में उद्धृत, बुद्ध के शब्दों के द्वारा राजनैतिक तथा धार्मिक संघ-व्यवस्था का सम्बन्ध सिद्ध किया जा सकता है।[4] विद्वान् लेखक ने उन सात नियमों का वर्णन किया है जिनका पूर्ण पालन होने पर वज्जि-गण (लिच्छवि एवं विदेह) निरन्तर उन्नति करता रहेगा। इन नियमों का वर्णन महात्मा बुद्ध ने मगधराज अजात शत्रु (जो वज्जि-गण के विनाश का इच्छुक था) के मन्त्री के सम्मुख किया।

---

१. मुनि नथमल—श्रमण महावीर, पृ. ३०३

२. इदं पच्छिमकं आनन्द ! तथागतस्स वेसालिदस्सनं भविस्यति।

३. उपाध्याय श्री मुनि विद्यानन्द-कृत 'तीर्थंकर वर्धमान' से उद्धृत—

यं स भिक्खवे ! भिक्खनं देवा तावनिमा अदिट्ठा,
अलोकेथ भिक्खवे ! लिच्छवनी परिसं, अपलोकेथ।
भिक्खवे ! लिच्छवी परिसरं ! उपसंहरथ भिक्खवे।
लिच्छवे ! लिच्छवी परिसरं तावनिसा सदसन्ति ॥

४. श्री काशी प्रसाद जायसवाल-'हिन्दू पोलिटी'—पृष्ठ ४०. (चतुर्थ संस्करण)।

था। बुद्ध ने भिक्षु-संघ को भी इन नियमों के पालन की प्रेरणा दी थी।

बौद्ध ग्रन्थ एवं वैशाली :

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैशाली-गणतन्त्र के इतिहास तथा कार्य प्रणाली के ज्ञान के लिए हम बौद्ध ग्रन्थों के ऋणी है। विवरणों की उपलब्धि के विषय मे ये विवरण निराले है। सम्भवतः इसी कारण श्री जायसवाल ने इस गणतंत्र को 'विवरणयुक्त गणराज्य' Recorded republic शब्द से सम्बोधित किया है। क्योंकि अधिकांश गणराज्यो का अनुमान कुछ सिक्कों या मुद्राओं से या पाणिनीय व्याकरण के कुछ सूत्रों से अथवा कुछ ग्रन्थो मे यत्र-तत्र उपलब्ध संकेतों से किया गया है। इसी कारण विद्वान् लेखक ने इसे 'प्राचीनतम गणतन्त्र' घोषित किया है, जिसके लिखित साक्ष्य हमें प्राप्त है और जिसकी कार्य-प्रणाली की झाँकी हमें महात्मा बुद्ध के अनेक सम्वादों मे मिलती है।

वैशाली गणतन्त्र का अस्तित्व कम से कम २६०० वर्ष पूर्व रहा है। २५०० वर्ष पूर्व भगवान् महावीर ने ७२ वर्ष की आयु में निर्वाण प्राप्त किया था। यह स्पष्ट ही है कि महावीर वैशाली के अध्यक्ष चेटक के दौहित्र थे। महात्मा बुद्ध महावीर के समकालीन थे। बुद्ध के निर्वाण के शीघ्र पश्चात् बुद्ध के उपदेशों को लेख-बद्ध कर लिया गया था। वैशाली में ही बौद्ध भिक्षुओं की दूसरी संगीति का आयोजन (बुद्ध के उपदेशों के संग्रह के लिए) हुआ था।[५]

वैशाली गणतन्त्र से पूर्व (छठी शताब्दी ई० पू०) क्या कोई गणराज्य था ? वस्तुतः इस विषय में हम अंधकार में है। विद्वानों ने ग्रंथों में यत्र-तत्र प्राप्त शब्दों से इसका अनुमान लगाने का प्रयत्न किया है। वैशाली से पूर्व किसी अन्य गणतन्त्र का विस्तृत विवरण हमें उपलब्ध नहीं है। बौद्ध ग्रंथ 'अंगुत्तर निकाय' मे हमें ज्ञात होता है कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी से पहले निम्नलिखित सोलह 'महाजन पद' थे—१. काशी २. कोसल ३ अंग ४. मगध ५. वज्जि (वृजि) ६. मल्ल ७. चेतिय (चेदि) ८. वंस- (वत्स) ९ कुरु १०. पंचाल ११. मच्छ (मत्स्य) १२. सूरसेन १३ अस्सक (अश्मक) १४. अवन्ति १५. गन्धार १६ कम्बोज।" इनमे से 'वज्जि' का उदय विदेह-साम्राज्य के पतन के बाद हुआ।[६]

जैन ग्रंथ 'भगवती सूत्र' में इन जनपदों की सूची भिन्न रूप मे है जो निम्नलिखित है—१. अंग २. वंग ३. मगह (मगध) ४. मलय ५. मालव (क) ६. अच्छ ७. वच्छ- (वत्स) ८. कोच्छ (कच्छ ?) ९ पाढ (पाण्ड्य या पौड्) १०. लाढ (लाट या राट) ११. वज्जि (वज्जि) १२. मोलि (मल्ल) १३ काशी १४. कोसल १५ अवाह १६. सम्भुत्तर (सुम्भोत्तर ?)। अनेक विद्वान् इस सूची को उत्तरकालीन मानते है परन्तु यह सत्य है कि उपर्युक्त सोलह जनपदो मे काशी, कोशल मगध, अवन्ति तथा वज्जि सर्वाधिक शक्तिशाली थे।

वैशाली गणतन्त्र की रचना :

'वज्जि' नाम है एक महासंघ का, जिसके मुख्य अग थे—ज्ञातृक, लिच्छवि एवं वृजि। ज्ञातृकों से महावीर के पिता सिद्धार्थ का सम्बन्ध था (राजधानी—कुण्डग्राम) लिच्छवियों की राजधानी वैशाली की पहचान बिहार के मुजफ्फरपुर जिले मे स्थित बसाढ़-ग्राम से की गई है। वृजि को एक कुल माना गया है जिसका सम्बन्ध वैशाली मे था। इस महासंघ की राजधानी भी वैशाली थी। लिच्छवियो के अधिक शक्तिशाली होने के कारण इस महासंघ का नाम 'लिच्छवि-संघ' पड़ा। बाद में, राजधानी वैशाली की लोकप्रियता से इसका भी नाम वैशाली-गणतन्त्र हो गया।

वज्जि एवं लिच्छवि :

बौद्ध साहित्य से यह भी ज्ञात होता है कि वज्जि-महासंघ मे अष्ट कुल (विदेह, ज्ञातृक, लिच्छवि, वृजि, उग्र, भोग, कौरव तथा ऐक्ष्वाकु) थे। इनमे भी मुख्य थे—वृजि तथा लिच्छवि। बौद्ध-दर्शन तथा प्राचीन भारतीय भूगोल के अधिकारी विद्वान श्री भरतसिंह उपाध्याय ने अपने ग्रथ (बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ ३८३-८४ (हिन्दी-साहित्य सम्मेलन प्रयाग संवत् २०१८) मे निम्नलिखित मत प्रगट किया है—"वस्तुतः लिच्छवियो

५. पुरातत्व-निबन्धावली-२० ।

६. रे चौधुरी, पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशियेंट इण्डिया कलकत्ता विश्वविद्यालय, छठा संस्करण, १९५३, पृष्ठ ९५ ।

और वज्जियों में भेद करना कठिन है, क्योंकि वज्जि न केवल एक अलग जाति के थे, बल्कि लिच्छवि आदि गणतन्त्रों को मिला कर उनका सामान्य अभिधान वज्जि (सं० वृजि) था और इसी प्रकार वैशाली न केवल वज्जि संघ की ही राजधानी थी बल्कि वज्जियों, लिच्छवियों तथा अन्य सदस्य गणतन्त्रों की सामान्य राजधानी भी थी। एक अलग जाति के रूप में वज्जियों का उल्लेख पाणिनि ने किया है और कौटिल्य ने भी उन्हें लिच्छवियों से पृथक् बताया है। युआन चुआङ् ने भी वज्जि (फु-लि-चिह्) देश और वैशाली (फी-शे-ली) के बीच भेद किया है। परन्तु पालि त्रिपिटक के आधार पर ऐसा विभेद करना सम्भव नहीं है। महापरिनिर्वाण सूत्र में भगवान् कहते हैं, "जब तक वज्जि लोग सात अपरिहाणीय धर्मों का पालन करते रहेंगे, उनका पतन नहीं होगा।" परन्तु संयुत्त निकाय के कलिंगर सुत्त में कहते हैं, "जब तक लिच्छवि लोग लकड़ी के बने तख्तों पर सोयेंगे और उद्योगी बने रहेंगे; तब तक अजातशत्रु उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकता।" इससे प्रगट होता है कि भगवान् बुद्ध वज्जि और लिच्छवि शब्दों का प्रयोग पर्यायवची अर्थ में ही करते थे। इसी प्रकार विनय-पिटक के प्रथम पाराजिक में पहले तो वज्जि प्रदेश में दुर्भिक्ष पड़ने की बात कही गई है (पाराजिक पालि, पृष्ठ १६, श्री नालन्दा-संस्करण) और आगे चल कर वहीं (पृष्ठ २२ में) एक पुत्रहीन व्यक्ति को यह चिंता करते दिखाया गया है कि कहीं लिच्छवि उनके धन को न ले लें। इसमें भी वज्जियों और लिच्छवियों की अभिन्नता प्रतीत होती है।"

विद्वान् लेखक द्वारा प्रदर्शित इस अभिन्नता से मैं सहमत हूं। इस प्रसंग में 'वज्जि' से बुद्ध का तात्पर्य लिच्छवियों से ही था और इसी आधार पर वज्जि संबंधी बुद्ध-वचनों की व्याख्या होनी चाहिए।

अन्य ग्रंथों में उल्लेख :

पाणिनि (५०० ई० पू०) और कौटिल्य (३०० ई० पू०) के उल्लेखों से भी वज्जि (वैशाली, लिच्छवि) गणतन्त्र की महत्ता तथा ख्याति का अनुमान लगाया जा सकता है। पाणिनीय 'अष्टाध्यायी' में एक सूत्र है—मद्र-वृज्योः कन् ४।२।३१. इसी प्रकार, कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में दो प्रकार के संघों का अन्तर बताते हुए लिखा है—"काम्बोज, सुराष्ट्र आदि क्षत्रिय श्रेणियां कृषि, व्यापार तथा शस्त्रों द्वारा जीवन-यापन करती हैं और लिच्छविक, वृजिक, मल्लक, मद्रक, कुकुर, कुरु, पञ्चाल आदि श्रेणियां राजा के समान जीवन बिताती हैं।"[7]

रामायण तथा विष्णु पुराण के अनुसार, वैशाली-नगरी की स्थापना इक्ष्वाकु-पुत्र विशाल द्वारा की गई है। विशाल नगरी होने के कारण यह 'विशाला' नाम से भी प्रसिद्ध हुई। बुद्ध काल में इसका विस्तार नौ मील तक था।[8] इसके अतिरिक्त, 'वैशाली, धन-धान्य-समृद्ध तथा जन-संकुल नगरी थी। इसमें बहुत से उच्च भवन, शिखर युक्त प्रासाद, उपवन तथा कमल-सरोवर थे। (विनय-पिटक एवं ललित विस्तर) बौद्ध एवं जैन—दोनों धर्मों के प्रारम्भिक इतिहास से वैशाली का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। "ई० पू० पाँच सौ वर्ष पूर्व भारत के उत्तर पूर्व भाग में दो महान् धर्मों के 'महापुरुषों' की पवित्र स्मृतियां वैशाली में निहित हैं।"[9] बढ़ती हुई जनसंख्या के दबाव से तीन बार इसका विस्तार हुआ। तीन दीवारें इसे घेरती थी।"तिब्बती विवरण भी इसकी समृद्धि की पुष्टि करते हैं। तिब्बती विवरण (दुल्व ३:८०) के अनुसार, वैशाली में तीन जिले थे। पहले जिले में स्वर्ण-शिखरों से युक्त ७००० घर थे, दूसरे जिले में चांदी के शिखरों से युक्त १४०००, घर थे तथा तीसरे जिले में तांबे के शिखरों से युक्त २१००० घर थे। इन जिलों में उत्तम, मध्यम तथा निम्न वर्ग के लोग अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार रहते थे। (राकहिल लाइफ आफ बुद्ध—पृष्ठ ६२)"। प्राप्त विवरणों के अनुसार वैशाली की जनसंख्या १६८००० थी।

७. काम्बोज सुराष्ट्र क्षत्रिय श्रेण्यादयो वार्ता-शस्त्रोपजीविनः लिच्छिविक-वृजिक-मल्लक-कुकुर-पाञ्चालादयो राजशब्दोपजीविनः।

८. बी. ए. सालेतोर-ऐंशियेंट इण्डियन पोलिटिकल थौट ऐण्ड इन्स्टीट्यूशंस, (१९६३) पृष्ठ ५०६.

९. बी. सी. ला-हिस्टोरिकल ज्योग्रैफी आफ ऐंशियेंट-इण्डिया, फाइनेंस' में प्रकाशित (१९५४) पृष्ठ २६६.

११. वही—पृष्ठ-२६६-६७.

क्षेत्र एवं निवासी :

जहां तक इसकी सीमा का सम्बन्ध है, गंगा नदी इसे मगध साम्राज्य से पृथक् करती थी। श्री रे चौधरी के शब्दों में, "उत्तर दिशा में लिच्छवि-प्रदेश नेपाल तक विस्तृत था।" श्री राहुल सांकृत्यायन के अनुसार, वज्जि-प्रदेश में आधुनिक चम्पारन तथा मुजफ्फरपुर जिलों के कुछ भाग, दरभंगा जिले का अधिकांश भाग, छपरा जिले के मिर्जापुर एवं परसा, सोनपुर पुलिस-क्षेत्र तथा कुछ अन्य स्थान सम्मिलित थे।

बसाढ में हुए पुरातत्व-विभाग के उत्खनन से इस स्थानीय विश्वास की पुष्टि होती है कि वहां राजा विशाल का गढ़ था। एक मुद्रा पर अंकित था—"वेशालि इनु ' ट ...कारे सयानक।" जिसका अर्थ किया गया, "वैशाली का एक भ्रमणकारी अधिकारी।" इस खुदाई में जैन तीर्थ-ङ्करों की मध्यकालीन मूर्तियां भी प्राप्त हुई हैं।

वैशाली की जनसंख्या के मुख्य अंग थे-क्षत्रिय। श्री-रे चौधरी के शब्दों में "कट्टर हिन्दू-धर्म के प्रति उनका मैत्री भाव प्रकट नहीं होता। इसके विपरीत, ये क्षत्रिय जैन, बौद्ध जैसे अब्राह्मण सम्प्रदायों के प्रबल पोषक थे। मनुस्मृति के अनुसार, "झल्ल, मल्ल, द्रविड़, खस आदि के समान वे व्रात्य राजन्य थे।"[१२] यह सुविदित है कि व्रात्य का अर्थ यहां जैन है, क्योंकि जैन साधु एवं श्रावक अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पांच व्रतों का पालन करते हैं। मनुस्मृति के उपर्युक्त श्लोकों में लिच्छ-वियों को 'निच्छवि' कहा गया है। कुछ विद्वानों ने लिच्छ-वियों की 'तिब्बती उद्गम' सिद्ध करने का प्रयत्न किया है परन्तु यह मत स्वीकार्य नहीं है। अन्य विद्वान् के अनु-सार 'लिच्छवि भारतीय क्षत्रिय है, यद्यपि यह एक तथ्य है कि लिच्छवि-गणतन्त्र के पतन के बाद वे नेपाल चले गये और वहाँ उन्होंने राजवंश स्थापित किया।[१३]

'लिच्छवि' शब्द की व्युत्पत्ति :

जैन-ग्रंथों में लिच्छवियों को 'लिच्छई' अथवा 'लिच्छवि' कहा गया है। व्याकरण की दृष्टि से, 'लिच्छवि' शब्द की व्युत्पत्ति 'लिच्छु, शब्द से हुई है। यह किसी वंश का नाम रहा होगा। बौद्ध ग्रंथ 'खुद्दकपाठ') बुद्धघोष-कृत) की अट्ठकथा में निम्नलिखित रोचक कथा है—काशी की रानी ने दो जुड़े हुए मांस-पिण्डो को जन्म दिया और उनको गंगा नदी में फिंकवा दिया। किसी साधु ने उनको उठा लिया और उनका स्वयं पालन-पोषण किया। वे निच्छवि (त्वचा-रहित) थे। काल-क्रम से उनके अंगों का विकसित हुआ और वे बालक-बालिका बन गये। बड़े होने पर वे दूसरे बच्चों को पीड़ित करने लगे, अतः उन्हें दूसरे बालकों से अलग कर दिया गया। (वज्जितव्व—वर्जि-तव्य)। इस प्रकार ये 'वज्जि' नाम से प्रसिद्ध हुए। साधु ने उन दोनों का परस्पर विवाह कर दिया और राजा से ३०० योजन भूमि उनके लिए प्राप्त की। इस प्रकार उनके द्वारा शासित प्रदेश 'वज्जि-प्रदेश' कहलाया।"

सात धर्म :

मगधराज अजात शत्रु साम्राज्य-विस्तार के लिए लिच्छवियो पर आक्रमण करना चाहता था। उसने अपने मन्त्री वस्सकार (वर्षकार) को बुद्ध के पास भेजते हुए कहा—'हे ब्राह्मण! भगवान् बुद्ध के पास जाओ और मेरी ओर से उनके चरणों में प्रणाम करो। मेरी ओर से उनके आरोग्य तथा कुशलता के विषय में पूछ कर उनसे निवेदन करो कि वैदेही-पुत्र मगधराज अजातशत्रु ने वज्जियों पर आक्रमण का निश्चय किया है और मेरे ये शब्द कहो—"वज्जि-गण चाहे कितने शक्तिशाली हों, मै उनका उन्मूलन करके पूर्ण विनाश कर दूंगा। इसके बाद सावधान होकर भगवान् तथागत के वचन सुनो।"[१४] और आकर मुझे बताओ। तथागत का वचन मिथ्या नहीं होता।

अजात शत्रु के मन्त्री के वचन सुन कर बुद्ध ने मंत्री को उत्तर नहीं दिया बल्कि अपने शिष्य आनन्द से कुछ प्रश्न पूछे और तब निम्नलिखित सात अपरिहानीय धर्मो -

---

१२. झल्लो मल्लश्च राजन्याः व्रात्यान्नि लिच्छिविरेवचो ... नटश्च करणश्च खसो द्रविड एव च। १०।२२.

१३. भरतसिंह उपाध्याय—वही—पृष्ठ ३३१.

१४. री डेविड्स (अनुवाद) बुद्ध-सुत्त (सेक्रिड-बुक्स-आफ ईस्ट-भाग ११—मोतीलाल बनारसीदास, देहली पृष्ठ ३-३-४,

(धम्म) का वर्णन किया[15]—

१. अभिण्हं सन्निपाता सन्निपाता बहुला भविस्संति।

हे आनन्द! जब तक वज्जि पूर्ण रूप से निरन्तर परिषदों के आयोजन करते रहेंगे!

२. समग्गा सन्निपातिस्सति समग्गा वुट्ठ-हिस्संति समग्गा सघकरणीयानि करिस्सति।

जब तक वज्जि संगठित होकर मिलते रहेंगे, संगठित होकर उन्नति करते रहेंगे तथा संगठित होकर कर्तव्य कर्म करते रहेंगे;

३. अप्पञ्ञत्तं न पञ्ञापेस्संति, पञ्ञत्तं न समुच्छिन्दिस्संति यथा, पञ्ञत्तेसु सिक्खापदेसु समादाय वत्तिस्सति।

जब तक वे अप्रज्ञप्त (अस्थापित) विधाओं को स्थापित न करेंगे स्थापित विधानों का उल्लंघन न करेंगे तथा पूर्व काल मे स्थापित प्राचीन वज्जि-विधानों का अनुसरण करते रहेंगे;

४. ये ते सघपितरो संघपरिणायका ते सक्करिस्संति गरु करिस्संति मानेस्संति पूजेस्संति तेसञ्च सोतब्बं मञ्ञिस्संति।

जब तक वे वज्जि-पूर्वजों तथा नायकों का सत्कार, सम्मान, पूजा तथा समर्थन करते रहेंगे तथा उनके वचनों को ध्यान से सुन कर मानते रहेंगे;

५. या ते वज्जीनं वज्जिमहल्लका ते सक्करिस्संति, गुरु करिस्सन्ति मानेस्संति, पूजेस्सति, या ता कुलित्थियो कुलकुमारियो ता न आक्कस्स पसह्य वासेन्ति।

जब तक वे वज्जि-कुल की महिलाओं का सम्मान करते रहेंगे और कोई भी कुलस्त्री या कुल-कुमारी उनके द्वारा बल पूर्वक अपहृत या निरुद्ध नहीं की जायेंगी;

६. वज्जि चेतियानि इब्भंतरानि चेव बाहिरानि च तानि सक्करिस्संति, गरु करिस्संति, मानेस्सति, पूजेस्संति, तेसञ्च दिन्नपुब्बं कतपुब्बं धाम्मिकं बलि नो परिहास्सति नो परिहारस्सति।

जब तक वे नगर या नगर से बाहर स्थित चैत्यों (पूजा-स्थानों) का आदर एवं सम्मान करते रहेंगे और पहले दी गई धार्मिक बलि तथा पहले किए गए धार्मिक अनुष्ठानों की अवमानना न करेंगे;

७. वज्जीनं अरहंतेसु धम्मिका रक्खावरण-गुत्ति सुसंविहिता भविस्सति।

जब तक वज्जियों द्वारा अरहन्तों को रक्षा, सुरक्षा एव समर्थन प्रदान किया जायेगा; तब तक वज्जियो का पतन नहीं होगा, अपितु उत्थान होता रहेगा।"

आनन्द को इस प्रकार बताने के बाद बुद्ध ने वस्सकार से कहा, "मैंने ये कल्याणकारी सात धर्म वज्जियों को वैशाली मे बताये थे।" इस पर वस्सकार ने बुद्ध से कहा, 'हे गौतम! इस प्रकार मगधराज वज्जियो को युद्ध में तब तक नहीं जीत सकते, जब तक कि वह कूटनीति द्वारा उनके संगठन को न तोड़ दें।" बुद्ध ने उत्तर दिया, "तुम्हारा विचार ठीक है।" इसके बाद वह मंत्री चला गया।

वस्सकार के जाने पर बुद्ध ने आनन्द से कहा—"राजगृह के निकट रहने वाले सब भिक्षुओं को इकट्ठा करो।" तब उन्होंने भिक्षु संघ के लिए निम्नलिखित सात धर्मों का विधान किया[16]—

१. हे भिक्षुओं! जब तक भिक्षु-गण पूर्ण रूप से निरन्तर परिषदों मे मिलते रहेंगे;

२. जब तक वे संगठित होकर मिलते रहेंगे, उन्नति करते रहेंगे तथा संघ के कर्तव्यों का पालन करते रहेंगे;

३. जब तक वे किसी ऐसे विधान को स्थापित नहीं करेंगे जिसकी स्थापना पहले न हुई हो, स्थापित विधानों का उल्लंघन नहीं करेंगे तथा संघ के विधानों का अनुसरण करेंगे।

४. जब तक वे संघ के अनुभवी गुरुओं, पिता तथा नायकों का सम्मान तथा समर्थन करते रहेंगे तथा उनके वचनों को ध्यान से सुन कर मानते रहेंगे;

५. जब तक वे उस लोभ के वशीभूत न होंगे जो उनमे उत्पन्न होकर दुःख का कारण बनता है।

६. जब तक वे संयमित जीवन मे आनन्द का अनुभव करेंगे;

७. जब तक वे अपने मन को इस प्रकार संयमित

---

१५. पालि-पाठ राधाकुमुद मुखर्जी के ग्रन्थ 'हिन्दू सभ्यता' (अनुवादक—डा. वासुदेव शरण अग्रवाल) द्वितीय संस्करण १९५८- पृष्ठ १९९-२०० से उद्धृत। नियम संख्या मैंने दी है;

१६. वही—पृष्ठ ६७.

करेंगे जिससे पवित्र एवं उत्तम पुरुष उनके पास आयें और आकर सुख-शान्ति प्राप्त करे;

तब तक भिक्षु-सघ का पतन नहीं होगा, उत्थान ही होगा। जब तक भिक्षुओ मे ये सात धर्म विद्यमान है, जब तक वे इन धर्मो मे भली-भांति दीक्षित है, तब तक उनकी उन्नति होती रहेगी।

महापरिनिब्बान सुत्त के उपर्युक्त उद्धरण से वैशाली-गणतन्त्र की उत्तम व्यवस्था एवं अनुशासन की पुष्टि होती है। वैशाली के लिए विहित सात धर्मों को (कुछ परिवर्तित करके) बुद्ध ने अपने संघ के लिए भी अपनाया; इससे स्पष्ट है कि २६०० वर्ष पूर्व के प्राचीन गणतन्त्रों में वैशाली गणतन्त्र श्रेष्ठ तथा योग्यतम था।

लिच्छवियो के कुछ अन्य गुणो ने उन्हे महान् बनाया। उनके जीवन मे आत्म-सयम की भावना थी। वे लकड़ी के तख्त पर सोते थे, वे सदैव कर्तव्यनिष्ठ रहते थे। जब तक उनमे ये गुण रहे, अजातशत्रु उनका बाल बांका भी न कर सका।[17]

शासन-प्रणाली :

लिच्छवियों के मुख्य अधिकारी थे—राजा, उपराजा, सेनापति तथा भाण्डागारिक। इनसे ही सभवत. मन्त्रि-मंडल की रचना होती थी। केन्द्रीय ससद का अधिवेशन नगर के मध्य स्थित सन्थागार (सभा-भवन) मे होता था। शासन-शक्ति ससद के ७७०७ सदस्यो ('राजा' नाम से युक्त) में निहित थी।[18]. सम्भवतः इनमे से कुछ 'राजा' उग्र थे और एक दूसरे की बात नही सुनत थे। इसी कारण ललितविस्तर-काव्य मे ऐसे राजाओ की मानो भर्त्सना की गई है—"इन वैशालिको में उच्च, मध्य वृद्ध एव ज्येष्ठ जनो के सम्मान के नियम का पालन नहीं होता। प्रत्येक स्वय को 'राजा' समझता है। 'मैं राजा हूँ! मै राजा हूँ!' कोई किसी का अनुयायी नही बनता।[19]. इस उद्धरण से स्पष्ट है कि कुछ महत्त्वाकांक्षी सदस्य गण-राजा (अध्यक्ष) बनने के इच्छुक थे।

संसत्सदस्यो की इतनी बड़ी संख्या से कुछ विद्वानो का अनुमान है कि वैशाली की सत्ता कुछ कुलों (७७०७) मे निहित थी और इसे केवल 'कुल-तन्त्र' कहा जा सकता है। इस मान्यता का आधार यह तथ्य है कि ७७०७, राजाओ का अभिषेक एक विशेषतया सुरक्षित सरोवर (पुष्करिणी) मे होता था।[20]. स्वर्गीय प्रो० आर. डी.-भण्डारकर का निष्कर्ष था - 'यह निश्चित है कि वैशाली सघ के अंगीभूत कुछ कुलों का महासंघ ही यह गणराज्य था।" श्री जायसवाल तथा श्री अल्तेकर जैसे राजशास्त्र विद इस निष्कर्ष से सहमत नही है। श्री जायसवाल ने 'हिन्दू राजशास्त्र' (पृष्ठ ४४) मे लिखा है—"इस साक्ष्य से उन्हें 'कुल' शब्द से सम्बोधित करना आवश्यक नहीं। छठा-शताब्दी ई० पू० के भारतीय गणतन्त्र बहुत पहले समाज के जन-जातीय स्तर से गुजर चुके थे। ये राज्य, गण और संघ थे, यद्यपि इनमे से कुछ का आधार राष्ट्र या जनजाति था; जैसा कि प्रत्येक राज्य-प्राचीन या आधुनिक का होता है।

डा० ए० ऐस० अल्तेकर का यह उद्धरण विशेषत. द्रष्टव्य है—यह स्वीकार्य है कि यौधेय, शाक्य, मालव तथा लिच्छवि गणराज्य आज के अर्थो मे लोकतन्त्र नही थे। अधिकाश आधुनिक विकसित लोकतन्त्रो के समान सर्वोच्च एवं सार्वभौम शक्ति समस्त वयस्क नागरिकों की सस्था

---

१७. देखिए श्री भरतसिंह उपाध्याय—कृत 'बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल' (पृष्ठ ३८५-८६) का निम्नलिखित उद्धरण ("संयुक्त निकाय पृष्ठ ३०८ से उद्धृत. "भिक्षुओं! लिच्छवि लकड़ी के बने तख्ते पर सोते है। अप्रमत्त हो, उत्साह के साथ अपने-कर्तव्य को पूरा करते है। मगधराज वैदेही-पुत्र अजातशत्रु उनके विरुद्ध कोई दाव-पेंच नही पा रहा है। भिक्षुओं! भविष्य मे लिच्छवि लोग बड़े सुकुमार और कोमल हाथ-पैर वाले हो जायेंगे। वे गद्देदार विछावन पर गुलगुले तकिए लगाकर दिन-चढ़े तक सोये रहेंगे। तब मगधराज वैदेहि-पुत्र अजातशत्रु को उनके दाँव-पेंच मिल जायेगा।"

१८. तस्य निचकालं रज्जं कारेत्वा वसंमानं येव राजन सतसहस्सानि सतसतानि तत्र च। राजानो होति तत्तका, ये व उपराजाओ तत्तका, सेनापतिनो तत्तका, तत्तका भंडागारिका। J. I. S. O. 4.

१९. नोच्च-मध्य-वृध्ध-ज्येष्ठानुपालिता, एकैक एव मन्यते अहं राजा, अहं राजेति, न च कस्यच्छिष्यत्वमुपगच्छति।

२०. वैशाली-नगरे गणराजकुलाना अभिषेकमंगलपोखरिणी—जातक ४।१४८.

में निहित नही थी। फिर भी इन राज्यो को हम गणराज्य कह सकते है।" स्पार्टा, एथेन्स, रोम, मध्य-युगीन वेनिस, संयुक्त नीदरलैण्ड्स और पोलैण्ड को 'गणराज्य' कहा जाता है; यद्यपि इनमें से किसी मे पूर्ण लोकतन्त्र नही था। इस सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि तथा ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर निश्चय ही प्राचीन भारतीय गणराज्यो को उन्ही अर्थो मे गणराज्य कहा जा सकता है जिस अर्थ मे यूनान तथा रोम के प्राचीन राज्यो को गणराज्य कहा जाता है। इन राज्यो मे सार्वभौम सत्ता किसी एक व्यक्ति या अल्पसंख्यक वर्ग को न मिल कर बहु-संख्यक वर्ग को प्राप्त थी।"[२१]

महाभारत में भी 'प्रत्येक घर मे राजा' होने का वर्णन है।[२२] उपर्युक्त विद्वान् के मतानुसार, "इस वर्णन मे छोटे गणराज्यों की तथा उन क्षत्रिय कुलो की चर्चा है जिन्होने उपनिवेश स्थापित करके राजपद प्राप्त किया था। संयुक्त राज्य अमरीका में मूल उपनिवेश स्थापको को नवागन्तुको की अपेक्षा कुछ विशेषाधिकार प्राप्त किए।

'मलाबार गजटियर' के आधार पर श्री अम्बिका-प्रसाद वाजपेयी ने 'नय्यरो के एक संघ' की ओर ध्यान आकर्षित किया है जिसमे ६०००, प्रतिनिधि थे। वे केरल की संसद के समान थे।[२३] बौद्ध-साहित्य से ज्ञात होता है कि राजा बिम्बिसार श्रेणिक के अस्सी हजार ग्रामिक (ग्रामिक) थे। इसी सादृश्य पर अनुमान किया जा सकता है कि ७७०७, राजा विभिन्न क्षेत्रो (या निर्वाचन-क्षेत्रों) के उसी रूप मे स्वतन्त्र संचालक थे जिस प्रकार देशी रियासतों के जागीरदार राजा के अधीन होकर भी अपनी निजी पुलिस सेना तथा अन्य व्यवस्थाएँ करते थे।

वैदेशिक सम्बन्ध—लिच्छवियों के वैदेशिक सम्बन्धो का नियन्त्रण नौ सदस्यों की परिषद द्वारा होता था। इनका वर्णन बौद्ध एवं जैन साहित्य मे 'नव लिच्छवि' के रूप मे किया गया है। अजातशत्रु के आक्रमण के मुकाबले के लिए उन्हे पडोसी राज्यो नवमल्ल तथा अष्टादश काशी-कौशल के साथ मिल कर महासंघ बनाना पडा। उन्होंने अपने संदेश भेजने के लिए दूत नियुक्त किए (वेशालिकाना लिच्छिविनां वचनेन)

न्याय व्यवस्था—न्याय-व्यवस्था अष्टकुल सभा के हाथ मे थी। श्री जायसवाल ने 'हिन्दू राजशास्त्र' (पृष्ठ-४३-४७) मे इनकी न्याय प्रक्रिया का निम्नलिखित वर्णन किया है—"विभिन्न प्रकरणो (पवे-पट्ठकान) पर गण-राजा के निर्णयो का विवरण सावधानी पूर्वक रखा जाता था जिनमे अपराधी नागरिको के अपराधो तथा उनके दिए गए दण्डो का विवरण अंकित होता था। विनिश्चय महामात्र (न्यायालयो) द्वारा प्रारम्भिक जाँच की जाती थी। (ये साधारण अपराधो तथा दीवानी प्रकरणो के लिए नियमित न्यायालय थे)। अपील—न्यायालयों के अध्यक्ष थे—वोहारिक (व्यवहारिक)। उच्च न्यायालय के न्यायाधीश 'सूत्रधार' कहलाते है। अन्तिम अपील के लिए 'अष्ट-कुलक' होते थे। इनमे से किसी भी न्यायालय द्वारा नागरिक को निरपराध घोषित करके मुक्त किया जा सकता था। यदि सभी न्यायालय किसी को अपराधी ठहराते तो मन्त्रिमण्डल का निर्णय अन्तिम होता था।

विधायिका

लिच्छवियो के संसदीय विचार-विमर्श का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त नही होता, परन्तु विद्वानो ने चुल्लवग्ग एवं विनय-पिटक के विवरणो से इस विषय मे अनुमान लगाए है। जब कोसलराज ने शाक्य-राजधानी पर आक्रमण किया और उनसे आत्म समर्पण के लिए कहा तो शाक्यो द्वारा इस विषय पर मत-दान किया गया। मत-पत्र को 'छन्दस्' एवं कोरम को 'गण-पूरक' तथा आसनो के व्यवस्थापक को 'आसन-प्रज्ञापक' कहा जाता था। गण-पूरक के अभाव में अधिवेशन अनियमित समझा जाता था। विचारार्थ प्रस्ताव की प्रस्तुति को 'ज्ञप्ति' कहा जाता था। संघ से तीन-चार बार पूछा जाता था कि क्या संघ प्रस्ताव से सहमत है। संघके मौन का अर्थ सहमति या स्वीकृति समझा जाता था। बहुमत द्वारा स्वीकृत निर्णय को 'ये भुय्यसिकम्' (बहुमत की इच्छानुसार) कहा जाता था। मत-

२१. डा ए. एस अल्तेकर—प्राचीन भारत मे राज्य एवं शासन (१९५८) पृष्ठ ११२-११३

२२. गृहे-गृहे तु राजान. - महाभारत २।१५।२.

२३. वाजपेयी, अम्बिका प्रसाद, हिन्दू राज्यशास्त्र—पृष्ठ-१०४.

२४. "तेन खो पन समयेन राज मागधो सेनियो बिम्बिसारो असीतिया नाम सहस्सानं इस्सराधिपच्चं राज करोति।"
श्री भरतसिंह उपाध्याय द्वारा उद्धृत— वही—पृष्ठ-१६९.

पत्रों को 'शलाका' तथा मत-पत्र-गणक को 'शलाका-ग्राहक' कहा जाता था। अप्रासंगिक तथा अनर्थक भाषणों की भी शिकायत की जाती थी।

श्री जायसवाल के मतानुसार, "सुदूर अतीत (छठी शताब्दी ई पू.) से गृहीत इस विचारधारा से 'एक उच्चतः विकसित अवस्था की विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। इसमें भाषा की पारिभाषिकता एवं औपचारिकता विधि एवं संविधान की अन्तर्निहित धारणाएँ उच्च स्तर की प्रतीत होती है। इसमें शताब्दियों से प्राप्त पूर्व अनुभव भी सिद्ध होता है। ज्ञप्ति, प्रतिज्ञा, गण-पूरक, शलाका, बहुमत-प्रणाली आदि शब्दों का उल्लेख, किसी प्रकार की परिभाषा के बिना किया गया है, जिससे इनका पूर्व प्रचलन सिद्ध होता है।

वैशाली-गणतन्त्र का अन्त—

वैशाली-गणतन्त्र पर मगधराज अजात शत्रु का आक्रमण इस पर घातक प्रहार था। अजातशत्रु की माता चेलना वैशाली के गणराजा चेटक की पुत्री थी, तथापि साम्राज्य-विस्तार की उसकी आकांक्षा ने वैशाली का अन्त कर दिया। बुद्ध से भेंट के बाद मन्त्री वस्सकार को अजातशत्रु द्वारा वैशाली मे भेजा गया। वह मन्त्री वैशाली के लोगों मे मिल कर रहा और उसने उसमे फूट के बीज बो दिए। व्यक्तिगत महत्त्वाकाक्षाओं तथा फूट से इतने महान् गणराज्य का विनाश हुआ। 'महाभारत' मे भी गणतन्त्रो के विनाश के लिए ऐसे ही कारण बताए हैं। भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर से कहा, 'हे राजन्! हे भरतर्षभ! गणो एव राजकुलो मे शत्रुता की उत्पत्ति के मूल कारण है—लोभ एवं ईर्ष्या द्वेष! कोई (गण या कुल) लोभ के वशीभूत होता है, तब ईर्ष्या का जन्म होता है और दोनो के मेल से पारस्परिक विनाश होता है।"

वैशाली पर आक्रमण के अनेक कारण बताए गए है। एक जैन कथानक के अनुसार, सेयागम (सेचानक) नामक हाथी द्वारा पहना गया १८ शृंखलाओं का हार इसका मूल कारण था। बिम्बसार ने इसे अपने एक पुत्र वेहल्ल को दिया था परन्तु अजातशत्रु इसे हड़पना चाहता था। वेहल्ल हाथी और हार के साथ अपने नाना चेटक के पास भाग गया। कुछ लोगों के अनुसार, रत्नों की एक खान ने अजातशत्रु को आक्रमण के लिए ललचाया। यह भी कहा जाता है कि मगध-साम्राज्य तथा वैशाली-गणराज्य की सीमा गंगा-तट पर चुंगी के विभाजन के प्रश्न पर झगड़ा हो गया। अस्तु, जो भी कारण हो; इतना निश्चित है कि अजातशत्रु ने इसके लिए बहुत समय से बड़ी तैयारियाँ की थीं। सर्वप्रथम उसने गंगा-तट पर पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) की स्थापना की। जैन विवरणों के अनुसार, यह युद्ध सोलह वर्षों तक चला, अन्त में वैशाली गणतन्त्र मगध साम्राज्य का अंग बन गया।

क्या वैशाली-गणराज्य के पतन के बाद लिच्छवियों का प्रभाव समाप्त हो गया? इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक हो सकता है परन्तु श्री सालेतोर (वही पृष्ठ-५०८) के अनुसार, "बौद्ध साहित्य में इनका सबसे अधिक उल्लेख हुआ है क्योंकि इतिहास में एक हजार वर्षों से अधिक समय तक इनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण रही।" श्री रे चौधरी के अनुसार, "ये नेपाल में ७ वी शताब्दी में क्रियाशील रहे। गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त 'लिच्छवि-दौहित्र' कहलाने मे गौरव का अनुभव करते थे।"

२५०० वर्ष पूर्व महावीर-निर्वाण के अनन्तर, नव-मल्लों एवं लिच्छवियों ने प्रकाशोत्सव तथा दीपमालिका का आयोजन किया और तभी से शताब्दियों से जैन इस पुनीत पर्व को 'दीपावली' के रूप में मनाते हैं। कल्प-सूत्र के शब्दों में, "जिस रात भगवान् महावीर ने मोक्ष प्राप्त किया, सभी प्राणी दुखों से मुक्त हो गए। काशी-कौशल के अठारह संघीय राजाओं, नव मल्लो तथा नव लिच्छवियों ने चन्द्रोदय (द्वितीया) के दिन प्रकाशोत्सव आयोजित किया; क्योंकि उन्होंने कहा—'ज्ञान की ज्योति बुझ गई है, हम भौतिक संसार को आलोकित करें।

२५०० वें महावीर-निर्वाणोत्सव के सन्दर्भ में आधुनिक भारत वैशाली से प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। अनेक सांस्कृतिक कार्य-कलाप वैशाली पर केन्द्रित है। इसी को दृष्टिगत करके राष्ट्र-कवि स्व० श्री रामधारी सिंह दिनकर ने वैशाली के प्रति श्रद्धांजलि निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत की है—

वैशाली जन का प्रतिपालक, गण का आदि विधाता।
जिसे ढूंढता देश आज, उस प्रजातन्त्र की माता॥
रुको एक क्षण, पथिक! यहाँ मिट्टी को सीस नवाओ।
राज-सिद्धियों की सम्पत्ति पर, फूल चढ़ाते जाओ॥ ☐☐

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय,
वैस्ट ब्लाक, रामकृष्णपुरम्—७, नई दिल्ली—२२

२५. वही—पृष्ठ ६५-६६.

२६. वही—पृष्ठ १०६ पर उद्धृत।

भारतीय वाङ्मय को प्राकृत कथा-काव्यों की देन

□ डा० कुसुम जैन, गुना

प्राकृत कथा-साहित्य में विविध कोटि की कथाओं—जन्तुकथा, लोककथा, प्रेमकथा, नीतिकथा आदि का प्रणयन हुआ है। यह साहित्य संस्कृत तथा पालि की अपेक्षा विपुल एव विविध है। प्राकृत कथा साहित्य का आरम्भिक रूप हमें आगम और उसके टीका साहित्य मे मिलता है। नायाधम्मकहाओ इस दृष्टि मे विशेष उल्लेख्य हैं। टीका साहित्य में कथाओं का विकसित और परिमार्जित रूप प्राप्त होता है।

प्राकृत-कथाकारो ने कथाओं का वर्गीकरण कथा के उद्देश्य के आधार पर किया है। सामान्यतः कथा के तीन भेद किये गये है—अकथा, विकथा और सत्कथा। सत्कथा धर्म मे प्रेरित करने वाली तथा मुनिप्रणीत होने से उपादेय है। काम और अर्थ का वर्णन होने से ससार का कारण बनने वाली विकथा गर्हणीय है। इन कथाओं के कामकथा, अर्थकथा, धर्मकथा तथा मिश्रकथा इस प्रकार के भी भेद किये गये है। विकथा-स्त्रीकथा, भर्तृकथा, जनपदकथा, राजकथा, चौरकथा आदि कई प्रकार की होती है। सकीर्ण-कथा मूलत. धार्मिक उद्देश्य को लेकर चलने वाली किंतु अर्थ और काम के तत्त्वों से मिश्रित होती है। यही कथा सरस और मनोहारी है। कथा के कल्पित और चरित नाम से दो भेद और किये गये हैं। कथा के सकलकथा, खण्डकथा, उल्लापकथा, संकीर्णकथा, तथा परिहासकथा—ये पांच भेद भी किये गये है। सकलकथा चरितात्मक होती है। हेमचन्द्र ने कथा के १० भेद किये है, सकलकथा, खण्डकथा, उल्लापकथा, आख्यान, निदर्शन, मणिकुल्या, मत्तहसित, उपकथा, बृहत्कथा और प्रवह्लिक। पात्रों के आधार पर दिव्य और दिव्यमानुषी ये दो भेद किये गये हैं।

चरित-काव्य कथा से पृथक् कोटि के ग्रन्थ है। चरित-काव्यों में कवि उन स्थलों और घटनाओं पर विशेष ध्यान देता है जो चरित-काव्य के नायक या नायिका के चरित के उद्घाटन और विकास मे सहयोगी होते है। इनमे कथाप्रवाह की अक्षुण्णता पर कवि का ध्यान नही रहता, इसीलिये इनमें कथा के प्रधान गुण कुतूहल तत्त्व का अभाव रहता है। इन चरित-ग्रंथों के नायक शलाकापुरुष है।

इतिवृत्तात्मक धर्मकथाओ मे उन कथाग्रन्थो का परिगणन किया गया है जिनमे रसात्मक चित्रणों का प्रायः अभाव है अथवा रसात्मक स्थल अत्यल्प है। इनमे घटनाओं के इतिवृत दिये गये है, अतः इन्हे इतिवृत्तात्मक धर्मकथाए कहा गया है। कालकाचार्यकथा, नर्मदासुन्दरी-कथा, जिनदत्ताख्यान, श्रीपालकथा, महीपालकथा इसी कोटि के कथाकाव्य है।

धर्म, अर्थ तथा काम से संकीर्ण कथा को संकीर्ण या मिश्रकथा कहा गया है। प्राकृत मे इस कोटि की अनेक कथायें है। पादलिप्त की तरगवती ऐसी ही सरस तथा उत्कृष्ट रचना थी, जिसकी परवर्ती कवियों ने पर्याप्त प्रशंसा की है। यह कृति अनुपलब्ध है। इसके गुजराती व जर्मन अनुवाद हो चुके है। वसुदेवहिण्डी गुणाढ्य की बृहत्कथा की भांति एक विशालकाय रचना है, जो १०० लम्भको में विभक्त है तथा अनेक वृत्तान्तों से परिपूर्ण है। इसकी रचना बृहत्कथा को आधार बनाकर हुई होगी। समराइच्चकहा एक धर्मकथा है, इसमे नायक-प्रतिनायक की मनोभावनाओं के सुन्दर चित्रण है। कथा नौ जन्मों तक चलती है।

समराइच्चकहा के प्रणेता हरिभद्रसूरि के शिष्य उद्योतनसूरि ने कुवलयमाला नामक उत्कृष्ट चम्पूकोटि के कथाकाव्य की सर्जना की है। इस ग्रन्थ का, भाषा, छन्द, विषय-विविधता आदि दृष्टियों से बहुत महत्त्व है। कथा-कोश प्रकरण के रचयिता जिनेश्वरसूरि ने निर्वाणलीला-

वती नामक कथाग्रन्थ की रचना की थी। सुरसुन्दरी चरिय के रचयिता धनेश्वरसूरि ने इसका प्रशंसात्मक उल्लेख किया है। यह कथा भी हमारे दुर्भाग्य से अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है। इसका श्लोक-बद्ध संस्कृत सक्षिप्त रूपान्तर जिनरत्नसूरि ने किया है। इसकी कथावस्तु की योजना कुवलयमाला के आधार पर की गई है।

तरंगवती, वसुदेवहिण्डी, समराइच्चकहा, कुवलयमाला तथा निर्वाणलीलावती पाचो ही कथाग्रन्थ उत्कृष्ट एवं अद्वितीय है। एक एक ग्रन्थ का पृथक् पृथक् परिशीलन आवश्यक है। इसके अतिरिक्त रयणसेहरनिवकहा, सुर-सुन्दरीचरिय और रत्नचूड़कथा काव्यसौष्ठव की दृष्टि से उल्लेखनीय है। इन कथाग्रन्थों में साहित्यिकता के साथ-साथ प्रचुर सांस्कृतिक निर्देश प्राप्त होते हैं। तत्कालीन धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक अवस्थाओ पर भी इनसे प्रकाश पड़ता है। इन ग्रन्थों का महत्व इस दृष्टि मे द्विगुणित हो जाता है।

प्राकृत कथाकाव्यों की एक कोटि लघुकथाओ की है। इनमें एक ही गाथा मे कोई उपदेशात्मक बात कहकर फिर उस नियम को चरितार्थ करने वाले व्यक्ति का जीवन-वृत्तान्त गद्य या पद्य मे दिया जाता है। पालिजातको तथा पंचतन्त्र, हितोपदेश आदि संस्कृत ग्रन्थों मे भी यही प्रणाली अपनाई गई है। इस प्रकार के लघुकथात्मक ग्रन्थों का प्राकृत में भी पर्याप्त मात्रा मे प्रणयन हुआ है। उप-देशों की भरमार तथा संयम, शील, दान, तप, त्याग और वैराग्य की प्रबलता होने पर भी इनका काव्यत्व दबा नहीं है। रसों, भावों, विविधवर्णनो तथा मनोभावो के सुन्दर चित्रण इन कथाग्रथो के गौरव मे वृद्धि करते है। इन कथाग्रंथों के अन्तर्गत अनेक कथाएं ऐसी भी है, जिन्हें हम इतिवृत्तात्मक या विवरणात्मक कह सकते है। कथाकोश-प्रकरण, आख्यानकमणिकोश, धर्मोपदेश मालाविवरण, कथारत्नकोश, पाइयकहासंगहो, कुमारवालपडिबोह, सिरिविजयचंद केवलिचरिय, कथाग्रन्थों का परिगणन संकीर्ण कथा में किया गया है, यद्यपि इनमें भी अनेक कथायें इतिवृत्तात्मक कोटि की हो सकती है। इनके अति-रिक्त उपदेशपद, उपदेशमाला, भवभावना, संवेगरंगशाला, उपदेशरत्नाकर, सीलोवएसमाला, उपदेशकदलि, विवेक-मंजरी आदि अनेकानेक कथाओं का प्रणयन हुआ है, जो इतिवृत्तात्मक एव उपदेशात्मक कोटि में अन्तर्भावित हो सकती है।

परिहासकथा की दृष्टि से धूर्त्ताख्यान एकमात्र उप-लब्ध कृति है। इस कथाग्रन्थ में हरिभद्रसूरि ने महाभारत, रामायण और पुराणों में वर्णित हास्यास्पद और असम्भव घटनाओं पर तीव्र-प्रहार किया है। आरम्भिक भारतीय साहित्य मे हास्य-व्यंग्यात्मक साहित्य का अभाव है। हरिभद्रसूरि, इसके प्रतिकूल, जन्म से प्रतिभासम्पन्न तथा स्वभाव से विनोदी कवि है। अपने धूर्ताख्यान के माध्यम से उन्होने भारतीय साहित्य को अमूल्य देन दी है, जो कई दृष्टियो से अद्वितीय है। संक्षेप में प्राकृत साहित्य की अमूल्य मणियों में गाथासप्तशती, समराइच्चकहा कुवलय-माला एवं पउमचरिय के समान ही इस कृति का महत्त्व-पूर्ण स्थान है।

प्राकृत के प्रायः समस्त कथाकाव्य जैनमुनियों द्वारा रचित है। वसुदेवहिण्डी, समराइच्चकहा, कुवलयमाला और लीलावती (जिनेश्वर सूरिकृत) आदि महाकथा—कोटि की कथाओ मे भी कथाकोशों की भांति अनेकानेक लघु-कथायें अवान्तर-कथाओं के रूप में भरी पड़ी है। ये अवा-न्तर कथायें मूलकथा से पूर्णतः सम्बद्ध तथा उसके विकास में सहायिका है। कथा-काव्यों मे मुनियों के जीवन और उपदेशों को प्रस्तुत करते हुए जैनदर्शन का व्यापक निरूपण है। इनके साथ ही कथाकाव्यों में विविध शास्त्रों—अर्थ-शास्त्र, राजनीति, कामशास्त्र, ज्योतिष, धनुर्वेद, आयुर्वेद, गारूड़, तन्त्र विद्या, शकुन-अपशकुन, धातुवाद, रसवाद, खन्यविद्या, रत्नपरीक्षा, अश्वशिक्षा, संगीतशास्त्र, छन्द, प्रहेलिका, वेश्या-जीवन, अनुरक्त-विरक्त, नारी के लक्षण आदि के वर्णन हैं, जिनसे इन कवियों की बहुश्रुतता का बोध होता है।

जनजीवन का चित्रण होने से ये यथार्थवादी है, यथार्थ-वादिताके दोषोंसे मुक्त तथा आदर्शोन्मुख है। कथाके आरम्भ में पात्रों की स्वाभाविक शिथिलताओं का वर्णन है। अन्त में वे पात्र किसी मुनिके सम्पर्कसे अपने अपराधों के परिमार्जन

तथा आत्मोन्नति के लिये धर्म की ओर उन्मुख होते है। इस प्रकार ये कथायें यथार्थपरक तथा आदर्शोन्मुख धर्मकथायें हैं।

धार्मिक तत्व प्राणो की तरह अनुस्यूत होने पर भी इनका साहित्यिक सौन्दर्य कम आकर्षक नही है। समस्त रसों का चित्रण होने पर भी शान्त, शृंगार, वीर तथा रौद्ररस के प्रचुर वर्णन है। शान्त रस के सुन्दर चित्रण सर्वत्र व्याप्त है।

आख्यानकमणिकोश, समराइच्चकहा, कुवलयमाला, धर्मोपदेशमाला-- विवरण, नर्मदासुन्दरीकथा आदि मे भावट्टिया, रुक्मिणी, विलासवती, प्रियंगुश्यामा, राजीमती, नर्मदासुन्दरी आदि के नख-शिख वर्णन प्राप्त होते है। नख-शिख वर्णन काव्य में प्राचीनकाल से होता रहा है। रीतिकाल में यह अधिक व्यापक रूप से प्रचलित हुआ।

इन कथाकाव्यों में मार्मिक और हृदयाकर्षक सुभाषितों के प्रयोग हुए हैं। महेश्वरसूरि की ज्ञानपंचमीकथा इस दृष्टि से अद्वितीय है। इसमे स्त्री-विषयक सुभाषित मनोहारी हैं।

अलंकारों की दृष्टि से शब्दालंकारों मे यमक, अनुप्रास व सरल श्लेष के साथ-साथ शृंखलायमक का प्रभूत प्रयोग हुआ है। प्रचलित अर्थालंकारों का सहज, स्वाभाविक और सुरुचिपूर्ण ढग से प्रयोग किया गया है।

ग्रन्थों की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है, जिसे अपभ्रंश और अर्द्धमागधी से प्रभावित होने के कारण जैन महाराष्ट्री कहा गया है। काव्यो में बीच-बीच मे संस्कृत और अपभ्रंश के पद्य भी हैं। संस्कृत के पद्य प्राय: उद्धरण के रूप में है। जनरुचि के अनुकूल देश्य शब्दों का प्रभूत प्रयोग इनकी महती विशेषता है। वास्तव में यही शब्द अन्तर्निहित आशय को अभिव्यक्त करते है। भाषा-प्रयोग की दृष्टि से कुवलयमाला दर्शनीय है। इसमें पैशाची प्राकृत तथा तत्कालीन देशी बोलियों के प्रयोग है, साथ ही १८ देशों की भाषाओं की विशेषताओं को निदर्शित किया गया है। प्राय: सभी ग्रन्थों में अपभ्रंश और संस्कृत के उद्धरण हैं। कुमारवालपडिबोह तथा रयणसेहरनिवकहा में प्राचीन गुजराती भाषा का प्रयोग है। भाषा में नादसौन्दर्य तथा लयात्मकता के साथ-साथ अर्थगाम्भीर्य है।

छन्द की दृष्टि से इनमें प्राय: गाथा छन्द का प्रयोग है, जिसमे यतिभंग का दोष बहुलता से प्राप्त होता है। वसुदेवहिण्डी, कुवलयमाला, जिनदत्ताख्यान, नर्मदासुन्दरीकथा, आख्यानकमणिकोश, सुरसुन्दरीचरिय, कथाकोशप्रकरण, कुमारपाल प्रतिबोध आदि में गाथा छन्द के अतिरिक्त संस्कृत और अपभ्रंश छन्दों के प्रयोग हुए है।

ये ग्रन्थ पद्यात्मक तथा गद्यपद्यमिश्र दोनों ही शैलियों में रचित है। प्राकृत कथा-काव्यो का अधिकांश भाग इसी मिश्रकोटि का है। पद्यकथाओं मे धूर्ताख्यान, निर्वाणलीलावती तथा श्रीपालकथा मुख्य है। गद्यप्रधान-काव्यों में वसुदेवहिण्डी, समराइच्चकहा, कुवलयमाला, रयणचूडरायचरिय, जिनदत्ताख्यान, रयणसेहरनिवकहा, नर्मदासुन्दरीकहा आदि उल्लेखनीय है। तरंगवती कथा को भी तरंगलोला चम्पू कहा गया है, अतः यह रचना भी गद्यपद्यमिश्रित शैली मे लिखित रही होगी, यद्यपि वर्तमान उपलब्ध संखित्ततरंगवईकहा पद्यमय ही है। तृतीय कथाकोश कोटि के ग्रन्थों में कुछ गद्यप्रधान पद्यमिश्र है। गद्य की चारों शैलियो मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक का उपयोग किया गया है। यद्यपि समासरहित, सुबोध, प्रसादगुणयुक्त गद्य का ही अधिक प्रयोग हुआ है, तथापि कही-कही दीर्घ समासाढ्य पदावली का भी रुचिपूर्वक प्रयोग हुआ है। इन स्थलों पर यह गद्य अलंकृत और जटिलता के वैभव से मण्डित है तथा कादम्बरी की गद्यच्छटा का स्मरण दिलाता है। जहाँ किसी वस्तु अथवा दृश्य का चित्रण करना होता है, कवि "इसी समासबहुला शैली को अपनाते है। सरलगद्य कथावस्तु के प्रवाह को आगे बढ़ाता है। संवादों में इसी सरल गद्य का प्रयोग है।

तरंगवतीकथा, समराइच्चकहा, कुवलयमाला, आख्यानकमणिकोश, कुमारपालप्रतिबोध, धर्मोपदेशमालाविवरण आदि में सुन्दर प्रकृति-चित्रण प्राप्त होते है। जिनदत्ताख्यान, नर्मदासुन्दरीकथा, श्रीपालकथा, धूर्ताख्यान, रत्नशेखरनृपकथा, ज्ञानपंचमीकथा, कथाकोशप्रकरण आदि प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से सामान्य हैं। इन ग्रन्थों में चन्द्रोदय, चन्द्रास्त, सूर्योदय, सूर्यास्त के साथ षड्ऋतुओं के चित्रण अत्यन्त रमणीय हैं। इन वर्णनों में प्रकृति का

प्राय: मानवीकरण के रूप में ही चित्रण है। रात्रि, पूर्व-दिशा आदि कही अभिसारिका के रूप में, कहीं ईर्ष्या कलुषित नायिका के रूप मे चित्रित है। सूर्य एवं चन्द्र कही प्रेमी नायक, कही राजा, कहीं भ्रमणप्रेमी, कहीं पक्षी, कही योद्धा आदि के रूप में वर्णित है। नदी, श्मशान, समुद्र, अटवी, पर्वत, तपोवन, सरोवर, प्रासाद, उपवन, नगर आदि के भी भव्य चित्र प्राप्त होते हैं।

सामान्य मानव के जीवन पर आधारित होने से ये कथाये अधिक मर्मस्पर्शिनी एवं हृदयहारिणी है। व्यक्ति की स्वाभाविक दुर्बलताओं का यथार्थ निदर्शन होने से इनमे सुन्दर मनोवैज्ञानिक चित्रण प्राप्त होते हैं।

लीला-वई-कहा के प्रणेता कोऊहल बहूलादित नामक तीनों वेदो के ज्ञाता याज्ञिक ब्राह्मण के पौत्र तथा भूषणभट्ट के पुत्र थे। ग्रंथ की एक गाथा 'कोऊहलेण-त्रिरइया' उल्लेख है, कोऊहल का अर्थ औत्सुक्य भी हो सकता है, क्योंकि परवर्ती ग्रंथो में ऐसे उल्लेख नही है, जिनमे कौतूहल, कुतूहल अथवा कोऊहल को कविरूप मे स्मरण किया गया हो। लीलावई-कहा की एकमात्र उपलब्ध संस्कृत टीका मे कुतूहल शब्द को कवि के नाम के रूप में ग्रहण किया गया है। उक्त संस्कृत टीकाकार परम्परा के आधार पर ही कुतूहल को विप्र और लीलावई-कहा का कर्ता बतला रहा है। इतना ही नही, टीकाकार कवि की पत्नी का नाम भी असन्दिग्ध रूप से सावित्री लिखता है, जबकि गाथाओ मे यह नाम कही नहीं है। आफ्रे की सूची मे कुतूहल पण्डित का उल्लेख होने से डा. उपाध्ये ने तात्कालिक रूप से लीलावई के कर्ता को कुतूहल माना है। हम उस परम्परा पर अधिक बल देना चाहते हैं, जिसका आधार सस्कृत टीकाकार ने ग्रहण किया है। हमे इसमें सन्देह नही है कि कोऊहल या कुतूहल वास्तव मे कवि के नाम है।

कोऊहल कवि के निवास का प्रश्न केवल अनुमान का विषय है। इसने एक गाथा में राष्ट्रकूट तथा चालुक्य सेनाओ का उल्लेख किया है। श्री उपाध्ये के अनुसार इस उल्लेख मे राष्ट्रकूट और चालुक्यों के उन संघर्षों का बिम्ब है, जो उत्तरपूर्वीय क्षेत्रों में आठवीं शती के मध्य मे पहुंचे। श्री उपाध्ये का संकेत ७७२ ई. के उस युद्ध की ओर प्रतीत होता है, जिसमें राष्ट्रकूट के शासक गोविन्द ने बेंगी के विष्णुवर्द्धन चतुर्थ चालुक्य को परास्त किया। यदि कवि इस घटना से प्रभावित है तो वह बेंगी के निकटस्थ दोनों का निवासी होना चाहिए, किन्तु इसके काव्य में द्राविड़ भाषाओं का प्रभाव न होने के कारण कह सकते हैं कि यह बेंगी या भीमेश्वर तीर्थ के निकटस्थ क्षेत्रों का निवासी नही है। वह महाराष्ट्री प्राकृत तथा महाराष्ट्र देश की बोली से केवल परिचित ही नहीं, अपितु उसके प्रति आत्मीयता प्रदर्शित करता है यह भाषात्मक आधार बहुत प्रबल आधार है, जिसके कारण हम उसे महाराष्ट्र देश का निवासी मान सकते है।

ध्वन्यालोक मे प्राप्त लीलावई-कहा के वस्तुतत्व की ओर संकेत इसकी अपर सीमा निर्धारण करने में सहायक है। इसकी अपरसीमा (आनन्दवर्द्धन का काल) ८६०-८९० ई० है। इतिहासकारों के अनुसार सातवाहन राजवंश की सत्ता का अवसान ३०० ई० से पहले हो चुका है। लीलावई-कहा के वस्तुतत्व को देखते हुए प्रतीत होता है कि यह रामायण, महाभारत, बृहत्कथा, अभिज्ञान-शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीयं, कुमार संभव, कादम्बरी, सुबन्धु-कृत वासवदत्ता, रत्नावली आदि ग्रथो से प्रभावित है। ये समस्त ग्रथ सातवी शती तक रचे जा चुके थे। समराइच्च-कहा और कुवलयमाला (७७६ ई०) से भी यह परिचित हो सकता है। प्रस्तावना श्लोकों मे गउडवहो (६९६-७३५ ई०) का प्रभाव परिलक्षित होता है। इसमें राष्ट्रकूट और चालुक्यो के सैन्य सचरण का उल्लेख है। प्रथम राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग में ही है और उसका सैन्य सचरण ७४० ई० के निकट प्रभावी रूप मे हुआ, अतः कोऊहल ने जो उल्लेख किया, उसका सम्बन्ध उन घटनाओं से नहीं हो सकता, जो ७४० ई० के पूर्व की होगी। कोऊहल का स्थितिकाल इससे पीछे ही मानना होगा। यदि कोऊहल के मन मे बादामी के चालुक्यो के अभियानों का प्रभाव है तो वे ७५३ ई० के पश्चात् निःसत्व हो चुके थे। इस स्थिति को स्वीकार करने पर मानना होगा कि इसे ७४० से ७५३ ई० के निकट रखा जा सकता है।

कोऊहल का युग (८वीं-९वी शती ई०) प्राचीन भारत की समाप्ति का तथा कान्यकुब्ज साम्राज्य का युग है। इस

अवधि में नवोदित राष्ट्रकूट सत्ता से सम्पूर्ण महाराष्ट्र, सम्पूर्ण मध्य देश तथा कान्यकुब्ज रहते है। दक्षिण के राष्ट्रकूट, पश्चिम के प्रतिहार तथा पूर्वीय भारत के पाल नरेश तीनो सत्ताये कान्यकुब्ज को आत्ममात् करना चाहती थी। ८१५ ई० के पश्चात इसका निर्णय प्रतिहारों के पक्ष में हो जाता है। इस कालखण्ड की सर्वोत्कृष्ट नगरी कान्यकुब्ज को राजधानी होने का गौरव हर्षवर्द्धन (६०६-६४० ई०) ने प्रदान किया तथा ८वी शती के पूर्वार्द्ध मे यशोवर्मन ने इसकी श्रीवृद्धि की थी।

अरबों का सिन्ध से मध्यदेश तक आक्रमण इस युग की प्रमुख घटना है। इस समय नागभट प्रथम (गुर्जर-प्रतिहार) के ध्वज के नीचे अर्बुद क्षेत्र से उद्भूत वंशों वाले क्षत्रिय-प्रतिहार, चाहमान, गुहिल, चालुक्य और परमार एकत्रित हुए। अरब आक्रान्ता हटा दिये गये।

राष्ट्रकूटों का मूल स्थान वर्तमान हैदराबाद के अन्तर्गत उस्मानाबाद के जिले में अवस्थित लट्टलूर गाँव माना जाता है। इनकी अनेक पीढ़ियाँ बरार के एलिचपुर मे चालुक्यो के सामन्द के रूप मे थी। सर्व प्रथम इन्द्र ने चालुक्य राज कन्या का अपहरण किया। इसके पश्चात् उसका पुत्र दन्तिदुर्ग या दन्तिवर्मन् (७७३ ई० मे) उत्तराधिकारी हुआ। कृष्ण के पश्चात् उसका पुत्र गोविन्द द्वितीय और उसके पश्चात् उसका अनुज ध्रुव उत्तराधिकारी हुआ। ध्रुव के समय राष्ट्रकूट सत्ता का सामना करने वाली अन्य शक्ति भारत में नही थी। ध्रुव का उत्तराधिकारी उसका तृतीय पुत्र गोविन्द तृतीय ७९३ ई० में सिंहासन पर आसीन हुआ। इसने राज्य का और विस्तार किया।

इसके उपरान्त रवि अमोघवर्ष (८१६ ई० मे) राज-सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इसका महत्व मान्यखेट (आधुनिक मल्खेड) को राजधानी बनाने मे है। वह स्वय विद्वानो और कवियो का आश्रयदाता था। ८६० ई० के पश्चात् १८ वर्षो तक इसने शान्तिमय जीवन व्यतीत किया। इसका राज्यकाल दीर्घ था। इसके पुत्र कृष्ण द्वितीय का राज्यकाल ८८० ई० से ९१५ ई० तक है।

गुर्जर प्रतिहारो में से नागभट प्रथम ने अरबो को परास्त कर पर्याप्त प्रसिद्धि एवं प्रभाव अर्जित किया। इसी वंश के वत्सराज ने कन्नौज पर अधिकार किया था, पर वह ध्रुव से हार गया। वत्सराज के पुत्र नागभट द्वितीय ने आन्ध्र, सैन्धव, विदर्भ और कलिंग जीता, किन्तु वह राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय से हार गया। ८३३ ई० में नागभट का पुत्र रामभद्र पूर्व में ग्वालियर तक का क्षेत्र अधिकृत किये हुए था। रामभद्र के पुत्र भोज द्वारा ८३६ ई० मे प्रसारित वाराह-ताम्रपत्र से सूचित होता है कि कान्यकुब्ज, कालिंजर, मण्डल, मध्य एव पूर्वीय राजपूताना तथा सम्पूर्ण काठियावाड इसके राज्य क्षेत्र मे थे। शौर्य में ध्रुव और धर्मपाल के समान इसका नाम लिया जाता है। भोज के पुत्र महेन्द्रपाल (अपर नाम निर्भयराज) का साम्राज्य (८८५-९१० ई०) हिमालय से विन्ध्याचल तक सुदृढ़ रूप से अवस्थित था।

७५० ई० के निकट दयितविष्णु के पौत्र और वप्पट के पुत्र गोपाल ने पाल राजवश की स्थापना की। इसके विजेता पुत्र धर्मपाल (७७० ई०-८१० ई०) को उत्तरापथ का स्वामी कहा गया है। बगाल और विहार उसके शासित क्षेत्र तथा नेपाल और कान्यकुब्ज इसके प्रभाव में थे। धर्मपाल का पुत्र देवपाल (८१०-८५० ई०) एक महान विजेता था। देवपाल का उत्तराधिकारी विग्रहपाल था, जिसके समय से यह राजवश पतनोन्मुख हो गया।

इस समय पुराणों को मान्यता प्राप्त थी। ब्राह्मण धर्म का उत्कर्ष तथा बौद्ध धर्म का ह्रास हो रहा था। इन्ही शतियो मे भारतीयो ने वृहत्तर भारत का निर्माण किया। मनुस्मृति पर मेघातिथि की टीका को विशेष सम्मान मिला। स्त्रियो की स्थिति सम्मानपूर्ण थी। शकराचार्य इसी युग में हुए। तान्त्रिक विधियो ने बौद्ध और ब्राह्मण धर्म मे अनाचार का प्रवेश कराया। साहित्य मे सस्कृत को उच्च स्थान प्राप्त था। इस युग मे साहित्यसर्जना प्रचुर मात्रा मे हुई। सस्कृत मे दृश्य-काव्य तथा साहित्य-शास्त्रो का निर्माण अधिक हुआ। विशेष रूप से कश्मीर में साहित्य-शास्त्रीय सिद्धान्तो पर ग्रन्थसर्जना की बाढ़ सी आ गई थी। लोल्लट, वामन, उद्भट तथा शंकुक इसी युग की देन है।

प्राकृत बोली का स्तर पार कर चुकी थी। उसकी सरलता अन्तर्धान हो गई थी। वह अलकृत तथा कृत्रिम

हो गई थी, अतः जैन कवि भी संस्कृत की ओर उन्मुख हो रहे थे, तथापि प्राकृत भाषाओं के प्रति जैन विद्वानों में रुचि एवं श्रद्धा बनी रही। प्राकृत ग्रंथों मे लीलावई-कहा के अतिरिक्त वाक्पतिराज का गउडवहो, हरिभद्रसूरि की समराइच्च-कहा और धूर्ताख्यान तथा उद्योतन सूरि की कुवलयमाला विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

लीलावई-कहा की तीन पांडुलिपियां क्रमशः पट्टन, जैसलमेर और बीकानेर से मिली है, जिसका प्रकाशन डा० ए० एन० उपाध्ये के सम्पादकत्व मे सिंघी जैन ग्रंथमाला से सन् १९४९ तथा १९६६ मे दो बार हुआ है। लीलावई-कहा पर एक ही किसी अज्ञातनामा संस्कृत टीकाकार की संस्कृत-कथा-वृत्ति मिलती है, जो बीकानेर वाली पाण्डुलिपि के साथ प्राप्त हुई है। लीलावई-कहा के दोनों प्रकाशित संस्करणो के साथ इसका प्रकाशन हुआ है।

ग्रन्थकार के अनुसार यह ग्रंथ १८०० छंदों में रचित था। इसमे १३३० उपलब्ध है। (बीच-बीच में गद्य निर्देश है तथा एक स्थल पर प्रतिष्ठान का सक्षिप्त वर्णन भी गद्यमय है।) यह एक पद्य-काव्य है। इसमें समस्त रसो और चारों वर्गों का अभिधान है। यह कृति बृहदाकार है, लघु काव्यों मे परिगणित नही की जा सकती, क्योकि ग्रन्थ का वस्तुतत्व किसी लघु घटना पर आधारित या किसी प्रसिद्ध इतिवृत का अश नही है। इसमे कथा नायक के व्यापक जीवन का विवरण प्रस्तुत है। अतः लीलावई-कहा पद्यात्मक महाप्रबन्ध, महाकाव्य या बृहत्काय कथा (सकलकथा, परिकथा) हो सकती है। धीरशान्त नायक तथा एक विजेता द्वारा सुनाई गई अनेक प्रतियोगियों की कथा न होने से यह सकलकथा के लक्षणों के अनुरूप भी नहीं है। समस्त फलान्त प्राकृत-पद्य-प्रबन्ध होने से यह आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त के लक्षणों के अनुसार सकलकथा हो सकती है। डा० नेमिचन्द शास्त्री ने इसे महाकाव्य कहा है। इसमें एक महाकाव्य की भांति प्रारम्भ में सन्नगरीवर्णन, ऐतिहासिक कथानायक, वसन्तवर्णन, युद्ध योजना, प्रतिनायक-योजना, सभी तत्व इस रूप में है कि इसे रुद्रट की परिभाषा के अनुसार महाकाव्य भी कह सकते हैं। साथ ही रुद्रटोक्त महाकाव्य के भी सभी लक्षण इसमे है। कवि का उद्देश्य इसे कथा बनाने का है, उसने इसे कथा कहा है। अन्य आचार्यों ने भी इसे कथा के रूप मे ही उल्लिखित किया है। इसकी शैली संवादात्मक है। अन्तः कथाएं मूल कथा के विकास मे सहायक हैं। कथा का नामकरण नायिका के नाम पर है। ऐसी स्थिति में यह प्रयास उपयोगी और अपेक्षित प्रतीत नहीं होता कि हम लीलावई में जिसकी सर्जना और विकास कवि ने सम्पूर्ण चेतना के साथ एक कथा के रूप में किया, महाकाव्य के कतिपय तत्व ढूढकर उसे महाकाव्य सिद्ध करने का प्रयत्न करे। ग्रन्थ में रसात्मकता होना, शैली का उदात्त होना चरित्र और उद्देश्य का महत् होना ये महाकाव्य के लिए पृथग्रूप से निश्चित तत्व नहीं हो सकते। मेघदूत और गीतगोविन्द रसात्मक, उदात्त शैली से युक्त, भावसम्पन्न एवं गरिमामय है, पर वे महाकाव्य नही। दूतवाक्य एकांकी रूपक है, जिसमें पाडवों के दौत्य में संलग्न नायक कृष्ण उत्तम चरित्र वाले और महान् उद्देश्य के सिए प्रयत्नशील व्यक्ति है, तथापि एक लघुरूपक मात्र है।

सामान्यतः महाकाव्य के क्षेत्र में स्वाभाविक रूप से लीलावई-कहा मे अनेक त्रुटियां प्रत्यक्ष है। भले ही हेमचंद्र ने रावण विजय और हरि विजय को उद्धृत कर स्वच्छंदात्मक रचना को महाकाव्य के रूप में परिगणित किया हो, किन्तु सुदृढ़ परम्परा के अनुसार महाकाव्य का सर्गबन्धत्व (प्राकृत मे आश्वासबन्धत्व) एक अपरिहार्य तत्व है। इसी प्रकार धीरोदात्त गुणान्वित कथानायक को स्थापित करना दूसरी प्रधान आवश्यकता है। शेष तत्व इन्ही के चतुर्दिक एकत्र हो जाते है और वे अन्यत्र भी समान होते है। लीलावई मे उक्त दोनों प्रमुख तत्वों का अभाव है। ऐसी स्थिति में उसे महाकाव्य नहीं, कथा माना जायगा। रुद्रट के अनुसार उसे महाकथा और आनन्दवर्द्धन के अनुसार सकल कथा कहा जा सकता है। हमारी दृष्टि से लीलावई-कहा एक कथात्मक महाकाव्य है।

जैन कथाकारो के वर्गीकरण के अनुसार यह कामकथा या विकथा के अन्तर्गत स्त्रीकथा या राजकथा कही जायगी। दिव्यादिव्य पात्रों की मिश्रित कथा होने से यह दिव्यमानुषी कथा भी है।

लीलावई-कहा में वृहत्कथा, कादम्बरी, सुबन्धुकृत वासवदत्ता, रत्नावली, रघुवश, कुमार संभव, विक्रमोर्वशीय, सेतुबन्ध, समराइच्चकहा, गउडवहो आदि से वस्तुगत तथा भागवत साम्य है।

शिलालेखों के अनुसार सातवाहन या सातवाहन वंश का अस्तित्व प्रमाणित है। मुद्राओं में साद तथा राजा सातवाहन के उल्लेख उपलब्ध हैं। पुराणों में इस वंश की सूची दी गई है। गाहासतसई के अन्त: साक्ष्य के अनुसार गाथा सप्तशती का कर्ता हाल सालाहण ही कथानायक हाल, सालाहण या सालवाहन है। सम्भवत: यह कुन्तल जनपद का अधिपति था। बाणभट्ट अभिनन्द, राजशेखर, सोड्ढल ने हाल—कृत कोश का उल्लेख किया है, मेरुतुंग, राजशेखरसूरि, जिनप्रभसूरि ने भी गाथाकोश का उल्लेख किया है। इन उल्लेखों से एक सामान्य परम्परा का बोध होता है, जिसके अनुसार राजा हाल सातवाहन कवि गाथा सप्तशती या गाथाकोश का निर्माता अथवा संकलन-कर्ता माना गया है।

सातवाहन शब्द किसी सातवाहन नामक राजा से प्रवर्तित होने वाले राजवंश का सूचक है। परवर्ती लेखकों ने इसे इस वंशके अन्य शासकों के लिए भी ग्रहण किया है। अत: गाथाकोश का कर्ता कौन सातवाहन है यह निश्चित करना कठिन है। भद्रबाहुसूरि ने हाल का उल्लेख किया है। उद्योतनसूरि, अभिनन्द, प्रभाचन्द्र, मेरुतुग और राजशेखर ने हाल को पादलिप्तसूरि से सम्बद्ध किया है। अन्यत्र भी हाल का नाम एक राजा, एक व्यक्ति के रूप में परिवर्ती काल मे उपलब्ध है। पुराणो के अनुसार सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि हाल का स्थिति-काल प्रथम शती मे ६६ ई० पूर्व है। श्री हरप्रसाद शास्त्री तथा गौरीशंकर ओझा के अनुसार गाथासप्तशती का लेखक हाल सातवाहन ईसा की प्रथम शती मे राज्य करता था।

पादलिप्तकृत निर्वाण-कलिकाका प्रकाशन मोहनलाल भगवानदास झँवेरी ने किया है। इसकी भूमिका के अनुसार भद्रबाहु स्वामी जैन परम्परानुसार १४ पूर्वों के ज्ञाताओं में अन्तिम थे। पादलिप्त इनके समकालिक कहे जा सकते है। कुवलयमालाकार (७७९ ई०) अभिनन्द (नौवीं शताब्दी का आरम्भ) ने पादलिप्तसूरि और उनकी तरंगवती कथा की प्रशंसा की। कल्प प्रदीप के अनुसार पादलिप्त ने अनेक ग्रन्थों की रचना की, जिसमें शत्रुंजय-कल्प भी है। प्रभावकचरित्र के अनुसार उन्होने इस समय वीर स्तुति की। पादलिप्त नागहस्तसूरि के शिष्य थे। प्राकृत पादलिप्त प्रबन्ध के अनुसार प्रतिष्ठानपुर के सात-कर्णी ने भृगुकच्छ के राजा नरवाहन पर आक्रमण किया। भद्रबाहु ने भी इस घटना का उल्लेख किया है। पट्टावलियों के अनुसार यह घटना वीरसंवत् ४५३ (१७ ई० पू०) में समाप्त हुई। गुणाढ्य सातवाहन के आश्रित कवि के रूप में तथा नागार्जुन प्रभावकचरित्र में उल्लिखित है, यह पादलिप्त के शिष्य थे। बोदित, बोडिस, कुमारिल हाल के सहयोगी कवि है। कर्पूरमञ्जरी मे यह कोट्टिस है। संभव है ऐतिहासिक पादलिप्तसूरि, को बोदित, बोडिस, कोट्टिस या पोट्टिस आदि विकृत रूप में स्मरण किया गया हो। एक सिंहल नरेश शिलामेघ (८वीं शताब्दी) ने सियवसलकर की रचना की थी।

कोऊहल के अनुसार ग्रन्थ की भाषा महाराष्ट्र देश की प्राकृत भाषा है तथा कतिपय देशी शब्दों से सवलित है। इस पर अपभ्रंश का प्रभाव है तथा यश्रुति प्राप्त होती है। कुछ शब्दों की तुलना आधुनिक मराठी से की जा सकती है।

लीलावई-कहा का अङ्गीरस शृङ्गार है। इसमें शृंगार के दोनो पक्षो का चित्रण है। इसके अतिरिक्त वीर, रौद्र तथा करुण के अच्छे चित्रण है। वैसे समस्त रसो का इसमे सन्निवेश है पात्रो की मनोदशाओ के श्रेष्ठ वर्णन है। इसमें प्रमुखतया माधुर्य और प्रसाद गुण का प्रयोग है, पर यथावसर ओज तथा दीर्घसघटना वाली गौड़ी रीति का भी प्रयोग है।

अलकारों की दृष्टि से लीलीवई-कहा मे उपमा, उत्प्रेक्षा दृष्टान्त, रूपक, यथासंख्य, मालादीपक, कारकदीपक, समोसोक्ति, भ्रान्तिमान्, उदात्त, अतिशयोक्ति, व्याज-स्तुति, विरोधाभास, व्यतिरेक, काव्यलिंग, समुच्चय, आक्षेप, सन्देह, विभावना, विशेषोक्ति, अर्थान्तरन्यास, मीलित और

अतद्गुण आदि विविध अलंकारों के प्रयोग है। इनके माध्यम से कवि ने कही प्रकृति का सुन्दर चित्रण किया है, तो कहीं मनोदशाओं की सफल अभिव्यक्ति की है। कवि की दृष्टि शब्दालंकारो की अपेक्षा अर्थालकारो पर ही अधिक है। शब्दालकारो मे श्लेष, अनुप्रास, यमक और शृंखला-यमक अलकारों के प्रयोग सहज ही सुलभ है।

लीलावई एक अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का काव्य है। नदी, पर्वत, वृक्ष, पुष्प, लता, कुंज, फल, भ्रमर, कोकिल चन्द्रमा, सूर्य, ऋतु, समुद्र, अरण्य, सरोवर, उद्यान आदि प्रकृति के समस्त उपकरणो का चित्रण यहाँ बहुलता से प्राप्त होता है। कवि का प्रकृति-निरीक्षण सूक्ष्म एवं अद्वितीय है। इस ग्रन्थ में अनेकों अछूती उपमायें तथा उर्वर कल्पनायें देखने को मिलती है। सामान्यतः प्रकृति-वर्णन की चार विधायें आलम्बन, उद्दीपन, अलकरण तथा मानवीकरण यहाँ उपलब्ध होती है। प्रकृति के कलात्मक वर्णन सूर्योदय, सूर्यास्त, चन्द्रोदय और चन्द्रास्त के प्रसंग में देखे जा सकते है। यद्यपि प्रकृति के रमणीय रूप का वर्णन ही कवि को प्रिय है, तथापि प्रकृति के भीषण स्वरूप का भी यत्किञ्चित् चित्रण उपलब्ध होता है।

लीलावई-कहा का कथानायक हाल एक राजा है। विजयानन्द, पोट्टिस, माधवानिल, चित्रांगद, नागार्जुन, भट्ट कुमारिल, पाशुपत, शिलामेघ, विपुलाशय, नलकूबर हंस तथा मलयानिल इस कथाकृति के पुरुष पात्र तथा लीलावती, महानुमति, कुवलयावली, चन्द्रलेखा, माधवीलता, विचित्रलेखा, शारदश्री, वसन्तश्री, पद्मा, कमला और रंभा स्त्री पात्र हैं। इनके अतिरिक्त द्वारपाल, पुरोहित, मन्त्रिपुत्र, वीरवाहन, सालाहण का पुत्र आदि पात्रो के उल्लेख हैं। चरित्र चित्रण की दृष्टि से कथा में किसी पात्र के चरित्र का क्रमिक विकास प्रदर्शित नही किया गया है, और न ही ऐसे स्थलों की योजना की गई है, जिनसे पात्रों के चरित्र स्पष्ट हों। स्त्री पात्रों में उनके शारीरिक सौन्दर्य और प्रणयी स्वरूप का ही चित्रण है, यही बात माधवानिल और चित्रांगद के विषय में कही जा सकती है।

आनन्दवर्धन, भोज, हेमचन्द्र, वाग्भट, त्रिविक्रम, स्वयंभू, कवि आदि ने लीलावई-कहा की गाथाओं को उद्धृत किया है अथवा उसके वस्तुतत्त्व की ओर संकेत किया है। कविराज कुंजर नेमिचन्द्र के कन्नड़ चम्पू लीलावती, क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामंजरी, जयवल्लभ के वज्जालग्ग, धनेश्वरसूरि के सुरसुन्दरियचरिय, सोमप्रभसूरि के कुमारपालप्रतिबोध, सोमदेव के यशस्तिलक चम्पू, सुभाषितावली, अगडदत्त की कथा, धाहिल के पउमसिरिचरिउ आदि मे लीलावई से भाषा और भावगत साम्य है।

प्राकृत कथा-साहित्य में लोकजीवन प्रचुर रूप मे प्रतिबिम्बित हुआ है। संस्कृत साहित्य में उच्चवर्ग के जीवन का ही चित्रण अधिक है, जब कि प्राकृत साहित्य में जनसाधारण के जीवन का, उनकी परिस्थितियों और विवशताओं का अंकन है। भारतवर्ष के विगत ढाई हजार वर्षों के सांस्कृतिक इतिहास का सुरेख चित्रपट खींचने में जितनी विश्वस्त और विस्तृत उपादान सामग्री इन कथाग्रन्थों मे मिलती है, उतनी अन्य किसी प्रकार के साहित्य में नही मिल सकती। इन कथाओं में भारत के भिन्न-भिन्न धर्म, सम्प्रदाय, राष्ट्र, समाज, वर्ण आदि के विविध कोटि के मनुष्यों के नाना प्रकार के आचार-विचार, व्यवहार, सिद्धान्त, आदर्श, शिक्षण, संस्कार, रीति-नीति, जीवन-पद्धति, राजतन्त्र, वाणिज्य-व्यवसाय, अर्थोपार्जन, समाजसगठन, धर्मानुष्ठान, एवं आत्मसाधन आदि के निदर्शक बहुविध वर्णन प्राप्त होते है, जिनके आधार से हम प्राचीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास का सर्वांगीण एवं सर्वतोमुखी मानचित्र तैयार कर सकते है।

इन ग्रन्थों में विविध सामाजिक उत्सवो—जन्मोत्सव, नामकरण, वरणय, स्वयंवर, विवाह, मल्ल-महोत्सव आदि के वर्णन है। धार्मिक उत्सवों मे पर्युषण-पर्व, अष्टाह्निका-पर्व, सिद्धचक्रविधान आदि की चर्चा है। विविध कलाओं तथा विद्याओं की सूचियां दी गई है। शिक्षा प्राप्त करने की आयु तथा शिक्षागृहों के उल्लेख है। कुवलयमाला में विजयापुरी के छात्रमठ का वहाँ के छात्रो और उपाध्यायों का वर्णन है। भोजन तथा मनोरजन के साधनो, द्यूतक्रीड़ा, प्रहेलिका, गोष्ठियों आदि के उल्लेख है। वस्त्र, आभूषण तथा तत्कालीन रीति-रिवाजो का भी इनसे पता लगता

है। इस युग के साहित्य मे तान्त्रिक विद्या सिद्ध किये जाने के प्रचुर वर्णन मिलते है। कापालिक और सिद्धपुरुषों के वर्णन प्रायः सभी कथा—ग्रन्थो मे मिलते है। देवताओ के समक्ष नरबलि दी जाती थी और मनोकामना की सिद्धि के लिए कुलदेवता के अतिरिक्त नदी, समुद्र आदि प्राकृतिक उपादानों की पूजा की जाती थी। नारायण, चडिका, हर, रवि, विनायक आदि इस युग के प्रमुख उपास्य देवता थे। कामदेव और गौरी की पूजा भी प्रचलित थी।

इस कथा साहित्य से स्त्री जीवन का भी अच्छा परिचय मिलता है। उच्चकुल की बालिकायें भी बालको की भाति आचार्यों के पास जाकर शिक्षा प्राप्त करती थी। सहशिक्षा भी प्रचलित थी। विवाह माता-पिता की अनुमति से होते थे, यद्यपि कन्याओ की स्वीकृति भी ली जाती थी। स्वयंवर और गान्धर्व-विवाह भी होते थे। सपिण्ड विवाह होते थे। विवाह अन्तरधर्मीय होते थे, किन्तु सधर्मियो मे विवाह प्रशस्त समझे जाते थे। उच्चवर्ग मे बहुविवाह प्रचलित था। विवाह छोटी आयु मे किये जाने का उल्लेख है। प्रायः परिपक्व आयु मे ही विवाह होते रहे होगे क्योंकि कन्याओं के शिक्षित होने तथा उनकी सम्मति लिए जाने के अनेक प्रसंग है।

विवाह में मनोभावनाओ को जानने के लिए चित्र भेजे जाते थे। विवाह के अवसर पर श्वेत रग शुभ माना जाता था।

कन्याओं का जन्म दुःखद माना जाता था। स्त्रियों की दशा दयनीय ही थी। सन्देह होने पर पति पत्नी का परित्याग कर देते थे। पिता रुष्ट होने पर अपनी कन्या का विवाह अयोग्य वर से कर देते थे। अनेक पतिव्रता और साध्वी स्त्रियों के इनमें वर्णन है, जिन्होंने अपने साथ-साथ अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के चरित्र को भी उन्नत किया है। धार्मिक प्रेरणा से लिखित होने के कारण इन ग्रन्थों में स्त्री-निन्दा-सूचक वर्णन मिलना स्वाभाविक है। वेश्याओं, दुश्चरित्र तथा कलहप्रिय नारियों के वर्णन भी यहां मिलते हैं।

इन ग्रन्थों में अर्थोपार्जन के साधनों का निरूपण करते हुए प्राचीन ऋषियों के वचनों को उद्धृत किया गया है। कुवलयमाला में दिशागमन, मित्र बनाना, नरपतिसेवा, मान-प्रमाणों में कुशलता, धातुवाद, मन्त्र देवताराधन, सागरतरण, रोहण, खनन, वाणिज्य, नाना प्रकार के कर्म, विविध विद्याये एव शिल्प अर्थ प्राप्ति के उपाय बताये गये है। प्राकृत कथाओं में स्थल यात्राओं और जल—यात्राओं के रोचक वर्णन उपलब्ध होते है। प्रायः वणिक ही ऐसी यात्राये किया करते थे। इन वर्णनो में मानव—स्वभावो और परम्पराओ के विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किये गये है। इनमे जुग, पवहण, बेडिय, दोण, वेगड, सिल्ल, आवत्त, खुरप्प बोहित्थ इत्यादि विभिन्न जलयानो के वर्णन है। इन यात्राओं के पूर्व समुद्र, कुलदेवता, ब्राह्मण आदि की पूजा की जाती थी तथा अन्य साथियो को भी साथ ले जाया जाता था। चीन, सुवर्णभूमि, यवनद्वीप, सिहलद्वीप, बब्बरकूल, टंकणदेश आदि प्रमुख व्यापारिक केन्द्र थे। गाड़ियों द्वारा स्थल—यात्रायें की जाती थी। वर्षा-ऋतु मे इन यात्राओ में अनेक कठिनाइयां आती थी। मार्गों मे भीलो के और चोरो के आक्रमण हो जाते थे। राजपुत्र भी इन यात्राओ में सम्मिलित होते थे। व्यापारी लोग शुल्क (चुगी) की चोरी भी किया करते थे। धातुवाद भी इस युग मे धनप्राप्ति का सुखद साधन था। ये लोग नरेन्द्र कहलाते थे। धातुवादी औषधियो से स्वर्ण बनाते थे। पृथ्वी को खोद कर गड़ा हुआ धन निकालना भी धन प्राप्ति का साधन था।

प्राकृत के इस विशाल कथा-साहित्य में विविध प्रकार की कथा वस्तुयें है तथा तदनुरूप ही विविध प्रकार के पात्रों के वर्णन प्राप्त होते हैं। राज्यतन्त्र तथा राजा के जीवन की झलक भी यत्र-तत्र प्राप्त होती है।

राज्य ज्येष्ठ पुत्र को मिलता था। राजा को अपनी पत्नी, पुत्र, मन्त्री तथा सामन्तो की भी परीक्षा करनी पड़ती है। सामन्तों की दशा दयनीय होती थी। राजा के राज्य की ओर से विरक्त होने पर मन्त्री उन्हें हटाकर उनके पुत्रों को राज्य दे देते थे। राजा प्रजा से आय का छठा भाग कर के रूप मे वसूल करते थे। युद्ध करने से पूर्व राजा मन्त्रियो से मन्त्रणा करते थे। गुप्तचरो की नियुक्ति की जाती थी। राज्याधिकारियों की भी राजा

समय समय पर परीक्षा लिया करते थे। सेना मे सर्वप्रथम पदाति, उसके पश्चात् क्रमश: अश्व, हस्ति तथा रथसेना होती थी। शुभ मुहूर्त मे युद्ध के हेतु प्रस्थान किया जाता था। शत्रुसेना के आने पर मार्ग में जो गाँव पड़ते थे, उन्हें खाली कर दिया जाता था, कुएँ ढक दिए जाते थे, परिखायें जल से परिपूर्ण कर ली जाती थीं। विविध शस्त्र तीक्ष्ण कर लिए जाते थे। योद्धाओं का सम्मान किया जाता था। दुर्गों को खाद्य पदार्थ तथा ईंधन से परिपूर्ण कर लिया जाता था। समुद्र तटों को विषम (दु सचरणीय) किया जाता था। सरोवरों का पानी अपेय कर दिया जाता था। राजा स्वयं भी युद्ध करने जाते थे, पर शक्तिशाली राजा अपने सेनापतियो को ही भेजते थे। युद्ध मे विजय प्राप्त होने पर जयस्तम्भ गाडे जाते थे तथा जयडंका बजाये जाते थे। राजा का श्वेत हाथी जयवारण, जयकुंजर या पट्टहस्ति कहलाता था। सन्धि होने पर शस्त्र लौटा दिये जाते थे। राज्याधिकारियों में अमात्य, मन्त्री, दण्डाधिप, सामन्त, अक्खदलिओ, निउत्तपुरिस, चारपुरिस, कटकपाल, आरखियपुरिस, कोतवाल, पुरश्रेष्ठि, मुकियालोय, पद्मतार, महाश्वपति, पदातिसेनाका अधिपति, स्यन्दनाधिपति आयुधशालापालक, कारणिक, सेनाधिप आदि होते थे। राजा के पाँच सौ तक मन्त्री होने का उल्लेख है। विविध आयुधों के उल्लेख मिलते है। चोरी के अपराध मे प्राणदण्ड दिया जाता था। अपराधी को यमगण्डिका पर बैठाकर नगर मे घुमाया जाता था। प्रसन्नता के अवसरो पर बन्दियो को छोड़ दिया जाता था।

ललितकलायें इस समय उन्नत अवस्था मे थी। नगर के काव्यमय वर्णनो मे प्राकार, अट्टालिका, गोपुर, देवकुल, धवलप्रासादो, आरामो, उद्यानो, विहारो आदि के वर्णन है। नगर के चारों ओर परिखा से घिरा हुआ सुधाधवल प्राकार होता था। नगर त्रिक, चतुष्क, चर्चर, चतुर्मुख, महापथ, पथ आदि भागो द्वारा सुविभक्त रहता था। भवन मे शालभञ्जिकाये होती थी। इनके छज्जो को मत्तवारण कहा जाता था। तलघर को भूमिगृह कहा जाता था। प्रासाद सप्तभूमिक भी हुआ करते थे।

मुक्ता-निर्मित जिन-प्रतिमाओं के उल्लेख है। पाषाण, मृत्तिका और काष्ठ की मूर्तियां बनाई जाती थी। विविध वाद्यो के तथा सगीतकला के वर्णन मिलते है। मदनमहोत्सव या शारदीय पूर्णिमा के अवसर पर चर्चरी गीत या रासक नृत्य होते थे।

विविध रगों से कागज, वस्त्र, काष्ठ तथा भित्तियों पर चित्र बनाये जाते थे। चित्रकला मे रेखा की विशुद्धता, वर्णो का सुन्दर सामजस्य तथा प्रमाणों की युक्तता का ध्यान रखा जाता था। मणियो के चूर्ण का प्रयोग चित्र की रचना मे किया जाता था।

इस युग मे काव्यकला के प्रति भी लोगो का आदरभाव था। श्रेष्ठ सुभाषित पर श्रेष्ठि एक लाख मुद्रा भी प्रदान कर देते थे। विद्वत्ता की परीक्षा समस्यापूर्ति द्वारा की जाती थी।

इस प्रकार हम देखते है कि प्राकृत कथा-काव्यों ने साहित्यिक, सामाजिक और सास्कृतिक क्षेत्र मे एक अविस्मरणीय निधि देश को सौप दी है। इनमे देश का सहस्रों वर्षो का जीवन विशद् रूप मे उपलब्ध होता है। ☐☐

श्री कस्तूरबा कन्या महाविद्यालय, गुना।

उद्भावना

किसी ने कहा— मच्छर बहुत हो गए हैं, बड़ा दुःखी करते हैं। इनको नष्ट करने की कोई दवा बताओ। मनुष्य भी बहुत हो गए हैं। इन्होंने जानवरों को और नन्हें जन्तुओं को बड़ा दुःखी कर रखा है। उनके जंगल-घोंसले-जाले साफ करवा दिये, उन्हें मरवा डाला, उनके छेदन-भेदन किए, उनको पीटा, कैद किया, परन्तु जानवरों ने कभी नहीं सोचा कि ये मनुष्य बहुत हो गये हैं। इनको नष्ट करने की कोई योजना बनाएं। क्या मानव जीव-जन्तुओं से भी अधिक क्रूर है?

× × × ×

प्रकाश से कोई भी प्रकाश ले ले—प्रकाश बढ़ जाता है। दीपक से दीपक जला लो प्रकाश बढ़ जाता है। दर्पण दीपक के प्रकाश से हिस्सा बटा लेता है तो प्रकाश बढ़ जाता है। ज्ञान भी बंटाने से बढ़ता है।

—श्री महेन्द्र सेन जैन

स्याद्वाद और अनेकान्त : एक सही विवेचन

□ श्री बाबूलाल जैन

[अनेकान्त का यह अर्थ नही कि यह भी सच है, वह भी सच है। अनेकान्त का सही अर्थ समझना आवश्यक है, अन्यथा अनेक भ्रान्तियों का जन्म हो जाता है।]

वस्तु मे अनन्त धर्म है। उसका कथन अस्ति नास्ति रूप से, (positive और negative) रूप से, किया जाता है। अस्ति (positive) धर्म मे एक की प्रधानता रहती है नास्ति, (negative) धर्म बाकी के अप्रधान धर्मों को जिन्दा रखता है। इसलिए अस्ति व नास्ति (positive and neagtive) दोनो मिल कर पूरी वस्तु बनती है। जैसे आत्मा मे ज्ञान है, दर्शन है, सुख आदि धर्म है। आत्मा का ज्ञानगुण ही ज्ञान रूप है। दर्शनगुण ज्ञानरूप नही, सुखगुण ज्ञानरूप नही। याने दर्शन गुण और सुखगुण ज्ञानरूप नही है, अथवा अज्ञानरूप है। जब यह हुआ कि आत्मा ज्ञानरूप है। इसमे ज्ञान धर्म की प्रधानता है और आत्मा अज्ञान स्वरूप है, इसमे ज्ञान के अलावा बाकी सब धर्म आ गये। इसी प्रकार से अगर यह कहा जाये कि आत्मा दर्शन स्वरूप है तब बाकी धर्म अदर्शन स्वरूप ठहरेगे : दर्शन स्वरूप कहने मे दर्शन की प्रधानता रही और अदर्शन स्वरूप कहने मे दर्शन के अलावा बाकी सारे धर्म आ गए और पूरी वस्तु का कथन हो गया। इसलिए वस्तु कथचित ज्ञान स्वरूप है और कथचित अज्ञान स्वरूप है। अस्ति (positive) रूप धर्मों के अलावा बाकी धर्मों का नास्ति स्वरूप अस्तित्व दिखाया गया है।

दूसरी प्रकार, वस्तु द्रव्य स्वरूप याने सामान्य स्वरूप है और पर्याय रूप याने विशेष स्वरूप भी है। क्योकि पूरी वस्तु सामान्य विशेषात्मक है इसलिए पूरी वस्तु का कथन करने के लिए द्रव्यदृष्टि से अगर नित्य रूप कहते हैं तो पर्याय दृष्टि से अनित्य रूप देखना जरूरी है और प्रमाण दृष्टि से एक ही समय मे नित्य अनित्यात्मक देखना जरूरी है। इसलिए पूरी वस्तु का प्रतिपादन मात्र एक दृष्टि से नही हुआ, उस एक दृष्टि की पूरक दूसरी उसकी विरोधी दृष्टि होनी ही चाहिए। ये दृष्टिया कोई वस्तु मे हेरफेर नही करती, वह तो जैसी वस्तु है, उसका उस रूप से प्रतिपादन करती है। नयो से वस्तु बदली नही जाती है, नय तो जो चीज वस्तु मे है, उसका प्रतिपादन करते है।

इसी प्रकार वस्तु मे उसका एक अकेला स्वरूप है और एक संयोगी अवस्था है। एक दृष्टि अकेले स्वरूप को बता रही है, दूसरी उसी समय जो सयोग है, उसको बता रही है। अगर सयोग मे एकपना आ जाएगा तब वस्तु जैसी है, वैसी समझ मे नहीं आने से एकान्त हो जाएगा। वस्तु का विपर्यय हो जाएगा।

अनेकात वही बनता है जहाँ वस्तु स्वरूप को दिखाने वाले दो विरोधी धर्मों का प्रतिपादन किया जाता है। अथवा यह कहना चाहिए कि सत्य का प्रतिपादन करता है और उस सत्य को बतलाने वाले अनेक दृष्टिकोणो (view points) से उसका प्रतिपादन करना है। वे सभी दृष्टिकोण जो सत्य को बताने वाले हैं, हमें मजूर होते है। परन्तु जो सत्य को बताने वाले नही है, वे दृष्टि-कोण स्याद्वाद के नाम पर मंजूर नही हो सकते। सत्य एक प्रकार का है और एक ही है।

सामान्य वस्तु स्वरूप से विशेष वस्तु का स्वरूप विरोधी है। एक अकेले स्वरूप से सयोगी स्वरूप विरोधी है। ज्ञान गुण से दर्शन गुण विरोधी है। इसी प्रकार ध्रौव्य से उत्पाद-व्यय विरोधी है और क्योकि वस्तु सामान्य-विशेषात्मक, द्रव्य-पर्याय रूप है और अनंत गुणात्मक है इसलिए एक दृष्टि से पूरी वस्तु की जानकारी नहीं हो सकती जब तक दूसरी दृष्टि को जिन्दा नहीं रखा जाय, चाहे गौण-रूप से ही क्यो न रखा जाय। नय से वर्णन करना उसी को कहा जाता है जब वह पूरी वस्तु को

पहले जाने और फिर एक-एक दृष्टि से कथन करते हुए दूसरी दृष्टि की अपेक्षा रखे। आजकल जो अनेकांत का स्वरूप बताया जाता है : ऐसा भी है, वैसा भी है, हमें तो सब मंजूर है, हम तो अनेकांती है, यह तो अनेकांत धर्म का मजाक उड़ाना है। अनेकांत धर्म जैसी वस्तु है उसको उसी रूप मे देखता है, अन्यथा नही। इसलिए अनेकात ही सत्य स्वरूप है। जो अनेकांत से रहित है, वह मिथ्या रूप है : हाथी को खम्भा देखने वाला गलत है, पखा देखने वाला भी गलत है। पहले हाथी को, पूरे को जाने, फिर पैर को खम्भे रूप देखता हुआ हाथी के बाकी बचे शरीर के साथ मे सापेक्षता रखे तब यह कह सकता है कि पैरों की अपेक्षा वह खम्भे जैसा है। हाथी खम्भे रूप है, ऐसा नही है। क्योकि पैर हाथी से अभेद रूप है, इसलिए पैरो की अपेक्षा हाथी खम्भे रूप है परन्तु उतना ही हाथी नही है। पूरे हाथी के लिए बाकी हाथी के स्वरूप की अपेक्षा करना जरूरी है। यह तभी हो सकता है जब पूरे हाथी का ज्ञान हो।

इसी प्रकार से आत्मा नामक वस्तु है। उसमें—

(१) ज्ञानादि गुणो का पिण्ड अभेद है,
(२) रागादि भाव हो रहे है,
(३) ज्ञान-दर्शनादि अनेक गुण है,
(४) ज्ञानादि गुण की अनेक अवस्था हो रही है,
(५) कर्मों का सम्बन्ध है,
(६) शरीर का सम्बन्ध है,
(७) बाहर मे स्त्री-पुत्रादिक का, धन-वस्त्रादि का, सम्बन्ध है।

अब इसका प्रतिपादन इस प्रकार से करना है कि हरेक सम्बन्ध की तारतम्यता में फरक न पड़े और 'पर' के साथ एकत्व बुद्धि न हो जाये। क्योकि एक वस्तु कभी भी अन्य वस्तु रूप नही हो सकती। वस्तु का एक अकेलापन कायम रहना ही चाहिए। दो द्रव्यों मे एकपना होता नही और दो द्रव्यों मे एकपने की मान्यता ही मिथ्यात्व है। दो द्रव्यो की पर्यायो का एक-दूसरे के साथ संयोग होता है, उसको देख कर अज्ञानी उसमें एकपना मान लेता है। व्यवहार भी दो वस्तुओं में एकपना नहीं बताता परन्तु दो वस्तुओ के सयोग को मंजूर करता है। परमार्थ दो वस्तुओं के एक क्षेत्र में रहते हुए भी उनमें संयोग भी नही मानता।

जैसा सम्बन्ध आत्मा का ज्ञान के साथ है, वैसा राग के साथ नही है। ज्ञान और आत्मा व्याप्त-व्यापक रूप है। जहां-जहां ज्ञान है, वहां वहां आत्मा है और जहां-जहां आत्मा, वहां-वहां ज्ञान है। जहां ज्ञान नहीं, वहां आत्मा नही, जहां आत्मा नहीं वहां ज्ञान नहीं। परन्तु ऐसा सम्बन्ध राग के साथ नहीं। जहां-जहां राग है, वहां-वहां आत्मा है परन्तु जहां आत्मा है, वहां राग हो भी या न भी हो। इसलिए ज्ञान का आत्मा के साथ कथन एवं राग और आत्मा का कथन अलग-अलग रूप से करना जरूरी है। अन्यथा दोनों मे एक प्रकार का ही सम्बन्ध समझ में आने से वस्तु का कथन विपर्यय को प्राप्त हो जाएगा।

वस्तु का कथन एक उसकी अपेक्षा से होता है, एक संयोगी वस्तु की अपेक्षा से कथन होता है। एक अभेद रूप से होता है, एक भेद दृष्टि से होता है। एक गुणों का भेद करके कथन होता है, एक 'पर' को भिन्न करके कथन होता है। परन्तु नय की सार्थकता तभी है, जब जैसी वस्तु है उसको उसी रूप दिखावे। संयोग को संयोग रूप, एक को एक रूप। हमे एक सयोग मे पडे व्यक्ति का कथन इस प्रकार करना है कि सयोग जिसका जिस प्रकार का है, वह वैसा ही समझ मे आ जाय तब उसका जो कथन होगा वह इस तरह से और इस दृष्टि से होगा :—

(१) एक निश्चय-परमार्थ दृष्टि है वह आत्मा को सारे सयोगों से अलग, एक अकेली दिखाती है। अपने गुणों से अभिन्न है, जैसे – चैतन्य।

(२) अशुद्ध निश्चय दृष्टि—यह परिणमन है तो आत्मा में, परन्तु अशुद्ध परिणमन है, जैसे रागादि, क्रोधादि परिणमन।

(३) अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय बताता है—यह आत्मा के गुण है इसलिए सद्भूत है। कही बाहर से आई हुई बात नही है, जैसा है वैसा ही है। इसलिए अनुपचरित और व्यवहार, है तो आत्मा के साथ अभेदरूप, परन्तु अलग-अलग वस्तुतः नही किए जा सकते, समझाने को अलग-अलग कथन किया गया है, इसलिए व्यवहार है, जैसे आत्मा के ज्ञान-दर्शन गुण आदि।

(४) उपचरित सद्भूत व्यवहार नय बताता है कि यह बात है तो आत्मा के अस्तित्व मे इसलिए सद्भूत है परन्तु बाहर से, 'पर' के सम्बन्ध से हुई है, इसलिए उपचरित है और अभेद मे भेद करके कही गई है, इसलिए व्यवहार है। जैसे आत्मा के मतिज्ञानादि। ये ज्ञान के भेद कर्म जनित है। आत्मा के ज्ञान गुण की अपूर्ण, अविकसित अवस्था हैं।

(५) अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय बताता है कि यह आत्मा के अस्तित्व मे नही है; इसलिए असद्भूत है परन्तु आत्मा के साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है; इसलिए अनुपचरित है। आत्मा के न होने पर भी आत्मा के कहे जा रहे है। इसलिए व्यवहार है। जैसे—आत्मा कर्म से बंधी है।

(६) उपचरित असद्भूत व्यवहार नय बताता है कि यह आत्मा के अस्तित्व मे नही है, इसलिए असद्भूत है और इनका सम्बन्ध आत्मा के साथ कर्म के समान नही है, बाहरी है, इसलिए उपचरित है। फिर भी आत्मा की कही जा रही है इसलिए व्यवहार है। जैसे—आत्मा शरीर धारी है, मनुष्य है।

(७) उपनय बताता है यह आत्मा से सम्बन्धित भी नही है परन्तु उपचरित असद्भूत व्यवहार नय के विषय के साथ सम्बन्धित है इसलिए नय मे शामिल नहीं होने पर भी नय की तरह है। जैसे—मकान, कपड़ा, स्त्री आदि को आत्मा की कहना।

इन सातों बातो से यही साबित होता है कि किसी आत्मा के एक अकेले स्वरूप को समझ कर यह समझना है कि अन्य का सम्बन्ध आत्मा के साथ किस प्रकार का है। अन्य के सम्बन्ध को बताने वाला असद्भूत व्यवहार नय है, एक अभेद आत्मा में भेद करके कथन करने वाला सद्भूत व्यवहार नय है और जो आदमी की अवस्था वर्तमान मे हो रही है, उसको बताने वाला अशुद्ध नय है। इन आठो को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है। निश्चय नय याने द्रव्यार्थिक नय और बाकी सब पर्यायार्थिक नय। इस प्रकार जो पहले का विषय था कि वस्तु द्रव्य-पर्यायरूप अथवा सामान्य विशेषात्मक है, इसलिए पूरी वस्तु का ज्ञान करने के लिए द्रव्य दृष्टि के विषयभूत वस्तु को जानना और पर्यायदृष्टि के विषय भूत वस्तु को जानना दोनो बातो को एक साथ जानना जरूरी है परन्तु कथन एक साथ नही कर सकते—एक को पहले कहना पडेगा, दूसरी बात उसके बाद कही जाएगी। वहाँ ऐसा समझना चाहिए कि अगर एक बात भी कही गई है तो दूसरी बात भी जरूर जिंदा है, उसका निषेध नही है, पहली बात दूसरी की अपेक्षा रखे हुए है, वस्तु का पूरा स्वरूप दोनो बात कहने पर ही होगा। अगर हम कहते है कि यह आत्मा मनुष्य है और यह कथन उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से है तो इसका अर्थ यह हुआ कि यह मनुष्य का शरीर आत्मा से भिन्न है। फिर भी दोनों को मिलाकर यह बात कही गई है। तब दो द्रव्यों मे एकत्व बुद्धि होने का सवाल नही रहता। लोक व्यवहार जो चलता है वह सयोग को ही लेकर चलता है। मटर की खिचडी कहने से केवल मटर नही परन्तु साथ मे चावल होने से ही बनेगी। परन्तु कहलावेगी मटर की खिचडी। पूरी वस्तु का ज्ञान करके फिर जो कथन किसी दृष्टि से किया जाता है, वह बाकी बची वस्तु के कथन को साथ रखने पर ही पूरा कथन होता है।

जैसे दूध का उदाहरण देकर समझाया गया है कि दूध का कथन किस प्रकार से 'पर' सयोग की अपेक्षा किया जाता है, यह कथन उसी पर लागू पड़ता है जो असली दूध के निज स्वरूप को जानता है, उसी का केसरिया दूध, गर्म दूध, मीठा दूध, कहना सही है। वही असली दूध का स्वरूप जानता है। इसलिए केसरिया, गर्म कहते हुए भी यह समझेगा कि यह संयोग की अपेक्षा है। परन्तु जिसने जीवन मे हमेशा मीठा डाला हुआ दूध पिया हो और कभी एक अकेले दूध का स्वभाव नही जाना, वह तो यही समझेगा कि दूध का अकेले का स्वाद मीठा होता है। वह यह नही मानेगा कि मीठापन ऊपर से आया हुआ है। इस कारण उसकी दूध सम्बन्धी मान्यता मिथ्या हो जाएगी। इसी प्रकार आत्मा का कथन करने में और समझने मे पहले आत्मा के एक अकेले स्वभाव को जानना जरूरी है। फिर यह समझे कि इसके साथ इन-इन चीजों का संयोग इस-इस प्रकार का है, तब तो सयोग मे एकपना नही बनेगा और जैसी वस्तु है वसी जानकारी हो जाएगी।

घर मे बड़े बूढे लोग बच्चे को कहते है मा को बुला ला। इसका मतलब उनकी अपनी मां मे नही परन्तु बच्चे की मां से है। परन्तु कहा यही जाता है क्योंकि बच्चा उसी भाषा में बात को समझता है। इसी प्रकार कहने वाले को वही भाषा बोलनी पडती है परन्तु यह समझ कर बोलता है कि यह सुनने वाले को समझाने के लिए बोली जा रही है।

समयसार मे उन्होंने इसी विषय का खुलासा करते हुए लिखा है कि आत्मा अबद्ध-अस्पर्श-अनन्त-अनित्य-असयुक्त और अविशेष हे। जो ऐसी आत्मा को देखता है, वह पूरे आगम को देखने वाला है। वहा लिखा है कि अगर परमार्थ दृष्टि के विषयभूत आत्मा को देखे तो वह न कर्मों से बंधा है, न कर्मो से स्पर्शित है। परन्तु उसी वक्त पर्यायरूप से आत्मा को देखे तो कर्मों से बधा भी है और स्पर्शित भी है। उदाहरणार्थ—एक आदमी रस्सी से बंधा हुआ है, उसको अगर परमार्थ दृष्टि से देखें तो, क्योंकि परमार्थ दृष्टि 'पर' को ग्रहण नही करती, एक अकेली वस्तु को ग्रहण करती है, इसलिए वह आदमी अपने में है, रस्सी का अस्तित्व रस्मी मे है रस्मी आदमीरूप नही हो गई, आदमी रस्सीरूप नही हो गया। इसलिए वहाँ मात्र वह आदमी ही दृष्टिगोचर होगा। परन्तु पर्यायरूप से देखे तो वह बंधा हुआ दिखाई देगा। इस प्रकार इन दोनो दृष्टियो से देखने मे फायदा यह हुआ कि यह बात समझ में आ गयी कि बन्धन बाहर से आया हुआ है। वस्तु का अपना रूप नही। अलग हो सकता है, वस्तु के साथ एकपने को प्राप्त नही है।

दूसरी बात यह है कि जब द्रव्यरूप से देखते है तो आत्मा अनेको अवस्थाओं मे जाते हुए भी अपने एकपने को नही छोड़ता, अपने एक चैतन्य स्वभाव को नही छोड़ता। परन्तु उसी समय पर्यायरूप से देखें तो हर अवस्था अलग-अलग है। जैसे मट्टी का घड़ा, मटकना आदि बने है, उस घड़े और मटकने को न देखकर मात्र मट्टी को देखें तो घड़ा और मटकने में बड़ा अन्तर है। इस बात को दोनों दृष्टियो से समझने पर एक अवस्था के बदली होने पर वह यह नही समझेगा कि वस्तु का सर्वथा नाश हो गया। वह यही समझेगा कि वस्तु की मात्र अवस्था बदली हुई है। प्रमाण दृष्टि एक समय में यह देखती है कि वस्तु अनन्य होते हुए भी अन्य रूप है। प्रमाण दृष्टि वह है जहाँ पर दोनों दृष्टि रूप वस्तु को एक साथ देखा जाता है। परन्तु कथन एक साथ नहीं होकर आगे पीछे ही होगा। इसलिए तराजू की डंडी को प्रमाण कहा जाता है और दोनों पलडों को दो दृष्टियाँ कहा जाता है अथवा ऐसा भी कह सकते है कि न्याय करने वाला जब प्रमाण रूप होता है, वह किसी दृष्टि का पक्षपात नही करता और दोनो पक्षो के दो वकील दो नय कहलाते है। वे अपने-अपने पक्ष का प्रतिपादन करते है। ज्ञान है, वह प्रमाणरूप है और शब्दो से जो कथन किया जाता है, वह नयरूप होता है।

तीसरी बात है कि आत्मा को जब द्रव्य दृष्टि से देखते है तो वह नित्य द्रव्य रूप दिखता है और उसी वक्त अगर पर्याय दृष्टि से देखा जाता है तो समय-समय में पर्याय याने अवस्था बदली हो रही है, उत्पाद-व्ययपने को प्राप्त हो रही है। उत्पाद-व्यय क्या है ? एक ही बात को दो प्रकार से रखना है—एक घड़ा फूट गया और दूसरे उसके कपाल बन गये। जब व्यय की दृष्टि से देखें तो कहते है घड़ा फूट गया और उत्पाद दृष्टि से देखते है तो कहते हे कपाल बन गया। परन्तु असल मे देखा जाय तो घड़े का फूटना, कपाल का होना, एक ही बात है। इसलिए घड़े का फूटने रूप व्यय और कपाल की उत्पत्ति रूप उत्पाद एक समय मे हुआ है और मट्टी-मट्टी रूप से दोनो अवस्थाओं मे एक रूप ध्रुव है।

चौथी बात है, असंयुक्त आत्मा की द्रव्य दृष्टि से देखें तो आत्मा एक अकेला चैतन्य है। परन्तु पर्याय रूप से देखें तो रागी-द्वेषी हो रहा है। जैसे घी है, वह आग पर रख कर गर्म कर दिया जावे तो पहले ठडा था, अब गर्म हो गया। गर्म होने हर भी घी अपने चिकनेपन स्वभाव को नहीं छोड़ रहा है। चिकनेपने को दृष्टि में लेकर विचार करें तो वह एकरूप है और ठंडे-गर्मपने को लेकर विचार करें तो पहले ठंडा था, अब गर्म है।

अविशेष याने आत्मा को अभेद रूप से देखें तो आत्मा एक अखण्ड रूप दृष्टिगोचर होती है। परन्तु गुणो के भेदो

को लेकर सोचें तो ज्ञान गुण अलग है, उसका कृत्य अलग है और दर्शन आदि गुण अलग-अलग है। प्रमाण दृष्टि से देखें तो जिस समय अभेद रूप है, उसी समय भेद रूप भी है। इसलिए वस्तु को निश्चय-व्यवहार रूप, सामान्य-विशेषात्मक जैसी की तैसी देखना ही वास्तविकता है। उदाहरण के रूप में तीन आदमी है, वे एक सर्राफ की दूकान पर जाते है। एक को सोना लेना है एक को सोने का बना घडा लेना है, एक को घड़े के टुकडे लेने है। सर्राफ की दूकान पर सोने का घड़ा पडा है। तीनो आदमी पहुंचते है। जिसको घडा चाहिए था, वह खुश होता है। उसकी चीज मिल रही है। एक को घडे के टुकड़े लेने थे, वह दुःखी होता है। सोना लेने वाले को न सुख होता है न दुख है। सर्राफ दिखाने को घड़ा लेकर आता है। उसके हाथ मे घडा छूट जाता है और टुकड़े हो जाते है। जिसको टुकड़े लेने थे, वह हर्षित हो जाता है। जिसको घड़ा लेना था, वह विषाद को प्राप्त होता है और जिसकी दृष्टि सोने पर है, वह वैसा ही है। इससे यह साबित हुआ कि पर्याय तो नाशवान है, अनित्य है और द्रव्य स्वभाव पर जिसकी दृष्टि है उसे पर्याय के बदलने पर दुख नही होता। जो द्रव्य स्वभाव को नही जानता, जिसकी दृष्टि मात्र पर्याय पर है यह दुखी-सुखी होता रहेगा।

इसी प्रकार अन्य लोग कहते है नेति-नेति, याने नही है, नही है। वे लोग तो संसार को माया कहने को ऐसा कहते है परन्तु इसका असली अर्थ है कि 'पर' है तो सही परन्तु मेरे मे नही है। उससे मेरा अपना क्या वास्ता है। 'पर' भी है और मैं भी हूँ परन्तु 'पर' मेरे मे नही है। यह अर्थ असल में नेति का होता है। इसी प्रकार जो लोग कहते है कि शून्य है, कुछ नही है, वहां पर भी यही अर्थ है कि आत्मा शून्य नही परन्तु आत्मा 'पर' से शून्य है, आत्मा मे 'पर" नही है।

अनेकान्त का विचार तो कर लिया। अब स्याद्वाद पर विचार करते है। वस्तु द्रव्य पर्याय रूप से है और हरेक वस्तु दूसरे से भिन्न है। जहां एक वस्तु मे अपना अस्तित्व है, वहाँ पर उसी वस्तु में दूसरी वस्तु का अभाव भी है। जहां वस्तु कह रही है कि मैं मेज हूं, वहां वह यह भी ज्ञान करा रही है कि वह कुर्सी आदि अन्य नही है। इससे मालूम होता है कि वस्तु में दो धर्म है। जहां अपने अस्तित्वपने का धर्म है वहाँ 'पर' के नास्तिकपने का भी धर्म है। जैसे कोर्ट मे कहा जाता है कि मैं सत्य कहूंगा, सत्य के अलावा अन्य कुछ नही कहूँगा। आप अगर केवल इतना ही कहे कि सत्य कहूँगा तो बात पूरी नही होती, साथ मे यह भी कहना पडता है कि सत्य के अलावा अन्य कुछ नही कहूँगा। अगर हम कहे, यह आत्मा, है इससे इतनी बात तो बनी, यह आत्मा है परन्तु यह आत्मा होने के साथ अन्य भी कुछ हो सकती है यह बात अभी बनी रह गई। तब यह कहना जरूरी हो गया कि यह आत्मा है और आत्मा के अलावा अन्य कुछ नहीं। इस प्रकार जहाँ आत्मा का अस्तित्व बताया है, वहाँ उसमे 'पर' का नास्तित्व भी बताया गया है, तब आत्मा आत्मा रूप से कायम होती है।

सामान्य-विशेष दोनों परस्पर विरुद्ध है। अत एव जब सामान्य की प्रधानता होती है उस समय सामान्य के विधि-रूप होने से विशेष निषेध रूप कहा जाता है और जब विशेष की प्रधानता होती है उस समय विशेष के विधिरूप होने से सामान्य निषेध रूप कहा जाता है। इस अपेक्षा से सामान्य और विशेष मे विधि-निषेध धर्मो की कल्पना की जा सकती है। यही बात स्याद्वाद के सप्तभगो के द्वारा दिखाई गई है। जैसे—एक घडा है उसका कथन करना है—(१) यह घडा है—यह अस्ति रूप कथन है। (२) यह अन्य नही—यह नास्तिक रूप कथन है। सवाल यह पैदा होता है कि दोनो बातो मे से कौन सी है। तो वह कहता है—(३) स्याद अस्ति, स्याद नास्ति। फिर सवाल पैदा होता है—क्या यह जो अस्तिपना और नास्तिपना दोनो रूप है, वह आगे पीछे है कि एक साथ है? तब है तो एक साथ, परन्तु एक साथ कथन नही कर सकते इसलिए चौथा भंग बनता है, (४) स्याद अवक्तव्य अर्थात् एक साथ नही कहा जा सकता। इस प्रकार इस स्याद्वाद के द्वारा वस्तु की सत्यता मे कही सन्देह ही नही रहने दिया। इसको लेकर कुछ लोग कहते है कि हमें तो सबकी बात मन्जूर है क्योकि हम तो स्याद्वाद को मानने वाले है। ऐसा स्याद्वाद का अर्थ नही। स्याद्वाद का अर्थ है कि हमें जैसी वस्तु है, वैसी मन्जूर है, वस्तु से अन्यथापना मन्जूर नहीं

है। चाहे कथन करने वाला विशेष दृष्टि से कहें, चाहे सामान्य दृष्टि से, चाहे अस्ति रूप से कथन करें, चाहे नास्ति रूप से, जो कुछ धर्म वस्तु में है और जो वस्तु रूप के कहने वाले हैं, वो हमें मन्जूर हैं। परन्तु जो धर्म वस्तु में नही, वह कैसे मन्जूर हो सकता है। इसलिए स्याद्वाद और अनेकान्त का अर्थ समझने से वस्तु का असली रूप जैसी वस्तु है, वैसी समझने मे आता है।

भिन्न अनुयोगों का अध्ययन भी अनेकान्त दृष्टि को कायम रख कर ही किया जाना चाहिए। सबसे पहले यह समझना जरूरी है कि जो कथन है, वह किसके लिए है। अगर यह कहा है कि यह पाषाण है, इसको पूजने से क्या होगा तो वहाँ समझना चाहिए, यह उपदेश उसको नहीं दिया जो मूर्ति पूजने को जाता ही नही, परन्तु उसको दिया जो जिन-दर्शन से आत्मदर्शन नहीं कर रहा है। उसको जिन-दर्शन की गौणता दिखा कर आत्मदर्शन के सम्मुख किया जा रहा है। इसी प्रकार हरेक कथन में समझना चाहिए। कथन तो ऊपर चढ़ने को किया है, यह अपनी कषाय अनुसार नीचे-नीचे जाने का साधन बना लेता है। चार अनुयोग है। हमारे विचार करने में, बोलने मे, चारों अनुयोगों की सापेक्षता रहनी चाहिए। अगर एक का भी खण्डन होता है तो समझना चाहिए, हमारे कथन में कहीं गलती है। चार सुई है। हमारा धागा चारों मे से निकलना चाहिए तब तो ठीक है, अन्यथा मिथ्या है। अगर कोई चरणानुयोग से पूछता है कि मोक्ष-प्राप्ति का क्या उपाय है तो वह बताता है कि मुनिव्रत धारण कर लो, मोक्ष हो जाएगी क्योकि उसका विषय बाहरी आचरण मात्र है। अगर यही बात करणानुयोग से पूछी जाय तो वह कहेगा, कर्मों का नाश कर दो, मोक्ष हो जायेगी। अध्यात्म से पूछा जाय तो कहेगा आत्मा मे लीन हो जाओ, मोक्ष हो जायेगी। प्रथमानुयोग कहता है-- जो पहले सिद्धो ने किया, वही करो मोक्ष हो जायेगी। बाहर से समझने वाला समझता है कि चार तरह का जवाब है। असल मे जवाब एक ही है। इन चारों की एकता कैसे हो ? अगर आत्मस्वभाव का आश्रय लेकर बाहर में मुनिपना धारण करे, तो कर्मों का नाश होकर मोक्ष हो जायेगी, जैसे इससे पूर्व सिद्धों को हो चुकी है। इस प्रकार चारों अनुयोगों की एकता होती है।

हमें आँख मीच कर भी नही चलना चाहिए कि शास्त्र में ऐसा उदाहरण दिया है, हम उसी को पकड़े बैठे हैं। हमें शास्त्र की आज्ञा भी माननी है परन्तु आँख खोल कर माननी है। जैसे किसी ने कहा, इस बच्चे को टट्टी करवा लो, वह लड़का पेशाब करने लगे तो कहे, यह आज्ञा नहीं। हमें शास्त्र का अभिप्राय समझना जरूरी है। उदाहरण को उदाहरण ही रहने दें, उसको दृष्टान्त न बना लेवें। कथन शास्त्र में अनेक प्रकार के है। हमें देखना है कि हमारे किस जाति का रोग है और हमारे लिए कौन सा कथन हितकारी है। बुखार तो जाडे से भी होता है, गर्मी से भी होता है। दोनों की दवाई अलग-अलग है और हमने सर्दी के बुखार में गर्मी के बुखार का उपचार किया तो नुकसान ही होगा। भगवान कुन्दकुन्द ने कहा है कि मैं जो कहूंगा, उसको अपने निज अनुभव से, युक्ति से, न्याय से, समझ कर वस्तु वैसी हो तो मन्जूर करना; मात्र मेरे कहने से मान लेने से तत्व ज्ञान नही होगा।

बाहरी पकड तब तक रहती है जब तक वस्तु पकड़ मे नहीं आती। जहाँ वस्तु पकड़ मे आ जाती है, वहाँ शब्दों की पकड़ छूट जाती है, पक्षपात छूट जाता है, खेंचतान खत्म हो जाती है। जैसे लाल मन्दिर है, उसको तो देखा नही, उसके कथन को पढ़ कर पक्षपात को प्राप्त हो जाते है। परन्तु जब लाल मन्दिर को देख लिया तो अब कोई उसे जैन मन्दिर कहे चाहे लाल मन्दिर, चाहे मारवल का मन्दिर, चाहे उर्दूवाला मन्दिर, कोई पक्षपात रहता नहीं। इसी प्रकार वस्तु पकड़ मे आने पर न बाहर की क्रिया की पकड़ रहती है, न कोई पक्षपात रहता है। इसलिए शास्त्र के शब्दों को न पकड़ कर वस्तु पकड़ने की चेष्टा करनी चाहिए। शास्त्र तो वस्तु को दिलाने का मात्र इशारा है। वस्तु को देखने की जरूरत है, इशारे को पकड़ने की नहीं। वस्तु जिनके पकड़ मे नहीं आती, वे इशारे को पकड़े रहते है और पक्षपात बना रहता है। यही अज्ञानता है।

□ □

छुनकलाल कृत नेमि-ब्याह

☐ प्रिंसिपल श्री कुन्दनलाल जैन, दिल्ली

नेमिनाथ और राजुल जैन साहित्य में ऐसे तपःपूत एवं उदात्त चरित-नायक नायिका हैं कि विश्व के किसी भी साहित्य में ऐसे पात्र नहीं दिखाई देते हैं। यथार्थ मे इनका जीवन इतना श्रेष्ठ और आदर्शमय रहा है कि आज हजारों वर्ष बाद भी लोग उनका पुण्य स्मरण करते है। नेमि प्रभु और राजुल इतिहास-प्रसिद्ध है। श्रीकृष्ण की ऐतिहासिकता के साथ नेमि प्रभु का भी सम्बन्ध जुड़ा हुआ है।

नेमि प्रभु के गौरवपूर्ण चरित्र एवं जीवन दर्शन ने ही लेखकों, कवियों एव कलाकारों को उनके विषय मे आत्माभिव्यक्ति के लिए बाध्य किया, मैं समझता हूं कि नेमि प्रभु और राजुल के विषय में जितना साहित्य रचा गया है, उतना राम और कृष्ण को छोड़ कर किसी के विषय में न रचा गया होगा। लोक-कवियो ने तो लोक नायक के रूप में नेमि प्रभु के जीवन के विभिन्न पक्षों पर बड़े विशद और विशाल साहित्य की सृष्टि कर भारतीय वाङ्मय को गौरवान्वित किया है। नेमि प्रभु सम्बन्धी विभिन्न रचनाएं जहा भारत की विभिन्न भाषाओं मे उपलब्ध होती है, वहां हिन्दी मे भी रासो, धूलि, घोडी, ब्याहलों, बन्ना आदि विभिन्न विधाओं मे नेमि प्रभु संबधी साहित्य प्राप्त होता है।

नेमि प्रभु संबंधी बहुत सा साहित्य अप्राप्य एवं अप्रकाशित है, यहां हम एक ऐसी ही छोटी सी रचना जो बड़ी सरस और मधुर है, कृपालु पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे है। यह सर्वथा अप्राप्य और अप्रकाशित है। इसके लिए हम करेरा के सेठ मिश्रीलाल जी के प्रति कृतज्ञ हैं जिनकी कृपा से यह कृति हमें प्राप्त हो सकी।

यह कृति एक तीस पत्रीय छोटे से गुटके में संगृहीत है। इसमें निम्न रचनाएं संकलित है। (१) क्रिया कोष का अन्तिम भाग। (२) नेमिनाथ ब्याहलो। (३) ऐरावत की छवि। (४) पद। (५) लावनी। (६) विवाह-विधि। इस गुटके की लम्बाई १७ से० मी० और चौड़ाई १३ से० मी० है। लिपिकार ने इसमें पत्र संख्या नहीं डाली है पर स्वयं गणना करने पर तीस पत्र प्राप्त होते हैं। हर पत्र पर ६ पंक्तिया है तथा हर पक्ति में २५-२५ अक्षर है। लिपि अति सुवाच्य और सुन्दर है। लाल और काली स्याही का प्रयोग किया गया है। जहां लिपि सुन्दर है वहां लेखन की अशुद्धियां बहुलता से पाई जाती है। इसमें लिपि-काल नही है।

श्री छुनकलाल जी ने प्रस्तुत कृति की रचना मगसिर बदी ७ सं० १८४१ में को थी जैसा कि निम्न छन्द से स्पष्ट ज्ञात होता है :—

कृष्ण पच्छि सप्तमी दिन जानो सोमवार मारग सर सुविसाल।
विनिचारि वसुचंद अंक सव संवत् के जाने हलसार ॥

कवि महोदय ने रचना के अंतिम दस छन्दों में आत्म-परिचय भी दिया है जो बहुत ही संक्षिप्त है। कृपालु पाठक उसे पढ़ें और जानें।

प्रस्तुत रचना को पढ़ कर ऐसा लगता है कि कवि को भाषा पर तो अधिकार था ही, साहित्यिक विधियों एवं छन्द अलंकार आदि का भी ज्ञान बड़े विशाल स्तर पर था। अनुप्रास अलंकार की छटा का द्योतक निम्न छन्द निश्चय ही पठनीय एवं अत्यधिक रोचक है।

चंचलि चकला सी चन्द्र कला सी'
चलि चकला-सी चलति चलै।
चंचलता भासी चलि चपला सी,
चलि चपला सी चलति हलै ॥
चंचल गति जो है, चलति जु मोहै,
चंचल सो है, चमकि चलै।

चंचल गति धरती चलि मन हरती,
चंचलती चलति भले ।।

इसके अतिरिक्त कवि ऋतु-वर्णन, नायिका-वर्णन, आभूषण-वर्णन, महलों का वर्णन, घोड़ों का वर्णन, फूलों का चित्रण, रथ-वर्णन, प्रभुको तेल चढ़ाना, वधू-गृहकी सजावट, बरात देखना, नृत्य, बाजो का वर्णन, पशुओं का विलाप, राजुल का वियोग आदि को बड़े ही मार्मिक दृश्य छन्दो मे अंकित कर सका है।

नेमि प्रभु की बारात देखने के लिए आतुर नारियो की मनोदशा का चित्रण कवि ने निम्न छन्दो में बड़े ही आकर्षक ढंग से किया है।

बौरी सी दौरी फिरै सुभरी सुन्दर गात,
गोरी मन मोहन अधिक सुचंचल चालि सुहाति ।६२।

कईक गोद धरै वर बालक रोवति ताहि सुणावति है।
कईक चाव भरी अति चंचल अंचल पट दै झाँकति है।
तजि तजि कुल की कानि सब भई सुबुधि-बलहीन।
दीन भई पूछन लगी सखियन सै जु प्रवीन ।६६
कईक सार सिंगार कौ केई काहू टेरि बुलावति है।
केई मारग में सुकहै यह बात बरात इतैही आवति है।
मुकटि के भूषन गलि में सुधरै पग पंजनि सीस चढ़ावति है

इस तरह कवि छुनकलाल जी ने 'नेमि व्याहलो' एक अति ही आकर्षक रचना रची जिसे हम अविरल रूप से पाठकों के मनोरंजनार्थ एवं ज्ञान वर्धन हेतु यहाँ प्रस्तुत कर रहे है। कृपालु पाठको से निवेदन है कि कवि और उसकी कृति के सम्बन्ध मे किसी को कुछ और अधिक जानकारी प्राप्त हो तो लेखक को सूचित कर अनुगृहीत करें।

६८, कुन्तो मार्ग, विश्वास नगर,
शाहदरा, दिल्ली-३२

उद्भावनाएं

विनोदप्रियता, क्षमाशीलता तथा सहनशीलता की जननी होनी चाहिए। इनके बिना विनोद-प्रियता निरर्थक हो जायेगी।

× × × × ×

सांसारिक दृष्टि से धनिक होना एक बहुत बड़ा गुण है। परन्तु यदि किसी से पूछा जाये तो यही कहेगा कि मात्र धनिक व्यक्ति से, जिसके पास और कोई गुण नही; वह व्यक्ति अच्छा है जो निर्धन होते हुए भी अन्य गुणों से सम्पन्न है। लोक-व्यवहार में फिर भी मान्यता मात्र धन होने से ही मिलती है। कहने और करने में यह कितना बड़ा अन्तर है?

× × × × ×

लगता है ये मन्दिर नहीं, कब्रिस्तान हैं। वहां भी हर कब्र पर किसी मुर्दे का नाम लिखा होता है। यहाँ भी हर दीवार पर किसी का नाम लिखा जाने लगा है।

× × × × ×

मन की दृढ़ता ही सब शक्तियों का स्रोत मालूम होती है। मन की दृढ़ता के बिना कोई भा पौरुष दृढता से प्रगति नहीं कर सकता, और शक्ति का संचय भी नहीं हो सकता। मन की दृढ़ता वाला व्यक्ति चाहे डाकू की शक्ति का संचय करे या तपस्वी की शक्ति का। कमजोर मन का व्यक्ति सब तरफ ही कमजोर रहेगा।

—श्री महेन्द्रसेन जैन,

अथ श्री नेमिनाथ ब्याह

श्री छुनक लाल कृत

अथ छंद लिख्यते :—

दोहरा—

प्रथम नमो अरहंत को दूजै सरसुति माइ।
तीजैं गुरु परनाम कर छन्द रचौ हरपाइ।

छन्द—

जम्बू दीप सुहावनौ जोजन लख विस्तार।
भरत क्षेत्र दछिण दिसा सोरठ देस मझार।
नगर द्वारका तह बसै लसैं सु सुरग समान।
नव बारह जोजन तनी विस्तर ताकौ जान।
छप्पन कोट जादौ जहाँ बसै महा बलवंत।
ताही वंस विषै भए बल नारायन आन।

छन्द त्रिभंगी—

वसुदेव के नारायन हुआ नाम कृष्न जन सुखकारी।
तास भ्रात बलभद्रजु कहिए बलकर मूसर के धारी।
अद्भुत चक्ररतन हरि पायौ ताकी छबि अतिसै न्यारी
प्रभु नाम सार मनमें विचार कविलाल सुजिन पर बलिहारी॥
एक समै सब बैठे सभा बनी आनन्दकारी।
आपस में मिलि मंत्र विचारें बल की बात चली सारी।
कैइक पंडव बलभद्र बतावें कैइअ बतावें गिरधारी।
तब बलभद्र जबै उठि बोले तुम हो बालक अविचारी।
नेमि प्रभु सों तिहूं लोक में कोऊ नहीं है बलधारी।
सुनत बात तब छोह भयो है तब इम बोले बनवारी।
तास भ्रात बल हमें बतावहु कैसे हैं वे बलधारी।
कृष्न तात नै तदी बुलाये आये श्री जिन जनतारी।
सभा सिंघासन बैठे प्रभु जी टेढ़ी कर अंगुरी धारी।
अंगुरि मधि डारि करि संकरि संकर सो है अति भारी।
पांडव और सकल है जोधा हत है चतुर कला धारी।
नैंक न अंगुरी सूधी होई, खैंचि रहे जोधा भारी।
खैंचि खैंचि सबही पच हारे, देखत हैं तहां नरधारी।
श्री जिनवर कर ऊंचो कीनो तहां झुलाए गिरधारी।
मुख पर अंचल डारि हंसी जहां कृष्न तनी गोपति सारी।
तव नारायन विलख बदन है मन में करी गिलपतारी।
तास भ्रात बलभद्रजु कहीयै इम सुनी भ्रात गिरवरधारी।
इंद्र चंद्र नागिन्द्र खगादिक नर सुर सेवा करै सारी॥
करना सागर जगत उजागर है नर सागर नर भारी।
करुना पाइ धरैंगे दीक्ष्या सो उपाउ कीजै भारी।
इमि बलभद्रजु भ्राता कहिए अब सुनिहै विरवै धारी।
रित बसंत ततकाल ततछिन आई है तहां सुखकारी।
वन उपवन फलफूल फलादिक फूल फले सु फुलवारी।
तिनपर षटपद गुंज करत है तिनकी धुनि निकसत प्यारी।
गलिनि गलिनि घरघर मंदिर मधि नटति नटतिसो नटवारी
कान बून बजावत गावत गावत गंध्रप गनधारी।
बाग बगीचन के वृच्छन पर कोकिल शब्द करें न्यारी।
तव मनमोहन मतो सुकरिकें धरें हिये कपट भारी।
रुकमिनी जामवंती सतभामा गवरी और सुतनधारी।
लछिमी पदमा सों इमि बोलै तुम हो सबही सुखकारी।
रूप सील गुन लावणजुत हो और तुम मो अज्ञाकारी।
नेम प्रभु पै ब्याह रचाऊं जो तुम चतुर कला धारी।
इम मधै के वचन जु सुन करि नम्रीभूत भईं सारी।
पाइन बिछुआ पांइजेब घुंघुरू मेखल पं पगधारी।
हियैं हार मोतिन की माला गरै पचलरी रतनारी।
करनफूल कानन में चमकं, नमकं सीसफूल भारी।
चाली चमकति केई झमकति झमकारी।
दामिनी सी दमकं चम चम चमकं छम छम छमकं छमकारी
आपुस में बोलै होलै होलै पोलै पोलै पगधारी।
कंदी कदन की बिमल बदन की रसना रवन की रसधारी।
मदी मदन की सबक सदन की जदुनंदन की हैं नारी।
सिर ओढ़ै सारी, लै पिचकारी, रंग की झारी कर धारी।
बने तलाब बाग के अंदर तालऽफूले फुलवारी।

उचित धाम वनै कोडति तिनमें झझरी है न्यारी।
सोचें झाव विद्रुव अनार जहां तहां नास लटकत भारी॥
नेमिनाथ के हाथ पकरि कर खड़ी भई भावज सारी।
ओढ़ें चीर तीर सरवर के जहाँ खड़ी है जदुनारी। १७
लछिमी पदमा लियें कुमकुमा रुकमिनि छांड़ति पिचकारी
सतिभामा प्रभु को गहि जामा कर सों कर गहि गनधारी
तेल फुलेल सुचोवा चंदन अतर गुलाब सुफुल नारी। १८
कंईक हास विलास करत कंई कटाक्ष करति प्यारी।
उड़त गुलाल परस्पर ऊपर नेवर बाजे झनकारी।
कंईक प्रभु को मुख चुम्बन कर हसि हसि करती किलकारी
कंयक प्रभु अंग सुपरसें कंईक कर सों कर धारी।
रंग रंग सुहोरी खेलें हियें हुलास भयो भारी।
रुकमनि जामवंती सतभामा करती अरज सबै हारी।
अब वे धीर भए प्रभु कवते तुम तो हो करुनाधारी।
हम आधीन भई कर जोरें कर-कर अरज सबै हारी।
ब्याह कबूल करो यह अवसर नातर अब करिहैं ख्वारी।२१
जब प्रभु मंद-मंद मुसुक्यानें सो मुसुक्यान लगी प्यारी।
रुकमनि जामवंती सतभामा तिन यह निहचै करि धारी।
ब्याह कबूल कियो प्रभु जी नें तब हरषी हैं जदुनारी २२
करि असनान पहिरि पाटम्बर अम्बर पहरे सुखकारी।
जामवंती सों हँसि कर बोले धोवती निचोरो तुम म्हारी।
अबला बुधि विचारें मन में हों त्रिखंडपति की नारी। २३
है त्रिखंड पति नायक मेरो ना यह हुकम कियो भारी।
कहा कहों मैं तुम सों देवर राखी कान सु भै धारी।
कोन कहै हरि सों वचन ए अब नातर जान परै सारी।
सुनत बात सतभामा धाई चलि आई रुकमिनि प्यारी।
कर गहि धोवती उठाइ लई तिन यैसे वचन सु उचारी।
रहित विवेक बुधि करही निते यह कानत में धारी। २५
इन्द्र चन्द्र नागेन्द्र खगादिक नर सुर सेव करै सारी।
हे त्रिलोक नाइक पति जे अब ना आए हरि बलकारी।
कूरनि में तूं कूर बड़ी है, तोको सम जयरै नारी। २६।
कहै हथियार तहा अब वुसाला आए तहाँ जन सुखकारी।
धनुष चढ़ाइ करी शंख धुनि सुनि भै उपजी अति भारी।
गरजै घन, वन सिंह दहारो, सुनो शबद गिरवरधारी। २७
अद्भुत सुनि धुनि चौरति ततछिन आइ गए तहां बलधारी
कोप कियो प्रभु काके ऊपर सबही सेव करै धारी।

सिंघासन चल बैठे प्रभु जी हमही आदि अज्ञाकारी।
श्री जिन दीन दयाल भए तब लीने संग धनुषधारी। २८
सभा सुथानक आइ विराजे राज दियो आनन्दकारी।
लछिमी पति को राज दियो कधकीयो निसंक सुभयटारी।
जबही हरि इक विप्र बुलाया महा प्रवीन कलाधारी।
उग्रसैन पै तुरत पठायो चलो तहाँ तें ततकारी।
लिखौ लेख ले गयो ततछिन दीनों जाइ सु सुखकारी।
तुम पुत्री चित सभद विजै सुत तिन सों करियें हितकारी
मुदित मन्द अमोद भए चित वाचत हरषे नर-नारी।
कर सनमान पान बहु देकर लिखो सुवाँचो आइ सुधारी।
तुम लाइक हम जोग नहीं हैं पकरी बाँह सु हम तुम्हारी।
मैं अति दीन कीन बहु आसा तुम लिखो वरज बहु लचारी
टीका और सुभ लगुन पठाई सांवन षष्ठी उजियारी।३२।
कियो विदा नाम दाहै कदि आयो नगर द्वारकारी।
प्रथम प्रणाम कियो सुदीयो तिन लीयो लेख मुरलीधारी
देख लेख ले गए जहाँ तहाँ सभद विजै महाराजी री।३३
हाथ जोरि करि विनो पारि करि जोरि करो बिनती सारी
गढ़ गिर नैरी पास झूनागढ़ उग्रसैनि है वुधिधारी।
तिनकै टीका लगुन पठाई और लिखी बड़ी मनहारी।३४।
टीका और शुभ लगुन जु आई भई सगाई हितकारी।
सब जन को सुख चैन भयो तब लियो बुलाइ कुटुम सारी
सुभ स्याइति सुभ घरी मुहूरति सुभ दिन लैनों टीका री।
तब बहु दाम दमोदर खरचै तुरत बुलायो भण्डारी।
कनिक रतन बहु बासन भूषन हय गय सहित सुप्रंभारी।
ग्राम नगर पुर पटन बहु विधि सिक्के सूनी सुखलारी।
दीया दान सनमान जु करिके विदा कियो जु विप्र चारी।
इत चित दोइ घर होत बधाए गावत गीत जु नर-नारी।
नर-नारी तब तिलक सँजोयो करी तेल की तैयारी।
मुतिअन चौक पुराइ सवा सोन घरी तहाँ सो पनवारी।
श्री जिन तन द्रुति सोसरु सोहै उडगन सी जु खड़ी नारी।
कंयक हरदी तेल चढ़ावति कोई न्हावति भरि झारी।
कंयक सार सुगंध लगावति कंई लगावति सुरझारी।
कंयक पान बिरी कर धरती कंई संभारति वागोरी।३६।
मारतंड मनि ससि प्रचण्ड द्रुति धरे श्रवन कुण्डल भारी।
भुजदण्ड वाजुनि करि मंडित सहित मुद्रिका नगजारी।
जगमग-जगमग जगमगाति धुकि-धुकि आकंठ सो कंठारी॥

नव रतननि नवाग्रह सी चमकति रुकति सीस सेहरा री।
कर कंकन आभूषन सोहत मोहत माल रतनारी।
झिलिमिलि झिलिमिलि झिलमिलाति सिर पेंच तुरीरी।
सुन्दर सार सुभग अति सोहति नाना विधि सों रगधारी।
अति चंचल सो चलति-चलति गति स्वर मृदंग रवि उनहारी
मनोप रवि को सिंघन तजि करि महा विप्लन दुतिधारी।
कर सिंगार तैयार भए तब निरखत छबि कोऊ पटनारी।
माता सिवदेवी करत वधाए वारति रतन सुभरि थारी।
आइ सूपाइ सुअस वारिन द्वारनि आनि करि घोरी ठाढ़ी।
जड़त जड़ाव रतन मनि मानिक झल झूलत पाखर भारी।
जिन लगाम जति हरि निकरि कलगी सोहति है न्यारी।
ऐसे अस्व महा अति सोहति नेम कुँवर करि असवारी।
छत्र सुई जड़वा जड़े मानो रवि तें सोभा अति भारी।
हरिहल इत उत चँवर करें वर उजलि ससि सम उनहारी
सभद विजै आदिक सब भ्राता चले सुभूप मुकुटधारी।४५
तब वसुदेव बरात बनाई महा उछाह कियो भारी।
नाना विधि सों तखत सँभारे लिए अखारे वर नारी।
छप्पन कोटि चले जादौवंसी ऐक-ऐक तें अधिकारी।४६।
कैयक तरवत रमा चढ़ि चाले कैयक चढ़े सुहाकारी।
चंचल चपल तुरंगनि चाढ़त कँई चढ़े गज अम्भारी।
कैइक बैठि सुखासन चाले सिंगनि कोर खड़ी न्यारी।४६।
आतसबाजी चली खाइसि कोतिल हय ही से भारी।
मन मतंग वदन के हलके मनु आई स्यार घटा कारी।
लाल निसान वनि यों धमकै दमकति बाजू छटाकारी।
चलति वरात वा बहु बाजति नौवति बाजै धुंधकारी।
अखी सुतर को छव छाजत करत सुधुनि रन धारी।
तुरही सुरही शब्द करैं बहु बाजत सुर सोहै सो नारी।
नेम कुँवर की चली बरात जु पहुँचो भुनागढ़ सारी।
वने सुमंदिर अम्बर के जहँ उतरी जाइ सु सुखकारी।
उततें उग्रसेन चलि आए भेंट सुधरि फिरि गृहगारी।
दो० उग्रसेन जब जाइ करि, रचो नगर सुभसार
सो वरनन कवि को करै, सुभहि भा अगर अपार।
छंद—सुभसार बजार अपार छाए मखमल और लाल-
बनातिन सों।
कहूँ किरखाव के बँधे चंदोए रेशम डोरी लालनि सों।
कहूँ तसव दलेकी बाँधी चादर झलकत मुतियन झालरसों
कहूँ झालर माल लाल बहु लटकें बँधी सुतोरन मालनिसों
छंद दोहरा—रतन जटित मंदिर जहाँ बनैं सुबहुत अडोल,
धुजा कलसिन सें सोहये चौखूटे अरु गोल।५८
छंद—प्रासाद विराजैं दुति अति लाजैं सोभ समाजैं सोहतिहै
तिन में चित्राम लखें अभिराम लखें नर वाम सुकोहत है
मन जटि कवि लागे वहु द्वार सु देखत ही मन मोहत है।
दोहरा छंद—महलनि में गोखें बनी सु सुन्दरि बहुत सुहात
तिन मे महलनि करि देखत चढ़ी बरात।६०।
कैइक महल-महल चढ़ि सुकढे बहु मंगल भाषत हैं।
कँई केसर सिंगार करें कई सखियन कै कछु नाखति है।
कैइक गोद धरें वर बालक रोवति ताहि सु राखति है।
कँईक चाव भरी अति चंचल अंचल पट वें झाँकति हैं।६१
दोहरा—चौरासी दौरति फिरै, सुभरी सुन्दर गात।
गोरी मन-मोहन अधिक, सुचंचल चालि सुहाति।।
छंद—चंचल चकला-सी चन्द्रकला-सी चलि चकला-सी
चलति चलैं।६२।
चंचलता भासी चल चपला-सी चलि चपला-सी चलत हलै।
चंचल गति जोहै चलति जु मोहै चंचल सोहै चमकि चलै।
चंचल गति धरती चलि मनुहरती चंचलती चलति भलै।
दोहरा छंद-करि-करिकैं सिंगार बहु पहिरे वसन सुलाल।
कँईक मारग के विषं खड़ी खिलावै बाल।६४
छंद—चली जाति गलिन में कोऊ मगन में आपुस में बत-
रावति हैं।
सखी भूल गई कछु सुधि न रही मोहि, ऐसे कहति सुहा-
वति है।
अब खड़ी रहै मम हाथ गहै हमहू तें चलि आवति है।
कई साज सभ रति चोर सुधारति इस विधि नारि-
सुहावति है।६५।
दोहरा छव—तजि-तजि कुल की कानि सब भई सुधि-बुधि-
बलिहीन।
दीन भई पूछन लगी सखियन सें जु प्रवीर।६६।
छंद—कैइक सार-सिंगार करें कई काहू टेरि बुलावति है।
कँई मारग में सु-कहैं यह बात बराय इतें ही आवत है।
सुकटि के भुषन गल में सुधरैं पग-पेजन सीस चढ़ावति है।
" " " ।६७
दोहरा छंद-अब सजि कैं सबही जहाँ वाहन चढ़े मनोज।

पुर प्रवेश कीनें सही देखे सबही लोग ।६८।
छंद–प्रथम जलेब दिखेहैं बाजे नौवति अरबी सुतरी जानि ।
भूपति सान दुहु दिसि तिन के दिग्गज-गज परचंड महान ।
चंचल चपल तुरंगनि ऊपर लाल धुजा लहकै अमोलन ।
जड़ित जड़ाव जीव और पाखर असे हय-गय कोतल जान ।
दोहरा छंद–कलि वध दोहू दिसा चलति खई संसार ।
लगें सु सबको मोहनी देखत सब नर-नार ।७०
छंद–गुल जुमुक गेंदा गुलाब तुरंग अरु गुल खैरा जाति ।
गुल मखमल गुल चीनी कही ऐ गुल सबो गुड्हल आनि-
बखानि ।
गुलमेंहदी गुलासकरि लाही और गुल नारंग सदबदी सुआनि
सदा गुलाब बनें गुलाल इत्यादि फुलवारी जु बखानि ।
दोहरा छंद-रतन जटित हटिक तनौ वाजिन सहित सुआई
असे तखत सुहावनौ चलत अखारिनि माहि ।
छंद–मृदंग सुतार सितार बजें सु साजें विना धुनि गर्जत है
गावत रंग कंनून तमूरे चंग उपम सो साजत है ।
बजत खावसु अभ्रत कुण्डल अरवुत्तर छवि छाजत है ।
मोहों चंग मुराज मुरली अवाज इन आदिक बाजें बाजत है
दोहरा छंद-यह प्रकार बाजें बजें सुर अरु तालु मिलाइ ।
नृत्य करे तहँ नृत्य की षट् विधि राग सुगाय ।७४।
छंद–कँइक साजि सँहारि कहैं मुख कँइक तार मिलावति है
कँइक धुनि संगीत सनें सुबजें गति भीव बतावति है ।
कँइक तंडव नृत्य करें सुधरें बहु भाव सुगावति है ।
कँइक नारि करें झनकारि सु दें दें भमरी धावति है ।
दोहरा छंद–ता पाछें अब नेमि के आवें रथु अवदात ।
मन मोहन सोहन अधिक देखत नेंन सिरात ।७६।
छंद—दोय दोय पाहरे दुहु दिस में तगेमः सिलगे उनमान ।
पद्म राग मनि कैसी आभा अधिक बिराजें चन्द्र समान ।
गत ऊपर अवधार सामग्री मा·· महल तस ऊपर जान ।
हाथ सात सम भू तें उन्नत ऊपरि अमरि अमलान ।७७।
दोहरा छंद–स्वेत बरन अति सोहने मांझ महल सुविसाल
झलकति झलक सुहावनी लरकत मुतियन माल ।७८।
छंद–रवि सम सेत बनो माझ महल ता ऊपर है
कमल महान ।
प्रीत बरन रंग सुवर्न मइ है कहुं रंग मन पद्म समान ।

बनी रिनिक झालर की जहां तहां ताकी झलक
महा दुतिवान ।
ऐसे कमल अमल अति अनुपम ता ऊपरि है नेम सुजान ।
दोहरा छंद–लाल स्याम अरु स्वेत बहु हरित प्रीत
रंग आहि ।
बरन बरन के रतन सुभ लगे सुरथ के माँहि ।८०।
छंद–कहुं मरकति मनि की है आभा कहुं प्रभावि
द्रुम है लाल ।
कहुं चमकि मनि पद्म राग की कहुं दमक बड़ो जो विसाल
इन्द्रनील मानिकहि विराजें निकसिर हैं किरन की जाल ।
सिधनि सोभा कहं लगि बरनौ मानो मेरु सिखिर
गिरि भाल ।८१।
दोहरा छंद–तामें नेमीसुर है ऊपर चंवर ढुरंत ।
रसमि सहित मानो सही ससि दुति अति सोभंत ।८२।
छंद–नेमीसुर के मस्तक ऊपर रतन जटित सो छत्र फिरंत ।
भुक ·· · मुकेस की झालर तामें लगि है दुति वनंत ।
मुख मयंक अवलोकि प्रभू को महिमा हीय कहै इम संत ।
धन्नि भाग है राजमती को तिनि पायो अब ऐसो कंत ।
दोहरा छंद–करि करि कै सिंगार बहु पहिरे बसन अनूप ।
समद विजै के आदि दै मुकुट बंध सब भूप ।८४।
छंद–मदमत्त गयंद सुगर्ज करें बहुगर्जित सोभा सोभ थए ।
हिननाटहिननहींन शब्द करें सुभदेव विमान सुसोभ भए ।
श्री नेमनाथ के संग जु सबही सोभा सहित सुहार गए ।
दोहरा छंद–दरवाजे गए नेमि जी जहां लगहि मरजाद ।
तब पसुवनि मिलि देखिकर प्रभु सों करी फिराद ।८६।
छंद–हम दीन सुदीनानाथ बिना सुभए बहु दीन पुकारत है
हमरे सिसु लाल चिकार करे सो तुम बिन कौन छुड़ावत है
ऐ दीन सुबैन सुनें जबही तब स्वारथि सौं बतरावत है ।
दोहरा छन्द–तब स्वारथ कर जोरि कर अरज करी
सिर नाइ ।
ऐ घेरे इस कारनें भीलादिक सब राय ।८८।
छन्द—ऐ दीन सुबैन सुवे सुनें जबही तबही ततकाल
सुबंधि छुड़ाई ।
काज अकाज समाज सबै जहं जानि नवें जीग्र जादवराई ।
भयभीत भये भव तें जबहीं तबही प्रभु द्वादस भावना भाई
देव ऋषीसुर आइ गए धनि धनि सुधनि कह सीसु नवाई ।

दोहरा छन्द–तुम बिन को ऐसी करे अहो जगत के नाथ।
बहु सम्बोधन वचन कह सुन्यो सु नमि नमिनाथ ।६०।
छन्द–माथ नवाइ गए जबही तबही हरि सिविका लै धाए
सुर चारि प्रकार महासुख कार सुजै जिनिन्द्र
कहकै सिर नाए।
कंकन डारि सुमेर उतार हुए सुसवार सुसामन भाए।
हरि हल दोऊ भ्राता जिनिके तात कहां तुम जात
कहत आए ।६१।
दोहरा छन्द–राज सम्पदा छोड़ि कर चले कहां परवीन।
समद विजै के आदि दे बिलखत वदन मवीन ।६२।
छन्द–तिनिको बहु संबोधन करिकै सिविका हरि
बल कंधै लीन।
सात पैंड ''लैकरि चाले बहुरि सुविद्याधर परवीन।
फिरि सुरिन्द्र ततकाय ततछिन लैकरि गिरनारी धरि दीन।
तहां सिंघासन आसन ऊपर बैठे जय सुख आतमलीन ।।६३
दोहराछंद–तब सुरिन्द्र आनन्द करि अस्तुति पढ़ गुन गाइ।
छीरोदधि जल लाइ करि प्रभु असनान कराइ ।।६४
छन्द–तहां बहु भूषन वसन उतारे नगन दिगंबर भए प्रवीन
भवभयभीत भए भवतें जब सहसभूप संग दिच्छा लीन।
तब हरि जल चंदन अछित लैकरि दीपधूप सम पूजा कीन।
अरघ बनाइ गाइ गुन प्रभु के फेरि कीये जा नृत्य प्रवीन ।।
दोहरा छन्द–तब कल्यानक करि जहां इन्द्र गये निज गेह।
राजुलि करत सिंगार जहां बात कही कइं ऐह ।।६६
छन्द–काहे को सार सिंगार करै
सुनि तेरो पिया गिरनेर गयो री।
मूर्छित ह्वै धरनी पै परी मनो वीरज छटका आन परो री।
सुधिबुधि बिसरि गई सुभई इम तन तैं चेतनि दूरि भयोरी।
सीतल पवन सुचेत कोई मो पीव कहां जहां नाम लीयो री।
दोहराछन्द–उग्रसैनि पर जाइकै राजुलि नायो माथ।
हमहूं गिरि पै जाइगें जहां हमारो नाथ ।।६८
छन्द–गयो नर हो सुकहाजु भयो अब तेरो विवाह सुफेरि
करैंगे।
पुर पट्टन दीप समुद्र सबै ले प्रोहित संग सुआप फिरैंगे।
वर श्रेष्ट सुधीइम चन्द्रकला संपूरन छबि वर ल्याइ धरोगें।
घर बैठि सुधीय थिररालि सुऐह उछाह सुफेरि करैंगे ।।६६
दोहराछन्द–अहो तात वह नाथ बिन जगत भ्रात सम आन।
क्या गाली मुझ देत हैं भये सु कहा अग्यान ।।१००
छन्द–जा जग में प्रीतम नेम बिना और तो सब तो सम
जानति हों।
तातें मात सुतात छिमा सबसों अब नाहि कहो अबमानति हों
ए बैन सुकही उठि ठाढ़ी भई गिरि जाइ सुअर्जित
सुठानति हों।
नवभव की भो सो प्रीत पिया दसमें क्या चूक बखानति हों।
दोहराछन्द–नवभव की तुमसों लगी प्रीति महारसलीन।
चूक कहा अबकै प्रभु सुदास औ भव तजि दीन ।।१०२
छन्द–हम दीन भई बिललात अबै तुम हो अदयाल जु नाथ
हमारे।
मौन तजो मुख वैन भजो कर जोरि कै पांय परौं जु तुम्हारे
जगजीवन जीव सु पालत हो मो जीवनि की गति नाहीं
संभारो।
मोह बिना निरमोह भयो हमहू तो पिया अब साथ तुम्हारे ।।
दोहराछन्द–राजुलि नें दीच्छा लई भई अर्जिका ताम।
दुध्धर तप तपती भये करम खिपाये वाम ।।१०४
छन्द–करम कलंक खिपाई दिए सुकिए तप दुर्धर देह खई।
अच्युतनाम विमानहि जाइ सुबाईस सागर आव लही।
अस्त्रीलिंग सुछेदि महा ललितंग सुनामा देव भई।
या भव के अंतर ली रहे फिरि पीय पै जाइ मिलैगें सही ।।
दोहरा छन्द–या सिंसार असार लख भये जतीसुर आय।
पच महाव्रत धारि कै जपै सु आतम जाप ।।१०६
छंद–जब नेमीसुर जोग लीयो है धरो महाव्रत अति सुखकार
दिन छप्पन लौं छद्मस्थ रहै फिर केवल उपजो अतिहो सार
समोसरन जब रच्यो इन्द्र ने ताको उपमा को नहिं पार।
सातसौ बरस संबोध कियो जिन फेरि आये सो गढ़
गिरिनारि ।।१०७
दोहरा छंद–आउ मास बाकी रही जोग निरोधो जान।
सब्व सुकला षष्टि में पोहो चे पोछि सुथान ।।१०८
छंद–मुक्ति गए न रहे जग न मुनि पंचसौ छतीस संग गए
कहे सुदहे वसुकर्म जवै सुसवै सिवतिय के कंत भए।
खिरयो वपु अंग सरीर जहां सुतहां नख केस परे जु रहे।
हरि हिय में धारि सुचारि प्रकार सुजय जय करत सु
आइ गए ।।१०९
दोहरा छंद–चंदन अगर इत्यादि लै सुकीने तन तैयार।

नख अर केस तहां धरे कीनो तव कीनो तव संसकार।११०
छंद–सुर सक्र सची सुरची बहु भांति रची तन ताहि प्रनाम चए।
फिरि अग्निकुमार करी नुत सार सु अस्तुति पट करि सीस नए।
तबहिं मुकुट तें अगिनि झरी सुजरघो तन तातें भस्म भए।
सुर हरषित चित्त सुभस्म पवित्र लगाइ सुमाथन थान गए॥
दोहरा छंद–समुदविजै को नंदवर भयो सुसिवमय सिद्ध।
तिनके गुन वरननि करौ सुपावे बहु विधि रिद्धि ॥११२
छंद–रिधि सिधि सुवहु विधि पावे गावे गुन जिनके अमलीन।
मन वच काय सुध मन करिकें पढ़ें पढ़ावें सो बुधिवान।
पुत्र पौत्र प्रताप बढ़ै जस नरभव सुखतें सुरग निदान।
घुनकलाल जन कहै कहां लग अनुक्रम तें अविचल निखान।
दोहरा छंद–अंख तंडग नगर में श्रावक वसो सुजान।
देव धरम गुरु ग्रंथ कौं ये तिनिको सरधान ॥११४
छंद–करै सरधान सुजिन पहिचान सुमन में आन यही मानै
देव धरम अरु ग्रंथ विना अरु दूजो देव नही जानैं।
समकित की परतीति धरैं मन और कु कीया नहीं ठानैं।
साधरमी जिन सासन वरती तिनि सों प्रीति अधिक आनैं॥
दोहरा छंद–तिनि मैं श्रावगसिधमनि जिनमारगमहिलीन।
पुत्र चारि तिनिकैं भए साधरमी परवीन ॥११६
छंद–प्रथमपुत्र को नाम रतन सम तातें कहिए मानिकचंद
हरि उद्योत धरें अति उजिल ऐसे गुन धारें हरिचंद।
छिमा सबद जग में प्रसाद यह तातें नाम कुसल है चंद।
परम नाम सुखही कें जानौ भयो परमसुख चौथे नंद ॥११७
दोहरा छंद–छिमाचंद के नंद को नाम स्वाद अनुसार।
अलपमति बहु तुच्छ बुधि कीनो यह विस्तार ॥११८
छंद–करम जोगई करुना कारन आये नगर सकूराबाद।
तह कारन सुभ सफल सुकरि कैं भयो नहीं तहां हरख विषाद
श्रावग सेवा दस तनुवर जी तिनिसो मिलिपायो अहलाद॥
दोहरा छंद–भई मित्रताई मिलतहिं मनमें हरष उपाइ।
लघु नंदन के नम वार जनैं अति सुखराइ ॥१२०
छंद–तिनि असो उपदेस दियौ हम कोई बनावे मंगल माल।
तिनिको मन उपदेस लगें सुभ तिनको हेत रच्यौ वह लाल।
कस्न पच्छि सप्तमी दिन जानौ सोमवार मारगतर सुविसाल।
चिति चारि वसु चंद अंक सव संवत कैं जानैं हलसार ॥१२१
दोहरा छंद–भूलचूक अछिर अमिल कीजे सुद्ध प्रवीन।
महाविजछिन चतुर सौं कवि यह विनती कीन ॥१२२
छंद–कवि करि विनती महादीनता सुनौ विजछिन परम प्रवीन।
लघुदीरघ मैं कछु अनजानौ तां ऐसी है मो मति हीन।
सो बुधि आयनि नहीं सयानी तातें अरज सहज हम कीन।
जिनि के गुन को घर को नहीं पारत रे कहां बुधिबल है मति छीन ॥१२३
इति श्री नेमिनाथ जी के विवाह को वरननु बुध अनुसार समापतं।

□□

उदभावना

संयम, व्रत और तप, शक्ति के अनुसार ही धारण करने चाहिए। शक्ति से अधिक नियम लेने से वे भंग होंगे ही, और उनमें अवश्य दोष आयेगा। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अपने को शक्ति-हीन मान कर, स्वच्छन्दी हो जायँ। वर्तमान शक्ति के पर्याय योग्यता के अनुसार चारित्र-धारण करके, अपनी शक्ति का उत्तरोत्तर विकास करने का पुरुषार्थ निरन्तर करे, और इस प्रकार क्रम से वीत-रागता की सीढ़ियाँ चढ़ता जाए।

× × × × ×

वह बड़ा नहीं है कि जिसने ज्ञानोपार्जन किया है—बड़ा वह है कि जिसने चारित्र धारण किया है।

—महेन्द्रसेन जैन

भगवान महावीर : एक नवीन दृष्टिकोण

□ श्री बाबूलाल जैन, दिल्ली

भगवान् महावीर की साधना शेर की पर्याय से आरंभ होती है । जब भगवान महावीर होने वाला वह जीव शेर की पर्याय मे भूख से व्याकुल होकर एक मृग का शिकार कर रहा था; उसी समय दो साधु जो सयम और तप की मूर्ति थे, आत्मज्ञान का साकार रूप थे, वहां आते है और उस शेर को सम्बोधन करते है । वे यह नही कहते है कि तूने मृग को मारा है, तू हिंसक है, तू नरक मे जायेगा । परन्तु उसे आत्म-तत्व के सम्मुख करने का उपदेश देते है । वे कहते है-हे आत्मा ! अनतकाल से तू संसार मे चक्कर लगा रहा है, कोई ऐसा स्थान नही जहां तू पैदा नही हुआ, कोई ऐसी अवस्था नही जिसको तूने प्राप्त नही किया । अपने आत्मस्वरूप के ज्ञान के बिना इस कर्म सयोग से प्राप्त हुई अवस्था को ही अपना जान कर राग-द्वेष को प्राप्त होकर तूने कर्मो का बन्ध किया और उस कर्म-फल मे फिर अपनापना मान कर फिर राग-द्वेष किया । इस प्रकार कभी अच्छे कर्म करके देव हुआ, कभी खोटे कर्म करके नरक को प्राप्त हुआ, कभी मिश्रित कर्म करके मनुष्य और पशुपने को प्राप्त हुआ परन्तु कर्म के फल से भिन्न, निज स्वभाव मे अपनापना नही माना । अपने स्वभाव को नही जानने की अज्ञानता से राग-द्वेष हुआ, राग-द्वेष से कर्म-बन्ध हुआ, कर्म के उदय से शरीर मिला, शरीर से इन्द्रियाँ मिली और फिर उनमें इसने अपनापना मानकर राग-द्वेष किया । हे जीव ! जरा समझ, तू कौन है, तेरा अपना क्या है । बारम्बार जब उस शेर को उन करुणासागर साधुओ ने सम्बोधित किया तब उस शेर की दृष्टि बाहर से हटकर अपने चेतन स्वभाव को ढूढने लगी और उसने जाना कि आज तक जिसको मैं मान रहा था, वह तो मैं नही, वह तो कर्म संयोग से मिली हुई अवस्था हैं, मेरा अपनापना तो अपने निज स्वभाव मे है । ओहो, मैंने अनन्त काल इस 'पर' को निज रूप जान कर बिता दिया । आज मुझे यह ज्ञान-ज्योति प्रगट हुई है । इस प्रकार जब शेर विचार करने लगा तो उसके नेत्रों से अश्रु-धारा बहने लगी । साधु सम्बोधन करके चले गए ।

अब वह शेर की पर्याय मे था परन्तु उसने अतुल-निधि को, स्व निधि को प्राप्त कर लिया था । तब अपने स्वरूप का मालिक था, शरीर में रहते हुए भी शरीर में अपनापना नही था । जिस प्रकार एक धोबी ने किसी को कपड़ा लाकर दिया, उसने उसको अपना कपड़ा समझ कर पहन लिया । फिर धोबी ने आकर यह बताया कि इसमें तो दूसरे का चिह्न लगा है । यह आपका नही है । जब उसने चिह्न को मिलाया तो मालूम हुआ इसमे हमारा चिह्न नही है । यद्यपि अभी वह कपड़ा पहने था, उतारा नही था, परन्तु अपनापना तो तुरन्त छूट गया था, स्वामित्वपना, मालिकपना छूट गया था । इसी प्रकार शेर को निज स्वभाव की पकड़ आते ही 'पर' होते हुए, शरीर होते हुए, उसमे मैपना नही रहा । यह अन्तर क्रान्ति थी जो किसी क्रिया से घटित नही होती है परन्तु निज के जानने से घटित होती है ।

इस पर्याय की आयु पूरी करके वह शेर का जीव, और दो चार पर्याय धारण करके, अपनी साधना को बढाता हुआ, भगवान महावीर बनने की पात्रता को प्राप्त करने लगा और एक पर्याय पहले वह जीव उसी आत्म-ज्ञान के बल पर, निज 'पर' की पहचान करता हुआ अपनी एक अकेली आत्मा मे, अपनेपन का अनुभव करता है । वह सात प्रकार के भय से रहित हो जाता है क्योंकि चेतन आत्मा का तो मरण होता नही और जिसका मरण होता है, वह अपना है नही, इस लिए मरण का भय नही रहा । यहाँ भय करने, नही करने का, सवाल नही, भय रहा ही नही । जब मरण का भय नही रहा तो जन्म का भय भी नही रहा । पहले सुख-दुःख का कारण 'पर' को जानता

था तब पर की वांछा थी। जब जान लिया कि सुख तो 'स्व' में रमण करने से होता है. 'पर' से नहीं, तब वांछा का कोई प्रयोजन नहीं रहा। वस्तु स्वभाव जब उनके समझ में आ गया तो 'पर' से ग्लानि का भी कोई प्रयोजन रहा नहीं। पहले भगवान के प्रति मूढ बुद्धि थी, शासन के प्रति मूढ बुद्धि थी, गुरु के प्रति मूढ़ बुद्धि थी, तत्व के प्रति मूढ बुद्धि थी कि वह भला करने वाले हैं। जब मूढ़पना छूट कर, जैसा उनका स्वरूप था, वह समझ में आ गया तब सब जीवों के प्रति वात्सल्य भाव पैदा हो गया अब वह किसी का अहित नहीं चाहता। जो जीव धर्म से च्युत होता है, उसे सहारा देकर फिर धर्म में स्थापित करता है, अन्य के दोषो को नही देखता और जहाँ तक बने आत्मधर्म की बढवारी करना चाहता है। इस प्रकार दर्शन विशुद्धता को प्राप्त होता है। विनय गुण विकास को प्राप्त होता है, विनम्र भाव को प्राप्त होता है, कठोरता परिणामों से हट जाती है। जब 'पर' में अपनापना नहीं रहा तो पर का अहंकार भी नही रहा, धन-वैभव-शरीर और पुण्य के उदय का कोई मद नही रहा। जब मद नही रहा तो सहज स्वाभाविक विनम्रता प्रगट होती है। हम बड़ों की विनय करें, यह स्वाभाविक विनय गुण नहीं, यह तो कन्डीशनल बात है कि कोई ऐसा हो तो मैं विनय करूँ। परन्तु जो आत्मा का गुण होता है वहाँ बड़े-छोटे का, धर्मात्मा अधर्मात्मा का, सवाल नही रहता, वहाँ तो मात्र इतनी ही बात है कि कोई भी हो मैं तो अपने विनयपने में निरहंकारता में, निर्मदपने में हूं।

जब परिणामों में सरलता आई तो परिणाम शील के पालन करने की तरफ सहज झुके, शील की महिमा अंतर में आई, विषय भोगों की महिमा हटी। निरन्तर ज्ञान का अभय-सा रहता है, अन्तर में निज ज्ञान स्वभाव के सम्मुख होता है, बाहर में आगम शास्त्र अध्ययन के द्वारा अपने को बढ़ाने का उपाय करता है। फिर संसार शरीर भोगों से उदासीनता को प्राप्त होता है। भेद ज्ञान के बल पर समझ में आता कि जैसे कोई रेलगाड़ी में बैठा हो और उस सीट को, डब्बे को भी अपना कहता हो, दूसरे मुसाफिर बैठे हैं उनसे प्रेम से बात करता हो, साथ रहता हो, परन्तु किसी चीज में अपनापना नहीं। जब अपने उतरने का स्टेशन आता है तो कहता है कि फिर कभी मिलेंगे। स्त्री, पुत्रादि का सम्बन्ध ऐसा ही समझता है जैसे मुसाफिरखाने में ठहरे हुए मुसाफिर हों। जैसे रोग होने पर कोई दवाई लेनी पड़ती है, उसी प्रकार से भोगों का सेवन करना पड़ता है, इसलिए कर रहा है परन्तु अन्तर से हटना चाहता है। कषाय की बरजोरी से हट नहीं सकता। धन के प्रति आसक्ति का अभाव हो गया, इसलिए पात्र को देख कर यह चेष्टा करता है कि यह किसी के सत्कार्य में लग सके, इसलिए पात्रा दानादि में अति उत्साहवान होता है। अपनी शक्ति के अनुसार तप की भावना लाता है कि वह दिन कब आवे जब मैं एकाकी समस्त परिग्रह से हट कर अपनी आत्मा में ठहर कर, आत्म-स्वभाव का आनंद लूटूं। आत्मा के आनन्द में ऐसा भान होता है कि बाहर में खाने पीने की फिकर से रहित हो जाता है। इस प्रकार भगवान महावीर के जीव ने सहज शरीर को कष्ट दिए बिना अनेक प्रकार तप को धारण किया और निरन्तर यह भावना की कि मैं सहज समाधि को प्राप्त हो जाऊँ।

जो कोई साधक रोगी हो, कोई तकलीफ में हो, उसके प्रति यह भावना होती है कि किस प्रकार उसके रोगादि को मेटने में सहायक बनूं। अरहंतादि जो शिखर है, आत्म कल्याण की मंजिल हैं, उस मंजिल के प्रति अत्यन्त अनुराग को प्राप्त होता है। उन शास्त्र के प्रति जो आत्म-कल्याण में साधन है उनके प्रति विनय को, बहुमान को, प्राप्त होता है। कभी स्तोत्र पढता है. कभी ध्यान करता है, कभी भगवान की वंदना करता है, कभी पापों का प्रायश्चित करता है और निरन्तर धर्म की प्रभावना करता है। इस प्रकार की भावना भाता हुआ अन्तर निज आत्मा के रस में डुबकी लगता रहता है। इन भावों से वह अगले भव में भगवान महावीर बनने लायक पात्रता को प्राप्त होता है। भगवान महावीर होने के लिए पहले भव में इस प्रकार की स्थिति को प्राप्त होना जरूरी है। वही जीव भगवान महावीर के रूप में जन्म लेता है। उस व्यक्ति को बड़े-बड़े वैभव के धारी इन्द्रादिक देव चक्रवर्ती राजा महाराजा सेठों को देख कर संसार में अन्य दु.खी प्राणियों को देख कर, अत्यन्त करुणा पैदा होती है। जैसे किसी अत्यन्त

दुःखी को देख कर हमारे परिणामों में अत्यन्त दुःख व्याप्त होता है परन्तु उस आत्म-ज्ञानी को, जो लोग पुण्य के फल को भोग रहे है, संसारिक दृष्टि से सुखी है, ऐसे व्यक्तियों को देख कर वैसा दुःख व्याप्त हो जाता है। अहो! यह संसारी प्राणी 'पर' वस्तु मे, शरीरादि मे अपनापना मान कर किस प्रकार से तृष्णा की आग में झम्पापात ले रहा है, किस प्रकार से 'पर' पदार्थ को ग्रहण करने को हाप्टा मार रहा है। इसे यह भी नहीं मालूम है कि जिसको प्राप्त कर मैं सुखी होना चाहता हूं वह मृग-मरीचिका है। इन जीवों का दुःख कैसे दूर हो? जब इस प्रकार के अत्यन्त दुःखरूप परिणाम हुए, उस समय उस आत्मा में कुछ ऐसे ही कर्मों का सम्बन्ध हुआ जिससे वह अगले भव में लाखों जीवों के कल्याण का कारण बना, लाखों जीव उसके उपदेश से आत्म-कल्याण में लगे।

इस प्रकार वह अत्यन्त पुण्यात्मा जीव आज से २५०० साल पहले बिहार की वैशाली नगरी में राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला के गर्भ मे स्वर्ग से आता है। जब ऐसा पुण्यात्मा जीव गर्भ मे आता है तो सारे देश में, सब जीवों को, स्वतः निराकुलता प्राप्त होती है, दुर्भिक्ष दूर हो जाते हैं, जमीन धन-धान्य से पूरित हो जाती है, सारा देश सुखी हो जाता है, शत्रुओं का भय दूर हो जाता है। जब वह बालक उत्पन्न होता है तो उस पुण्यात्मा का दर्शन करने, राजा सिद्धार्थ को बधाई देने, राजा सिद्धार्थ के भाग्य की सराहना करने, देश-देश के राजा और ज्ञानीजन, यहां तक कि देवता गण भी, आते है। उनके जन्म का अति उत्सव करते हैं। परम आत्म-ज्ञानी देवताओं का राजा इन्द्र अपने अवधि ज्ञान के द्वारा जानता है कि यही बालक थोड़े ही काल में संयम का सम्राट बन कर, अपनी आत्मा की मलिनता तथा रूप राग-द्वेष मोह का नाश कर परम आनन्द को, परम ज्ञान को प्राप्त होकर परमात्म-पद को प्राप्त होगा जहां से फिर जन्म-मरण नहीं धारण होता। ऐसा जान कर वह अति तृषित नेत्रो के द्वारा, अनिमेष नेत्रो से, उस बालक को देखता है और देखता-देखता नही अघाता। वह ज्ञानी इन्द्र विचार करता है कि उस परम आत्मिक आनन्द का मैं प्यासा हूं, मुझमें ऐसा पुरुषार्थ नहीं कि इस आनन्द को प्राप्त कर सकूं। मैं विस्तृत वैभव से रहित हूं जो यह बालक प्राप्त करेगा। जैसे कोई गरीब पैसे वाले को देख कर, कोई पुत्रहीना पुत्रवती स्त्री को देख कर, कोई भूखा भोजन के थाल को देख कर, जैसा तृषित हो जाता है, वैसे ही देवराज इन्द्र उस आत्मज्ञानी को देख कर भाव विभोर होकर उसके चरणों में झुक गया और अपने जन्म को सफल मानने लगा।

स्वयं बुद्ध बालक बड़ा होने लगा। जैसे-जैसे उसकी उम्र बढ़ती थी वैसे-वैसे धन और वैभव भी बढ़ता जाता था। प्रजा सुखी थी। परन्तु बालक की दृष्टि तो अपने निज वैभव पर लगी हुई थी। वह घर में रहता हुआ भी घर में नही था, राज्य वैभव मे रहता हुआ सबसे उदासीन था। कभी निज स्वभाव का अवलोकन करता था, तब पाता था, मैं तो ज्ञान-दर्शन का पिण्ड, एक अकेला चैतन्य हूं, मेरा अपना तो कुछ नही, जो कुछ है, वह तो संयोगी है। कभी जब निज स्वभाव के अनुभव से हटता पाता तो पाता कि यह आत्मा विकार मे पड़ी है, पर-वश होकर यह आत्मा राग-द्वेषादि को प्राप्त हो रही है। ज्यादातर जो विशिष्ट पुरुष होते है उनके बचपन मे खास घटना नही होती। वे उस क्षण की प्रतीक्षा करते रहते है जब वे उसे देने में समर्थ हो जाते है जिसे देने को उनका जन्म हुआ है। इसलिए महावीर के बचपन का जीवन घटनाओं से शून्य है।

कोई पूछ सकता है कि महावीर का जन्म क्षत्रिय के घर क्यों हुआ और किसी गरीब के घर क्यों नहीं हुआ। इसका उत्तर है कि क्षत्रिय जीतने वाला होता है, विजेता होता है। इसलिए जीतने वाले के भीतर क्षत्रियत्व होना ही चाहिए और राजा के घर इसलिए हुआ कि जो इस संसार को नही जीते, वह उस संसार को क्या जीतेगा। पहले इस लोक को जीतेगा तब उस लोक को जीतने पर दृष्टि जाएगी।

महावीर ने विवाह किया कि नहीं, इस पर तत्व रूप से तो विचार करने की जरूरत ही नहीं है। भगवान महावीर जैसा व्यक्ति जो किसी जड़ पदार्थ पर भी प्रभुत्व स्थापित नही करना चाहते थे, वे शादी करके स्त्री पर प्रभुत्व क्यों स्थापित करते। ३९ वर्ष की अवस्था मे वह इतने आत्म-विभोर हो चुके थे कि अब उनके लिए घर में रहना

मुश्किल हो गया। घर और बाहर का भेद खत्म हो गया। उस समय उन्होने वस्तु-तत्व का विचार किया है कि हे आत्मा, ये ससार, शरीर भोग, स्त्री, धन, वैभव, राजपाट, मां-बाप, पैसा, सब संयोगी पदार्थ है। जिनका सयोग होता है उनका वियोग निश्चित है। यह शरीर आयु के अधीन है। आयु के अन्त में यह नही रह सकता। कोई बचाना चाहे तो बच नही सकता। मैं चैतन्य आत्मा, मेरा इनसे क्या वास्ता? यह मेरी चैतन्य जाति के नही, मैं इनकी जाति का नही। इनकी सत्ता, मेरी सत्ता, मेरा अस्तित्व, इनका अस्तित्व, भिन्न-भिन्न है। यह चाहे अनुकूल हो, चाहे विपरीत हों परन्तु मेरे अपने नहीं है। हे आत्मा। तू इनमें क्यों रुका हुआ है। आयु के अन्त मे इस शरीर को कोई रख नही सकता। इस जीव का पर्याय-अपेक्षा मरण निश्चित है। फिर वह मौका तुझे मिला है उस मौके मे तू अपना आत्म-हित कर ले अन्यथा आयु का अत हो जाएगा। यह मौका निकल जाएगा। यह शरीर तो पौद्गलिक है, माँ बाप के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ है, कर्म के अधीन तू उसमे रुका है। अब ऐसा पुरुषार्थ कर कि फिर ऐसे कर्म का सम्बन्ध ही न हो कि आत्मा को शरीर प्राप्त हो। यह घृणित है तब भी मेरा नही है, यह सुन्दर है, परम औदारिक है तब भी, हे आत्मा! तेरा नही। इन 'पर' पदार्थों के संयोग से तो तेरे स्वभाव का तिरस्कार हुआ है। इनके संयोग में तेरी महिमा नही। इनके संयोग से तेरी निंदा है। इनके संयोग के कारण तेरे अनेक नाम धरे गये, कोई राजा कहता है, कोई बेटा कहता है, कोई कुछ कहता है। कोई कुछ कहता है। यह नाम मेरे नहीं। मै तो चैतन्य हूं, मेरा अपना कुछ नही। हे आत्मा, अब तू पुरुषार्थ को प्राप्त हो। देख रणभेरी बज चुकी है, गुलामी को छोड़ कर विजेता बन। आत्मा का एकत्वपना भी सर्वलोक मे सुन्दर है। एक अकेली वस्तु अपने मे होती है 'पर' के संयोग से उसका एकत्वपना नष्ट हो जाता है। इसलिए 'पर'का संयोग असुन्दर है। हे आत्मा, तूने काम, भोग, बन्ध, का परिचय तो अनन्त बार किया, हर जन्म में किया, पुण्य की कथा भी सुनी, पुण्य कार्य भी किया, परन्तु यह मौका मिला है जब तू अपने आप से परिचय कर, 'पर' से हट कर अपने में ठहर जा, यही तेरा कर्तव्य है, यही तेरे करने योग्य है, यही धर्म है, यही कल्याण है।

आज तक तूने 'पर' मे, ससार शरीर भोगों में, अपनापना माना, जिससे अनन्त काल से तू जन्म मरण कर रहा है, कर्मों का आस्रव बंध हो रहा है और यह जीव मनुष्य-देव-नारकी-पशु, योनियों को धारण करके अनन्त दुःखों को भोग रहा है। कभी इस जन्म को धारण करता है, कभी अन्य जन्म को धारण करता है, कही सुख की प्राप्ति नही होती। अपनी अज्ञानता से आप कर्म बाँध रहा है और उसके फल को अज्ञानी हुआ आप ही भोग रहा है और दुःखी हो रहा है। जब यह शरीर आत्मा के भेद को जाने, अपने मे अपनत्व बुद्धि को प्राप्त हो, बाहर से हट कर भीतर मे आए, 'स्व' की महिमा आवे, तब कर्मों का आस्रव रुके और निज में रमणता को प्राप्त करे तो कर्मों का नाश कर पराधीनता को मेटे। हे आत्मा, तू पूर्ण स्वाधीनता को प्राप्त हो। यह समूचा संसार अनेक प्रकार के जीवों से भरा है। उनमे से अनन्तो जीव तो ऐसे है जिनको ऐसे पुरुषार्थ का मौका ही नही। तुझे आत्मत्व की जागृति हुई है। संसार मे सब कुछ जीव को प्राप्त हो सकता है परन्तु यह आत्म जागृति अत्यन्त दुर्लभ है। हे आत्मा, अब तू ऐसा पुरुषार्थ करे कि समस्त राग-द्वेष का नाश कर के पूर्ण ज्ञान और आनन्द को प्राप्त हो।

जब इस प्रकार की भावना भा रहे थे उस समय बड़े-बडे आगम ज्ञानियों, देवो ने आकर उनके विचारों की सराहना की और कहा, धन्य है आप जिन्होंने आत्म-कल्याण का विचार किया। उन भावों की सराहना करने से वे देव भी धन्य हो गए और भगवान महावीर तब परम साधना को प्राप्त करने के लिए साधु अवस्था को प्राप्त हुए।

बाहर से देखने वाले समझते थे कि महावीर ने राज छोड़ा, पाट छोड़ा, ऐस-आराम छोडा, परन्तु बात ऐसी नही थी। महावीर ने सबको छोड़ दिया, ऐसा नहीं। उन्होंने कुछ छोड़ा नहीं परन्तु वहाँ पर पकड़ने योग्य कुछ नही था। भगवान ने तो कंकड़-पत्थरों के अलावा कुछ भी नही छोड़ा। जब हम अपनी दृष्टि से देखते हैं तो हमें लगता है सारा सुख छोड़ दिया, हीरे जवाहरात छोड़े, राज-पाट छोड़ा और हमारे भीतर उनके उस छोड़ने की

महिमा आती है। क्योंकि जो छूट गया, वह हमारे लिए बहुत कुछ था। परन्तु महावीर के लिए वह कीमत रहित था, अर्थ रहित था, कंकड़-पत्थर से भी तुच्छ था। एक बच्चा कंकड़-पत्थर का सग्रह करता है और कोई उससे ले लेता है तो वह रोता है कि मेरा चला गया। उसके लिए वह कंकड़-पत्थर सब कुछ है। परन्तु जब वही समझता है कि जिनको मैंने पकड़ रखा है वह ककड़ पत्थर है तो सब छूट जाते है। वहाँ वह यह नही कहता कि मैंने कुछ त्याग किया है, न हम बच्चे के जीवन मे लिखते है कि उसने इतने ककड़ पत्थर छोड़े। जिस रोज हम जानेगे कि महावीर ने कंकड-पत्थर छोड़े, उस रोज हम कहेंगे कि उन्होंने कुछ त्याग किया। महावीर से पूछा जाता कि आप ने इतना त्याग किया तो शायद वह कहते, मैंने तो कुछ त्याग नहीं किया क्योकि त्यागी तो वह चीज जाती है जिसका कुछ मूल्य हो। आप रोज अपने घर के बाहर कचरा फेंकते है। अखबार मे नही छपता कि आपने कुछ त्यागा है। जो हमारे लिए धन-दौलत है, वह महावीर के लिए कचरा हो गया है। हमें वह कचरा नही दिखाई पड़ता। असल में जितना फर्क बच्चे व हमारी चेतना के तल मे है, उतना ही फर्क हमारी और भगवान महावीर की चेतना के तल मे है। यहाँ इस जगत मे हमे जो भी दिखाई पड़ता है महावीर के लिए उसका सारा मूल्य खो गया है, वह निर्मूल हो गई है। महावीर छोड़ते नहीं, चीजें छूट जाती है। जो व्यर्थ हो गई, उसे ढोना असम्भव है। महावीर छोड़ कर नहीं जाते, वे जाते है, चीजे छूट जाती है। महावीर दुःख उठाने नही जा रहे है, महावीर तो इतने आनन्द से भर गए है कि अब दु ख का कोई उपाय ही नही रहा। कोई पूछे क्या यह महलों में नही हो सकता था। परन्तु महल में महल के न होकर रहने का अपना आनन्द है। महल के बाहर वृक्ष के नीचे रहने का अपना आनन्द है। दोनो में कोई तुलना नही है।

महावीर ने जो कुछ प्राप्त किया वह इतना कीमती था कि उसके सामने जो छोड़ा, वह दो कौड़ी का था। महावीर की महत्ता तो उस उपलब्धि से है जो उन्होने प्राप्त की थी। वह चेतन आत्मस्वरूप, ज्ञातादृष्टापना, एक अकेले चैतन्य में जो ठहरना था, वह बड़ी भारी उपलब्धि थी। वह आत्मिक आनन्द था। उस आनन्द के सामने जो दो कौड़ी का था, वह छूट गया था। बाहर से देखने वाले को लगा, इतना त्याग करने से महावीर हो गए। परन्तु भगवान ने जो उपलब्ध किया, वह अन्तर में किया था। वह अन्तर-उपलब्धि होने पर, बाहर छूट गया। उस अन्तर उपलब्धि का ज्ञान बाहर से देखने वाले को नही हो सकता :

जब नया पत्ता आने के सम्मुख होता है तो बाहरी पत्ता गिर जाता है। बाहर से देखने वाला समझता है कि बाहरी पत्ता गिरने से नया पत्ता आया है परन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नही होती। इसी प्रकार जब अकुर उगने के सम्मुख होता है तो जमीन फट जाती है, परन्तु जमीन फाडने से अकुर नही निकलता। अज्ञानी समझता है जमीन फाडने से अकुर निकल जाएगा इसलिए उसका पुरुषार्थ बाहर मे होता है परन्तु भगवान महावीर का पुरुषार्थ अंतर मे था, अपने मे था।

महावीर ने अन्तरात्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए बाहरी पराधीनता को छोड दिया। बाहर मे किसी पदार्थ की अपेक्षा नही रखी, यहाँ तक कि बाल बनाने का उस्तरा भी कौन रखे। बाल बढ जाते है तो उनको उखाड़ देते है। कोई खाने के बर्तन का उपद्रव नही है, पहनने को कपड़े का झमेला नही है। महावीर नग्न हो गये है क्योंकि वह अन्तर से इतने सरल हो गए है, इतने निर्दोष हो गए है कि उन्हे नग्नता का बोध ही नहीं। कुछ लोग अपने को नग्न दिखाना चाहते है। यहाँ पर वह नग्नता नहीं थी। एक आदमी इसलिए नग्न हो जाता है कि उसके मन में जब नग्नता छिपाने का, ढाँकने का, देखने का कोई भाव नही रहा। बालक की तरह निर्दोष हो गया। दूसरा वह है जो दिखाना चाहता है कि लोग मुझे नग्न देखें। यह दोनो बाते एक जगह नही हो सकती है। दोनों को अलग-अलग समझने मे बड़ा अन्तर है और कठिन भी है। जो व्यक्ति सरलता की वजह से नग्न हुआ है, वह जीवन के और हिस्सो मे भी सरल होगा, सारे जीवन मे निर्दोष होगा। ऐसी नग्नता थी भगवान महावीर की।

भगवान महावीर शरीर को कष्ट नही देते। किसी दूसरे को भी कष्ट नही देते। जिसको दूसरे को

कष्ट देने में आता है, वही अपने को कष्ट देने में आनन्द समझता है। कष्ट देना, दुःख सहना, धर्म नहीं है, धर्म तो परम आनन्द को प्राप्त होना है। इसलिए जब भगवान महावीर परम आनन्द को प्राप्त होते हैं तो उन्हें शरीर की स्थिति का बोध नहीं रहता। लोक मे देखा जाता है कि जब कोई आनन्द में मग्न होता है तो भूख नहीं रहती। यही हाल भगवान महावीर का था और महीनों-महीनों महावीर ध्यान में खड़े रहते, उन्हें भूख का अनुभव ही नहीं रहता। यहां पर भी वही बात है। बाहर से देखने वाला समझता है कि भगवान महावीर की साधना शरीर को कष्ट देने की साधना है। परन्तु भगवान महावीर की साधना शरीर को कष्ट देने की नहीं, परंतु परम आनंद की साधना है। वे आनन्द में, आत्मिक आनंद में मग्न थे, अपने में मग्न थे। इससे 'पर' की फिक्र छूट गयी थी। आज उनकी नकल करने वाले शरीर को कष्ट देने की चेष्टा करते है परन्तु आत्मिक आनन्द को प्राप्त करने का पुरुषार्थ नहीं करते क्योंकि वे बाहर से देखते है।

जो ज्ञानी व्यक्ति होता है, जिसने यह निर्णय किया है, अनुभव किया है कि मैं एक अकेला चैतन्य हूं, वह बाहर में जो जो कुछ होता है, उसका मालिक नही बनता। उसके प्रति अत्यन्त उदासीन वृत्ति की प्राप्ति को जाता है। वह मैं नहीं हूं, उस ज्ञान सापेक्ष उस दूसरे पक्ष को चाहे कर्म कृत कह कर उससे अपना दायित्व छोड़े, चाहे केवल ज्ञान में झलका है वैसा हो रहा है, यह कहकर अपना दायित्व छोड़े, बात है उससे अपना दायित्व को छोड़ने की। यह वही छोड़ सकता है जो ज्ञान का मालिक बनता है जो अन्तर में ज्ञान का मालिक तो बना नहीं, बाहर में उत्तरदायित्व छोड़ देता है तो यह एकान्त पक्ष बन जाता है। दायित्व छोड़ना उसका सही है जिसने ज्ञान को पकड़ा। पर्याय का दयित्व छोड़ना उसका मिथ्या है जिसने अभी ज्ञान को नहीं पकड़ा। वह बचने के लिए, दायित्व से घबरा कर छोड़ रहा है। पहले वाले के पास दायित्व रहा ही नहीं। यही बात भगवान महावीर की थी। उन्होंने बाहर का, पर्याय का दायित्व छोड़ दिया। अब क्या होता है, इसकी चिन्ता नहीं। गर्मी पड़ती है कि सर्दी पड़ती है, आहार मिलता है कि नहीं मिलता, कोई गाली निकालता है कि सम्मान करता है, कोई राजा नमस्कार करता है कि गरीब करता है. क्योंकि यह कोई दायित्व अब उनका नहीं रहा। मैं अपने में हूं, बाहर से जो हो रहा है, वह हो। कोई उपसर्ग कर रहा है तब भी मैं अपने में हूं, कोई पूजा कर रहा है तब भी मैं अपने में हूं। कर्मों में बहता जा रहा हूं, अब तैरने की बात नही रही।

भीतर में भगवान महावीर अनन्त प्रेम से भर जाते है, बाहर में हिंसा का विलय हो जाता है, निज त्रिकाल सत्य स्वभाव को प्राप्त करते है तो बाहर में असत्य का विलय हो जाता है। भीतर निज वस्तु को ग्रहण करते है तो बाहर 'पर' वस्तु का ग्रहण नहीं रहता। अंतर में निज ब्रह्म की चर्या में लगते है तो बाहर में अब्रह्म विसर्जित हो जाता है। अन्तर में निज स्वभाव की निष्ठा को प्राप्त होते है तो परनिष्ठा विर्सजित हो जाती है। अनन्त नाद को सुन रहे है इसलिए बाहर मे कुछ सुनने का नहीं रहा। अनन्तरस का पान करा रहे है इसलिए बाहरी स्पर्श की जरूरत नही रही। निज वैभव का अवलोकन करा रहे है इसलिए बाहर मे कुछ देखने को नहीं रहा। निज गंध के सामने 'पर' गंध नहीं रही। इस प्रकार कषाय और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करते है। सहज व्रतों का पालन होता है। वीतराग भाव उत्पन्न हुआ है इसलिए बाहर मे मन, वचन, कार्य की चेष्टा से रहित हो गये हैं। ऐसी गुप्ति का पालन करते है। इसी प्रकार वीतराग भाव के होने से सहज समितियों का पालन हो रहा है। वह भगवान महावीर मात्र वर्तमान में है, न भूतकाल का विचार है, न भविष्य की चिन्ता है। इस प्रकार कितने साल ध्यान, तपादि करते हुए, अनेक जगह विहार करके, बारह वर्ष के बाद अपने निज स्वभाव की साधना से, दर्शन-ज्ञान चारित्र की एकता को प्राप्त होकर, शुक्ल ध्यान को प्राप्त होते हैं और रागादि दोषों का सर्वथा अभाव करके, ज्ञान और आनन्द की पूर्णता को प्राप्त होते हैं।

उस ज्ञान रूपी दीपक से लोक-अलोक प्रकाशित होता है। वहां ज्ञान के प्याले को ज्ञान रूपी जल का पान कराया जाता है और देव-दानव, मनुष्य, पशु तक सभी

उस ज्ञान दीप से आलोकित होते है। जो भावना पूर्व जन्म में आई थी कि मैं संसार के प्राणी 'पर' में सुख मान कर 'पर' में अपनापन मान कर विषय-भोगों में लग कर, अपनी आत्मा का अकल्याण कर रहे है, उनका भला कैसे हो, उस भावना की साकारता होती है। आत्म तत्व के उपदेश द्वारा अनन्त जीवों का हित होता है। जीव अपनी गलती समझ कर निज आनन्द को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करते हैं। अनन्तानन्त काल से जिस 'पर' को अपना समझ कर पकड़ रखा था और आकुलता को प्राप्त हो रहे थे, अब जब समझ में आया कि जिसको पकड़ रखा है वह तो 'पर' है उसमें मेरा अपना कुछ नहीं, मैंने इतना लम्बा काल इस 'पर' के पीछे यों ही गवाया, तब यह अत्यन्त खेद को प्राप्त होते हैं। आज भी भगवान महावीर के उस आत्मतत्व को पढ़ कर, उनके जीवन को समझ कर, समय-समय में जीव अपना कल्याण कर रहें हैं, और करते रहेंगे।

कार्तिक कृष्ण अमावस्या के रोज सवेरे उस महान आत्मा से आयु के अंत में पावापुर स्थान से इस नश्वर शरीर का सम्बन्ध छूट जाता है और वह आत्मा यहां से सात राजू ऊपर, जहाँ लोक का शिखर है, वहाँ 'पर' से सर्व प्रकार से रहित होकर, अपने अनन्त ज्ञान-दर्शन आनंद वीर्य की परिपूर्णता को लिए अनन्त-अनन्त काल तक अपने निज स्वरूप में लीन रहेगी। सर्व कर्मों का अभाव होने से फिर संसार में आकर न जन्म का सवाल है, न मरण का, जहाँ आनन्द ही आनन्द है।

महावीर से भगवान महावीर बन कर, मानव से महामानव बन कर, आत्मा से परमात्मा बन कर, उनके द्वारा जो आत्म-कल्याण का मार्ग दिखया गया वह आज भी उपलब्ध है और उसी मार्ग का अवलम्बन लेकर आज भी यह व्यक्ति अपने आपको परमात्मा बनने का, अनन्त-आनन्दमयी बनाने का, पुरुषार्थ कर सकता है। हरेक प्राणी अपने सच्चे पुरुषार्थ के द्वारा क्रम से अपनी आत्मा को शुद्ध बना कर मुझ जैसा परमात्मा बन सकता है यह भगवान महावीर की ससार के प्राणी मात्र के लिए महान स्वतन्त्रता की घोषणा है। चुनाव तेरा है, चाहे संसार का कर ले चाहे मोक्ष का। पुरुषार्थ तेरा है।

☐☐

सन्मति विहार,
२११०, दरियागंज,
दिल्ली—६;

उदभावनाएं

प्रायश्चित् तभी अर्थपूर्ण होगा कि जब तत्संबंधी दोष के लिए वास्तविक खेद हो और भविष्य में उससे बचने की सावधानी की प्रतिज्ञा हो। यह नहीं कि दोष लगने दो, फिर प्रायश्चित् करके उससे निवृत्त हो जायेंगे अथवा जान-बूझ कर दोष मे प्रवृत्त हुए और फिर प्रायश्चित् करके समझ लिया कि उसके फल से मुक्त हो गए।

× × × × ×

विज्ञान कहता है कि आत्महत्या बिना पागलपन के नहीं हो सकती। अध्यात्म कहता है कि आत्महत्या अतितीव्र कषाय की दशा में होती है। अतः कषाय–पागलपन इस प्रकार जितने अंश में कषाय रहेगा, पागलपन (बेहोशी) उतने अंश में रहेगी, स्वभाव का उतना हो पात रहेगा।

× × × × ×

लगता है जीवन में तो थकान का स्थल आ गया है। परन्तु अनादिकाल के भ्रमण से थकान कब महसूस होगी ?

—श्री महेन्द्रसेन जैन

हरिवंशपुराण में शरीर-लक्षण : एक अध्ययन

□ श्री राजमल जैन, नई दिल्ली

आचार्य जिनसेन ने अपने हरिवंश पुराण मे कुछ विस्तार से हस्तरेखा विज्ञान का वर्णन प्रसंगवश किया है। (यहाँ हस्तरेखा मे शरीर-लक्षणो का भी समावेश अभीष्ट है।) सन् ७८३ ई० मे समाप्त इस रचना मे इन लक्षणो का वर्णन, अध्ययन एवं कौतुक का विषय है। प्रस्तुत लेख में जिनसेन द्वारा वर्णित रेखाओं आदि की तुलना प्रसिद्ध पाश्चात्य हस्तरेखा विशेषज्ञ कीरो (cheiro) की पुस्तक 'पामिस्ट्री फोर आल' तथा बोनहम की 'लाज आफ साइंटिफिक हैड रीडिंग' से पंडित गोपी कुमार ओझा की एक अन्य पुस्तक 'हस्तरेखा का विज्ञान' से उद्धरण देकर की जाएगी। प० ओझा ने अपनी उक्त कृति मे भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों ही सिद्धान्तो को सम्मिलित किया है। अतः सार रूप मे अन्य भारतीय एव पाश्चात्य हस्तरेखा विशेषज्ञों का मत भी यथासम्भव समाविष्ट किया जा सकेगा। भारतीय ज्ञानपीठ से एक जैन कृति 'करलक्खण' प्रकाशित हुई है, किन्तु उसके कर्ता और काल का ज्ञान नहीं है। उसका भी प्रयोग तुलना के लिए किया जाएगा। इस प्रकार यह तुलना सीमित ही रहेगी। लेखक यह भी स्पष्ट कर देना चाहता है कि वह हस्तरेखा का पण्डित नहीं है। उसने केवल शौक के बतौर हस्तरेखा पर भी कुछ पढ़ा है, और इस प्राचीन सामग्री पर निगाह पड़ने पर उसने उसे यहाँ देने की धृष्टता की है। हरिवंश पुराण संस्कृत मे है। यहाँ पंडित पन्नालाल जैन साहित्याचार्य द्वारा किए गए हिन्दी अनुवाद का प्रयोग किया गया है। आधुनिक युग में राजा तो रहे नही, इसलिए अब राजा से महापुरुष या प्रसिद्ध पुरुष का अर्थ ग्रहण करना उचित होगा।

हरिवंश पुराण के तेईसवें सर्ग में हस्तरेखा सम्बन्धी प्रसंग इस प्रकार है—"चारणयुग्म नगर के राजा अयोधन तथा रानी दिति की सुलसा नामक एक सुन्दर कन्या थी। उसकी माता दिति ने स्वयंवर से पहले उससे यह कहा कि वह उसके बड़े भाई तृणबिन्दु के पुत्र मधुपिगल का वरण करे। यह बात राजा सगर की प्रतिहारी मन्दोदरी ने सुन ली, और राजा सगर को सब कुछ बता दिया। राजा-सगर सुलसा से व्याह करना चाहता था, इसलिए उसने एक पुरोहित से सामुद्रिक-शास्त्र के सिद्धान्त लिखवाए और उन्हे एक लोहे के संदूक मे बन्द करवा कर स्वयवर-भूमि मे गड़वा दिया। और जब स्वयवर का दिन आया तब वह शास्त्र उसने सब राजाओ के सामने पढ़वाया। उसे सुन मधुपिगल ने सोचा कि उसकी आँखो मे दोष है। इसलिए सुलसा उसका वरण नही करेगी। अतः वह स्वयंवर मडप से ही उठ कर चला गया। इस प्रकार सुलसा का विवाह राजा सगर से हुआ। बाद मे जब मधुपिगल को यह ज्ञात हुआ कि उसमे दोष नही है, और उसे व्यर्थ में ही दोषयुक्त घोषित किया गया था, तो उसने प्रतिशोध लिया, इत्यादि।

पैर :—(जि०) राजा के पैर मछली, शंख तथा अंकुश आदि चिह्नों से युक्त होते हैं, कमल के भीतरी भाग के समान उनका मध्य भाग होता है। एड़ियों की उत्तम शोभा से सहित होते है, उनकी अगुलियों के पौर एक दूसरे से सटे रहते है, उनके नख चिकने एवं लाल होते हैं, उनकी गाठे छिपी रहती हैं, वे नसों से रहित होते है, कुछ-कुछ उष्ण होते है, कछुए के समान उठे होते है और पसीने से मुक्त होते है। इसके विपरीत पापी मनुष्य के पैर सूप के आकार के, फैले हुए, नसों से व्याप्त, टेढ़े, रूखे नखों से युक्त, सूखे एवं विरल, अगुलियों वाले होते है। जो पैर छिद्र रहित एवं कषैले रग के होते है वे वश का नाश करने वाले होते है। (सच्छिद्रौ सकषायौ च वंशच्छेदकरौ तु तौ)। हिंसक मनुष्य (हिंस्रस्य) के पैर जली हुई मिट्टी के समान और क्रोधी मनुष्य के पैर पीले रंग के

जानना चाहिए।

श्री ओझा ने प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के उद्धरण देते हुए लिखा है "जिनके पैर में शख, छेत्र, वज्र, तलवार, ध्वजा, कमल, धनुष, बाण, शक्ति, सर्प, व्यजन, चामर आदि चिह्न हैं, वे भाग्यशाली होते है। बराह मिहर का मत है कि राजा के पैर कछुए की तरह उन्नत होते है। भाग्यवानों के पैरों की उँगलियां मिली हुई होती हैं तथा नाखून लाल होते हैं। इसी प्रकार सफेद और रूखे नाखून जीवन में कष्ट भोगने वालों की सूचना देते हैं। जिनके पैर कषाय वर्ण के हों, उनका वंश आगे नहीं चलता और जली हुई मिट्टी की तरह जिनके पैर का रंग हो, वे पापी और हिंसक होते हैं। पैरों में नसों का दिखाई देना भी "अच्छा लक्षण नहीं।"

'कर लक्खण' का प्रमुख उद्देश्य व्रत लेने के इच्छुक व्यक्तियों को केवल तब ही व्रत देना उचित बनाना है जब कि हाथ की रेखाओं आदि को देख कर उसकी पात्रता या अपात्रता का निर्णय कर लिया गया हो। इसलिए उसके 'पैरों में शंख आदि चिह्नों का फल नही कहा गया है। (जब कि हाथ में इन चिह्नों का फल बताया गया है।) सम्भवतः ये लक्षण यतियों को बताए जाते थे। इस ग्रन्थ में लिखा है—

इय कर लक्खणमेयं समासओ छंसिज्ञं जइजणस्स।
पुव्वायरिएहिं णरं परिक्खिउणं वयं दिज्जा॥

(इस प्रकार पूर्वाचार्यों ने यतियों के कर लक्षण, संक्षेप में बताए हैं। इनके द्वारा मनुष्य की परीक्षा करके व्रत देना चाहिए।

कीरो और बेनहम ने भी अपनी उक्त पुस्तकों में पैरों के उक्त लक्षणों का कोई उल्लेख नहीं किया है।

घुटने और पिंडलियां—जिनसेन का मत है कि जिन मनुष्यों की पिंडलियों में थोड़े बाल होते हैं और यदि वे गोल-गोल हों तो वे मनुष्य भाग्यशाली होते हैं और दुबली-पतली पिंडलियों या जांघें अशुभ होती हैं। इसी प्रकार आचार्य ने स्थूल घुटने वाले को धनी, ऊँचे उठे वाले को भोगी, गहरे वाले को निर्धन एवं विषम वाले को विषम ही कहा है।

सामुद्र तिलक के अनुसार ओझा जी ने लिखा है कि हाथी के समान घुटने वाला भोगी होता है और मोटे घुटनो वाला पृथ्वी का स्वामी होता है। घुटनों पर असमान मांस जिसके हो, वह कभी धनी नहीं होता।

रोम और केश :—आचार्य के मतानुसार राजाओं के एक रोम-कूप में एक रोम होता है। यदि दो या तीन हों तो मनुष्य निर्धन या मूर्ख होता है। यही बात केश पर भी लागू होती है।

समुद्र ऋषि के मतानुसार एक रोम-कूप में से एक ही रोम या केश का निकलना बहुत शुभ है। दो निकलें तो व्यक्ति बुद्धिमान होगा। मगर तीन निकले तो दरिद्री एवं दुखी।

अण्डकोष, नितम्ब आदि :—जिनसेन का मत है कि यदि किसी बालक का शिश्न छोटा, दाहिनी ओर स्थूल तथा ग्रन्थियुक्त हो तो वह शुभ होता है। इससे विपरीत अशुभ होता है। छोटे अंडकोष वाले शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं, किन्तु विषम अंडकोष वाले स्त्रियों को वश में करते हैं। जो राजा होता है, उसके अण्डकोष सम होते है और नीचे की ओर लटकते रहते हैं, वे दीर्घजीवी होते हैं। इसी प्रकार जिसका मूत्र सशब्द निकलता है, वे सुखी होते हैं और इसके विपरीत वाले दु.खी। जिनके मूत्र की पहली और दूसरी धारा दाहिनी ओर पड़ती है, वे लक्ष्मी के स्वामी होते हैं: तथा इससे उलटी धारा वाले निर्धन होते हैं। पुष्ट नितम्ब वाला व्यक्ति सुखी होता है, स्थूल वाला दरिद्र और ऊँचा उठे नितम्ब वाला व्याघ्र से मारा जाता है।

कमर और पेट :—सिंह के समान पतली कमर वाला व्यक्ति राजा होता है, जब कि ऊँट या बन्दर के समान कमर वाला धनी। जिसका पेट न छोटा, न बड़ा हो, वह सुखी और घड़े के समान पेट वाला दुःखी होता है। सांप की तरह लम्बे पेट वाला दरिद्र एवं बहुत भोजन करने वाला होता है।

श्री ओझा ने बृहत्संहिता के आधार पर शेर की सी कमर वाले को उच्चाधिकारी तथा बन्दर या हाथी के बच्चे के समान जिसकी कमर हो, उसे धनहीन बताया है। इसी प्रकार उन्होंने समुद्र ऋषि के अनुसार बन्दर, हाथी

या सियार आदि की तरह कमर वाले को निर्धन बताया है।

भविष्य-पुराण के अनुसार श्री ओझा ने सम उदर वाले को धन-ऐश्वर्य-सम्पन्न बताया है. और घड़े की तरह पेट वाले को दरिद्र। पेट आगे नही निकला होना शुभ लक्षण माना गया है। 'सामुद्र तिलक' आदि ग्रन्थो मे मेढक हिरन आदि जानवरों के पेट से पेट की तुलना कर शुभाशुभ फल कहा गया है। सामुद्र तिलक मे साप की तरह पेट वाले को जोकर होना बताया गया है।

पसलियाँ और कुक्षि :—आचार्य का कथन है कि जिनकी पसलियाँ भरी होती है, वे सुखी होते है, ऊँची-नीची, टेढ़ी पसलियों वाले भोग रहित बताए गये है। सम कुक्षि वाले भोगी, असम वाले भोग रहित, विषम वाले निर्धन और उठी हुई कुक्षि वाले निर्धन होते हैं।

भविष्य पुराण का संदर्भ देते हुए श्री ओझा ने लिखा है कि सम कुक्षि वाले भोगी होते है, किन्तु नीची कुक्षि वाले धनहीन। हाथी जैसी कुक्षि जिनकी होती है, वे कपटी या मायावी कहे गये हैं।

नाभि और वलि :—चौड़ी, ऊँची और गहरी गोल नाभि को आचार्य जिनसेन ने सुखी मनुष्य का लक्षण बताया है। जिसकी नाभि छोटी दिखाई देने वाली हो, वह दुःखी होता है। कमल कर्णिका जैसी नाभि मनुष्य को राजा बनाती है, विस्तृत नाभि दीर्घायु और धनवान होने की सूचना देती है। इसी प्रकार जिसके एक वलि होती है, वह शास्त्रार्थी होता है, दो वलि से युक्त व्यक्ति स्त्री-प्रेमी, तीन वाला आचार्य और चार वाला अधिक सन्तान वाला तथा जिसके एक भी वलि नही हो, वह राजा होता है। स्वदार-संतोषी व्यक्ति की वलि सीधी होती है, जब कि अगम्यगामी एवं पापी लोगों की विषम।

भविष्य पुराण सीधी वलि वाले को सदाचारी और ऊँची-नीची या टेढ़ी वलि से युक्त व्यक्ति को व्यभिचारी घोषित करता है। एक भी वलि का न होना उत्तम, एक से विद्वान, दो से भोगी, तीन से अनेक शास्त्रों का विद्वान् और चार के कारण बहुत पुत्रवान् होता है।

हरिवंश पुराण के अनुसार जिन मनुष्यों के स्तनों के अग्रभाग छोटे और स्थूल होते है, वे उत्तम, भाग्यशाली होते हैं। जिनके दीर्घ या विषम होते है, वे निर्धन।

हृदय एवं वक्ष—उक्त आचार्य का मत है कि राजाओं का हृदय पुष्ट, चौडा, ऊचा और कंपन से रहित होता है। पुण्यहीनों का, तीक्ष्ण रोगो से व्याप्त रहता है। सम वक्षस्थल वाले संपत्ति-शाली, स्थूल वाले शूर-वीर किन्तु निर्धन, और कृश तथा विषम वाले निर्धन एवं शस्त्र से मारे जाने वाले होते है।

श्री ओझा के अनुसार चौड़ा, स्थिर, उन्मत्त और कठिन वक्षस्थल शुभ लक्षण है। पतले वक्ष वाला व्यक्ति निर्धन होता है, तथा पुष्ट वाला बहादुर। इसी प्रकार समतल वाला धनी कहा गया है।

बगल, गरदन, पीठ, स्कन्ध :—जिनसेन के अनुसार धनी मनुष्यों की बगल पसीने से रहित, पुष्ट और समान रोमों से युक्त होती है। निर्धन की गरदन नसों से युक्त, चपटी होती है, जब कि शंख जैसी गरदन वाला राजा होता है और भैंस जैसी गरदन से युक्त व्यक्ति शूरवीर। जो पीठ रोम से रहित और सीधी हो, वह शुभ होती है। झुकी हुई और रोमों से भरी पीठ अशुभ कही गई है। निर्धन के कन्धे छोटे, अपुष्ट एव रोमो से व्याप्त होते है, जब कि पराक्रमी और धनवान के कन्धे सटे हुए एवं पुष्ट होते है।

श्री ओझा के अनुसार भविष्य पुराण में भी पुष्ट, बिना पसीने की बगल राजा की होती है, ऐसा कहा गया है। गरुड़ पुराण के अनुसार पीपल के पत्ते के आकार की सुगन्धयुक्त, मृदु रोमों से युक्त बगल राजा की होती है। विषम होने पर व्यक्ति बेईमान, लोभी होने पर निर्धन इत्यादि होता है।

गरदन के जो लक्षण आचार्य जिनसेन ने कहे है, वे भविष्य पुराण में भी आये हैं। केवल मृग के समान गरदन वाले व्यक्ति को डरपोक कहा गया है।

भविष्य पुराण और सामुद्रिक शास्त्र में पीठ के लिए व्याघ्र, सिंह, कछुए आदि से समानता कर शुभाशुभ लक्षण कहे गए है। पीठ पर रोयें न होना धनी व्यक्ति का चिह्न बताया गया है, जब कि पीठ पर रोयें वाले को निर्धन कहा गया है।

इसी प्रकार हाथी, बैल या सुअर की तरह ऊंचे कन्धे वाले को महाभोगी, महाधनी या उच्च पदाधिकारी बताया गया है। रोमो का होना भी निर्धनता की निशानी कहा गया है। इनकी तुलना के लिए भी पशुओं से साम्यता का सहारा लिया गया है।

दाढ़ी, दाँत, ओंठ आदि :—जिनसेनाचार्य के मतानुसार जिनकी दाढ़ी पतली और लम्बी होती है, वे निर्धन और जिनकी पुष्ट होती है, वे धनी होते हैं। बिम्बफल के समान लाल ओंठ मनुष्य को राजा बनाते हैं। वे कटे-फटे न हो और सीधे भी हो। सम और स्निग्ध दाढ तथा सफेद एवं सघन दांत, लम्बी और कोमल जीभ वाले भोगी होते है। कानो पर रोम वाले दीर्घायु, सीधी और समान, छोटे छिद्रों वाली नाक वाले भोगी होते हैं। जिसे एक छीक आए, वह धनी, दो-तीन वाला विद्वान, लगातार छीक वाले दीर्घायु होते है। गजेन्द्र एवं बैल की आंखे राजा के लक्षण है; जब कि अतिम भाग मे लाल आँखे धनिकों की होती है, किन्तु पीली आँखों वाले अमागलिक एवं पापी होते है। उनसे न मित्रता करनी चाहिए और न ही उनकी ओर देखना चाहिए। बिल्ली के समान जिनकी आँखें होती है, वे मन, वचन, कर्म से पाप-पूर्ण होते है एव अभागे और निर्दयी होते है।

श्री ओझा ने सामुद्र तिलक नामक ग्रन्थ का संदर्भ देकर लिखा है कि दाढ़ी-मूछ के केश सघन, सूक्ष्म और मृदु हों तो यह उत्तम लक्षण है। उनके अनुसार गरुड़-पुराण भी लाल और चिकने ओठ वाले व्यक्ति को राजा बनाता है और फटे ओंठ वाले को निर्धन। वराह मिहिर राजा के लक्षणो में पतले और सीधे ओठ भी शामिल करते है। भविष्य पुराण हाथी या गधे के समान चिकने दांत वाले को धनी और गुणी मानता है। इसी प्रकार ३२ दांतों का होना उत्तम लक्षण है। समुद्र ऋषि ऊँचे दांत वाले को बलवान और भोगी मानते है।

लाल, चिकनी और दीर्घ जीभ वाले को भविष्य-पुराण मे ऊँची पदवी प्राप्त करने वाला कहा गया है। श्री ओझा ने बृहत्संहिता का यह मत उद्धृत किया है कि जिनके कानों में रोम हों, वे दीर्घायु होते हैं, किन्तु भविष्य-पुराण बड़े कान वालों को दीर्घायु तथा लम्बे कान वालो को तपस्वी मानता है। बृहत्संहिता के ही अनुसार नाक के छिद्रो का छोटा होना शुभ लक्षण है; किन्तु समुद्र-तिलक की यह मान्यता है कि यदि नाक बहुत बड़ी या बहुत छोटी हो और आगे से दो भागो मे विभक्त हो तो व्यक्ति निर्धन होता है। इसी प्रकार एक बार छीकने वाले को धनी, दो-तीन बार छीकने वाला दीर्घायु तथा जो चार बार छीके, उसके भोग का नाश होता है। अधिक बार छींकना अशुभ है। गर्ग ऋषि ने नेत्र के ललाई लिए हुए किनारे को शुभ बताया है। गरुड़ पुराण हाथी जैसे नेत्र वाले को सेना नायक बनाता है। महाभारत में पिंगल (बिल्ली जैसे) नेत्र वाले को अशुभ बताया गया है। इस प्रकार के नेत्र दुर्योधन के बताये गये थे। भविष्य पुराण ने बिल्ली के समान नेत्र वाले को हिंसक माना है। गर्ग-ऋषि ने यह मत व्यक्त किया है कि आँखों के लक्षणों को प्रधानता दी जानी चाहिए। अन्य सौ लक्षण एक तरफ और आख सम्बन्धी लक्षण एक तरफ रखना चाहिये। विभिन्न आचार्यों ने नेत्र के लक्षणों मे विभिन्न जीव-जन्तुओं की आँखो से मनुष्य की आँखो के लक्षणो की तुलना की है। (इन पशुओं मे गाय, खरगोश, सर्प आदि प्रमुख हैं। यहां केवल जिनसेन के मत मे समानता वाले लक्षणो पर ही विचार किया गया है।)

मुख लक्षण :—जिनसेनाचार्य का मत है कि जिनका मुख भरा हुआ, सौम्य, सम और कुटिलता रहित होता है, वे राजा होते है। बड़े मुख वाले अभागे और गोल मुह वाले मूर्ख होते है। स्त्री के समान मुख वाले सम्मानहीन, छोटे मुख वाले कंजूस तथा लम्बे मुह वाले निर्धन होते है।

मुख सम्बन्धी उक्त लक्षण (राजा से सम्बन्धित) भविष्य पुराण के लक्षणो से मिलते है। किन्तु स्त्री जैसे मुख वाले के लिये यह कहा गया है कि उसका पुत्र नहीं होता। इसी प्रकार बड़े मुँह वालों को भय उत्पन्न करने वाला एवं पापी कहा गया है, और छोटे चेहरे वालों को अल्पायु या धन-नाश से दुःखी होने वाला बताया है। समुद्र ऋषि छोटे चेहरे वाले को कजूस कहते है। भविष्य पुराण ने गोलाई वाले मुँह के व्यक्ति को धार्मिक घोषित किया है। गर्ग ऋषि ने चेहरे को सबसे अधिक महत्व

दिया है और लिखा है कि "मुख ही वास्तव में मनुष्य है।"

जिनसेनाचार्य ने लिखा है कि फल-प्रतिपादन के लिये मनुष्य के मान, उन्मान (शरीर की ऊंचाई), स्वर, देह, गति, वंश, उत्तम वर्ण और प्रकृति पर अवश्य विचार करना चाहिए। अन्य ग्रन्थों में भी शरीर की ऊंचाई, चाल और हसित आदि पर विचार किया गया है।

हाथ—हाथों की बनावट के अनुसार भी हस्तरेखा विशारद फल-प्रतिपादन करते हैं। जिनसेनाचार्य के अनुसार "राजाओं के हाथ स्थूल, सम, लम्बे और हाथी की सूंड के समान होते हैं। परन्तु निर्धन मनुष्यों के हाथ छोटे और रोमों से युक्त रहते है। दीर्घायु मनुष्यों की अंगुलियां लम्बी तथा अत्यन्त कोमल होती हैं। निर्धन मनुष्यों की बलरहित और बुद्धिमान मनुष्यों की छोटी-छोटी होती हैं। निर्धन मनुष्यों के हाथ स्थूल रहते है, सेवकों के हाथ चिपटे होते हैं वानरों के समान हाथ वाले मनुष्य धनाढ्य होते हैं और व्याघ्र के समान हाथ वाले मनुष्य शूरवीर होते है।"

'करलक्षण' के अनुसार जिस व्यक्ति की अंगुलियों के पर्व मांसल हों, वह धनवान और सदा सुखी होता है। इसके विपरीत अंगुलियों वाला दरिद्री होता है।

हस्तरेखा विशेषज्ञों ने हाथों को वर्गाकार (सर्वप्रथम कोटि का) फैला हुआ हाथ (क्रियाशील व्यक्तित्व) नुकीला हाथ (कलाकार), लंबा, पतला हाथ (शांतिप्रिय) तथा मोटी त्वचा छोटी अंगुलियों वाला हाथ (सबसे निकृष्ट हाथ) आदि सात वर्गों मे हाथ को बांटा है।

कीरो (Chiero) का दावा है, "The difference in the shape of the hands of the French and German or the French and English races would convince any thinking person that temperament and disposition are indeed largely indicated by the shape of the hand itself."

बेन्हम का मत है, "This quality of texture will aid you in estimating character, for it is a postening influence on all the coarser qualities seen in any subjeet." Texture is the key to a knowledge of your client's natural refinement."

श्री ओझा ने भविष्यपुराण का यह मत उद्धृत किया है कि छीदी अंगुलियों वाले दरिद्री होते है तथा सघन अगुलियों वाले संपन्न।

कलापूर्ण हथेली और नख—जिनसेनाचार्य के मतानुसार जिनकी कलाई अत्यन्त गूढ़ एवं सुश्लिष्ट संधियों से युक्त होती है, वे राजा होते हैं किन्तु ढीली और सशब्द कलाई वाले दरिद्री होते है। गहरी तथा भीतर को दबी हथेली वाले नपुसक तथा पिता के धन से रहित तथा गहरी व भरी हथेली वाले धनी होते हैं। धनी लोगों की हथेली लाख के समान लाल होती है। इसके विपरीत पीली हथेली वाले अगम्यगामी और रूक्ष हथेली से युक्त व्यक्ति सौन्दर्यरहित होता है। उठी हुई हथेली वाला दानी होता है। जिसके नाखून तुष के समान हो, वे नपुसक, फटे नाखून वाला निर्धन, लाल नाखून वाले सेनापति और भद्दे नाखून वाले व्यर्थ का तर्क-वितर्क करते हैं। इसी प्रकार कलाई से लेकर हाथ तक तीन रेखाओं वाले राजा होते हैं।

'करलक्खण' मे भी लिखा है कि—

तिण्ण रिरिक्ता पयडा जवमाला होइ जस्स मणिबंधो।
सो होइ धणाहुण्णो खत्तिय पुण पत्थिवो होइ॥

(जिसके मणिबंध में यवमाला की तीन धाराएं हों, वह धन से परिपूर्ण होता है और यदि वह क्षत्रिय हो तो राजा बनता है।)

श्री ओझा ने 'विवेकविलास' का संदर्भ देते हुए लिखा है कि जिसकी हथेली का मध्य भाग नीचा होता है, वह धनी होता है और ऊंचा-नीचा होने से निर्धन होता है।

मणिबंध की तीन रेखाओं के विषय में श्री ओझा ने सामुद्रतिलक का यह मत व्यक्त किया है कि जिसकी तीन अखंडित रेखाएं हों, वह धन, सुवर्ण एवं रत्न का स्वामी होता है।

कीरो ने लबे, छोटे तथा चपटे नाखूनों के अनुसार क्रमशः फेफड़ों और छाती, हृदय की बीमारी तथा लकवे की संभावना बताई है। नीले नाखूनों को कीरो ने बढ़ी हुई बीमारी की अवस्था बताया है।

[शेष पृ० १०३ पर]

शिल्पकला एवं प्रकृति-वैभव का प्रतीक : अमरसागर (जैसलमेर)

☐ श्री भूरचन्द जैन, बाड़मेर

राजस्थान के पश्चिमी सीमान्त-क्षेत्र में स्थित जैसलमेर जिला रेगिस्तान के ऊँचे ऊँचे टीबों के लिए ख्याति प्राप्त किये हुए है। प्राकृतिक विपदाओं से पीड़ित रहने वाला यह जिला शिल्पकला के लिए जगत्-विख्यात है। जैसलमेर का दुर्ग, दुर्ग पर स्थित जैन मन्दिर, पटवों की हवेलियाँ, सेठ नथमल की हवेली, जवाहर-विलास, बादल-विलास, लक्ष्मीनाथ का मन्दिर, माताजी का दर्शनीय स्थल, सालमसिंह की हवेली शिल्पकलाकृतियों के लिए आज भी प्राचीन शिल्पकला की रुचि का परिचायक बनी हुई है। वैसे सम्पूर्ण जैसलमेर में शिल्पकला के रूप में बने जाली और झरोखों की प्रत्येक घर के अग्रिम भाग में भरमार है। पीले पाषाणों पर बने जाली और झरोखों की सुन्दरता न केवल जैसलमेर नगर तक ही सीमित रही है अपितु इसका विस्तार सम्पूर्ण जिले मे रहा है। जैन धर्मावलम्बियों का प्रसिद्ध जैन तीर्थ लोदवा की शिल्पकला इतनी ही ख्याति प्राप्त है जितनी अमर सागर स्थित जैन-जगत के श्री आदीश्वर प्रभु के जिन मन्दिर की। अमर सागर जैसलमेर से तीन मील दूर लोदवा जाने वाली सड़क पर आया हुआ है। यहां सेठ हिम्मतमल जी का बनाया शिल्पकला का खजाना लिए जिन-मन्दिर, महारावल श्री अमरसिंह द्वारा निर्मित, प्रकृति की सुन्दरता की खान, अमर सागर, महारानी अनूपकवर के नाम से निर्मित शीतल एवं शुद्ध जल की अनूप वाव आज भी दर्शकों के लिए आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु बनी हुई है।

सैलानियों का सौंदर्य-स्थल, भ्रमणकारियो की रमणीय भूमि, यात्रियों का दर्शनीय नगर, भक्तों का श्रद्धा-केन्द्र, अमर सागर का निर्माण जैसलमेर के महारावल श्री अमरसिंह ने वि० सं० १७१७ से प्रारम्भ कर १७५८ तक पूर्ण किया था। अमर सागर का सरोवर वि० सं० १७५६ में ही बनकर पूर्ण हो गया था। सरोवर के मुख्य बांध पर निर्मित महारावल अमरसिंह की छतरी और वि० सं० १७१७ में निर्मित अमरेश्वर महादेव का मन्दिर प्रकृति-सौंदर्य एवं धार्मिक वातावरण पैदा करने के लिए आज भी विद्यमान हैं। सागर का मजबूत बाँध, बाँध पर निर्मित छतरी-महादेव का मन्दिर, ऊँचे महल, महलों के अग्रिम भाग में सुन्दर फव्वारे, क्रीड़ा स्थली आदि अब भी इस रमणीय स्थल की शान बने हुए है। सागर के चारों तरफ आम्रवृक्षों की कतारें, चमेली की सुगन्ध, मोगरे की महक, रेगिस्तान में मन लुभावना वातावरण पैदा कर देती है।

अमर सागर पांच सौ फीट लम्बा और चार सौ फीट चौड़ा है जिसके तल पर जल की कई पगबाव और बेरियाँ निर्मित की हुई है। इन पगबावों और बेरियो की बस्ती मे अमर सागर का मुख्य आकर्षण का केन्द्र, जैन धर्मावलम्बियों का श्री आदीश्वर प्रभु का बारीक शिल्पकला का अनोखा जिन-मन्दिर है। इस मन्दिर का निर्माण वि० स १९२८ मे बाफणा-गोत्रीय सेठ श्री हिम्मत लाल जी ने करवाया और प्रतिष्ठा खतर-गच्छीय श्री जिन महेन्द्र सूरि जी ने करवाई थी। मंदिर मे प्रतिष्ठित मूलनायक श्री आदीश्वर भगवान की लगभग १५०० वर्षों से प्राचीन प्रतिमा विराजमान है जिसे विक्रम पुर कोट से लाया गया था। मन्दिर का बाहरी भाग मुख्य द्वार छोटे-छोटे तोरणों, झरोखों, जालियों से सजाया गया है। लटकते कगूरों की सुन्दरता, बारीक शिल्पकला की प्राचीनता, पीले पाषाणों की चमक और बीच में बने सफेद संगमरमर के गवाक्ष गोख ने तो इसके कला-सौन्दर्य मे अनोखी शान पैदा कर दी है। दो मंजिले इस भव्य देवप्रासाद का शिखर-भाग दूर-दूर से दिखाई देता है। शिखर के पिछले भाग मे पीले पत्थर का बना

द्वार दर्शकों के लिए विशेष आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। यह मंदिर तालाब की तलहटी मे आने के कारण जब अमरसागर पानी से भर जाता है तो मंदिर का निचला भाग पानी मे डूब जाता है। उस समय पाषाण कला कृतियों और इस शिखरधारी मंदिर की परछाई और टापू की भांति देवस्थान की स्थिति अत्यंत ही सुन्दर लगती है। पानी की लहरो के साथ झूलती मन्दिर के शिखर की परछाई, बारीक शिल्पकला से निर्मित झरोखों और जालियों की बनावट अत्यन्त ही आनन्दित करती है।

श्री आदीश्वर प्रभु के इस देरासर का शिल्पकला से सजा जितना सुन्दर बाह्य और शिखर का भाग है, उतना ही सुन्दर अन्दर का हिस्सा पाषाण कलाकृतियों से सजाया गया है। सभा मडप, रंग-मडप, मूल गम्भारा को पाषाण कलाकार ने अपनी छेनी और हथौड़ी से सजाने का सफलीभूत प्रयत्न किया है। प्राचीन मन्त्र-पट्ट की सुन्दर पाषाण बनावट, प्राचीन ऐतिहासिक महत्ता, मत्रो की छिपी जानकारी आगन्तुकों को स्वतः ही अपनी ओर आकर्पित किए रहती है। चिताकर्षक मूल प्रतिमा की बनावट और सजावट नयनाभिराम है। इस मन्दिर के आंतरिक और बाहरी भाग को सजाने सवारने से अछूता नहीं छोड़ा गया है। कलाकारो ने यहाँ पाषाणों पर कला-कृतियों को गहरा और ऊंचा उभारने का अनोखा प्रयत्न किया है। मन्दिर के पास बनी पगबाव और दादा श्री जिनकुशलसूरिजी के चरण-मन्दिर की बनावट भी देखने लायक बनी हुई है। मन्दिर के सामने सेठ श्री हिम्मतमल जी के बिश्राम-गृह की बनावट और उसमे की गई सफेद पालिश प्राचीन वैभव का परिचय देती है। इस विश्राम-स्थली के पास सुन्दर बगीचा, अंगूर की बेलों के लिए पीले पाषाण के तोरण आज भी प्राचीन एवं शान शौकत की अदा बता रहे है।

इस मुख्य मन्दिर के अतिरिक्त अमरसागर क्षेत्र में दो अन्य मन्दिर—श्री आदीश्वर प्रभु के मन्दिर विद्यमान है। एक सेठ श्री सवाईराम जी ने वि० सं० १८९७ में और दूसरा ओसवाल पंचायत की तरफ से वि० सं० १९०३ में बनाया गया है। ओसवाल पंचायत की ओर से निर्मित आदीश्वर भगवान के मंदिर की प्रतिष्ठा महारावल रण-जीत सिंह के समय मे सम्पन्न हुई थी। इन मन्दिरो के निर्माताओ ने भी सुन्दर छोटे-छोटे बगीचे भी बनाये है। जहाँ आज भी यात्री ठहर कर आनन्द लाभ लेते है।

पानी से भरे अमरसागर की बनावट और उसमे श्री आदीश्वर भगवान का मन्दिर प्रकृति-छटा की अनोखी तस्वीर बताता ही है। दूसरी ओर जब रेगिस्तान में अकाल की भीषणता रहती है तो सम्पूर्ण अमरसागर सूख जाता है। उस समय इसकी गोद में पगबावे और बेरियां ही एकमात्र इसका परिधान बन कर रह जाती है। अनेकों पगबावों के आंतरिक भाग में सुन्दर कमरों, विश्रामगृहो की बनावट और उसकी साज-सज्जा का आनन्द लेने के लिए ग्रीष्म काल मे प्राचीन जैसलमेर क्षेत्र का जनसमुदाय बराबर उपयोग करता रहता है। अमरसागर में बनी पगबावडियों को राजा महाराजाओं, सेठ साहूकारों और वेश्याओं ने बनाया हैं। यहां सूखे सागर की पग बावड़ियों के आंतरिक स्थलों में निर्मित भवनों में संगीत की लय नाच के साथ गुगरों की झनझनाहट, साजों की सुरीली आवाज तथा भक्तिगान के गीतों की धुन सुनाई देती है। जब वर्षा के पानी से सागर लबालब भर जाता था, तब किनारों पर बनी हवेलियों, मदिरों, धर्मशालाओं, राज-प्रासादों की जालियो और झरोखों मे झांकती रमणियों की सुन्दरता, भवनों की परछाइयों, डुबकी लगाते तैराकों की कलाबाजियों, चाँदनी रात मे नौका-विहार का दृश्य मन-मयूर को आनन्दित किए बिना नही रहता।

अमर सागर का निर्मल जल, श्री आदीश्वर प्रभु की भक्ति और सूखी पगबावड़ियों के वैभव की गौरव-गाथाओं पर बने गीत आज भी गुनगुनाए जाते है। इस वैभव के अतिरिक्त महारावल अमरसिंह का बनाया बगीचा और उसमें बनी विश्राम चौकियों के गुम्बज उनकी पाषाणकला प्रियता, प्रकृति-प्रेम तथा वैभव की गरिमा का परिचय देते हैं। इस बाग में अनार, अमरूद, नींबू, आम, इला-यची, अंगूर आदि फल पैदा किये जाते थे जिसके पेड़-पौधों के अवशेष इस समय भी दृष्टिगोचर होते हैं। मोगरा, चमेली आदि फूलों की सुगध से यह बाग हमेशा महकता रहा है। आज बाग की स्थिति बदल

चुकी है। फल फूलों से झूमने वाला दृश्य यद्यपि नहीं है, फिर भी साग-सब्जी की हरियाली अब भी विद्यमान है।

अमर बाग के पास ही महारावल श्री अमरसिंह ने अपनी धर्मपत्नी अनूपकंवर के नाम से अनूप बाव-अनुबाव का निर्माण भी करवाया। यह पगबाव काफी बड़ी है। जिसके पश्चिमी किनारे पर बनी पीले पाषाणों की छतरी प्रकृति-सौन्दर्य का प्रतीक है। इस पगबाव का निर्मल, शान्त और स्वच्छ जल अत्यन्त ही स्वादिष्ट है। जैसलमेर और आसपास का जनसमुदाय प्रकृति-वैभव का आनन्द लेने के लिए बराबर यहां आता रहता है और गोठ गूगरी पिकनिक के साथ-साथ इस बाव में डुबकियां लगाकर स्नान का आनन्द लेते है।

जैसलमेर के चारो ओर लगभग एक से चार मील के दायरे मे फैले रत्नसार, जेतसार, रामनाथ, गंगासागर, मूल सागर, मूल तालाब, किशनघाट, गजरूपसागर, ईस तालाब, गुलाउ सागर, गड़सी-सर आदि सरोवरों की लोकप्रियता, वैभव, सुन्दर शिल्पकला, धार्मिक भावनाओं, प्रकृति के नयनाभिराम दृश्यो के साथ महारावल श्री अमरसिंह द्वारा निर्मित अमरसागर की पवित्रता आज भी लोकप्रिय बनी हुई हैं। अमरसागर प्रकृति-सौन्दर्य की स्थली है, धार्मिक पुण्यभूमि है, वैभव का प्रतीक है, शिल्पकलाकृतियों का अनोखा खजाना है और पुरातत्त्व की ऐतिहासिक खोज का केन्द्र भी बना हुआ है। जैन धर्मावलम्बियो का यह तीर्थस्थान होने के कारण प्रति वर्ष हजारो यात्री तथा दर्शक इसकी यात्रा का आनन्द उठाते है। जैसलमेर के ख्याति-प्राप्त जैन तीर्थ लोदवा की यात्रा के समय इसकी यात्रा की जाती है। जैसलमेर जैन पंचतीर्थी का यह मुख्य दर्शनीय अंग भी हैं।

जूनी चौकी का वास,
बाड़मेर (राजस्थान)

□□

[पृ० १०० का शेषांश]

इसी प्रकार मणिबंध पर तीन रेखाओं से पाश्चात्य हस्तरेखा विशारद दीर्घायु होने का फल बताते है।

हाथ की रेखाएं—जिनसेनाचार्य के अनुसार जिसकी रेखा कनिष्ठा से लेकर प्रदेशिनी तक लबी चली जाती है, वह दीर्घायु होता है। जिसकी रेखाएं कटी-फटी या छोटी हों, वह अल्प आयु का धारक होता है। यदि किसी व्यक्ति के हाथ में तलवार, गदा, भाला, चक्र आदि हों तो वह सेनापति होता है।

'करलक्खण' में आयु-रेखा का फल इस प्रकार कहा कहा गया है।

वीसं तीसं चत्ता पण्णासं सट्ठि सत्तरि असिअं।
णउयं कणट्ठियाऊ पएसिणं जाव जाणिज्जा॥

(कनिष्ठिका से लगाकर प्रदेशिनी तक रेखा के अनुसार बीस, तीस, चालीस, पचास, साठ, सत्तर, अस्सी और नब्बे वर्ष की आयु जानना चाहिए।)

उक्त ग्रंथ में ही हाथ में सिंह, बैल, चक्र, असि, परशु, तोमर, शक्ति, धनुष और कुन्त के आकार वाली रेखाओं का फल सेनापति होना बतलाया गया है।

जिनसेनाचार्य ने आयु संबंधी जिस रेखा का ऊपर उल्लेख किया है, वह अन्य भारतीय हस्तरेखा-ग्रन्थों मे कुल रेखा या गोत्र रेखा कहा गया है। किन्तु भारतीय और पाश्चात्य मत में बड़ा अंतर है। इसे भारतीय आयु-रेखा कहते है तो पाश्चात्य विद्वान हृदय-रेखा। पाश्चात्य मत के अनुसार यह रेखा करतल के दाहिनी ओर से निकल कर गुरु क्षेत्र के नीचे गोलाई लिए हुए मणिबध की ओर चली जाती है (श्री ओझा)

उक्त स्वयंवर के बाद जब मधुपिंगल को एक अन्य सामुद्रिक ने यह बताया कि उसके नेत्रो का पीलापन तो अन्य लक्षणो से मिलकर उसके राज्य और सौभाग्य को सूचित करते हैं। इस पर जिनसेनाचार्य ने यह मत व्यक्त किया है कि जो लोग स्वयं शास्त्रों को देखते समझते नहीं, वे मधुपिंगल के समान दूसरे लोगों द्वारा ठगे जाते हैं।

सहायक निदेशक,
केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय,
पश्चिमी ब्लाक, ७, रामाकृष्णापुरम्,
नई दिल्ली-२२

उड़ीसा में जैन धर्म एवं कला

☐ श्री मारुति नन्दन प्रसाद तिवारी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

उड़ीसा में जैन धर्म की प्राचीनता पार्श्वनाथ के काल तक स्वीकार की जाती है। जैन परम्परा मे १८वें तीर्थंकर अरनाथ के सम्बन्ध मे उल्लेख है कि उनको रायपुर मे पहली भिक्षा मिली। रायपुर की पहचान महाभारत में वर्णित कलिंग की राजधानी राजपुर से की जाती है। भवदेव सूरि कृत पार्श्वनाथ चरित्र (१४वीं शती) मे पार्श्वनाथ और प्रभावती के विवाह की कथा और साथ ही पार्श्वनाथ द्वारा कलिंग-शासक यवन के पंजे से प्रभावती को मुक्त कराने के उल्लेख प्राप्त होते है। इनके अतिरिक्त भी जैन साहित्य मे विभिन्न सन्दर्भों मे कलिंग राज्य का उल्लेख प्राप्त होता है। कुछ स्पष्ट उल्लेख महाभारत में भी प्राप्त होता है, जिसमे उल्लेख है कि कलिंग के अधार्मिक लोगो को त्यागना चाहिए, जो बिना वेदों एवं यज्ञ के रहते हैं। स्वय देवता भी उनके हाथो की पूजन सामग्री नही स्वीकार करते है। बोधायन सूत्र भी कलिंग को अशुद्ध देश बतलाता है।

साहित्यिक साक्ष्यों से महावीर के भी कलिंग से सबन्धित होने की पुष्टि होती है। हरिभद्रीय वृत्ति एव हरिवंश पुराण से महावीर के कलिंग-आगमन की पुष्टि होती है। आवश्यक सूत्र में तोसलि एवं मोसलि में महावीर के उपदेश देने का उल्लेख है। प्राचीनकाल में तोसलि महत्वपूर्ण जैन केन्द्र रहा है। ववहारभाष्य (६-११५) में शासक तोसलिक द्वारा सुरक्षित जिन मूर्ति का उल्लेख प्राप्त होता है। विद्वानों ने तोसलि को उड़ीसा में कटक के समीप स्थित स्वीकार किया है। उत्तराध्ययन सूत्र में चंपा के एक व्यापारी का उल्लेख आया है, जो महावीर का शिष्य था। इस व्यापारी के व्यापार के सिलसिले मे पिथुण्ड जाने का उल्लेख है। पिथुण्ड निश्चित रूप से कलिंग का प्रमुख नगर था, जिसका उल्लेख खारवेल के हाथी गुम्फा लेख मे भी प्राप्त होता है। डा० के० पी० जायसवाल खारवेल के लेख की १४वी पंक्ति के आधार पर महावीर द्वारा स्वय कलिंग के कुमारी पहाड़ी पर उपदेश दिए जाने की धारणा व्यक्त करते हैं। इस प्रकार जैन परम्परा से स्पष्ट है कि पार्श्वनाथ के समय में ही जैनधर्म कलिंग (उड़ीसा) मे प्रविष्ट हो चुका था, और तब से चेदि शासक खारवेल (लगभग प्रथम शती ई० पू०) के समय तक निरन्तर लोकप्रिय रहा। यह ज्ञातव्य है कि उडीसा में जैन धर्म के पुरातात्विक प्रमाण लगभग द्वितीय शती ई० पू० से ही प्राप्त होते है।

मौर्य साम्राज्य के अन्त और शुगो के प्रारम्भ के साथ ही कलिंग एक प्रमुख राजनीतिक क्षेत्र हो जाता है। दूसरी पहली शती ई० पू० शुंग कालीन जैन गुफाएँ उड़ीसा की उदयगिरि-खण्डगिरि पहाड़ियों पर उत्कीर्ण हैं। उदयगिरि पहाड़ी पर स्थित हाथी गुम्फा मे चेदि शासक खारवेल का लेख अभिलिखित है, जिसका काल लिपि के आधार पर दूसरी शती ई० पू० का उत्तरार्ध या पहली शती ई० पू० निर्धारित किया जाता है। इस लेख में स्पष्ट उल्लेख है कि कलिंग की जिस जिन प्रतिमा को नन्दराज **'तिवससत'** वर्ष पूर्व कलिंग से मगध ले आये थे, उसे खारवेल पुनः अपने देश वापस ले आये। 'तिवससत' शब्द का अर्थ विवादास्पद है। सम्प्रति लगभग समस्त विद्वान् इसे ३०० वर्ष का सूचक मानते है। यह लेख अरहतों एवं सिद्धों को नमस्कार से प्रारम्भ होता है और साथ ही अरहंतों (अर्हंतों) के स्मारक अवशेषो का उल्लेख करता है। इस लेख के आधार पर जिन-मूर्ति की सम्भावित प्राचीनता लगभग चौथी शती ई० पू० तक स्वीकार की जाती है। यह अभिलेखिकी प्रमाण जहाँ एक ओर लोहानीपुर (पटना के समीप) से प्राप्त मौर्ययुगीन मूर्ति के तीर्थंकर मूर्ति होने को प्रमाणित करता है, वही चौथी-तीसरी शती ई० पू० में जिन-मूर्ति-निर्माण की परम्परा के प्रचलन का भी समर्थन करता है। यद्यपि खारवेल के लेख से स्पष्ट है कि उसने जैन धर्म को विशेष समर्थन दिया, तथापि जैन कला की दृष्टि से उसका योगदान नगण्य रहा है। स्वयं लेख में वर्णित जिन-मूर्ति भी सम्प्रति प्राप्त नहीं होती है। केवल लेख के प्रारम्भ एवं अन्त में जैन धर्म में प्रचलित कुछ प्रतीकों को उत्कीर्ण किया गया है। ज्ञातव्य

है कि त्रिशूल (त्रिरत्न का सूचक) वर्धमानक, स्वस्तिक, नन्दिपद और वेदिका के अन्दर वृक्ष जैसे प्रतीक अन्य धर्मों में भी समान रूप से प्रचलित थे। खारवेल के अभिलेख का विशेष योगदान केवल तीर्थंकर मूर्ति की प्राचीनता से सम्बन्धित उल्लेख के सन्दर्भ मे है।

इनके अतिरिक्त इन्हीं पहाडियों पर स्थित अनन्तगुम्फा रानीगुम्फा एवं गणेश गुम्फा भी लगभग ई० पू० १५० से ५० ई० पू० के मध्य उत्कीर्ण की गई। अनन्त गुम्फा के प्रत्येक प्रवेश द्वार पर तीन फणो से युक्त दो सर्पों का चित्रण सम्भवतः उसके पार्श्वनाथ से सम्बन्धित होने का सूचक है, जिनका कलिंग से सम्बन्धित होना विभिन्न ग्रंथो से प्रमाणित है। साथ ही रानी एवं गणेश गुफाओं मे उत्कीर्ण विस्तृत दृश्यावली को भी सामान्यतः पार्श्वनाथ के जीवन दृश्य से सम्बन्धित किया जाता है, पर डा० वासुदेव शरण अग्रवाल द्वारा सुझाया वासवदत्ता एवं शकुन्तला के जीवन दृश्यों से पहचान ज्यादा मान्य है, क्योकि उपलब्ध ग्रन्थों में उस काल तक पार्श्वनाथ के जीवन-काल की घटनाओं की धारणा विकसित नही हो पाई थी। साथ ही सम्पूर्ण दृश्यावली मे कही भी पार्श्वनाथ या उनसे सम्बद्ध सर्प-फणों का उत्कीर्णन नही किया गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि समुचित राजनैतिक एवं धार्मिक पृष्ठभूमि के बावजूद उदयगिरि-खण्डगिरि की ई० पू० की गुफाओं का जैन प्रतिमा-विज्ञान की दृष्टि से विशेष महत्व नहीं रहा है।

खारवेल के उपरान्त उड़ीसा में जैन धर्म का इतिहास काफी समय तक अज्ञात है। बिहार, उत्तर प्रदेश एवं मध्य प्रदेश के समान ही इस क्षेत्र में जैन धर्म की स्थिति पर प्रकाश डालने वाले जैन ग्रन्थों का भी सर्वथा अभाव है। साथ ही दूसरी प्रथम शती ई० पू० की उदयगिरि-खण्डगिरि जैन गुफाओ के बाद ९वीं-१०वी शती के पूर्व की कोई भी जैन पुरातात्विक सामग्री इस क्षेत्र में नहीं प्राप्त होती है, जिसका कारण इस क्षेत्र में क्रमशः बौद्ध धर्म का बढ़ता हुआ प्रभाव था। दाथावंश से ज्ञात होता है कि कलिंग के शासक गुहाशिव (लगभग चौथी शती) ने जैन धर्म को छोड़ कर बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था, और साथ ही सभी निर्ग्रन्थ जैनों को कलिंग से बाहर निकाल दिया था, जिन्होंने पाटलिपुत्र के पाण्डु राजा के यहाँ शरण ली। साथ ही इस क्षेत्र मे शैव और वैष्णव धर्मों के बढ़ते हुए प्रभाव के फलस्वरूप भी जैन धर्म का प्रभाव क्रमशः क्षीण हो रहा था।

ह्वेनसांग ने सातवीं शती में कलिंग में जैन धर्म के विद्यमान होने का उल्लेख किया है। पुरिय या पुरी का भी जैन ग्रन्थों मे जैन धर्म के केन्द्र के रूप में उल्लेख प्राप्त होता है। पुरी जिले मे स्थित यह क्षेत्र जीवितस्वामी (जीवंत स्वामी) प्रतिमा के लिए ज्ञात था और यहाँ अनेक श्रावक रहते थे। आवश्यक निर्युक्ति एवं चूर्णि के अनुसार जब वैरस्वामी पुरी पधारे थे, तब यहाँ का शासक बौद्ध धर्म का अनुयायी था और बौद्धों एवं जैनों के सम्बन्ध अच्छे नही थे। शैलोद्भव शासक धर्मराज (लगभग छठीं-सातवीं शती) के बाणपुर लेख में उल्लेख है कि उसकी रानी कल्याण देवी ने धार्मिक कृत्य के लिए जैन साधु को भूमि दान दिया।

उपलब्ध पुरातात्विक एवं अभिलेखिकी प्रमाणों से यह सर्वथा निश्चित है कि उद्योतकेसरी (११वीं शती) के अतिरिक्त शासकों से स्पष्ट संरक्षण या समर्थन न प्राप्त होने की स्थिति में भी जैन धर्म अपनी दृढ़ पृष्ठभूमि के फलस्वरूप लगभग ९वीं-१०वीं शती से १२वीं शती तक उड़ीसा में, विशेषकर उदयगिरि-खण्डगिरि गुफाओ (पुरी जिला) में, निरंतर लोकप्रिय था। इसकी पुष्टि उदयगिरि-खण्डगिरि गुफाओं के अतिरिक्त अन्य स्थलों से प्राप्त होने वाली जैन मूर्तियों से होती है। नवमुनि गुम्फा के उद्योतकेसरी के लेख में कुलचन्द्र के शिष्य के रूप मे खल्लसुमचन्द्र का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी शासक के ललाटेन्दु या सिंघराजा गुफालेख में उल्लेख है कि उद्योतकेसरी ने अपने राज्य के ५वें वर्ष में प्रसिद्ध कुमार पर्वत पर नष्ट तालाबों एवं मन्दिरों का पुनर्निर्माण करवा कर २४ तीर्थंकरों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित करवाई। इस उल्लेख से उद्योत केसरी का जैन धर्म को समर्थन स्पष्ट है। यह उल्लेखनीय है कि उदयगिरि-खण्डगिरि की नवमुनि एवं बारभुजी गुंफाओं मे प्राप्त स्वतन्त्र यक्षियो, २४ यक्षियों एवं महत्वपूर्ण सामूहिक चित्रण भी इसी काल (११वीं-१२वीं शती) की कृतियाँ हैं। उदार सोम-स्वामी शासकों के काल में भी मुक्तेश्वर मन्दिर की चहार दीवारी की

बाहरी रथिकाओं में तीर्थंकर मूर्तियां उत्कीर्ण की गयीं। उड़ीसा के जैन धर्म के महान् संरक्षक राष्ट्रकूट शासकों के प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत आने के फलस्वरूप भी सम्भवत: जैन-मूर्ति-निर्माण को प्रोत्साहन मिला था। राष्ट्रकूट-शासक गोविन्द तृतीय कौशल, कलिंग, वंग और ओद्रक की विजय का उल्लेख करता है।

अन्य साक्ष्यों के अभाव भी उड़ीसा के विभिन्न क्षेत्रो से प्राप्त होने वाली जैन मूर्तियां उन स्थलों पर किसी न किसी रूप में जैन धर्म के अस्तित्व को प्रमाणित करती हैं। उदयगिरि-खण्डगिरि की गुफाओ के अतिरिक्त जयपुर नन्दनपुर और कोरपुत जिले के भैरवसिंह पुर जैसे स्थलो से भी जैन मूर्तियाँ प्राप्त होती है। साथ ही कियौंझर, मयूरभंज, बलसोर (चरंपा), और कटक (जजपुर) जिलों के विभिन्न स्थलों से भी जैन मूर्तियों के उदाहरण प्राप्त होते है। कटक जिले के जजपुर स्थित अखण्डलेश्वर मंदिर एवं मैत्रक मन्दिर के समूहों में भी जैन मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। ये जैन मूर्तियाँ प्रमाणित करती हैं कि शाक्त क्षेत्र होने के बाद भी जैन धर्म यहाँ लोकप्रिय था।

उड़ीसा में दिगम्बर सम्प्रदाय ही लोकप्रिय था, इसकी पुष्टि तीर्थंकरों की निर्वस्त्र प्रतिमाओं से होती है। उड़ीसा के विभिन्न स्थलों से प्राप्त जिन-मूर्तियों में लोकप्रियता की दृष्टि से क्रमशः पार्श्वनाथ, आदिनाथ एवं महावीर प्रमुख है। मूर्तियों में पार्श्वनाथ का सर्वाधिक लोकप्रिय होना, उनके इस क्षेत्र से सम्बन्ध रहे होने का सूचक हो सकता है। स्वतन्त्र तीर्थंकर मूर्तियों के अतिरिक्त द्वितीर्थी जिन मूर्ति (ब्रिटिश संग्रहालय), अम्बिका, सरस्वती एवं यक्षियां अन्य लोकप्रिय विषय-वस्तु रही हैं। जैन प्रतिमा-विज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण खंड-गिरि पहाड़ी पर स्थित नवमुनि (लगभग ११वी शती) एवं बारभुजी (लगभग ११वीं-१२वीं शती) गुंफाओं की मूर्तियां हैं। नवमुनि गुफा मे १० तीर्थंकरों के साथ उनसे सम्बद्ध यक्षियों को उत्कीर्ण किया गया है। और बारभुजी गुफा में २४ तीर्थंकरों के साथ उनसे सम्बद्ध यक्षियों को मूर्तिगत किया गया है। ज्ञातव्य है कि २४ यक्षियों के सामूहिक चित्रण का यह एकमात्र दूसरा ज्ञात उदाहरण है। पहला प्रारम्भिक उदाहरण देवगढ़ के शान्तिनाथ मन्दिर (मन्दिर नं० १२, ८६२) के मण्डोवर पर उत्कीर्ण है। खण्डगिरि की ही त्रिशूल या हनुमान गुफा में भी २४ तीर्थंकरों की लांछनयुक्त मूर्तियाँ अंकित है। ललाटेन्दु-केसरी एवं हनुमान गुफाओं में भी लगभग ८वी ९वीं-शती की जैन मूर्तियाँ उत्कीर्ण है। इस प्रकार शिल्पगत साक्ष्य मे यह सर्वथा स्पष्ट है कि लगभग ८वीं-९वीं-शती से १२वीं शती तक निरन्तर जैन धर्म उदयगिरि-खण्डगिरि मे प्रभावशाली रहा था।

२४ तीर्थंकरो एवं यक्षियो के सामूहिक चित्रण इस बात के सूचक हैं कि जैन प्रतिमा-विधान के सन्दर्भ में हो रहे विकास से इस क्षेत्र के कलाकार अवगत थे। फिर भी किसी निश्चित प्रतिमा-लाक्षणिक ग्रन्थ के अभाव में कुछ यक्षियों के निरूपण में ब्राह्मण एव बौद्ध धर्मों की देवियों के लाक्षणिक स्वरूपों के स्पष्ट अनुकरण किए गए हैं। ये अनुकरण इन धर्मों के अपेक्षाकृत विकसित एवं प्रभाव-शाली रहे होने के भी सूचक हैं। शांतिनाथ, अरनाथ एवं नमिनाथ की यक्षियों के निरूपण मे क्रमशः गजलक्ष्मी, तारा (बौद्ध देवी) एवं ब्रह्माणी के प्रभाव स्पष्ट है।

सम्पूर्ण अध्ययन से स्पष्ट है कि लगभग ८वी शती ई० पू० में पार्श्वनाथ के समय में जैन धर्म के उड़ीसा में प्रवेश के पश्चात् से लगभग प्रथम शती ई० पू० तक यह निरन्तर इस क्षेत्र में लोकप्रिय रहा। साथ ही प्रथम शती ई० पू० के बाद भी जैन धर्म के इस क्षेत्र में किसी न किसी रूप में अस्तित्व की पुष्टि दाथावंश एवं ह्वेनसांग के उल्लेखों से होती है। पर जैन मूर्ति-विधान की दृष्टि से ८वी शती के उपरान्त ही इस क्षेत्र का महत्व स्थापित हो सका था, जहाँ छोटे केन्द्रों के अतिरिक्त उदय-गिरि-खण्डगिरि पहाडियों की गुफाओं में बहुलता से जैन मूर्तियों का निर्माण किया गया।

□□

जूनियर रिसर्च फैलो,
पार्श्वनाथ विद्याश्रम)
डी—५१।१६४—वी, सूरजकुण्ड,
वाराणसी—२२१००१ (उ० प्र०)

भगवान् महावीर का जीवन-दर्शन : आधुनिक सन्दर्भ में

□ प्रो० श्री रंजन सूरिदेव, पटना

मानवता के विकास की दृष्टि से भारतीय संस्कृति मुख्यतः दो धाराओं मे विभक्त होकर कार्यशील रहती आई है। एक है वैदिक परम्परा, जिसे 'ब्राह्मण-संस्कृति' के नाम से अभिहित किया जाता है और दूसरी है अवैदिक परम्परा, जो 'श्रमण-संस्कृति' की संज्ञा धारण करती है। ये दोनों संस्कृतियां परस्पर एक-दूसरे पर हावी होने की होड़ के साथ सतत प्रवहमाण है। कहना न होगा कि ये दोनों ही सस्कृतियाँ प्राचीन और ऐश्वर्यवान् है। किन्तु, भारतीय संस्कृति की अब तक जो व्याख्या की गई है, उसमें सिर्फ ब्राह्मण-संस्कृति की विशेषता पर ही अधिक प्रकाश डाला गया है, जिसकी व्यापकता निर्विवाद है। किन्तु, ब्राह्मणेतर सस्कृतियो के परिवेश से हटकर की जाने वाली, भारतीय संस्कृति की व्याख्या एकागी है।

समाज-विज्ञान के चिन्तकों का विचार है कि ब्राह्मण संस्कृति पर दैववाद, सुख-दुःख के चक्रवत् परिवर्त्तन के प्रति नितान्त भाग्यवादी सम्मान, एकमात्र ईश्वर के कर्तृत्व में विश्वास और वर्णवाद जैसी, मानव को अपने पुरुषार्थ से विरत करने वाली अवधारणाओं या जड़ीभूत संस्कारों का व्यापक प्रभाव है। फलस्वरूप, हमारा देश वैचारिक परिवर्तन और सामाजिक प्रगति के लिए आंतरिक रूप से अक्षम है। इस प्रकार के द्वन्द्विल विचारो के समर्थन और विरोध में प्रायः ब्राह्मण-ग्रन्थों या वैदिक शास्त्रो को ही आधार मानकर पक्ष और विपक्ष के विद्वान् चिन्तन करते रहे हैं। यद्यपि जैन और बौद्ध जैसी श्रमण-संस्कृतियों के शास्त्रों में जड़ संस्कारों के परिवर्तन और क्रान्तिकारी प्रगति की ओर प्रेरित या दिङ्निर्देश करने वाली प्रचुर अवधारणाएं निहित है। परन्तु, दुर्भाग्यवश अधिकांश समाजचिन्तक श्रमण-संस्कृति की उक्त अवधारणाओं से अपरिचित रहे हैं। अथ च, दार्शनिक विद्वान् इन्हें केवल शुष्क तर्क का विषय बनाए हुए हैं। आधुनिक सन्दर्भ मे, राष्ट्रीय संस्कृति के प्रति निष्ठा तथा व्यापक मानवीय मूल्यो के आधार पर अभिनव समाज की संरचना मे उक्तविध देश व अवधारणाओं का पुनर्मूल्यांकन केवल बौद्धिक चर्चा के लिए ही नही, अपितु जन-जागरण के लिए भी नितान्त आवश्यक है। इसी परिप्रेक्ष्य मे, आज भगवान् महावीर के २५०० वे निर्वाण-महोत्सव के अवसर पर, उनके जीवन-दर्शन का मूल्यांकन अपेक्षित है।

भगवान् महावीर का जीवन-दर्शन मुख्यतया अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त की त्रयी पर आधृत है। दृष्टि-निपुणता तथा सभी प्राणियो के प्रति सयम ही अहिंसा है। दृष्टि-निपुणता का अर्थ है सतत जागरूकता तथा संयम का अर्थ है मन, वाणी और शरीर की क्रियाओं का नियमन। जीवन के स्तर पर जागरूकता का अर्थ तभी साकार होता होता है, जब उसकी परिणति संयम मे हो। संयम का लक्ष्य तभी सिद्ध हो सकता है, जब उसका जागरूकता से सतत दिशा-निर्देश होता रहे। लक्ष्यहीन और दिग्भ्रष्ट संयम अर्थहीन कायक्लेश-मात्र बनकर रह जाता है। समाजगत शुचि और अशुचि की अवधारणा के मूल में यही संयम या नियम भ्रान्त अर्थ मे समाविष्ट है। किन्तु, यहाँ स्मरणीय है कि ब्राह्मण-सस्कृति के संयम-नियम या 'नेम-धरम' से श्रमण-सस्कृति का संयम भिन्न अर्थ रखता है। ब्राह्मण-संस्कृति का संयम आजकल प्रायः विलास-वैभव या व्यक्तिगत आभिजात्य के अभिमान की भावना से उत्पन्न शुचि और अशुचि की अवधारणा में बदल गया है। इससे समाज मे अमीर-गरीब, ऊँच-नीच और स्पृश्या-स्पृश्य, यानी छूत-अछूत, जैसे वर्गभेद को परिपोषण मिल रहा है। किन्तु, भगवान् महावीर की श्रमण सस्कृति के सन्दर्भ में ज्ञानदृष्टि के आधार पर जीवन-चर्या का सयमन ही तात्त्विक संयम है। जीवन-चर्या के संयमन के बिना मानव-जाति में एकता की प्रतिष्ठा तथा विलास-

वैभव का नियन्त्रण सम्भव नही है। एकता और समता संयम और नियन्त्रण के अभाव की स्थिति में हिंसा की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है, जिससे जनता का दु.ख बढता है। इसलिए दूसरे के दु.ख को दूर करने की धर्म-वृत्ति को ही अहिंसा कहा गया है। 'परस्स अदुक्खकरण धम्मो त्ति।' (वसुदेव हिण्डी)

भगवान् महावीर ने सम्पूर्ण मानव-जाति को एकता का सन्देश दिया। उन्होने कहा—जन्म से कोई किसी जाति का नही होता, कर्म से उसकी जाति का निर्धारण होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये सब जन्मना नहीं, कर्मणा होते है। अर्थात्, कर्म की शुचिता और अशुचिता के आधार पर ही किसी मनुष्य की उच्चता या नीचता निर्भर करती है। उसमे जन्म से हीन या उच्च जैसा भाव कुछ नही है। प्रत्येक प्राणी, चाहे वह एक छोटा-सा कीड़ा हो या आदमी, आत्मसत्ता के स्तर पर समान है। उसमें अन्तर्निहित सम्भावनाएं समान है। जाति या वर्ण से कोई श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ, स्पृश्य या अस्पृश्य नही होता। विकासक्रम से गुजर कर एक कीट भी कभी सिद्धात्मा होकर लोकाग्र पर अवस्थित हो सकता है। इस प्रकार, भगवान् महावीर ने जाति को महत्व न देकर मानवता को ही सर्वोपरि स्थान दिया है।

मानवता की प्रतिष्ठा के लिए ही भगवान् महावीर ने ईश्वरवाद की अवहेलना करके पुरुषार्थ को महत्त्व दिया। सामान्यतया ईश्वरवाद और भाग्यवाद के व्यापक सिद्धान्त से पुरुषार्थ की अवधारणा शिथिल पड़ जाती है। इसीलिए, भगवान् महावीर के अनीश्वरवाद मे मानव-सत्ता की महत्ता को ही स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है। उनके मतानुसार, ईश्वर नामक कोई सृष्टिकर्त्ता और सृष्टिनियामक सत्ता नही है। आत्मा या जीव की शुद्ध, बुद्ध और मुक्त अवस्था ही ईश्वर है। जीव का सिद्धत्व ही अपने आप मे ईश्वरत्व की अवस्थिति है। प्रत्येक पुरुषार्थी मनुष्य मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। इसीलिए, भगवान् महाबीर ने भाग्यवाद के स्थान पर पुरुषार्थ, कर्मकाण्ड के स्थान पर साधना, वैषम्य के स्थान पर समता, हिंसा के स्थान पर अहिंसा, युद्ध के स्थान पर नि:शस्त्रीकरण, परिग्रह के स्थान पर त्याग और विषय-भोग या विलास-वैभव के स्थान पर संयम या ब्रह्मचर्य रखने का क्रान्तिकारी सन्देश दिया।

भगवान् महावीर के अपरिग्रह तथा अहिंसा के सिद्धांत आर्थिक विकास तथा वर्त्तमान समाज की आकांक्षाओं को ऊपर उठाने मे अधिकाधिक साधक सिद्ध हो सकते है। किसी के जीवनाधिकार का अतिक्रमण न करना अहिंसा है। जीवन का अधिकार जीवन के प्रमुख तीन साधनो—भोजन, वस्त्र और आवास की समस्याओं से संपृक्त है। इन साधनों के बिना जीवन की सत्ता टिक ही नही सकती। तात्कालिक आवश्यकता से अधिक संग्रह करना सर्वथा अनुचित है; क्योकि इससे दूसरे लोग वंचित होते है। आवश्यकता की पूर्ति मे भी स्वामित्व का भाव वर्जित है। परिग्रह स्वामित्व का रूपान्तरण तो है ही, प्रकृतिगत और सार्वजनिक जीवन के साधनों पर व्यक्तिगत सत्ता का आरोपण भी है। शोषण और संग्रह इसी परिग्रह के क्रियात्मक रूप है। और, इसी के निमित्त कालाबाजारी, करों की चोरी, राज्यविरुद्ध तस्कर-व्यापार मिलावट, अप्रामाणिक माप-तौल आदि जघन्य कृत्य किये जाते है। इसीलिए, भगवान् महावीर ने त्याग और संयम, अपरिग्रह और अचौर्य-पूर्वक भोजन, वस्त्र और आवास के अधिग्रहण का आदेश दिया है। आधुनिक परिग्रहवाद पर ईशोपनिषद् के रचयिता ने भी कशाघात किया है : 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा, मा गृध: कस्यस्विद् धनम्।' निष्कर्ष यह कि अपने लिए कम से कम उपभोग करना और दूसरों के लिए अधिक-से-अधिक छोड़ना तथा स्वामित्व का सर्वथा परित्याग ही अपरिग्रह है।

भगवान् महावीर ने अपरिग्रह के व्रत पर इसलिए बल दिया है कि वे जानते थे—आर्थिक असमानता और आवश्यक वस्तुओ का अनुचित सग्रह सामाजिक जीवन को विघटित कर देने वाला है। धन का सीमाकन स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए अनिवार्य है। धन सामाजिक व्यवस्था का आधार होता है और उसके कुछ हाथों मे सीमित होने से समाज का सम्पूर्ण विकास नही हो पाता है। जीवनोपयोगी वस्तुओ का संग्रह समाज में कृत्रिम अभाव की कष्टकर स्थिति पैदा करता है। महावीर ने ऐसे समाज-घातक परिग्रहवाद के विरोध में आवाज

उठाई और अपरिग्रह के सामाजिक मूल्य की स्थापना की। 'परोस्परोपग्रहो जीवानाम्' अर्थात् जीवो के प्रति परस्पर उपकार की भावना ही उनकी साधना का लक्ष्य था।

जीवन का अतिक्रमण अर्थ के स्तर पर ही नही, अतन्न और विचार के स्तर पर भी होता है। अपने विचारो को दूसरों पर लाद कर उन्हें तदनुकूल चलने के लिए बाध्य करना भयाग्रह हिंसा है। है तो यह भाव-हिंसा, किन्तु इसका दुष्प्रभाव द्रव्य-हिंसा से भी अधिक तीव्र होता है। भावहिंसा ही अन्ततोगत्वा द्रव्यहिंसा में बदल जाती है। विशेषतया धर्म के नाम पर इस प्रकार की हिंसा बहुल होती रहती है। मध्यकालीन यूरोप के धर्मयुद्ध इसके साक्षी हैं। मनुष्य ने धर्म के नाम पर मनुष्य को जिन्दा जलाया, उसका रक्त बहाया और उसकी इज्जत-आबरू के साथ खिलवाड़ किया। आज भी देश में साम्प्रदायिक उन्माद यदा-कदा फूट पड़ता है। धर्म के नाम पर ही यह देश खण्डित हुआ और घोर लज्जाजनक संहार-लीलाएं हुई। कहना न होगा कि साम्प्रदायिक संकीर्णता वैचारिक असहिष्णुता को उभारती है। इस संदर्भ में भगवान् महावीर का अनेकान्तवाद, आधुनिक समाजवादी-धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा से अतिशय निकट होने के साथ ही वैयक्तिक तथा सामाजिक विचारों को स्वस्थ बनाने में ततोऽधिक प्रभावकारी है।

महावीर का कथन है—सत्य अनन्तमुख है। अपने को ऐकान्तिक रूप से सही मानना और दूसरे को गलत समझना सत्य का अपलाप करना है। किसी को सर्वथा गलत मानना वैचारिक स्तर पर हिंसा है, उसकी जीवन-सत्ता को अस्वीकार करना है। इससे स्वयं सत्य की हत्या होती है। एक दूसरे का सत्य परस्पर खण्डित होने पर दोनों ही सापेक्ष-स्तर पर समान प्रतिष्ठा के योग्य है। किसी का पुत्र उसे पिता कहता है, तो बहन उसे भाई कह कर पुकारती है। इसलिए, वह न केवल पिता है, न भाई ही है, अपितु सापेक्ष स्तर पर वह पिता और भाई दोनो ही है। अत एव, किसी बात पर एकान्त आग्रह हिंसा है, जीवन के प्रति असम्मान है। किन्तु, अनेकान्तिक आग्रह अहिंसा है, जीवन का सम्मान है। अनेकान्त दर्शन का सार यही है कि सापेक्ष स्तर पर सत्य को उसके सन्दर्भों मे देखा जाय और उसे उन सन्दर्भों में अंतर्निहित रूपों के द्वारा सम्मानित किया जाय। सत्य के सन्दर्भ में 'स्व' और 'पर' की भावना व्यर्थ है। सत्य चूंकि निर्वैयक्तिक सत्ता है, इसलिए उसका साक्षात्कार निर्वैयक्तिक स्तर पर ही सम्भव है। यही कारण है कि महावीर की भाषा स्याद्वादी है। यह 'स्यात्' शब्द जागतिक स्तर पर सापेक्षता की सूचना देता है। इस सापेक्षता को समझने की अनाग्रह-वृत्ति को ही 'अनेकान्त' कहते है।

उपरिविवेचित अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त की त्रयी में अहिंसा सुमेरु की तरह प्रतिष्ठित है। कहना यह कि महावीर का सम्पूर्ण जीवन-चक्र अहिंसा की धुरी पर ही घूमता है। अहिंसा की साधना के लिए हिंसा का परिज्ञान परमावश्यक है। क्योंकि हिंसा के अनेक आयाम है, जिनके समानान्तर ही अहिंसा के आयाम स्थित है। शरीर के स्तर पर हिंसा प्राणातिपात है, जीवन-साधनों के स्तर पर होने वाली हिंसा परिग्रह है और विचारों के स्तर पर को जाने वाली हिंसा एकान्तवादी आग्रह है। इसलिए, अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के बीच कोई विभाजक रेखा नही खींची जा सकती। तीनो अहिंसा की ही मूलभूत प्राण सत्ता की अभिव्यक्तियाँ है। अहिंसा की समग्र साधना के रूप में ही अपरिग्रह और अनेकान्त समाहित हैं। इन्हे ही हम 'रत्नत्रय' भी कह सकते है : अनेकान्त सम्यग्ज्ञान है, अपरिग्रह सम्यग्दर्शन है और अहिंसा सम्यक्चारित्र है। अहिंसा ही जीवन की सही दृष्टि है—वही जी पायेगा, जो जीने देगा। किसी की भी जीवन-सत्ता का अतिक्रमण हमारी अपनी ही जीवन-सत्ता का अतिक्रमण है।

कुल मिला कर, भगवान महावीर के जैन धर्म-दर्शन का सीधा उद्देश्य सामाजिक आन्दोलन से सम्बद्ध है। धर्म के तीन मुख्य अंग होते है : दर्शन, कर्मकाण्ड और समाज-नीति। आधुनिक सन्दर्भ मे किसी भी धर्म की उपयोगिता का मूल्यांकन उसकी समाजनीति से किया जाता है। महावीर के प्रवचनों से स्पष्ट है कि जैनधर्म की उत्पत्ति तत्कालीन आडम्बर पूर्ण, समाज-व्यवस्था के विरोध में एक सशक्त क्रान्ति के रूप में हुई थी। महावीर ने वर्ग-वैषम्य

को मिटा कर समता की स्थापना, दार्शनिक मतवादों में समन्वय, धार्मिक आडम्बरों का बहिष्कार, पशुबलि का निषेध, अनावश्यक धन-संचय की वर्जना, नारी-समाज का उत्थान आदि कार्य-प्रक्रियाओं द्वारा सामाजिक आन्दोलन की गति को तीव्रता और क्षिप्रता प्रदान की थी। पूर्वोक्त अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के सिद्धान्त निश्चय ही आधुनिक समाज की समस्याओं के समाधान के लिए अतिशय उपयोगी है।

निर्धनता, जातिवाद और सम्प्रदायवाद जैसी विषम और व्यापक समस्याओं के अतिरिक्त व्यक्तिगत आचार-विचार की समस्याओं के भी व्यावहारिक समाधान जैन-धर्म-दर्शन मे प्रत्यक्षरूपेण उपलब्ध हैं। महावीर की दृष्टि मे मतभेद संघर्ष का कारण नही, अपितु उन्मुक्त मस्तिष्क की आवाज है। इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए उन्होंने कहा कि वस्तु एकपक्षीय नही, अपितु अनेकपक्षीय है। प्रत्येक व्यक्ति सत्य के नये पक्ष की खोज कर समाज की समस्याओ का समाधान कर सकता है। निस्सन्देह, 'अनेकान्त' समाज का गत्यात्मक सिद्धान्त है, जो जीवन मे वैचारिक प्रगति का आह्वान करता है। अपने को पहचाने बिना समाज की नाड़ी को पकड़ पाना अशक्य है। अत एव, महावीर का सम्पूर्ण जीवन आत्म-साधन के पश्चात् सामाजिक मूल्यो का प्रतिष्ठापना में ही व्यतीत हुआ। उन्होने व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए एक ओर आत्मविकास का पथ प्रशस्त किया तो दूसरी ओर लोक-कल्याण की भावना को भी विस्तृत पृष्ठभूमि प्रदान की। अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त निश्चय ही महावीर के सामाजिक तथ्यान्वेषण के परिणाम हैं। कोई भी आत्म-साधक महापुरुष लौकिक या सामाजिक व्यवस्था के आधार भूत तत्वों की उपेक्षा नहीं कर सकता। महावीर ने पद-दलित लोगों को सामाजिक सम्मान देकर उनमें आत्माभिमान की भावना को उद्बुद्ध किया। उन्होंने हरिकेशी जैसे चाण्डाल को गले लगाया, तो स्त्रियों को पुरुषों के समकक्ष प्रतिष्ठा की अधिकारिणी घोषित किया।

महावीर ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए तत्कालीन जनभाषा प्राकृत का माध्यम स्वीकार किया। यह उनकी जनतान्त्रिक दृष्टि के विकास का परिचायक पक्ष है। भाषा का जीवन के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध है, इस तथ्य को वे जानते थे; इसलिए अपने समाजोद्धारक विचारों के प्रचार के लिए जनता की भाषा का प्रयोग करते थे। उन्होंने अहर्निश जनभाषा में जन-जीवन के उन्नायक मूल्यवान तत्त्वों का ही वैज्ञानिक विवेचन किया है, जो समसामयिक भारतीय समाज को सही दिशा दे सकते हैं। □□

सम्पादक,
परिषद, पत्रिका,
बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद,
पटना—४,

सत्य की खोज

समिक्ख पंडिए तम्हा पास जाइपहे बहू।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा मेत्तिं भूएस कप्पए॥

अर्थ—विद्वान् पुरुष संसार-परिभ्रमण के कारणों को भली-भाँति समझकर अपने आप सत्य की खोज करे और सब जीवों पर मैत्री-भाव रखे।

विगिंच कम्मणो हेउं, जसं संचिणु खंतिए।
सरीरं पाढवं हिच्चा, उड्ढं पक्कमई दिसं॥

अर्थ—कर्मबन्ध के कारणों को ढूंढो, उनका छेदन करो और फिर क्षमा आदि के द्वारा अक्षय यश का संचय करो। साधक पार्थिव शरीर को छोड़कर, उर्ध्व गति (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

श्रमण-परम्परा की प्राचीनता

□ पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसी

आज सर्वत्र भगवान महावीर के निर्वाण के पच्चीसवीं शती महोत्सव के रूप में मनाई जा रही है। भगवान महावीर का जन्म विहार प्रदेश में हुआ था। इसी प्रदेश में कठोर तपस्या के द्वारा उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया था। इसी प्रदेश के विपुलाचल पर उनकी प्रथम धर्मदेशना हुई थी और जिस लोक-भाषा में हुई थी, उसका नाम भी इसी प्रदेश के नाम पर अर्धमागधी है। इसी प्रदेश से उन्होंने निर्वाण-लाभ किया। इस तरह यह प्रदेश भगवान महावीर के जीवन के साथ इतना सुसम्बद्ध है कि न तो इस प्रदेश के विना भगवान महावीर को रखा जा सकता है और न महावीर के विना इस प्रदेश की ही गरिमा का बखान किया जा सकता है।

तीर्थङ्कर तो अनेकों हुए किन्तु जिनके पांचों कल्याणक अपने जन्म-प्रदेश में ही हुए, ऐसे एकाकी तीर्थङ्कर महावीर हैं। सर्वस्व त्याग देने पर भी मानो वह अपनी इस जन्म भूमि का मोह नहीं त्याग सके थे। मातृ भूमि और मातृभाषा सचमुच में माता से भी बढ़कर है।

पूर्वी भारत में वैदिक सभ्यता का प्रवेश—मनीषियों का विचार है कि अंग, मगध, काशी, कोसल और विदेह में वैदिक सभ्यता का प्रवेश बहुत काल पश्चात् हुआ था। शत० ब्रा० (१-४-१) में लिखा है कि 'सरस्वती नदी से अग्नि ने पूर्व की ओर प्रयाण किया। उसके पीछे विदेघ, माधव और गौतम राहूगण थे। सबको जलाती और मार्ग की नदियों को सुखाती हुई वह अग्नि सदानीरा के तट पर पहुंची। उसे वह नहीं जला सकी। तब माधव ने अग्नि से पूछा—'मैं कहां रहूं?' उसने उत्तर दिया—"तेरा निवास इस नदी के पूरब में हो। अब तक भी यह नदी कोसलों और विदेहों की सीमा है।"

इसे वैदिक आर्यों के सरस्वती नदी के तट से सदानीरा के तट तक बढ़ने के रूप में लिया जाता है। बहुत समय तक यह नदी आर्यों के संसार की सीमा मानी जाती थी। इसके आगे यथेच्छ उनका आना-जाना नहीं था।

बृहदारण्यक उपनिशद शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग माना जाता है। इसी से विद्वान् उसका रचना-काल आठवीं शताब्दी ईस्वी पूर्व मानते हैं। यही समय भगवान महावीर के पूर्वज तीर्थंकर पार्श्वनाथ का है जो काशी नगरी में जन्मे थे। उनके जीवन की घटना है कि एक दिन वह गंगा के तट पर गये। वहां कुछ तापस पंचाग्नि तप करते थे। बृहदारण्यक उपनिषद् (४-३-१२) में ही हम तापसी और श्रमणों का निर्देश मात्र पाते हैं। याज्ञवाल्क्य जनक से आत्मा का स्वरूप बतलाते हुए कहते है कि "इस सुषुप्त अवस्था में श्रमण अश्रमण और तापस अतापस हो जाता है।"

यज्ञ-प्रधान ब्राह्मण-संस्कृति

शतपथ ब्राह्मण में तप से विश्व की उत्पत्ति बतलाई है। प्रतिदिन अग्निहोत्र करना एक प्रधान कर्म था। इसकी उत्पत्ति की कथा इस प्रकार बतलाई है—'प्रारम्भ में प्रजापति एकाकी था। उसकी अनेक होने की इच्छा हुई। उसने तपस्या की। उसके मुख से अग्नि उत्पन्न हुई। चूंकि सब देवताओं में अग्नि प्रथम उत्पन्न हुई; इसी से उसे अग्नि कहते हैं। उसका यथार्थ नाम अग्नि है। मुख से उत्पन्न होने के कारण अग्नि का भक्षक होना स्वाभाविक था। किन्तु उस समय पृथ्वी पर कुछ भी नहीं था। अतः प्रजापति को चिन्ता हुई, तब उसने अपनी वाणी की आहुति देकर अपनी रक्षा की। जब वह मरा तो उसे अग्नि पर रखा गया; किन्तु अग्नि ने उसके शरीर को ही जलाया।" अतः प्रत्येक व्यक्ति को अग्निहोत्र क[illegible] चाहिए। यदि नया जीवन प्राप्त करना चाहते [illegible] अग्निहोत्र करो।

ऋग्वेद का पहला मंत्र है 'अग्निमी[illegible] था और योगी

यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतार रत्नधातमम् । अग्नि देवों के पुरोहित है। पुरोहित का अर्थ है, आगे रखा हुआ। अग्नि में आहुति देकर ही देवों को तुष्ट किया जा सकता है।

ब्राह्मणग्रन्थों के काल में यज्ञो का प्राधान्य रहा। उनके पश्चात् आरण्यकों का समय आता है। देवताविशेष के उद्देश्य से उनका त्याग ही यज्ञ है। यह आरण्यकों को मान्य नहीं है। ब्राह्मणग्रन्थों का सर्वोच्च लक्ष्य स्वर्ग था और उसकी प्रगति का मार्ग था यज्ञ। किन्तु आरण्यकों में यह बात नही है। तैत्तिरीय आरण्यक में ही प्रथम बार श्रमण शब्द तपस्वी के अर्थ में आया है।

ऋग्वेद के संकलयिता ऋषि अरण्यवासी ऋषियों से भिन्न थे। वे अरण्य में नही रहते थे। वैदिक साहित्य में 'अरण्य' शब्द के जो अर्थ पाये जाते है, उनसे इस पर प्रकाश पड़ता है। ऋग्वेद में गाँव के बाहर की बिना जुती जमीन के अर्थ में 'अरण्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। शतपथ ब्राह्मण (५।३।३५) में लिखा है—अरण्य में चोर बसते है। बृहदा० उप. (५।११) मे लिखा है-'मुर्दे को अरण्य मे ले जाते हैं' किन्तु छा० उप० (८।५।३) में लिखा है कि अरण्य मे तपस्वी जन निवास करते है।

विद्वानों का मत है—जब वैदिक आर्य पूरब की ओर बढ़े तो यज्ञ पीछे रह गये और यज्ञ का स्थान तप ने ले लिया, किन्तु तप को स्वीकार करने पर भी अर्य देवताओं के पुरोहित अग्नि को नहीं छोड़ सके; अतः पञ्चाग्नितप प्रवर्तित हुआ। भगवान् पार्श्वनाथ को गंगा के तट पर पञ्चाग्नि तप तपने वाले ऐसे ही तपस्वी मिले थे।

आश्रम-चतुष्टय

चार आश्रमों की व्यवस्था भी चिन्त्य है। ब्राह्मण को ब्रह्मचारी और गृहस्थ के रूप में जीवन बिताने के बाद संन्यासी हो जाना चाहिये, यह नियम वैदिक साहित्य में नहीं मिलता। पौराणिक परम्परा के अनुसार राज्य त्याग कर बन में चले जाने की प्रथा क्षत्रियों में प्रचलित थी।

कवि कुलगुरु कालिदास ने रघुवंश मे रघुओं का वर्णन करते हुए कहा है—

शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ।

अर्थात् शैशवकाल मे विद्याभ्यास करते है, यौवन में विषयभोग करते है, वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति अर्थात् वानप्रस्थाश्रम में रहते हैं और अन्त में योग के द्वारा शरीर त्याग करते हैं।

गौतम धर्मसूत्र में (८।८) मे एक प्राचीन आर्य का मत है कि वेदों को तो एक गृहस्थाश्रम ही मान्य है। अथर्ववेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्रह्मचर्याश्रम का, विशेषतः उपनयन का, विधान है किन्तु चार आश्रमों का उल्लेख छा. उप. में है। बाल्मीकि रामायण में किसी संन्यासी के दर्शन नही होते, सर्वत्र वानप्रस्थ मिलते है,

लोकमान्य तिलक ने अपने गीता रहस्य में लिखा है--वेदसंहिता और ब्राह्मणों में संन्यास को आवश्यक नही कहा। उल्टे जैमिनि ने वेदों का यही स्पष्ट मत बतलाया है कि गृहस्थाश्रम में रहने से ही मोक्ष मिलता है। (वेदान्तसूत्र ३, ४, १७, २०,) उनका यह कथन कुछ निराधार भी नहीं है क्योंकि कर्मकाण्ड के इस प्राचीन मार्ग को गौण मानने का आरम्भ उपनिषदों में ही पहले पहल देखा जाता है। उपनिषत्काल में ही यह मत अमल मे आने लगा कि मोक्ष पाने के लिए ज्ञान के पश्चात् वैराग्य से कर्म-संन्यास करना चाहिये।' इत्यादि।

किन्तु प्राचीन उपनिषदों में वही पुरानी ध्वनि मिलती है—शतपथ ब्रा. (१३, ४-१-१) में लिखा है—'एतद् वै जरामर्य सत्रं यद् अग्नि होत्रम्' अर्थात् जब तक जिओ, अग्निहोत्र करो। ईशा० उप० में कहा है--'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समा' अर्थात् एक मनुष्य को अपने जीवन भर कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिये। बोधायन और आपस्तम्ब सूत्रों में भी गृहस्थाश्रम को ही मुख्य कहा है। स्मृतियों की भी कुछ ऐसी ही स्थिति है। मनुस्मृति में संन्यास आश्रम का कथन करके भी अन्य आश्रमों की अपेक्षा गृहस्थाश्रम को ही श्रेष्ठ कहा है।

श्रमण—धर्म का महत्त्व

इसके विपरीत जैन धर्म के अनुसार श्रमण धर्म को अपनाये बिना मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। गृहस्थ-धर्म मुनि-धर्म का लघु रूप है और जो मुनि-धर्म का

पालन करने मे असमर्थ होता है, वह गृहस्थ-धर्म का पालन करता है।

त्याज्या नजस्त्रं विषयान् पश्यतोऽपि जिनाज्ञया।
मोहात्त्यक्तुमशक्तस्य गृहिधर्मोऽनुमन्यते ॥

जो जिनदेव के उपदेशानुसार, संसार के विषयो को त्याज्य जानते हुए भी मोहवश छोडने मे असमर्थ है, उसे गृहस्थ-धर्म का पालन करने की अनुमति दी जाती है।

जैन धर्म के पाँच व्रत प्रसिद्ध है—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनका सर्व देश-पालन श्रमण करते है और एकदेश को गृहस्थ पालता है। अतः श्रमणों के व्रतों को महाव्रत और गृहस्थों के व्रतों को अणुव्रत कहते है। भगवान ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीसों तीर्थंकरो ने गृहवास छोड़कर श्रमण-धर्म को अगीकार किया था।

वैदिक साहित्य में श्रमण तत्त्व

श्रीमद्भागवत मे ऋषभदेव का जो चित्रण है, वह भी जैन मान्यता का ही समर्थन करता है। उसमे उनकी तपस्या का वर्णन करते हुए कहा गया है—उस समय केवल शरीर मात्र उसके पास था और वे दिगम्बर-वेष में नग्न विचरण करते थे। मौन से रहते थे। कोई डराये, मारे, ऊपर थूके, पत्थर फेंके, मूत्र विष्ठा फेकें तो इन सबकी ओर ध्यान नही देते थे। यह शरीर असत् पदार्थों का घर है, ऐसा समझ कर अहंकार मम-कार का त्याग करके अकेले भ्रमण करते थे। उनका कामदेव के समान सुन्दर शरीर मलिन हो गया था, आदि।

इसी में यह भी कहा है कि वातरशन श्रमणो के धर्म का उपदेश देने के लिए उनका अवतार हुआ। जन्महीन ऋषभदेव जी का अनुकरण करना तो दूर, अनुकरण करने का मनोरथ भी कोई अन्य योगी नहीं कर सकता क्योकि जिस योगबल को ऋषभ जी ने असार समझकर ग्रहण नहीं किया, अन्य योगी उसी को पाने पाने की चेष्टाएं करते हैं।

जैन ग्रन्थों में ऋषभ को हिरण्यगर्भ भी कहा है क्योकि उनके गर्भ में आने पर आकाश से स्वर्ण की वर्षा हुई थी। यथा—

गब्भट्ठियस्स जस्स उ हिरण्णवुट्ठी सकंचणा पडिया।
तेणं हिरण्णगब्भो जयम्मि उवगिज्जए उसभो ।

अर्थात् जिसके गर्भ मे आने पर सुवर्ण की वृष्टि हुई, इसी से ऋषभ जगत् मे हिरण्यगर्भ कहलाये।

ऋग्वेद म. १०, सूक्त १२१ की पहली ऋचा इस प्रकार है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

इसमें कहा गया है कि पहले हिरण्यगर्भ हुए। वह प्राणीमात्र के एक स्वामी थे। उन्होंने आकाश सहित पृथ्वी को धारण किया।

उधर महाभारत शान्तिपर्व अ. ३४९ मे हिरण्यगर्भ को योग का वक्ता कहा है—

'*हिरण्यगर्भः योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।*'

अर्थात् हिरण्यगर्भ योगमार्ग के प्रवर्तक है, अन्य कोई उनसे प्राचीन नही है। तो क्या ऋषभ ही तो हिरण्यगर्भ नहीं हैं?

भगवान् ऋषभ इक्ष्वाकुवंशी थे। इक्ष्वाकु मूलतः पुरु राजाओं की एक परम्परा थी। यद्यपि ऋग्वेद मे पुरुओं को सरस्वती के तट पर बतलाया गया है। किन्तु उत्तर इक्ष्वाकुओं का सम्बन्ध अयोध्या से था। जैन शास्त्रों में अयोध्या को ही ऋषभदेव का जन्म स्थान माना है। उधर सांख्यायन श्रौत्र सूत्र मे हिरण्यगर्भ को कौसल्य कहा गया है। अयोध्या को कोसल देश में कहा गया है। अतः कोसल देश मे जन्म लेने से ऋषभदेव को कौसल्य कहा जा सकता है। इस तरह योग के वक्ता हिरण्यगर्भ के साथ योगी ऋषभ की एकरूपता अन्वेषणीय है।

श्रमण-परम्परा और पुरातत्त्व

सिन्धु-घाटी के उत्खनन के सहयोगी श्री राम प्रसाद चन्दा ने अपने एक लेख मे लिखा है--'मोहेंजोदड़ो से प्राप्त लाल पाषाण की मूर्ति, जिसे पुजारी की मूर्ति समझ लिया गया है, मुझे एक योगी की मूर्ति प्रतीत होती है। वह मुझे इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए प्रेरित करती है कि सिन्धुघाटी में उस समय योगाभ्यास होता था और योगी

की मुद्रा में मूर्तियाँ पूजी जाती थीं। मोहेंजोदड़ो और हुरप्पा से प्राप्त मोहरें जिन पर मनुष्य रूप में देवों की आकृति अंकित है, मेरे इस निष्कर्ष को प्रमाणित करती हैं।

'सिन्धुघाटी से प्राप्त मोहरों पर बैठी अवस्था मे अंकित मूर्तियां ही योग की मुद्रा मे नही है किन्तु खड़ी अवस्था में अंकित मूर्तियाँ भी योग की कायोत्सर्ग मुद्रा को बतलाती है। मथुरा म्यूजियम में दूसरी शती की कायोत्सर्ग मे स्थित ऋषभदेव जिन की एक मूर्ति है। इस मूर्ति की शैली सिन्धु से प्राप्त मोहरों पर अकित खड़ी हुई देव-मूर्तियों की शैली से बिल्कुल मिलती है। ऋषभ या वृषभ का अर्थ बैल होता है और ऋषभदेव तीर्थंकर का चिह्न बैल है। मोहर न० ३ से ५ तक के ऊपर अकित देवमूर्तियों के साथ बैल भी अकित है जो ऋषभ का पूर्व-रूप हो सकता है।

इसी पर डा० राधाकुमद मुकर्जी ने अपनी हिन्दु सभ्यता नामक पुस्तक मे लिखा है : श्री चन्दा ने ६ अन्य मोहरों पर खड़ी हुई मूर्तियों की ओर भी ध्यान दिलाया है। फलक १२ और ११८ आकृति ७ (मार्शल कृति मोहेजोदड़ो) कायोत्सर्ग नामक योगासन में खडे हुए देवताओ को सूचित करती है। यह मुद्रा जैन योगियों की तपश्चर्या में विशेष रूप से मिलती है; जैसे मथुरा संग्रहालय मे स्थापित तीर्थंकर श्री ऋषभदेव की मूर्तियां। ऋषभ का अर्थ है बैल जो आदिनाथ का लक्षण है। मुहर संख्या F. G. H. फलक दो पर अकित देवमूर्ति मे एक बैल ही बना है। संभव है यह ऋषभ का ही पूर्व रूप हो। यदि ऐसा हो तो शैव-धर्म की तरह जैन-धर्म का मूल भी ताम्र युगीन सिन्धु सभ्यता तक चला जाता है।

(हि. सं. २३-२४)

उक्त तथ्यों के प्रकाश मे जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर योगी ऋषभदेव की स्थिति पुरातत्त्वज्ञो के लिए अन्वेषण का रुचिकर विषय हो सकती है और उनकी स्थिति स्पष्ट होने पर श्रमण परम्परा के उद्गम पर भी प्रकाश पड़ सकता है। श्री मद्भागवत् में जो 'वातरशनानां श्रमणानामृषीणाम्' आदि लिखा है, ये शब्द अनुसन्धान की दृष्टि से महत्व के है।

तैत्तिरीय आर० मे भी इसी प्रकार कहा है—'वातरशना ह ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवुः (२-७)।

ऋग्वेद (१०-१३६-२) मे भी मुनियो के लिये वातरशना कहा है।

अथर्ववेद (२।५।३) मे इन्द्र के द्वारा यतियों का वध किये जाने की कथा आती है।

यह कथा एतरेय ब्रा. (७-२८) और पञ्चविंश ब्राह्मण (१३।४।७, ८।१।४) में भी आई है।

सायण ने अपने भाष्य मे लिखा है—

'यतिर्न-पतयो नाम नियमशीला आसुर्या प्रजाः यद्वाऽत्र यतिशब्देन वेदान्तार्थविचारशून्या परिव्राजका विवक्षिता.। (अथर्व)

अर्थात् यति का अर्थ है व्रत-नियम का पालन करने वाले असुर लोग। अथवा यहाँ यति शब्द वेदान्त के विचार से शून्य परिव्राजक लेना चाहिए।'

पञ्चविंश ब्राह्मण की व्याख्या में सायण ने एक स्थान पर यति का अर्थ 'यजन विरोधी जना.' किया है। अर्थात् इन्द्र ने यतियो को मारा, वे सब यज्ञयागादि विरोधी और वेदविरुद्ध व्रतनियमादि का पालन करने वाले थे।

ऋग्वेद के वातरशन मुनि, तै. आ. के वातरशन श्रमण भिन्न प्रतीत नही होते। वे ही सम्भवतः यति भी हों। श्री मद्भागवत् में उन्ही वातरशन श्रमणो के धर्म के साथ ऋषभावतार को जोड़ा गया है। यह आकस्मिक प्रतीत नही होता। इन सबके प्रकाश मे श्रमण परम्परा की प्राचीनता का दर्शन होता है। उसी परम्परा को भगवान् महावीर ने अपना कर आज से २५०० वर्ष पहले पावा से निर्वाण लाभ किया था। हम उनकी उस शुद्ध-बुद्ध आत्मा को नमन करके अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते है।

□□

अधिष्ठाता-स्याद्वाद महाविद्यालय,
बी-३।८०, भदैनी, वाराणसी

मध्य प्रदेश की प्राचीन जैन कला

□ प्रो० कृष्ण दत्त वाजपेयी, सागर

ललित कलाओ के विकास की दृष्टि से भारत के मध्यवर्ती क्षेत्र का विशेष महत्व है। प्रागैतिहासिक युग से लेकर उत्तर-मध्यकाल तक इस भू भाग मे ललित कलाये अनेक रूपो मे संवर्धित होती रही। नर्मदा के उत्तर मे विध्य की उपत्यकाओ मे आदिम जन एक दीर्घकाल तक शिलाश्रयों मे निवास करते थे। वे अपनी गुहाओ की दीवालो और छतो पर चित्रकारी करते थे। अधिकाश प्राचीन चित्र आज भी इन गुहाओ में सुरक्षित है और तत्कालीन जन-जीवन पर रोचक प्रकाश डालते है।

इस क्षेत्र मे से होकर अनेक बडे मार्ग जाते थे। ये मार्ग मुख्यत. व्यापारिक सुविधा हेतु बनाये गये थे। धर्म-प्रचार तथा साधारण आवागमन के लिए भी उनका उपयोग होता था। एक बड़ा मार्ग इलाहाबाद जिले के प्राचीन कौशाम्बी नगर से भरहुत (जि० सतना), एरन (प्राचीन ऐरिकिण, जि० सागर), ग्यारसपुर तथा विदिशा होते हुए उज्जैन को जाता था। उज्जैन से गोदावरी तट पर स्थित प्रतिष्ठान (आधुनिक पैठन) नगर तक मार्ग जाता था। अन्य बडा मार्ग मथुरा से पद्मावती (ग्वालियर के पास पवाया), कान्तिपुरी (मुरैना जिले का कुतवार), तुम्बवन (तुमैन, जिला गुना), देवगढ (जि० झासी) होता हुआ विदिशा को जाता था। तुम्बवन से एक मार्ग कौशाबी को जोडता था। इन मार्गो पर अनेक नगरो के अतिरिक्त छोटे गाँव भी थे। व्यापारी तथा अन्य लोग जो इन मार्गो मे यात्रा करते थे, इन मार्गो के उपयुक्त स्थानो पर मन्दिरो, स्तूपों, धर्मशालाओं आदि का निर्माण कराते थे। बडे नगरो, गावो तथा वन्यस्थलो मे अनेक मन्दिरो आदि के अवशेष मिले है। इन जैन स्मारको तथा कलाकृतियो की संख्या बहुत बडी है। तुमैन, देवगढ, चंदेरी, थूबोन, अहार, विदिशा, खजुराहो आदि स्थान जैन वास्तु तथा मूर्तिकला के प्रमुख केन्द्र बने। मध्यकाल मे देश के विभिन्न भागो मे जैन धर्म का जो इतना अधिक प्रसार हुआ, उसका एक मुख्य कारण व्यापारियों द्वारा बहुत बडी संख्या मे जैन मन्दिरों, मठों, मूर्तियो आदि का निर्माण कराना तथा विद्वानों को प्रोत्साहन प्रदान करना था।

मध्यप्रदेश क्षेत्र मे भरहुत तथा साची बौद्ध कला के आरम्भिक केन्द्रो के रूप मे प्रख्यात है। विदिशा, एरन, मुमरा, नचना आदि अनेक स्थलो पर वैष्णव तथा शैवधर्मों का विकास मौर्य युग से लेकर गुप्त युग तक बड़े रूप मे हुआ। जहा तक जैन धर्म का सम्बन्ध है, अनुश्रुति द्वारा इस क्षेत्र मे इस धर्म के उद्भव तथा प्रारम्भिक विकास पर रोचक प्रकाश पडता है। जैन साहित्य मे विदिशा नगरी का उल्लेख बडे सम्मान के साथ किया गया है और यह कहा गया है कि इस नगरी मे भगवान् महावीर की पूजा प्रारम्भ मे 'जीवन्त स्वामी' के रूप मे होती थी। अनुश्रुति के आधार पर, अवन्ति के शासक प्रद्योत ने इस प्रतिमा को रोरुक (सिंधु-सौवीर राज्य) से लाकर विदिशा मे प्रतिष्ठापित किया था। इस प्रतिमा के सम्मान मे रथ-यात्राओ के उत्सव बड़े समारोह के साथ निकलते थे।

विदिशा के अतिरिक्त उज्जयिनी (उज्जैन) मे भी जैन धर्म के प्रारम्भिक प्रचार का उल्लेख 'कालकाचार्य-कथानक' आदि ग्रन्थो मे उपलब्ध है।

शुग सातवाहन काल (ई० पूर्व दूसरी शती से लगभग २०० ई० तक) मे विदिशा मे यक्ष-पूजा का प्रचलन था। यक्षों तथा यक्षियों की अनेक महत्त्वपूर्ण मूर्तिया विदिशा से मिली है। कुछ वर्ष पूर्व बेतवा नदी से यक्ष यक्षी की विशाल प्रतिमायें प्राप्त हुई, जो अब विदिशा के संग्रहालय मे सुरक्षित है। नाग-पूजा का भी प्रचार विदिशा, पद्मावती, कान्तिपुरी आदि स्थानों में बड़े रूप मे हुआ। नाग-नागियों की प्रतिमायें सर्पाकार तथा मानवाकार दोनों रूपो में बनाई जाती थी।

शक-कुषाण-युग (ई० पूर्व प्रथम शती से द्वितीय शती ई० के अन्त तक) मे कलाकेन्द्र के रूप में मथुरा की बड़ी उन्नति हुई। वहा जैन तथा बौद्ध धर्मों का असाधारण विकास हुआ। मूर्ति-शास्त्र के महत्व की दृष्टि से मथुरा मे निर्मित प्रारम्भिक जैन एव बौद्ध कलाकृतियां तथा वैदिक-पौराणिक देवों की अनेक प्रतिमायें उल्लेखनीय है। विविध भारतीय धर्म पूर्ण स्वातंत्र्य तथा सहिष्णुता के वातावरण मे साथ-साथ, बिना ईर्ष्या-द्वेष के मथुरा, विदिशा, उज्जयिनी आदि अनेक नगरो मे शताब्दियो तक पल्लवित-पुष्पित होते रहे। यह धर्म-सहिष्णुता प्राचीन भारतीय इतिहास की एक बहुत बड़ी विशेषता मानी जाती है।

शक-कुषाण काल में मथुरा के साथ विदिशा का संपर्क बहुत बढ़ा। इन वशो के शासको के बाद विदिशा मे नाग राजाओ का शासन स्थापित हुआ। उनके समय मे मथुरा कला का स्पष्ट प्रभाव मध्यभारत के पद्मावती, विदिशा आदि नगरो की कला-कृतियों मे देखने को मिलता है। कला मे बाह्य रूप तथा आध्यात्मिक सौदर्य के साथ रसदृष्टि का समावेश इस काल से मिलने लगता है, जिसका उन्मेष गुप्तकाल (चौथी से छठी शती ई०) मे विशेष रूप से हुआ।

मुख्यत: मथुरा मे जैन तीर्थङ्कर प्रतिमाओं को विशिष्ट लाछन या प्रतीक प्रदान करने की बात प्रारम्भ हुई। श्री वत्स चिह्न के अतिरिक्त विविध मगल चिह्न तथा तीर्थङ्करो से सम्बन्धित उनके विशेष प्रतीको का विधान उनकी प्रतिमाओं मे मथुरा की प्राचीन कला मे देखने को मिलता है। जैन सर्वतोभद्र (चौमुखी) प्रतिमायें भी मथुरा मे कुषाण-काल से बनने लगी। इसका अनुकरण अन्य कला-केन्द्रो मे किया गया।

कुछ वर्ष पूर्व विदिशा से तीन दुर्लभ तीर्थङ्कर मूर्तियो की प्राप्ति हुई। इन तीनो पर ब्राह्मी लिपि तथा संस्कृत भाषा में लेख खुदे है। दो प्रतिमाओ पर तीर्थङ्कर चद्रप्रभ का नाम तथा तीसरी पर तीर्थङ्कर पुष्पदंत का उत्कीर्ण है। लेखो से ज्ञात हुआ है कि तीनों मूर्तियों का निर्माण गुप्तवंश के शासक 'महाराजाधिराज' रामगुप्त के द्वारा कराया गया। यह रामगुप्त गुप्तसम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का बड़ा भाई था। उक्त लेखो तथा रामगुप्त नाम वाले बहुसख्यक सिक्को से रामगुप्त की ऐतिहासिकता सिद्ध हो गई है।

इन तीनों मूर्तियो की कला निस्सदेह मथुरा शैली से प्रभावित है। ध्यानमुद्रा मे पद्मासन पर स्थिति, अंगों का विन्यास, सादा प्रभामंडल आदि से इस बात की पुष्टि होती है। मथुरा की प्रारम्भिक मूर्तियों की तरह ये तीनों प्रतिमाये भी चारों ओर से कोर कर बनाई गई है। प्रत्येक तीर्थङ्कर मूर्ति के दोनो ओर चँवर लिए हुए देवताओं को प्रदर्शित किया गया है। मूर्तियों की चौकी पर चक्र बना हुआ है। विदिशा से प्राप्त ये तीनो नवीन मूर्तिया स्थानीय मटमैले पत्थर की बनी है। उनके लेख साँची तथा उदयगिरि के गुप्तकालीन ब्राह्मी-लेखों जैसे है।

गुप्तयुग में जैन कलाकृतियों का निर्माण विवेच्य क्षेत्र के विविध भागों में जारी रहा। विदिशा के पास उदयगिरि की गुफा सख्या २० मे गुप्त-सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम के शासन काल में तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की अत्यन्त कलापूर्ण मूर्ति का निर्माण हुआ। पन्ना जिले में सलेह के समीप सीरा पहारी से एक तीर्थङ्कर प्रतिमा मिली है, जिसका निर्माण-काल लगभग ५०० ई० है।

झाँसी जिल की ललितपुर तहसील मे स्थित देवगढ़ मे गुप्तकाल मे तथा पूर्व मध्यकाल (लगभग ६५० से १२०० ई०) में कला का प्रचुर उन्मेष हुआ। गुप्त काल मे वहां विष्णु के प्रसिद्ध दशावतार मन्दिर का निर्माण हुआ। अगले काल में यहाँ वेतवा नदी के तट पर अत्यन्त मनोरम स्थल पर जैन मन्दिरो का निर्माण हुआ। यह निर्माण-कार्य सातवी से बारहवी शती तक होता रहा। इस कार्य में शासकीय प्रोत्साहन के अतिरिक्त व्यवसायी वर्ग तथा जनसाधारण का सहयोग प्राप्त हुआ। फलस्वरूप यहां बहुसख्यक कलाकृतिया निर्मित हुई। देवगढ़ मे जैन धर्म के भट्टारक संप्रदाय के आचार्यों ने समीपवर्ती क्षेत्र मे जैन धर्म के प्रसार में बड़ा कार्य किया।

चंदेरी, थूबोन, दुधई, चाँदपुर आदि अनेक स्थलो से जैन धर्म सम्बन्धी बहुसख्यक स्मारक तथा मूर्तिया मिली है। ये इस बात की द्योतक है कि पूर्व मध्यकाल मे जैन-

[शेष पृ० १२० पर]

इसि-भासियाइं-सूत्र का जापानी अनुवाद

☐ श्री चन्द्र शेखर प्रसाद

जापान में जैन धर्म का अध्ययन :

एस० मात्सुनामी का इसिभासियाइं सूत्र का जापानी अनुवाद जापान के क्युसु विश्वविद्यालय से १९६७ में प्रकाशित हुआ। मात्सुनामी जी का जापानी अनुवाद मात्र संयोग नहीं है। धर्म एव दर्शन के अध्ययन मे लगे जापानी विद्वानों ने जैन धर्म के अध्ययन की एक विशेष आवश्यकता का अनुभव किया है। उनके इस विशेष आवश्यकता के अनुभव का एक इतिहास भी है। जापान के अधिकतर लोग बौद्ध है एवं वहां की सभ्यता एव सस्कृति के विकास मे बौद्ध धर्म की आधारमूलक भूमिका है। वहां बौद्ध धर्म का प्रचार सीधे भारत से नही, बल्कि कोरिया और चीन से हुआ एव उसके विकास मे भी चीन मे विकसित बौद्ध धर्म स्रोत का काम करता रहा। परन्तु बौद्ध धर्म के साथ भारतीय सभ्यता और सस्कृति भी वहाँ पहुची। भारतीय सभ्यता और सस्कृति की छाप वहा की भाषा, रीति-रिवाज, दैनिक जीवन आदि सभी क्षेत्रो में आज भी स्पष्ट दिखती है। उदाहरण के रूप मे जापानी वर्णमाला को ले। सस्कृत वर्णमाला मे अक्षर जिस ध्वनिक्रम मे है, उसी ध्वनिक्रम में जापानी वर्णमाला मे अक्षरो को सजाया गया है। सम्पूर्ण जापान मे मनाया जाने वाला उत्सव 'बोन' भारतीयो का पितृपक्ष ही है जिसमे पूर्वजो की याद एव सम्मान मे उत्सव मनाया जाता है। यह उत्सव उलम्बन सूत्र के नाम पर जापानी उच्चारण मे बदलकर उराबोन कहलाया जिसे सक्षेप मे लोग साधारणत. बोन कहते है। इस सूत्र मे मौद्गलायन के, अपनी माता की सद्गति के लिए किये प्रयत्नो का वर्णन है। ऐसे अनेक उदाहरण है जिनको गिनाने की तीव्र इच्छा का सवरण कर रहा हू।

जापान में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की उस छाप में कितना अंश जैन धर्म और जैन धर्मावलम्बियों का है इसका लेखा-जोखा अभी तक नही लिया गया है। इस उपेक्षा का कारण बौद्ध धर्म एवं भारतीय संस्कृति की आदान मे जापान का भारत से सीधे सम्बन्ध का अभाव ही रहा है। इसके अतिरिक्त एक और सबल कारण है। थियेन थाई नामक चीनी बौद्ध सम्प्रदाय के तीसरे सघ-नायक, जो बड़ी विचक्षण बुद्धि के थे, बौद्ध सूत्रो का मूल्यांकित विभाजन किया और बुद्ध द्वारा उपदेशित आगमों (पालो निकायो) को सबसे निम्न कोटि मे रखकर साधारण बुद्धि वालों के लिए उपदेशित सूत्र बतलाया। इस विभाजन का दुष्प्रभाव यह हुआ कि आगम सूत्रों की केवल उपेक्षा ही नही हुई, बल्कि उनके पठन-पाठन का सिलसिला भी चीन एव जापान मे अवछिन्न हो गया। वर्तमान युग मे इन सूत्रो मे जापान के विद्वानों की अभिरुचि पुन. बढी है जिसे प्रो० मस्तानी के शब्दो मे इन सूत्रों का भाग्योदय कहेंगे।

अभिरुचि के बढने का भी कारण है। पश्चिमी देशो के सम्पर्क मे आने पर पश्चिमी देशों की तकनीक से प्रभावित हो, चीनोन्मुखी जापान पश्चिमी सभ्यता एवं सस्कृति की उन्नत चीजो को अपने देश मे लाने और अपनाने मे एकजुट हो गया। धर्म एव दर्शन के अध्ययन-अध्यापन का क्षेत्र भी अछूता न रहा। शोधकार्य एव पर्यालोचनात्मक तुलनात्मक अध्ययन का पश्चिमी ढग अपनाया गया। इस क्रम मे बौद्ध विद्वानों की दृष्टि चीनी बौद्ध धर्म की ओर से हटाकर, बौद्ध धर्म की भारत मे उत्पत्ति और विकास तथा उसकी पृष्ठभूमि की ओर जा लगी। भारतीय धर्म-दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान अानेजाकी ने लिखा है कि अगर पूर्वी देशो में विकसित बौद्ध धर्म फूल और पराग हैं तो दक्षिणी देशों का बौद्ध धर्म शाखायें और पत्तियाँ। फूल और पराग की चमक में हम मूल को भुला नही सकते। जापान मे पुन: बौद्ध वचनो का मूल स्रोत आगमों, सस्कृत

सूत्रों एवं तिब्बती मे अनूदित सूत्र का अध्ययन एक ओर हुआ तो दूसरी ओर सम्पूर्ण भारतीय धर्म एव दर्शन का भी गम्भीर अध्ययन हुआ। भारतीय प्राच्य विद्या एव बौद्ध दर्शन के ख्यातनामा विद्वान एक पर एक इस क्षेत्र मे आये। इन विद्वानो मे प्रो० ऊइ अग्रगण्य है। अभी जीवित, काम मे लगे विद्वानों मे प्रो० हाजिमे नाकामुरा का नाम सबसे ऊपर है।

भारतीय धर्म एवं दर्शन के अध्ययन में जैन धर्म एव दर्शन का भी अध्ययन हुआ। जापान के विश्वविद्यालयों में बौद्ध धर्म के साथ जैन धर्म के अध्ययन की भी व्यवस्था है। जैन धर्म का अध्ययन जापानी विद्वानो के लिए एक विशेष महत्त्व रखता है। भगवान महावीर भगवान बुद्ध के समकालीन एवं एक ही कार्यक्षेत्र के होने के कारण जैन धर्म और बौद्ध धर्म का उद्भव और विकास परस्पर के संदर्भ में आदान-प्रदान, खण्डन-मण्डन से हुआ। जैन शास्त्रों में बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में वैसी सामग्रिया है जो स्वयं बौद्धो के बीच लुप्त हो गई है। उदाहरण के लिए पुद्गलवादी (आत्मवादी) बौद्ध सम्प्रदायो के शास्त्र आज उपलब्ध नही है, पर तत्त्वार्थसंग्रह भाष्य में पुद्गलवाद की सूत्रों एवं शास्त्रों के उद्धरण सहित चर्चा है। स्वयं पुद्गल शब्द जो बौद्ध-धर्म मे सम्पूर्ण व्यक्ति का बोध कराता है, जैन धर्म में मात्र भौतिक तत्त्व के लिए प्रयुक्त है। पुद्गल शब्द दोनों धर्मो मे एक ही स्रोत से आता है, पर उनके भिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों के सदर्भ मे इसका अर्थ एव पर्याय भिन्न हो गई है। इस प्रकार परस्पर सम्बन्धित होने के कारण ये दोनों धर्म शिक्षा की दृष्टि से जानने और समझने मे एक-दूसरे के पूरक है। इस तथ्य को जापानी विद्वानों ने अच्छी तरह पहचाना है एव इसी को मात्सुनामी जी ने अपने शब्दों मे इस प्रकार रखा है—"जैन धर्म से सम्बद्ध शोधकार्य मे जिन पहलुओ पर सबसे अधिक अभिरुचि है, उनमे एक है सहचर बौद्ध धर्म के साथ तुलना। वर्तमान मे सुरक्षित बौद्ध धर्म के मूल सूत्रों, उत्तरी परम्परा का आगम और दक्षिणी परम्परा का निकाय से बुद्ध के जो वचन थे, उन्हे विश्वसनीय रूप से बाहर निकालना संभव नही है, यह निश्चित हो चुका है। इसलिए जैनो के सूत्रो के अध्ययन की आवश्यकता है। जैन सूत्रो एव शास्त्रों में तीर्थङ्कर की बातें ठीक-ठीक उसी रूप में पूरी की पूरी सुरक्षित हैं, ऐसी बात नहीं है। फिर भी बौद्ध धर्म के पूर्व अथवा शाक्यमुनि के युग की चीजों को प्रस्तुत करने के अतिरिक्त शाक्यमुनि के सुधार के सम्बन्ध मे परिचय रखने वाली महत्वपूर्ण सामग्री है।"

इसिभासियाई में बौद्ध पात्र :

जैन धर्म एवं दर्शन का अध्ययन जापानी विद्वानों के लिए एक विशेष का महत्व का है। यह शिक्षा की दृष्टि से मात्र विषय को जानने के लिए ही नही, बल्कि उसके अपने बौद्ध धर्म, दर्शन एवं सस्कृति के स्रोत को अच्छी तरह समझने, उसके इतिहास की टूटी शृंखला को जोड़ने एव अस्पष्ट स्थलो के स्पष्टीकरण मे उपयोगी है। मात्सुनामी जी ने इसिभासियाइं को अनुवाद के लिए चुना, कारण इसमे हिन्दू और जैन ऋषियो के साथ बौद्ध भिक्षुओ एवं बौद्ध साहित्य में आये देवों की सूक्तियाँ भी है। ये सूक्तियाँ बौद्धो के लिए विशेष सामग्री है जो बौद्ध साहित्य में नही है। अनुवाद के क्रम में कुछेक ऋषियो का साम्य बौद्ध भिक्षुओं एव बौद्ध साहित्य में वर्णित देवों के साथ उन्होने बैठाया है। ये ऋषि इस प्रकार है—अर्हत ऋषि नारद (१)—बौद्ध परम्परा में भी कई नारद हैं। लेकिन इस नारद की सूक्तियो की विषय वस्तु का मेल वहाँ नहीं बैठता है।

अर्हत, ऋषि वज्जियपुत्त (२) पालि त्रिपिटक के थेरी गाथा में सम्मिलित भिक्षु वज्जिपुत्त (वृजिपुत्र) है जो वत्सिपुत्र से भिन्न है। प्रो० सुर्वारिंग ने वत्सीपुत्र किया है। अर्हत मुनि असितदेविल (३) बौद्ध परम्परा के असित देवल है जो ब्राह्मण मुनि थे। अर्हत ऋषि अंगरिसि भारद्दाइ (४) बौद्ध परम्परा के अगणिक भारद्वाज है जो ब्राह्मण थे, पर बौद्ध धर्म में प्रव्रजित हो गये। थेर गाथा में इनका भी नाम है। अर्हत ऋषि वगलचीरी (६) बौद्ध परम्परा के वखली है। ये भी थेर गाथा के भिक्षुओं में एक है।

अर्हत ऋषि महाकासाव (६) बौद्धो के महाकस्सप थेर है जो धर्म सेनापति सारिपुत्त, जिसका नाम पीछे आया है और मोग्गल्लान की मृत्यु के बाद संघ के अग्रणी

भिक्षु बने और जिन्होंने बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद प्रथम धर्म संगीति का आयोजन करवा कर बुद्ध के उपदेशों का धम्म-विनय के रूप में संकलन करवाया।

इनके अतिरिक्त जिनकी समता बैठायी है, वे है— अर्हत ऋषि बाहुका (१८) वाहिक, उक्कल (२०) उक्कल, रामपुत्त (१३) उद्दकरामपुत्त, मावग (२६) मातकपुत्त, पिग (३२) पिगिय, सातिपुत्त (३८) सारिपुत्त, संजय (३९) सञय एवं सजय बेलट्ठिपुत्त, दीवायण (४०) कण्हदीपायण, सोम (४२) सुत्त सोमा, जम (४३) यमक, वरुण (४४) वरुण, वेसमण (४५) वेस्समन। इनमें से कई थेरगाथा मे भी आये है।

वे अर्हत ऋषि, जिनकी समता बौद्ध परम्परा मे नही है, वे है— अर्हत ऋषि पुफ्फसालपुत्त (५), कुम्मापुत्त (७), केतलीपुत्त (८), मखलिपुत्त (११), मधुरायण (१५), विदु (१७) वरिसव कण्ह (१८) आरियायण (१९), गाहावतिपुत्त (२१), दगभाल (२२), हरिगिरि (२४) अबड (२५), तारायण (२६) इन्द्रनाग (४१)।

जिन अर्हत ऋषियों के सम्बन्ध में मात्सुनामी जी ने कुछ नही कहा है वे है—अर्हत तेतलीपुत्त (१०), जण्णबक्क (१२), मेतेज्ज भयाली (१३), सोरियायण (१६), वारत्तइ (२७), अद्दह (२८), बर्द्धमान (२९), वगु (३०), पास (३१), अरुणमहासालपुत्त (३३), इसिगिरि (३४), अद्दालक (३५) सिरिगिरि (३७)।

मात्सुनामी जी ने अर्हत ऋषियों का जो साम्य बौद्ध परम्परा में पाया है आवश्यकता है उसे और विस्तृत रूप देने की। इससे इन पत्रों के सम्बन्ध में विशेष जानकारी मिलेगी एवं इनकी सूक्तियों के तुलनात्मक अध्ययन से अनेक अस्पष्ट स्थलों पर प्रकाश मिलेगा।

अनुवाद की कुछ विशेषताएं :

मात्सुनामी जी ने अपने अनुवाद में मुख्य रूप से प्रो० सुब्रिंग की पुस्तक Isibhasaiyaim, Ein Jaina-Text der Frühheit की सहायता ली है। पिसेल की भी सहायता ली गई है। अनुवाद के क्रम में मात्सुनामी जी ने टीका आदि में जहां कही भी सूत्र का भिन्न पाठान्तर मिला है, उसे पाद-टिप्पणियों में दिया है और जहां-तहाँ शब्दों की बनावट पर भी प्रकाश डाला है। अपने बौद्ध धर्म की शिक्षा और अनुभव का भी उपयोग उन्होंने अनुवाद मे किया है। अंबडा-अध्ययन के प्रारम्भ में आये 'देवाणुप्पिआ' की समता बुद्धानुशासन से बैठायी है। बुद्धानुशासन बुद्ध और अनुशासन की सधि से नहीं, बल्कि बुद्धानाम के नाम का नु होकर बना लगता है। बुद्धानाम शासन की तरह देवानामप्रिय शब्द बना है जो अशोक के शिलालेखों मे प्रयुक्त है। पर वहा यह श्रेष्ठ के अर्थ में आया है जबकि यहा हेय अर्थ लिए है। मात्सुनामी जी ने कहीं कहीं शब्दों के भिन्न अर्थ को लेकर गाथाओं का तर्कसंगत अर्थ लगाया है, जो स्पष्टीकरण के स्वरूप मे है। दविलज्झयण की आठवी गाथा का अर्थ श्री मनोहर मुनि जी म० शास्त्री करते है—"जैसे श्रेष्ठ दूध भी दही के ससर्ग से दुग्धत्व पर्याय को छोडकर दही बन जाता है, वैसे गृहस्थों के ससर्ग दोष से मुनि भी पाप कर्म मे लिप्त हो जाते है।" मात्सुनामी जी अन्तिम पक्ति का "गृद्धि अर्थात् तृष्णा के दोष से (कारण से) पाप कर्म बढ़ता है—" ऐसा अर्थ करते है। उन्होने गेहिप्पदोसेण के 'गेहि' का अर्थ गृहस्थ नहीं करके गृद्धि अर्थात् तृष्णा करते है। टीका मे 'गेहि' का अर्थ 'गृद्धि' ही है। मात्सुनामी जी का अर्थ अधिक तर्कसगत है, कारण गृहस्थों के ससर्ग को सर्वथा पापकर्म मे गिरना मान लेने से गृहस्थों को ऐसे निम्नस्तर पर कर दिया जाता है कि सूत्रों एवं शास्त्रों में वर्णित उज्ज्वल चरित्र के गृहस्थो की कथा असगत हो जाती है। आध्यात्मिक विकास का मार्ग गृहस्थों के लिए भी है।

माईपुत्त अज्झयण (३८) की गाथा—१४ का अर्थ श्री मनोहर मुनि जी म० शास्त्री करते है—"इन्द्रिय-जेता के लिए जंगल क्या और दान्त (दमनशील) व्यक्ति के लिए आश्रम क्या? अर्थात् उसके लिए वन-आश्रम दोनों सम है। रोग से अतिक्रान्त मुक्त व्यक्ति के लिए औषध की आवश्यकता नही है और शास्त्र के लिए अभेद्यता नही है। वह सबको भेद सकता है।" इसकी अन्तिम पक्ति (णातिक्कं तस्स भेसज्ज ण वा सत्थस्स भेज्जता।) का मात्सुनामी जी के शब्दों में व्याधि से मुक्ति प्राप्त व्यक्ति के लिए औषध नही अथवा शल्य शस्त्र से चीरने-फाड़ने की

स्थिति नही (के जैसे)" ऐसा अर्थ है। यह अर्थ अधिक तर्कसंगत है, कारण शस्त्र के लिए भी अभेद्यता है। 'फिर रोग से मुक्ति के लिए औषध की अनावश्यकता' और 'शस्त्र के लिए अभेद्यता नही' के बीच वैसी संगति नहीं जो दोनों एक साथ उपमा का काम करें। वस्तुतः इस गाथा में उपयोगिता खतम होने की बात पर बल है—दान्त इन्द्रिय-जेता के लिए वन और आश्रम की जैसे कि व्याधिमुक्ति के लिए औषध की। इस संदर्भ मे शस्त्र के लिए अभेद्यता नही' अर्थ करने से गाथा के अर्थ में असंगति आ जाती है।

मात्सुनामी जी का इसिभासियाइ का जापानी अनुवाद संयोग नहीं, बल्कि जापान में जैन धर्म के अध्ययन की आवश्यकता का जो अनुभव किया गया है, वह व्यक्ति विशेष के प्रयास में पूर्तिलाभ कर रहा है। यह जापानी विद्वानों के लिए उपयोगी है, कारण इसमें उनके अपने बौद्ध-धर्म के सम्बन्ध में सामग्री है। साथ ही जैन धर्म के जिज्ञासुओं, उसके अनुयायियो एवं विद्वानों को भी इससे लाभ हो सकता है, कारण बौद्ध धर्म की शिक्षा और संस्कार में पले होने के कारण मात्सुनामी जी का अनुवाद कही-कही परम्परा के अधिक संनिकट और तर्कसंगत है। □□

[पृ० ११७ का शेषांश]

धर्म का अत्यधिक विकास हुआ। पूर्व में खजुराहो (जिला (छतहपुर) इस क्षेत्र का एक केन्द्र बना, जहा मन्दिरो के अतिरिक्त अनेक कलात्मक मूर्तियां दर्शनीय है। पूर्व तथा उत्तर मध्यकाल (१२०० से १८०० ई०) में मध्यप्रदेश के अनेक क्षेत्रों में कला का प्रचुर विकास हुआ। अहार, वीना-बारहा, अजयगढ, बानपुरा, मोहेन्द्रा, तेरही, दमोह, गंधरावल, ग्वालियर, ग्यारसपुर, भानपुरा, बड़ोह-पठारी आदि कितने ही स्थलो से जैन कला की प्रभूत सामग्री उपलब्ध हुई है। इसे देखने पर पता चलता है कि वास्तु-कला तथा मूर्तिकला अनेक रूपों में यहां विकसित होती रही। अधिकांश मन्दिरों का निर्माण नागर-शैली पर हुआ। मूर्तियों में प्रतिमा लक्षणों की ओर विशेष ध्यान दिया गया है।

पूर्व युगो के अनुरूप बहुसंख्यक मध्यकालीन जैन कलाकृतियां अभिलिखित मिली हैं। उन पर अंकित लेखों से न केवल धार्मिक इतिहास के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त हुई है, अपितु राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा भाषात्मक विषयो पर रोचक प्रकाश पड़ा है। मध्यप्रदेश के विभिन्न सार्वजनिक सगहालयो तथा निजी संग्रहों के अतिरिक्त कला की विशाल सामग्री आज भी विभिन्न प्राचीन स्थलों पर बिखरी पड़ी है, जिसकी समुचित सुरक्षा की ओर अब तुरंत ध्यान देना आवश्यक है। □□

विशाल हृदय

पाण्डवों को वनवास देकर कौरव खुशियाँ मना रहे थे। कौरव लोग खुशियाँ मनाने गन्धर्व-बाग को उपयुक्त समझ कर वहाँ पहुँचे। गन्धर्वों ने बाग में हानि होने की सम्भावना से उन्हें बाग में उत्सव मनाने को मना किया। किन्तु कौरव नहीं माने। तब गन्धर्व उन्हें रोकने को कटिबद्ध हो गए। यह सब देख अन्य कौरव तो भाग गये किन्तु उन्होंने दुर्योधन को पकड़ लिया। जब युधिष्ठिर को यह सूचना मिली तो उन्होंने कहा—हम घर में १०० और ५ हैं किन्तु दूसरों को १०५ हैं। उन्होंने अर्जुन को भेज कर दुर्योधन को छुड़ा लिया। □□

मगध और जैन संस्कृति

□ विद्यावारिधि डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

वर्तमान भारतीय संघ के बिहार राज्य की पटना कमिश्नरी (डिवीजन), विशेषकर उसके पटना एवं गया जिलों तथा हजारीबाग एवं शाहाबाद (आरा) जिलों के बहुभाग में व्याप्त क्षेत्र, इतिहास मे मगध नाम से प्रसिद्ध हुआ था। भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास में मगध देश का नाम स्वर्ण अक्षरो में अंकित है। जैन पुराणों में वर्णित ५३ देशों अथवा २५½ आर्य देशों, महाभारत मे उल्लिखित १८ महाराज्यों, जैन भगवती सूत्र के १६ जनपदों और महावीर-बुद्ध-कालीन षोडश महाजनपदों में मगध परिगणित है। स्थानांग एवं निशीथ सूत्रों में उल्लिखित भारत की दश महाराजधानियों और बौद्ध 'दीर्घनिकाय' के 'महासुदरसन सुत्त' में वर्णित छः महानगरियों में मगध की प्रसिद्ध राजधानी राजगृह सम्मिलित है।

सीमा एवं विस्तार :

सामान्यतया मगध जनपद की उत्तरी सीमा गंगानदी बनाती थी, जिसके पार (उत्तरी बिहार में) विदेह जनपद अवस्थित था। मिथिला और वैशाली उसकी प्रसिद्ध नगरियाँ थीं। मगध के पूर्व मे अंग देश था जिसकी राजधानी चम्पापुरी थी। चम्पा अपरनाम चंदना नदी इन दोनों जनपदों को पृथक् करती थी। पड़ोसी अंग देश के साथ मगध के कुछ ऐसे घनिष्ठ सम्बन्ध रहे कि बहुधा अंग मगध का एक युगल के रूप मे भी उल्लेख हुआ है। मगध के दक्षिण में मणि और मलय नाम के दो छोटे-छोटे जनपद थे और पश्चिम में काशी जनपद, उत्तर-पश्चिम में कोशल अपर नाम कुणाल देश (राजधानी श्रावस्ती) और दक्षिण-पश्चिम में वत्सदेश (राजधानी कौशाम्बी) अवस्थित थे।

इतिहास :

इस प्रदेश की सर्व-प्राचीन नगरी संभवतया गया थी, जिसे ब्राह्मणीय पुराणों के अनुसार, जन्हु की पाँचवीं या छठी पीढ़ी में उत्पन्न गय नामक राजा ने बसाकर इस प्रदेश पर अपना राज्य स्थापित किया था। उसके बहुत समय पश्चात् कुरु की पाँचवी पीढ़ी मे उत्पन्न वसु नामक राजा ने यदु के वंशजो की चेदि शाखा को विजित करके 'चैद्योपरिचर" उपाधि धारण की और विशाल साम्राज्य स्थापित किया जिसका विस्तार मत्स्यदेश पर्यन्त पूरे मध्य देश पर रहा बताया जाता है। उसकी मृत्यु के उपरांत राज्य उसके पाँच पुत्रों म विभक्त हो गया, जिनमें बृहद्रथ मगध के बार्हद्रथ वंश का संस्थापक हुआ। संभवतया इसी के समय से देश का मगध नाम भी प्रसिद्ध हुआ। ऐसा भी संकेत मिलता है कि मग नामक राजा ने उस स्थान पर, जो कालान्तर में कुण्डलपुर, नालन्दा और बड़ागाँव कहलाया, अपनी राजधानी बनाई थी जिसका नाम उसने सम्भवत: मगधपुर रखा। तदनन्तर उससे नातिदूर पंच पहाड़ियों से घिरे सुरम्य एवं सुरक्षित भू-भाग में उसने अपना दुर्ग एवं राजमहल बनाये और वह स्थान राजगृह कहलाया तथा शनै: शनै: वही देश की राजधानी बन गया। इसी मग के नाम पर देश की संज्ञा मगध हुई। यह सम्भव है कि उपरोक्त बृहद्रथ या उसके पुत्र का अथवा जरासंध का ही मूल या तत: प्रसिद्ध नाम मग रहा हो। राजधानी तो सम्भवतया वसु-चैद्योपरिचर के समय से ही राजगृह हो गयी थी। विभिन्न जैनाजैन अनुश्रुतियों में पाँच पहाड़ियों से घिरी इस महानगरी के अपरनाम गिरिव्रज, पंचशैलपुर, मगधपुर, चणकपुर, ऋषभपुर, क्षितिप्रतिष्ठित और कुशाग्रपुर प्राप्त होते है। उक्त पहाड़ियों के नाम विपुलगिरि (विपुलाचल), रत्नगिरि, उदयगिरि, स्वर्णगिरि एवं वैभारगिरि थे। कहीं-कही इनके नामांतर भी मिलते हैं। महाभारत-काल में उपरोक्त बृहद्रथ का वंशज, जिसे कही-कही वसु का पौत्र, अत: बृहद्रथ का पुत्र कहा है, प्रबल प्रतापी राजगृह नरेश जरासंध था।

इस प्रकार मगधराज्य और राजधानी राजगृह का अभ्युदय पुराणकाल में ही निष्पन्न हो चुका था, परन्तु शुद्ध इतिहास काल में भी मगध साम्राज्य को ही भारत

वर्ष का प्रथम साम्राज्य और महानगरी राजगृह को उसका केन्द्र बनने का श्रेय प्राप्त हुआ। पांचवीं शती ईसा पूर्व के प्रारम्भ में ही राजधानी राजगृह से नवीन नगर पाटलिपुत्र (पटना), अपरनाम कुसुमपुर, पुष्पपुर या पुष्पभद्र में स्थानान्तरित हो गयी थी और अगले एक सहस्राब्द पर्यन्त—बीच के तीन-चार शतियों के अन्तराल को छोड़ कर—वही भारतवर्ष की सर्वोपरि राज्य-सत्ता का केन्द्र रही। शिशुनाग, शैशुनाक, नन्द, मौर्य, शुग और गुप्त सम्राटों की प्रधान राजधानी मगध की महानगरी ही रही।

वैदिक साहित्य और मगध :

ऐसे विलक्षण ऐतिहासिक महत्व के होते हुए भी प्राचीन ब्राह्मणीय साहित्य एवं अनुश्रुतियों में मगध और मगधवासियों की निन्दा, भर्त्सना, तिरस्कार एवं उपेक्षा ही प्राप्त होती है। ऋग्वेद में मगध नाम का उल्लेख नहीं मिलता किन्तु एक मंत्र (३।५३।१४) में कहा गया है कि "कीकटों के देश में वे क्या करते है ? जहां गउएं सोमयाग के लिए भी पर्याप्त दूध नहीं देतीं। अतः हे मघवन प्रमंगद (अवैदिक) नैचाशाख (नीच, अनार्य) लोगों के (मध्यदेश वैदिक आर्यों की निवास भूमि के) पूर्व दिशा में स्थित उस प्रदेश को अपने हुंकार से भर दे।" स्पष्ट ही है कि कीकट, प्रमंगद और नैचाशाख शब्दों से मगध और मगधवासियों की ओर संकेत है। अथर्व वेद में एक स्थान (५।२३।१४) मे तो ज्वरनाशनदेव से यह प्रार्थना की गयी है कि वह मगध के निवासियों को (मगधेभ्यः) ज्वर से पीडित कर दे। अन्यत्र (१५।२।४५) "व्रात्य" का प्रिय धाम प्राची दिशा, उसकी पुंश्चली (रखैल) श्रद्धा और मित्र मागध (मगधवासी) बताए गये हैं। शतपथ ब्राह्मण (१।४,१०) में मागधों को ब्राह्मण या वैदिक धर्म के बाहर बताया गया है। कात्यायन (२२।४।२२) और लाट्यायन (८।६।२८) के श्रौत सूत्रों में कहा गया है कि व्रात्य धन या तो पतित ब्राह्मण को दिया जाय या मगध के ब्राह्मणों को दिया जाय। मनुस्मृति आदि अन्य अनेक ब्राह्मणीय ग्रन्थों से स्पष्ट है कि मध्यदेश (प्रायः वर्तमान उत्तर प्रदेश, दिल्ली, हरियाणा, पंजाब) के वैदिक आर्य मगध को पाप भूमि कहते थे और उस प्रदेश में गमनागमन करने का निषेध करते थे; यहां तक कह दिया गया कि काशी मे कोई कौवा भी मरे तो सीधा बैकुण्ठ जाय और मगध मे मनुष्य भी मरे तो गर्दभयोनि मे जन्म ले। मगधवासियों को अयज्वयन, अकर्म, अन्यव्रत, देवपीयु आदि अपशब्दो से सम्बोधित किया जाता था। उनके क्षत्रियों को घृणापूर्वक व्रात्य-क्षत्रिय, क्षात्रबंधु, वृषल आदि संज्ञाएं दी जाती थीं। उन्हे मध्यदेशीय वैदिक आर्य क्षत्रियो से बहुत नीचा समझा जाता था। इतना ही नही, मगध के ब्राह्मणो को भी पश्चिमी ब्राह्मणों की अपेक्षा अति निम्न कोटि का समझा जाता था। उनके विषय मे धारणा थी कि वे वेद और वेदानुमोदित यज्ञयाग एवं कर्मकाण्ड को सहज ही छोड़ देते है।

श्रमण-संस्कृति का केन्द्र—मगध :

कारण स्पष्ट है कि भारतवर्ष के प्राचीन सप्तखण्डों में से प्राच्य खण्ड से सूचित भू-भाग, जिसमे मगध और उसके पड़ोसी विदेह, अंग, बंग, कलिंग आदि जनपद विद्यमान थे, वैदिक आर्यों की सभ्यता, संस्कृति और धर्म से बहुत पीछे के समय तक अछूता रहता आया था। न केवल वहाँ के निवासी वैदिक आर्य ब्राह्मणो एवं क्षत्रियों की सन्तति मे नहीं थे, वे वातरशना, अर्हत, व्रात्य, निर्ग्रन्थ, श्रमण तीर्थकरों की परम्परा के उपासक तथा अनुयायी, इतिहासातीत ही नही, अनुमानातीत काल से रहते आये थे। उनकी सभ्यता भी नाग, यक्ष, वज्जि, लिच्छवि, ज्ञातृक, झल्ल, मल्ल, मोरिय, कोलिय, भंगि आदि अनार्य अवैदिक तत्वों द्वारा संपोषित एवं पल्लवित हुई थी और ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल, शिल्प आदि की दृष्टि से वैदिक आर्य सभ्यता की अपेक्षा श्रेष्ठतर एवं नागरिक सभ्यता थी। चिरकाल तक नाग जाति का प्राधान्य रहने के कारण यह नाग सभ्यता भी कहलाई। नगर, नागर, नागरी, नागरिक आदि शब्द, स्थापत्य की नागर शैली, भाषा की नागरी लिपि उसी सभ्यता की देन हैं। स्वयं प्राचीन युग की भारतीय जनभाषा प्राकृत और नागभाषा शब्द पर्यायवाची रहे हैं। यही भाषा चिरकाल तक मागधी या अर्धमागधी कहलाई। मागध या नाग सभ्यता का प्रसार होने और प्रभावक्षेत्र बढ़ने पर यह अर्धमागधी प्राकृत प्रायः पूरे भारत की लोक-भाषा बन गई थी। श्रमण तीर्थंकरों

का उपदेश उसी लोक भाषा मे होता था।

श्रमण संस्कृति की विशेषताएँ :

इस धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्परा के प्रस्तोता जितेन्द्रिय होने के कारण जिन या जिनेन्द्र, समस्त पूज्य-गुणों से युक्त होने के कारण अर्हत्, दिगम्बर या दिग्वास रहने के कारण वातरशन मुनि, व्रतपूर्वक सदाचरण के मार्ग पर आरूढ होने के कारण व्रात्य, समस्त अन्तरग एवं बहिरंग से मुक्त होने के कारण निर्ग्रन्थ, पूर्ण समत्व के साधक एवं उद्घोषक होने के कारण समण, स्वेच्छा एवं श्रमपूर्वक तप, त्याग, सयम का मार्ग अपनाने के कारण श्रमण, संसार को दु.खरूप जान कर और मान कर उससे पार होने के लिए धर्म-रूपी तीर्थ का उद्घाटन करने के कारण तीर्थकर कहलाते थे। अहिंसा पर आधारित यह परम्परा निवृत्ति-प्रधान थी। मनुष्य-मनुष्य के बीच किसी प्रकार का ऊँच-नीच आदि भेद-भाव इसे अभीष्ट नही था। सभी प्राणियों का हित सपादन इस सर्वोदय मार्ग का प्रयोजन था। इसकी दृष्टि उदार, सहिष्णु और अनेकान्तिक थी, कदाग्रह उससे दूर था। आज्ञा-प्रधानता की अपेक्षा परीक्षा-प्रधानता पर वह बल देती थी। स्वपुरुषार्थ द्वारा परम प्राप्तव्य की प्राप्ति उसका लक्ष्य था। वह वेदो, याज्ञिक हिसा और वैदिक कर्म-काण्ड की विरोधी थी। महाभारतोत्तर काल के श्रमण-धर्म-पुनरुत्थान आन्दोलन का प्रधान केन्द्र मगध रहा और तदनन्तर लगभग दो सहस्र वर्ष पर्यन्त इस प्रदेश को उसका प्रमुख गढ़ रहने का सौभाग्य प्राप्त रहा। अतएव कतिपय आधुनिक विद्वानों ने उक्त श्रमण या जैन सस्कृति और उसके धर्म को मगध संस्कृति और मागध धर्म नाम भी दिए है।

श्रमण परम्परा एवं मगध :

इस परम्परा के प्रथम प्रस्तोता आदिदेव ऋषभ थे, जो स्वयम्भू महादेव, ब्रह्मा और प्रजापति भी कहलाए। ऋग्वेद के कई मंत्रों मे उनके प्रत्यक्ष एवं परोक्ष उल्लेख है और प्रागैतिहासिक सिंधुघाटी सभ्यता के अवशेषो में उस युग मे उनकी पूजा के प्रचलन के संकेत पाये जाते है। उनका जन्म अयोध्या मे, केवलज्ञान प्रयाग मे अक्षयवट के नीचे, और निर्वाण कैलाश पर्वत पर हुए थे, किंतु उनका विहार इस प्राच्यखंड मे भी हुआ था। वह चौबीस तीर्थंकरों मे प्रथम थे। बाइसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि का निर्वाण सौराष्ट्र के उर्ज्जयन्त (गिरनार) पर्वत पर हुआ था। शेष बाइस तीर्थंकरो की निर्वाण-भूमियां बिहार प्रांत में ही है, जिनमे से १२वें तीर्थंकर वासुपूज्य का निर्वाण-स्थल भागलपुर जिले का मन्दारगिरि (चम्पापुर) है और अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर का पटना जिले का पावापुर (मध्यमा पावा या अपापापुरी) है। शेष बीस तीर्थंकरों का निर्वाण इसी प्रदेश के हजारीबाग जिले में स्थित समेदाचल (समेद शिखर या पारसनाथ पर्वत) पर हुआ था। नौवें तीर्थंकर पुष्पदन्त की जन्मभूमि काकन्दी थी। कुछ विद्वान मुंगेर जिले के काकन नामक स्थान से उसका समीकरण करते है। दसवें तीर्थंकर शीतलनाथ की जन्मभूमि भद्दिलपुर या भद्रिकावती थी—कुछ विद्वान भद्दिय की पहिचान मुंगेर (मुद्गलगिरि) से करते हैं, और कुछ भद्दिलपुर की पहिचान हजारीबाग जिले के मदिया नामक ग्राम से करते है जो किसी समय मलय जनपद की राजधानी थी। काकन्दी और भद्दिलपुर की पहचान बिहार के बाहर अन्य प्रदेशों में भी की गयी है। बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य की जन्मभूमि भागलपुर जिले का चम्पापुर था। उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ की तथा २१वें तीर्थंकर नमिनाथ की जन्म-भूमि उत्तरी बिहार की मिथिला नगरी थी। बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत की जन्मभूमि स्वय राजगृह नगरी थी और अन्तिम तीर्थंकर महावीर का जन्म तो उत्तरी बिहार मे, विदेह देश एवं शक्तिशाली वज्जि गणतन्त्र की राजधानी महानगरी वैशाली के एक उपनगर (कुण्डलपुर, कुण्डग्राम, बसुकुण्ड या क्षत्रिय-कुण्ड) मे हुआ था, किन्तु उन्हे केवलज्ञान की संप्राप्ति दक्षिणी बिहार मे ही ऋजुकूला नदी के तटवर्ती जृम्भिकग्राम के बाहर हुई थी। उनकी प्रथम देशना और धर्मचक्र प्रवर्तन मगध की राजधानी राजगृह के विपुलाचल पर हुआ था और निर्वाण पटना जिले मे स्थित पावापुर में हुआ माना जाता है। उनके इन्द्रभूति गोतम आदि ग्यारह गणधर भी परम विद्वान एवं तेजस्वी ब्राह्मण ही थे। मगध नरेश बिम्बिसार श्रेणिक उनके श्रावक सघ का मुखिया था, उसकी पट्टराणी चेलना उनके श्राविका संघ की

मुखिया थी, और उसके अभयकुमार, वारिपेण, मेघकुमार आदि दस पुत्र उनके परम शिष्य थे और दीक्षित होकर मुनि बने थे। प्रधान गणधर गौतम की निर्वाण भूमि गुणावा (मतान्तर से विपुलगिरि) भी मगध में ही थी। उनकी शिष्य परम्परा मे लगभग दो सौ वर्ष पर्यन्त जितने संघाचार्य हुए, वे प्राय सभी मगध निवासी थे। भगवान की द्वादशागवासी (जैन श्रुतागम) की वांचना के लिए प्रथम सगीति भी मगध की राजधानी पाटलिपुत्र मे ही हुई थी। ऋषभादि महावीर पर्यन्त प्रायः चौबीसों ही तीर्थंकरो का तथा उपरातकाल मे भी चिरकाल पर्यंत जैन श्रमणो का इस प्रदेश मे सतत बिहार होते रहने से ही वह बिहार नाम से प्रसिद्ध हुआ।

मगध में श्रमण–वैदिक–संघर्ष :

पूर्व काल के प्रसिद्ध नरेश वसु और जरासध के जैन-साहित्य मे विस्तृत विवरण प्राप्त होते है जिनका ब्राह्मणीय विबरणो के साथ स्थूलतः अद्भुत सादृश्य है। वसु मूलतः अहिंसा धर्म का अनुयायी था, परन्तु अपने सहाध्यायी नारद के विपक्ष मे दूसरे सहाध्यायी पर्वत का पक्ष लेकर याज्ञिक हिंसा का समर्थन करने के कारण पतन को प्राप्त हुआ था। यह इस प्रान्त मे वैदिक प्रभाव के प्रथम प्रवेश का सकेत था। इस घटना के समय मगध के तीर्थंकर मुनिसुव्रत के निर्वाण को पर्याप्त समय बीत चुका था। अगले तीर्थंकर मिथिला के नमिनाथ विदेह के जनकों के पूर्वज थे। उनके अहिंसा प्रधान आध्यात्मिक उपदेशों के प्रभाव के फलस्वरूप इस प्रान्त मे वैदिक धर्म के प्रभाव मे आये क्षत्रिय मनीषियों ने याज्ञिक हिंसा एवं वैदिक कर्म-काण्ड का विरोध किया तथा औपनिषदिक आत्मविद्या का विकास एवं प्रचार किया। अगले तीर्थंकर अरिष्टनेमि महाभारतकाल में हुए और नारायण कृष्ण के ताऊजात भाई थे। श्रमण धर्म पुनरुत्थान-आन्दोलन के वह प्रस्तोता थे। इसी समय मगध का प्रबल प्रतापी नरेश प्रतिनारायण जरासंध हुआ, जिसके आतक से त्रस्त होकर भी यादवगण अपने शूरसेन देश का परित्याग करके पश्चिम तटवर्ती द्वारकापुरी में जा बसे थे। था तो जरासंध भी श्रमणों के अहिंसा धर्म का ही अनुयायी, इसलिए ब्राह्मणीय साहित्य मे उसकी निन्दा हुई, साथ ही वह कृष्ण का प्रबल राज-नैतिक प्रतिद्वन्द्वी था और अन्ततः कृष्ण के छल-बल का उसे शिकार होना पड़ा। महाभारतोत्तर काल में वैदिक धर्म एव संस्कृति का तथा वैदिक आर्य क्षत्रियो की राज्य-सत्ता एव संख्या में द्रुत वेग से ह्रास हुआ, तो श्रमण धर्म पुनरुत्थान-आन्दोलन ने अभूतपूर्व बल पकड़ा और नाग प्रभृति अनेक प्रागार्य एवं अनार्य किन्तु देशज सत्ताएं पूरे देश में यत्र-तत्र उभर उठी। अन्तिम पौराणिक चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त भी इसी जाति का था, और तेइसवें तीर्थंकर पार्श्व का जन्म भी काशी के एक नाग क्षत्रिय या उरग वश मे हुआ था। उनके समय मे उक्त आन्दोलन अपने चरम शिखर पर था और मगध देश उनका प्रिय बिहार क्षेत्र था। उनके निर्वाण (ईसा पूर्व ७७७) के लगभग डेढ़ सौ वर्ष उपरात श्रमण परम्परा मे यह विश्वास बल पकड़ रहा था कि अन्तिम तीर्थंकर का उदय होने वाला है।

विविध श्रमण-सम्प्रदायों का उदय :

फलस्वरूप ईसा पूर्व छठी शती मे श्रमण परम्परा में उत्पन्न अनेक चिन्तकों ने उक्त अतिम तीर्थंकर होने का दावा किया। उनमे मक्खलिगोसाल, पूरणकास्सप, पकुभ कच्चायन, अजित केशकम्बलिन, संजय वेलट्ठि पुत्र, शाक्य पुत्र गौतम बुद्ध और निर्ग्रंथ ज्ञातृपुत्र (निगंठ नातपुत्त) वर्द्धमान महावीर के नाम तो प्राप्त ही होते है। ये सब मगध अथवा उसके निकटवर्ती प्रदेशों के निवासी थे और यह प्राचीन देश ही उनका प्रधान कार्यक्षेत्र था। इतना ही नही स्वय ब्राह्मण परपरा के सांख्य-दर्शन प्रणेता कपिल-मुनि और योगदर्शन के पुरस्कर्ता पतजलि ऋषि भी मगध-वासी ही रहे बताए जाते है—ये दोनों दर्शन श्रमण-विचारधारा से प्रभावित भी रहे प्रतीत होते है। मक्खलि-गोसाल का आजीविक सम्प्रदाय लगभग डेढ़ सहस्र वर्ष पर्यन्त जीवित रहकर जैन-परम्परा में ही समाविष्ट हो गया। बौद्ध-धर्म के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदाय अल्प-स्थायी रहे। बौद्धधर्म ने भारत देश की सीमाओं के बाहर पहुंच-कर अद्भुत विस्तार प्राप्त किया। बुद्ध का जन्म मगध के बाहर शाक्य देश मे हुआ था किन्तु उन्होंने सत्यान्वेषण के अपने प्रयोग और साधना मगध में ही किए, यही गया में उन्होंने बोधि प्राप्त की और मगध विदेह आदि जन-पदों को अपने कार्य-क्षेत्र के भीतर भी रखा, तथापि

उन्होंने अपना धर्म-चक्र प्रवर्तन गया से चलकर वाराणसी के निकट सारनाथ मे किया। उन्होंने अपने उपदेशों की भाषा प्राकृत का पालि रूप रखा जिसे श्रावस्त भाषा (उत्तरी कोसल की राजधानी श्रावस्ती की भाषा) भी कहा जाता है। उनका स्वय का प्रभाव-क्षेत्र भी मगध विदेह आदि प्राच्य देशो की अपेक्षा मध्यदेश अधिक रहा। वही मल्ल भूमि के कुशिनगर मे इनका परिनिर्वाण हुआ। इसके विपरीत, तीर्थङ्कर महावीर की द्वादशवर्षीय साधना का अधिकांश मगध मे ही व्यतीत हुआ। यही उन्हें केवल-ज्ञान की सम्प्राप्ति हुई। यही उनका धर्मचक्र प्रवर्त्तन हुआ। इसी प्रदेश मे तीस वर्षीय तीर्थङ्करत्व काल का बहु भाग बीता और यही उन्होंने निर्वाण-लाभ किया। उनके उपदेशों की भाषा भी मागधी का वह अर्धमागधी रूप था जिसे अन्य आस-पास के प्रदेश की बोलियो के समुचित मिश्रण के कारण एक अति विस्तृत भूभाग एव जन समुदाय की लोकभाषा का स्थान प्राप्त हुआ।

जैन धर्म एवं मगध .

मगध के शिशुनागवंशी (बिबिसार, अजातशत्रु, उदायी आदि) शिशुनाग नदिवर्द्धन, महानन्दी आदि, नंद-वशी और मौर्यवशी सम्राट् जो सभी व्रात्य क्षत्रिय थे, महावीर के धर्म के अनुयायी एव प्रबल पोषक रहे। उनके अभयकुमार, वर्षकार, शकटार, राक्षस और चाणक्य आदि महामन्त्री भी मगध निवासी तथा जैन धर्म के अनुयायी थे। अशोक मौर्य के समय मे श्रमण परम्परा के ही बौद्ध सम्प्रदाय का प्रचार बढ़ा तो मगध के सिहासन पर अशोक के उत्तराधिकारी दशरथ से आजीविक सम्प्रदाय को विशेष प्रश्रय मिला। सेनापति पुष्पमित्र शुंग ने अपने स्वामी अंतिम मौर्य नरेश का वध करके मगध का सिहा-सन हस्तगत करके ब्राह्मण धर्म के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया और श्रमणों पर अत्याचार किया, तो जैन सम्राट् कलिग-चक्रवर्ती महामेघवाहन खारवेल का उसे कोपभाजन बनना पड़ा। इसके पश्चात् मगध में सामान्यतया सभी श्रमण सम्प्रदायों को और विशेषकर जैनधर्म को फिर कभी राज्याश्रय प्राप्त नही हुआ। पूर्वमध्य काल मे पाल-वंशी नरेशो के समय मे बौद्धधर्म को पुन: प्रभूत प्रोत्सा-हन मिला, किन्तु उनके उपरान्त ही, विशेषकर मुसलमानो के आक्रमण ने (१२वी शती ई० के लगभग) इस प्रदेश में बौद्धो को नामशेष कर दिया।

परन्तु जैनो ने, अपनी पुण्यभूमि मगध को कभी विस्मृत नही किया। उसका चप्पा-चप्पा जैनों के सांस्कृ-तिक इतिहास से रगा है। राजगृह, पंच पहाड़ी, पावापुर, नालन्दा (बड़ागाव), गया, गोरथगिरि, (चराचर पर्वत) जृंभिकग्राम, काकदी, भद्दिव, गुणावा, नवादा, बिहार (शरीफ), सम्मेदशिखर, पाटलिपुत्र (पटना), महसार-नगर (मसाद), पचार पहाड़, श्रावक पर्वत, चौसा, आरा आदि अनेकों स्थानों में प्राचीन एवं मध्यकालीन जैन पुरा-तत्त्वावशेष, जिन मूर्तियाँ, पवित्र स्मारक आदि प्राप्त है। इनमे अधिकांश स्थल तीर्थक्षेत्रों के रूप मे पूज्यनीय है। भारतवर्ष के कोने कोने से प्रतिवर्ष सहस्रो जैन यात्री मगध के इन पवित्र तीर्थ-स्थानो की यात्रा के लिए चिर-काल से आते रहे है।

सक्षेप मे, मगध देश का जैन धर्म और जैन संस्कृति के साथ अत्यन्त चिरकालीन, अटूट एवं घनिष्ट सम्बन्ध रहता आया है। एक से पृथक् करके दूसरे के विषय में सोचा-समझा ही नही जा सकता।

मगध का अस्तित्व और इतिहास उसकी मागध संस्कृति, श्रमण परम्परा और जैनधर्म के अस्तित्व एव इतिहास के अभिन्न अग है; उन दोनों के अभ्युदय अथवा उत्थान और पतन भी अन्योन्याश्रय रहे है। मगध ने यदि जैनधर्म को पोषण दिया और उसे उसका वर्तमान ऐतिहासिक रूप दिया तो जैनधर्म ने भी मगध का सर्वतो-मुखी उत्कर्ष-साधन किया और उसे विश्व-विश्रुत बना दिया।

सहायक संदर्भ सूची

(प्रयोजनभूत प्राचीन जैन, ब्राह्मणीय एव बौद्ध ग्रंथों अतिरिक्त)

कामता प्रसाद जैन—दी रिलीजन आव तीर्थङ्कराज (एटा, १९६४)

कृष्ण दत्त वाजपेयी—दी ज्योमिट्रिकल इनसाइक्लोपीडिया आव एशेंट ऐंड मेडिवल इंडिया, (वाराणसी, १९५२)

[शेष पृ० १३२ पर]

महावीर स्वामी : स्मृति के झरोखे मे

□ श्री शिवकुमार नामदेव, डिण्डोरी (म० प्र०)

सम्पूर्ण विश्व को त्याग, अहिंसा और सत्य की राह दिखाने वाले कुण्डलपुर के राजकुमार भगवान् महावीर चौबीसवें तीर्थंकर के रूप में अवतरित हुए थे। उनकी पुण्य जीवनगाथा दीन-हीनों में नवजीवन, असंयमी एव कामुक जीवों मे संयम और निष्ठा पैदा कर देती है। जीवन-मरण मुख्य नहीं है। मुख्य है—आवागमन से मुक्ति। आज जो कुछ हम भोग रहे हैं, वह आज की कमाई नही, पूर्व कर्मों का प्रतिफल है, लेकिन भविष्य में क्या होगा वह आज पर निर्भर है। भगवान महावीर की ये शिक्षायें आज मानव को अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने हेतु प्रेरित कर रही है।

शिल्प दृष्टि

जैन मूर्तियाँ दो प्रकार की बताई गई है—कृत्रिम एवं अकृत्रिम। अकृत्रिम प्रतिमायें सम्पूर्ण लोकों मे फैली हुई है एव कृत्रिम प्रतिमायें मानव निर्मित है। इस कल्प काल में सबसे पहले ऋषभदेव के पुत्र प्रथम सार्वभौम सम्राट् भरत चक्रवर्ती ने जिन प्रतिमाओं की स्थापना की थी। जिस समय ऋषभदेव सर्वज्ञ होकर इस धरातल को पवित्र करने लगे, उस समय भरत चक्रवर्ती ने तोरणों और घंटाओं पर जिन प्रतिमायें बनवा कर भगवान का स्मारक कायम किया था।[1] तत्पश्चात् उन्होंने ही भगवान के निर्वाण धाम कैलाश पर्वत पर तीर्थंकरों की चौबीस स्वर्ण-मयी प्रतिमायें निर्मित कराई थीं।[2]

भारतीय कला के आधार पर वह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जैन मत में पूजा निमित्त प्रतिमायें अत्यंत प्राचीन काल में निर्मित हुई।[3] जैन मतानुयायियों का विचार था कि धार्मिक उपदेशकों या संतों की मूर्तियाँ मानव को सत्कार्य की ओर प्रेरित करती है, अतएव उनकी मूर्तियों को ऐसे धार्मिक स्थान पर स्थापित किया गया, जिस स्थान से महान पुरुषों का सम्बन्ध रहा हो। जैन-प्रतिमाओं में तीर्थंकर के अतिरिक्त सभी मूर्तियाँ गौण समझी जाती है।[4]

भारतीय शिल्पकला मे आत्मजयी भगवान महावीर की प्रतिमायें सर्वत्र उपलब्ध होती है। महावीर प्रतिमायें पूर्णत: नग्न, नासाग्र दृष्टि और कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी (खड्गासन) या ध्यान मुद्रा में आसीन (पद्मासनस्थ) होती थी। महावीर बिंबों में यदा-कदा वस्त्रों का कुछ अंश भी प्रदर्शित किया जाता था, जो श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बन्धित होने का सूचक था। अधिकाश प्रतिमाओं के वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिह्नांकित होने के साथ ही साथ हस्त-तल एवं सिंहासन पर धर्मचक्र और उष्णीष तथा ऊर्णा के चिह्न भी प्राप्त होते है। साथ ही प्रभावली एवं दोनो पार्श्वों मे शासन देवताओं के अतिरिक्त अन्य कई सहा-यक आकृतियाँ भी उत्कीर्ण की जाने लगीं। सिंहासन के दोनों पार्श्वों पर सिंह एवं उसके मध्य मे उनका विशिष्ट लांछन सिंह उत्कीर्ण होता था। उनके कान स्कंधों तक लम्बे और भुजायें घुटनों तक प्रसारित होती थीं।

भगवान महावीर का विशिष्ट लांछन सिंह और जिस वृक्ष के नीचे उन्होंने कैवल्य प्राप्त किया था, वह शाल का वृक्ष है। इनके यक्ष-यक्षिणी क्रमश: मातंग एवं अपरा या सिद्धायिका है। अपराजितपृच्छा एवं वास्तुसार में यक्षों

---

१. आदिपुराण १-८, जैन सिद्धांत भास्कर, भाग २, किरण १, सन १९३२, पृ० ८।

२. कामता प्रसाद जैन : जैन सिद्धांत भास्कर, भाग २, किरण १, सन १८३२, पृ० ८।

३. जैन मत में मूर्तिपूजा की प्राचीनता एवं विकास : शिवकुमार नामदेव, अनेकात, मई १९७४।

४. 'तीर्थङ्कर प्रतिमाओं की विशेषतायें' : शिवकुमार नामदेव, 'श्रमण', फरवरी १९७४, पृ० २४-२६।

एव यक्षिणियों के वाहन एव लांछन के विषय मे मतैक्य नहीं है। अपराजितपृच्छा के अनुसार महावीर का वर्ण कांचन है।

कुण्डलपुर के राजकुमार, समूचे विश्व को त्याग, अहिंसा एव सत्य की राह दिखाने वाले, जैन धर्म के प्राण, प्रातः स्मरणीय, चौबीसवें तीर्थंकर आत्मवशी महावीर की प्रतिमा भारतीय शिल्पकला मे ईस्वी सन् पूर्व मे निर्मित प्राप्त नही होती है। इसका एकमात्र उदाहरण आयागपट्ट के मध्य उत्कीर्ण आकृति में पाया जाता है। उत्कीर्ण आकृति में भगवान महावीर ध्यानमुद्रा में अंकित किये गए है।[५]

भगवान महावीर का समकालीन उज्जयिनी नरेश चण्डप्रद्योत था। चण्डप्रद्योत जैन मतानुयायी था। ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि प्रद्योत ने महावीर की एक प्रतिमा दशपुर (आधुनिक मंदसौर, म० प्र०) में प्रतिष्ठित करने के लिए एव उसकी सेवा आदि के लिए बारह सौ ग्राम दान मे दिए थे।[६] चण्डप्रद्योत ने ऐसी ही एक और जीवन्त स्वामी की प्रतिमा बनवायी थी तथा उसने उसकी प्रतिष्ठा उज्जैन मे करवायी थी। सम्राट् अशोक के वशज मौर्य नरेश सम्प्रति का जैन साहित्य मे वही स्थान है जो स्थान सम्राट् अशोक का बौद्ध धर्म मे है। परिशिष्ट पर्व[७] के वर्णन से ज्ञात होता है कि सम्प्रति के समय उज्जयिनी मे जीवत स्वामी की प्रतिमा की रथयात्रा निकली थी। यद्यपि उक्त काल की महावीर प्रतिमायें आज तक उपलब्ध नही हुई हैं किन्तु साहित्यिक वर्णन से उक्त विषय पर प्रकाश पड़ता है।

कुषाणयुगीन जैन प्रतिमाये बौद्ध मूर्तियो के ही सदृश है। मथुरा के कंकाली टीले के उत्खनन से उपलब्ध अमोहिन द्वारा प्रदत्त आयागपट्ट तथा तीर्थंकर प्रतिमाएँ उल्लेखनीय हैं। आयागपट्ट पूजा-शिलायें थी जिनकी परम्परा अति प्राच्य है। ये शिलायें प्रतीकात्मक और तीर्थंकर-प्रतिमा-संयुक्त दोनों प्रकार की है। जैन आयाग-पट्ट कलात्मक दृष्टि से अति सुन्दर है। जैन धर्म में प्रतीकोपासना की सतत प्रवाही धारा इनसे सिद्ध होती है और किस प्रकार मूर्ति-पूजन का समन्वय उस धारा के साथ हुआ है यह भी विदित होता है। मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त अमोहिन द्वारा प्रदत्त आयागपट्ट की तिथि कला-समीक्षकों ने ई० पू० में स्थिर की है। उक्त आयागपट्ट वर्तुलाकार अर्चार्थ शिलापट्ट है जिसके मध्य भाग मे भगवान महावीर की ध्यान मुद्रा मे लघु प्रतिमा दृष्टिगोचर होती है। उसके चतुर्दिक जैनमत के निम्नांकित अष्ट मांगलिक चिह्न उत्कीर्ण है: (१) स्वस्तिक, (२) दर्पण, (३) भस्म पात्र, (४) बेत की तिपाई (भद्रासन), (५-६) दो मछलियाँ, (७) पुष्प माला, (८) पुस्तक।

औपपातिक सूत्र (स० ३१) मे अष्टमांगलिक चिह्नों के नाम इस प्रकार है—

> स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, वर्द्धमानक, भद्रासन, कलश, दर्पण तथा मत्स्य-युग्म।

डा० स्मिथ ने मथुरा से प्राप्त कुछ जैन मूर्तियो की पादपीठ पर अंकित सिंह को भगवान महावीर का लाछन मान कर उनका समीकरण महावीर से किया है।[८] परन्तु डा० स्मिथ का यह समीकरण उचित प्रतीत नहीं होता है। इसका कारण यह है कि पादपीठ पर अंकित सिंह, सिंहासन के प्रतीक है न कि महावीर के प्रतीक सिंह के। यदि वे महावीर के लाछन होते तो उन्हे मूर्तितल के मध्य भाग मे उत्कीर्ण किया जाता, जैसा कि हम परवर्तीयुगीन प्रतिमाओं मे पाते है।

कुषाणकालीन मथुरा की कला मे तीर्थंकरों के लांछन नही पाये जाते, जिनसे कालान्तर मे उनकी पहचान की जाती थी। केवल ऋषभनाथ के स्कन्धों पर खुले हुए केशों की लटें और सुपार्श्वनाथ के मस्तक पर सर्पफणों का आटोप बनाया गया है। इस प्रकार, कुषाण युग में तीर्थंकरों के विभिन्न प्रतीकों का परिज्ञान न हो सका था। विभिन्न तीर्थंकरो को पहचानने के लिए चौकियों पर

५. प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान : वासुदेव उपाध्याय, चित्रफलक ८१।

६. त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित, पर्व १०, सर्ग २।

७. परिशिष्ट पर्व, ११।२३ ६४।

८. स्मिथ : Jain Stupa and other Antiquities of Mathura, reprint Varanasi 1969 PIS XCIII, XCIV.

अंकित लेखों में नाम का उल्लेख ही पर्याप्त था। कालांतर में प्रतिमा की चौकी पर उनका लांछन उत्कीर्ण किया जाने लगा।

कुषाणकालीन भगवान महावीर की एक अन्य प्रतिमा जो मथुरा संग्रहालय (मथुरा संग्रहालय-जी १) में सुरक्षित है, उत्थित पद्मासन मे बैठी है। मस्तक के पीछे पद्माव-पत्र और ऊपर छल्लेदार केश है। इसमे अंगों का विन्यास ठस न होकर लोच भरा है और मुख पर दिव्य छवि है।[९] तीर्थंकरों की मूर्तियों के वक्ष पर श्रीवत्स एवं मस्तक के पीछे प्रभामण्डल पाया जाता है। फणाटोप वाली मूर्तियों में प्रभामण्डल नहीं रहता। किन्हीं मूर्तियों में तीर्थङ्कर का नाम भी मिलता है।

महावीर की ६" ऊँची, यमुना नदी से उपलब्ध, प्रतिमा पद्मासन में है। यह प्रतिमा मथुरा संग्रहालय (क्रमांक २१२६) में संरक्षित है। मूर्तितल पर उत्कीर्ण अधूरे लेख में बर्धमान का स्पष्ट नामोल्लेख होने के बावजूद इस प्रतिमा में तिथि अंकित नहीं है। कंकाली टीले से महावीर की १ फुट ४ इंच ऊँची प्रतिमा प्राप्त हुई है जो ध्यान-मुद्रा में आसीन है। मथुरा संग्रहालय में संरक्षित यह प्रतिमा भग्न है। लेखयुक्त पादपीठ पर चित्रित अर्ध-स्तम्भों पर धर्मचक्र स्थित है, जो आठ पूजकों द्वारा वंदित हो रहा है। ये सम्भवतः मूर्ति के दान-दाताओं की आकृतियों का अंकन करती हैं। मथुरा सग्रहालय (क्रमांक ५३६) में संकलित मथुरा के ही गूजरघाटी स्थान से प्राप्त एक मध्ययुगीन चित्रण का श्रेष्ठ उदाहरण २४ तीर्थङ्करों की मूर्तियां हैं जिनका वर्णन यथा-स्थान किया जायेगा।

गुप्त-कालीन जैन प्रतिमायें सुन्दरता तथा कलात्मक दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट हैं। गुप्त-युग में जैन प्रतिमाओं में हमें दो विशेषतायें—अधोवस्त्र तथा श्रीवत्स—परिलक्षित होती हैं। जैन मूर्तियों की बनावट उत्तम है। इसी काल में जैन प्रतिमाओं में यक्ष-यक्षिणी, मालावाही गन्धर्व आदि देव-तुल्य मूर्तियों को स्थान दिया गया था। गुप्त-युग की प्रतिमाओं के आभामण्डल पर दो मालाधारी विद्याधर दिखलाई पड़ते हैं। प्रभाचक्र का अंकन भी प्रतिमाओं को गुप्त-कालीन घोषित करता है। महावीर की प्रतिमायें आसन-मुद्रा में मध्य-प्रदेश एवं बिहार आदि से उपलब्ध हुई हैं। महावीर की प्रतिमायें प्रायः कमलासन या सिंहासन पर बैठी मिलती है। उनके दोनों हाथ ध्यान-मुद्रा में दृष्टिगोचर होते है।

मथुरा के कंकाली टीले से उपलब्ध एक मस्तक रहित जिन-मूर्ति लखनऊ संग्रहालय में सरक्षित है। प्रतिमा पर गुप्त सवत ११३ (४३२ ई०) अंकित है। पुरातात्विकों ने इस प्रतिमा का समीकरण महावीर से किया है।[१०] सम्भवतः विद्वानो के समीकरण का आधार प्रतिमा-पीठ पर उत्कीर्ण सिंह है जो महावीर जी का लांछन है। परन्तु हम प्रतिमा-पीठ पर उत्कीर्ण सिंहो को सिंहासन के प्रतीक के द्योतक मान सकते है, न कि प्रतिमा के लांछन के रूप में।

महावीर का चित्रण करने वाली एक गुप्तयुगीन मूर्ति भारत-कला-भवन, वाराणसी में सगृहीत है। वाराणसी से उपलब्ध इस मूर्ति में देवता को उच्च पीठिका पर ध्यानावस्था मे प्रदर्शित किया गया है। पीठिका के मध्य भाग मे उत्कीर्ण धर्मचक्र के दोनों पार्श्व में सिंहों का अंकन है जो इस प्रतिमा की महावीर के अंकन से पहचान कराती है। पीठिका के दोनों पार्श्व मे उत्कीर्ण दो तीर्थंकर इस अंकन की अपनी विशेषता है। इस मनोरम चित्रण में महावीर के दोनों पार्श्व मे दो आकृतियो को उत्कीर्ण किया गया है जो सम्भवतः शासन-देवता हैं। महावीर के पृष्ठ भाग मे प्रदर्शित अलंकरणरहित प्रभाचक्र के दोनो पार्श्व में दो उड़ते हुए गंधर्वों का चित्रण है। महावीर के केश रचना गुच्छकों के रूप में निर्मित है। गुप्तकालीन सम्पूर्ण विशेषताओं से भूषित इस मूर्ति के मुख पर प्रदर्शित मंदस्मित शान्ति व विरक्ति का भाव प्रशंसनीय है।

---

९. भारतीय कला : वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० २८४, चित्र ३१६।

१०. Dr. R. C. Sharma: Mahavira Jain Vidyalaya Golden Jubllee vol 1, Pt. Page 153, Figure 8. R. D. Banerjee : Age of Imperial Guptas Pt. XVIII; U.P. Shah : Akota Bronzes, P. 15.

वर्धमान महावीर को दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व जीवंत स्वामी के नाम से जाना जाता था। उक्तावधि में चूकि वे राजकीय वेशभूषा से सुसज्जित थे, अत शिल्पियो ने उन्हें उसी वेशभूषा मे प्रदर्शित किया है। जीवत स्वामी की गुप्त-युगीन दो प्रतिमायें बड़ौदा सग्रहालय मे सुरक्षित है।[11] राजकीय परिधान में होने से उनकी पहचान सुगमता से हो जाती है।

उत्तर गुप्तकाल मे जैनकला से सबंधित अनेक केन्द्र थे। इस काल में कला तांत्रिक भावना से ओत प्रोत थी जिसका स्पष्ट प्रभाव तत्कालीन प्रतिमाओ के अवलोकन से स्पष्ट परिलक्षित होता है। यद्यपि इस युग में कलाकारों का कार्य-क्षेत्र विस्तृत हो गया था, परन्तु वे प्रतिमा-निर्माण में स्वच्छंद नहीं थे अपितु वे अपनी रचनाओं को प्रतिमा-शास्त्रीय ग्रंथों के आधार पर ही रूप प्रदत्त करते थे। उक्त बंधन के फलस्वरूप मध्ययुगीन जैनकला निष्प्राण-सी हो गई थी। उत्तर गुप्तयुगीन जैन कला की एक प्रमुख विशेषता जो हमें परिलक्षित होती है, वह है कला मे चौबीस तीर्थङ्करों की यक्ष-यक्षिणी को स्थान प्रदत्त किया जाना। मध्यकालीन जैन प्रतिमाओ में चौकी पर आठ ग्रहो की आकृति का अंकन हिन्दुओं के नवग्रहों का अनुकरण ही है। इस युग में मध्य भारत, बिहार, उड़ीसा तथा दक्षिण में दिगम्बर मत का प्राधान्य हो गया था। पाषाण के अतिरिक्त धातु प्रतिमायें भी निर्मित की जाने लगी थीं।

मथुरा संग्रहालय (क्रमाक ५३६) मे संरक्षित मथुरा के ही गूजर घाटी से उपलब्ध एक मध्ययुगीन चित्रण में कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी मुख्य आकृति को अन्य २३ तीर्थङ्कर आकृतियों से वेष्ठित प्रदर्शित किया गया है। बहुत संभव है कि मध्य में अवस्थित मूलनायक की आकृति महावीर का अंकन करती हो।

मध्य प्रदेश के लखनादौन (सिवनी जिला) से उपलब्ध महावीर की एक अद्वितीय कलात्मक प्रतिमा अभी हाल ही मे प्राप्त हुई है। भगवान् महावीर की प्रतिमा के गुच्छकों के रूप मे प्रदर्शित केश-विन्यास उष्णीषबद्ध है। दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर स्थित है। प्रशांत नयन, सुन्दर भवे, नासिका के नीचे मदस्मित ओठ, ऐसा प्रतीत होता है कि मानो भगवान् महावीर की अमृतवाणी जैसे प्रस्फुटित होना ही चाहती है। सुगठित चिबुक, चेहरे की भव्यता एवं गरिमापूर्ण रचना शिल्पियों की श्रेष्ठता के परिचायक है। कर्ण लम्बे है जिन पर कर्णफूल शोभित हो रहे हैं। उर्ध्व भाग मे त्रिछत्र है जिसमें मोतियों की पाँच लटकने है। त्रिछत्र के नीचे तीन पद्मों से गुम्फित त्रिछत्र है। मस्तक के पृष्ठ भाग में आभामण्डल है। उक्त प्रतिमा सौम्यमुद्रा में ध्यानमग्न चार-चार स्तम्भों से निर्मित सिंह पीठिका पर पद्मासनारूढ़ है। प्रतिमा का आकार ४' २" है। विवेच्य प्रतिमा प्रतिमाशास्त्रीय अध्ययन के दृष्टिकोण से ८वीं सदी की ज्ञात होती है।

मध्य प्रदेश के यशस्वी राजवंश कलचुरियों के काल में उनकी धार्मिक सहिष्णुता के फलस्वरूप अन्य मतों के साथ ही जैनधर्म भी फला-फूला। उनके समय में जैनधर्म एवं कला का अधिक प्रसार हुआ।[12]

कलचुरिकालीन कारीतलाई से प्राप्त एवं सम्प्रति रायपुर संग्रहालय मे संरक्षित, तीन फुट पाँच इंच ऊँची महावीर की प्रतिमा कलात्मक दृष्टि से उच्चकोटि की है। भगवान महावीर ऊँचे सिंहासन पर उत्थित पद्मासन में ध्यानस्थ बैठे हुए है। केश घुंघराले एव उष्णीषबद्ध तथा हृदय पर श्रीवृक्ष चिह्नांकित है। प्रभाचक्र की दक्षिण पार्श्व पट्टी पर उनके परिचारक सौधर्मेन्द्र खड़े है। अन्य तीर्थङ्कर की चार पद्मासन स्थित प्रतिमायें भी हैं। धर्मचक्र उच्च चौकी के मध्य भाग में स्थित है जिसके ऊपर उनका

---

११. U. P. Shah : Akota Bronzes, P. 26-28.
१२. Haihyas of Tripuri and their Monuments : R. D. Banerji;
कलचुरि नरेश और उनका काल : डा० मिराशी;
धुबेला संग्रहालय की जैन प्रतिमायें : शिवकुमार नामदेव, श्रमण, अगस्त १९७२;
कलचुरि-कला मे शासन देवियाँ : शिवकुमार नामदेव, अनेकांत, मई-जून १९७२;
कलचुरिकाल में जैनधर्म—शिवकुमार नामदेव, अनेकांत, जुलाई-अगस्त १९७२;

लांछन सिंह है। धर्मचक्र के नीचे एक स्त्री लेटी है। महावीर का यक्ष मातंग अंजलिबद्ध एवं यक्षी सिद्धायिका चॅवरी लिये हुए है।[13]

श्याम बलुआ पाषाण से निर्मित ४' ४"×१' ६" आकार की जबलपुर से प्राप्त महावीर की एक सुन्दर प्रतिमा फिल्डेलफिया म्यूजियम आफ आर्ट में सुरक्षित है।[14] भगवान महावीर की यह नग्न प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी है। हृदय पर श्रीवत्स चिह्नांकित है। हस्त घुटने तक लबे है। शीर्ष के ऊपर त्रिछत्र तथा उसके किनारे दो हस्ती अंकित है।

विश्वविख्यात कलातीर्थ इलोरा की गुफायें (नवीं शती) तीर्थङ्कर प्रतिमाओं से परिपूर्ण है। गुहा संख्या ३० में, जो छोटा कैलाश के नाम से जानी जाती है, महावीर की बैठी हुई पाषाण मूर्तियाँ पद्मासन एवं ध्यानमुद्रा में उत्कीर्ण हैं। पार्श्व में चावरयुक्त यक्ष-गंधर्व आदि की आकृतियां हैं। सिंहासनारूढ़ बैठे महावीर की मूर्ति के ऊर्ध्व भाग में छत्र है।

दूसरी गुफा में पद्मासनारूढ़ ध्यानमुद्रा में महावीर की अनेक प्रतिमायें है।। इन्द्रसभा नामक गुहा में सिंहासनारूढ़ महावीर की बैठी मूर्तियाँ ध्यानावस्था में है। जगन्नाथ नामक गुहा के दालान में महावीर की मूर्तियाँ हैं।

सातवीं-आठवी-शती में निर्मित ऐहोल की एक गुहा मे महावीर की आकृति भी दृष्टिगोचर होती है। सिंह, मकर एवं द्वारपालो का खुदाव, उनका परिधान एलीफेंटा के समान उच्चकोटि का है। उड़ीसा के निकट उदयगिरि-खण्डगिरि की एक गुहा में चौबीस तीर्थङ्करों की प्रतिमायें उत्कीर्ण है।

राजस्थान से महावीर की अनेक प्रतिमायें एवं देवालय प्रकाश में आये है। ओसिया[15] मे भगवान महावीर का एक प्राचीन मन्दिर है जिसमें विशालकाय महावीर स्वामी की मूर्ति है। यह मदिर परिहार नरेश वत्सराज के समय का है। जैनतीर्थ सर्वसंग्रह मे ओसियां का विवरण देते हुए लिखा है कि यहाँ सौधशिखरी विशाल मदिर बड़ा रमणीक है। मूलनायक प्रतिमा महावीर जी की है जो ढाई फुट ऊँची है। देवालय भव्य परकोटे से घिरा हुआ है, तोरण दर्शनीय एव स्तभों पर तीर्थङ्करों की प्रतिमायें उत्कीर्ण है।

बंगाल[16] के बाँकुडा जिले के पाक बेडरा नामक स्थल पर जैनकला के अनेक अवशेष उपलब्ध हुए है जिन में भगवान महावीर की भी प्रतिमाये है। उन मे से एक पंचतीर्थी परिकर तोरण भामण्डलादि प्रतिहार्य युक्त है। दूसरी प्रतिमा के परिकर मे अष्टग्रह प्रतिमायें विद्यमान है।

मैसूर के होयलेश्वर देवालय से दो फर्लांग की दूरी पर जैनों के तीन देवालय है, जिन में चौबीस तीर्थङ्करो की प्रतिमायें भी अंकित है। आबू स्टेशन से एक मील की दूरी पर देलवाड़ा में पाँच जैन मन्दिर है जिनमे तीर्थङ्करों की प्रतिमायें विद्यमान है। कुभारिया तीर्थ का कलापूर्ण महावीर मदिर कलात्मक दृष्टि से सुन्दर है।[17] इस मंदिर के छठे खण्ड में भगवान महावीर के जीवन का भाव उत्कीर्ण है जिस में महावीर के पिछले २७ भव, ५ कल्याणक और जीवन की विशिष्ट घटनायें—जैसे चंदनबाला का प्रसंग, कान में कीलें ठोकने और चण्डकौशिक सर्प के उपसर्ग आदि की घटनायें—खुदी है। एक छत के सातवे भाग में भगवान महावीर देशना दे रहे है, गणधर बैठे हुए हैं, संघ के मनुष्य अलग-अलग वाहनों पर सवारी करके देशना सुनने को आ रहे है, इस तरह का भाव उत्कीर्ण है।

---

१३. महंत घासीराम स्मारक संग्रहालय, रायपुर, सूचीपत्र, चित्रफलक ८ क।

१४. स्टैला केमरिच—इण्डियन स्कल्पचर इन दि फिल्डेलफिया म्यूजियम आफ आर्ट, पृ० ८२।

१५. ओसियां का प्राचीन महावीर मंदिर : श्री अगरचन्द नाहटा, अनेकांत, मई १९७४।

१६. बंगाल के जैन पुरातत्व की शोध में पाँच दिन : श्री भंवरलाल नाहटा, अनेकांत, जुलाई-अगस्त १९७३

१७. 'कुभारिया का महावीर मन्दिर : श्री हरिहर सिंह—श्रमण, नव०-दिसम्बर १९७४; कुभारिया तीर्थ का कलापूर्ण महावीर मंदिर : श्री अगरचन्द नाहटा श्रमण अप्रैल १९७४।

मालव भूमि ने भारतीय कला को विशेष योग प्रदत्त किया है। विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन का पुरातत्व-संग्रहालय मालवा व उज्जयिनी के अवशेषों से सम्पन्न है। संग्रहालय[१८] में लगभग दस प्रतिमाये सर्वतोभद्र महावीर की है जिन पर पारदर्शी वस्त्र है। सभी में महावीर पद्मासन मे ध्यानावस्था मे अंकित है। यहाँ की एक अन्य प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में खड्गासन अवस्था में है। मूर्ति का आकार ७२ × ६६ × ३० से० मी० है।

मध्य-प्रदेश के प्रसिद्ध कला-केन्द्र खजुराहो[१९] के एक जैन मन्दिर में महावीर का एक मनोज्ञ बिम्ब कायोत्सर्ग मुद्रा में उत्कीर्ण है, जिसमें पूर्णत. नग्न महावीर को उनके विशिष्ट लांछन सिंह से सम्बद्ध रूप मे चित्रित किया गया है; देव की मुखाकृति पर शान्ति और सौम्यता का भाव सुस्पष्ट है। मस्तक पर सर्पफणों के घटाटोपो से युक्त देव पार्श्व में खड़े उपासक देवों से आवेष्ठित है। महावीर की एक अन्य पद्मासनस्थ प्रतिमा देवगढ़ के मन्दिर में है। पद्म सदृश्य अलंकरणों के प्रभाचक्र से युक्त मूलनायक की आकृति के दोनों पार्श्व में उनके शासन देवता त्रिभंग मुद्रा में खड़े है। देवता के शीर्ष-भाग से पुन: दो आसीन तीर्थङ्करों का बिम्ब उत्कीर्ण है। प्रभामण्डल के ऊपर तीन श्रेणियों मे विभक्त त्रिछत्र के दोनो ओर हाथों मे पुष्पमाल लिये हुए विद्याधर है। पादपीठ के नीचे दो सिंह आकृतियों का अंकन है।

महावीर की बलुये पाषाण से निर्मित एक विशिष्ट प्रतिमा, जिसका ऊर्ध्व भाग मात्र ही शेष बचा है, आजकल बोस्टन संग्रहालय मे सरक्षित है। यह ऊर्ध्वकाय प्रतिमा सूक्ष्म निरीक्षण से नग्न रही प्रतीत होती है। प्रतिमा की ऊँची केश रचना वास्तव में इसकी साधु प्रकृति की सूचक है। महावीर के केश गुच्छक उनके स्कंधों पर लटक रहे है। वक्षस्थल पर तीर्थङ्करों का विशिष्ट चिह्न श्रीवत्स उत्कीर्ण है। मस्तक के ऊपर प्रदर्शित त्रिछत्र, अशोक वृक्ष एवं कुछ आकृतियों से वेष्टित है। मूर्ति के बाम एवं दक्षिण पार्श्व मे विद्याधर युगल पूजा सामग्री लिए हुये है। देवता के स्कंधों के समीप दोनो पार्श्वों मे दो सिंहों का उत्कृष्ट चित्रण है। डा० कुमारस्वामी ने इसे ९वी शती की प्रतिमा माना है। सम्भवत: यह प्रतिमा बुन्देलखण्ड से उपलब्ध हुई थी।

केन्द्रीय सग्रहालय, इन्दौर[२०] में सगृहीत महावीर की प्रतिमाये लेखयुक्त है। डा० वासुदेव उपाध्याय के 'प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान' नामक ग्रंथ के चित्रफलक ८२ में आदिनाथ एवं महावीर की युग्म मूर्ति का चित्र है। महावीर की प्रतिमा के पीठ पर उनका वाहन सिंह है।

शिल्प शास्त्र में महावीर :

जैन प्रतिमा-समूह में तीर्थङ्कर प्रतिमा का ही प्राधान्य है। जिनों के चित्रण में तीर्थङ्करो का सर्वश्रेष्ठ पद प्रकल्पित होता है। ऋषभनाथ, नेमिनाथ एवं महावीर की मुद्रा कमलासन है जो इनके इसी आसन मुद्रा में कैवल्य प्राप्ति की सूचक है। महावीर के यक्ष-यक्षिणी, केवल वृक्ष एव चामरधारी या धारिणी के विषय में प्रतिमा-विज्ञान के ग्रन्थों में मतैक्य नही है। यह सर्वमान्य है कि उनका ध्वज या वाहन सिंह है। अपराजित एव वास्तुसार के अनुसार उनका शासन देव मातंग है। शासन-देवी सिद्धायिका, केवल वृक्ष शाल एवं चामरधारी या धारिणी श्रेणिक है। महावीर के यक्ष का वाहन या लांछन अपराजित के अनुसार हस्ती एवं वास्तुसार के अनुसार गज है। इसी प्रकार यक्षी का वाहन या लाछन अपराजित के अनुसार भद्रासन एव वास्तुसार के अनुसार सिंह तथा प्रतिष्ठा सारोद्धार, अभिज्ञान चिन्तामणि, अमरकोष, दिगम्बर जैन आइकनोग्राफी एवं हरिवंश पुराण के अनुसार कमल है।

प्रतीक शास्त्रीय अध्ययन :

तीर्थङ्कर ब्रह्मभूत महापुरुष हैं। तीर्थङ्करों के हृदय पर श्रीवत्स का अर्थात् चक्र-चिह्न रहता है। यह धर्मचक्र

---

१८. विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन के पुरातत्व संग्रहालय की अप्रकाशित जैन प्रतिमायें : डा० सुरेन्द्र कुमार आर्य, अनेकान्त, जुलाई-अगस्त १९७२।

१९. खजुराहो की अद्वितीय जैन प्रतिमायें : श्री शिवकुमार नामदेव, अनेकान्त, फरवरी १९७४।

२० केन्द्रीय संग्रहालय, इंदौर की संक्षिप्त मार्ग-दर्शिका।

है। इनके आसन के नीचे अंकित प्रतीक धारण-धर्म के प्रतीक हैं। त्रिछत्र, त्रिशक्ति (ज्ञान-इच्छा-क्रिया) के सिद्धान्त हैं जो सभी भारतीय सम्प्रदायों में समान श्रद्धा के साथ माने जाते है। मस्तक के पीछे लगा हुआ प्रभा-मण्डल धर्म-चक्र का रूप है। यह काल चक्र है जो काल और धर्म-चक्र के रूप में विष्णु और शक्ति के हाथों में है और जिन तथा बुद्ध से सम्बद्ध है। मस्तक पर तीन छत्रों वाला छत्र है। यह त्रिशक्ति का प्रतीक है। यह शिव और बुद्ध का त्रिशूल तथा दुर्गा का त्रिकोण है। भगवान् महावीर पद्मासन पर आरूढ़ दिखाये जाते हैं। पद्म सृष्टि का प्रतीक है।

भगवान महावीर का वाहन सिंह है। हिन्दू, बौद्ध एवं जैन मतावलम्बियों ने सिंह को उच्च स्थान प्रदत्त किया है। शतपथ ब्राह्मण में सिंह शक्ति का प्रतीक माना गया है। भगवान महावीर के जन्म के पूर्व उनकी माता ने वे सोलह स्वप्न देखे थे जिनमें एक आकाश की ओर उछलता हुआ सिंह भी था। स्वयं राजा सिद्धार्थ ने इसका फल यह बताया था कि होने वाला बालक अतुल वीर एवं पराक्रमी होगा।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय कला आत्मवशी भगवान् महावीर के जीवन-चरित्र से ओत-प्रोत है। प्रात. स्मरणीय महावीर स्वामी--भगवान वर्धमान का जीवन-चरित्र भक्तों के लिए अमृत है, भारतीय जनता के लिये संजीवन है और विश्व की भटकती जनता के लिए जगमगाता प्रकाश-स्तम्भ है।

□□

व्याख्याता, प्राचीन भारतीय इतिहास,
शासकीय महाविद्यालय,
डिन्डौरी (मडला) मध्य-प्रदेश

[पृ० ११५ का शेषांश]

ज्योति प्रसाद जैन—
१. जैनिज्म दी ओल्डेस्ट लिविंग रिलीजिन (बनारस, १९५१)
२. तीर्थङ्करों का सर्वोदय मार्ग (दिल्ली, १९७४)
३. दी जैन सोर्सेज आव दी हिस्टरी आव एन्सेंट इडिया (दिल्ली, १९६४)
४. प्रमुख ऐतिहासिक जैन (दिल्ली, १९७५)
५. भारतीय इतिहास—एक दृष्टि (दि० सं० वाराणसी, १९६६)
६. रिलीजन एंड कल्चर आव दी जेन्स (दिल्ली १९७५)
७. श्री वीर शासन (लखनऊ, १९७४)

नन्दलाल—ज्योग्रेफीकल डिक्शनरी आव एसेन्ट एण्ड मेडिवल इडिया।

पी० सी० राय चौधुरी—जैनिज्म इन बिहार (पटना, १९५६)

विमला चरण साहा—महावीर : हिज लाइफ एण्ड टीचिंग्स (लन्दन, १९३७)

बैजनाथ सिंह विनोद—मगध, इतिहास और संस्कृति, (बनारस १९५४)

शशिकान्त जैन—खारवेल एण्ड अशोक (दिल्ली, १९७३)

हीरालाल जैन एवं आ० न० उपाध्ये—महावीर : युग और जीवन-दर्शन (दिल्ली १९७४)

□□

ज्योतिनिकुंज,
चारबाग, लखनऊ-१

'दर्शन सार' का हिन्दी पद्यानुवाद

□ श्री कुन्दन लाल जैन, दिल्ली

देवसेनकृत 'दर्शनसार' जैन वाङ्मय में बहुत ही प्रसिद्ध और अपनी प्राचीनता के लिए विख्यात भी है। मूलतः यह प्राकृत में है पर इसकी ऐतिहासिकता ने अनेकों विद्वानों को अपनी ओर आकर्षित किया है। फलतः इसके संस्कृत, हिन्दी, गद्य, पद्य मे अनेकों अनुवाद हुए है। 'दर्शनसार' की सर्वप्रथम खोज डा० पीटर्सन ने सन् १८८४ मे की थी। वे उस समय जैनाचार्य पूज्यपाद स्वामी के काल निर्णय के सम्बन्ध मे खोज-शोध कर रहे थे। पूज्यपाद का उल्लेख दर्शन सार की २४वी गाथा में है। अतः डा० पीटर्सन ने भाण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना, में क्रमांक ५०७ पर स्थित 'दर्शनसार' की प्रति देखी और इसे प्रकाशित भी कराया, पर यह प्रकाशन पूर्णतया शुद्ध और अधिकृत न था। इसके बाद और भी प्रकाशन हुए, पर वे कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण सिद्ध न हुए।

पं० नाथूराम जी प्रेमी ने 'जैन हितैषी' के १३वें भाग मे दर्शन सार की चर्चा निबंध रूप में की, तथा बाद मे सन् १९१७ में 'दर्शन सार' शीर्षक से ग्रन्थरूप मे हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय से प्रकाशित कराया। इसमे मूल-पाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अर्थ तथा समीक्षात्मक विवेचन भी था। सन् १९३४ के आसपास डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने 'यापनीय संघ : एक संप्रदाय" शीर्षक लेख लिखा तो उस समय उन्हे 'दर्शन सार' की उपयोगिता अनुभव हुई, क्योकि इसकी २९वी गाथा मे यापनीय संघ का उल्लेख है। अतः उन्होने भाण्डारकर ओरिएन्टल इस्टीट्यूट, पूना में स्थित लगभग आधी दर्जन पांडुलिपियो के आधार पर एक सर्वशुद्ध अधिकृत पाठ तैयार किया और Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, Vol. XV, Part III-IV, 1934 AD में पृ० १९८ पर प्रकाशित कराया था। उस समय कुछ दिनों तक दर्शनसार और उसके कर्ता देवसेन पर विद्वानों मे बड़ी चर्चा एवं ऊहापोह हुआ था जो तत्कालीन शोध पत्रों में देखा जा सकता है। आचार्य देवसेन गणी के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए स्व० डा० नेमीचन्द्र जी ज्योतिषाचार्य लिखित बृहद्ग्रंथ "तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा", भाग २, पृ० ३७० पर देखा जा सकता है। यहां हमारा उद्देश्य उपर्युक्त विस्तार मे जाने का नहीं है। अपितु हमे दिल्ली के जैन भण्डारों मे स्थित पांडुलिपियों की विवरणात्मक सूची तैयार करते हुए दर्शनसार का हिन्दी पद्यानुवाद देखने को मिला था, हम उसी की चर्चा करना चाहते हैं।

दर्शनसार भाषा (पद्य) दि० जैन खडेलवाल मन्दिर, वैद वाडा, दिल्ली के शास्त्र भंडार मे क्रमांक १९२ बी से सुशोभित है। इसकी लम्बाई ११$\frac{3}{4}$ इंच तथा चौड़ाई ४ इंच है। इसमे केवल ३ ही पत्र है। प्रत्येक पत्र मे ९-९ पक्तियां है तथा हर एक पक्ति मे ६०-६० अक्षर है। इस प्रति को मगसिर सुदी २, सं० १९७६ में श्री राजुलाल जी बडजात्या ने जयपुर मे लिखा था। इसकी रचना किसी अध्यात्म प्रेमी ने भादो वदी १६, स० १७७२ मे की थी जो निम्न छन्द से स्पष्ट है।

सत्तरह से बहत्तरि अधिक भादौं तेरसि स्याम।
अलपमति नु कहत यह भाष रचो अभिराम॥

उपर्युक्त अनुवाद मेरे ख्याल से सर्वथा अप्रकाशित एव अज्ञात है जिसे हम यहां अविकल रूप से प्रस्तुत कर रहे है। आशा है कि प्राकृत से अनभिज्ञ हिन्दी प्रेमी इसका रसास्वादन कर सकेंगे। इस प्रति मे ३९वी गाथा का अनुवाद नहीं है। इसका क्या कारण है, कुछ भी कहना कठिन है। अनुसधाता विद्वान् इससे लाभ उठावें।

दर्शनसार : हिन्दी पद्यानुवाद

दोहा

नमित वीर जिण यंद सुरसेणि नमहु सुध ग्यानि ।
पूरव सूरिहि कहिउ जिम दरसन सार बखानि ।।१।।
सोरठा—खेत्र भरत तीर्थेसु नाक श्रेष्ठ देवेन्द्र नत ।
समय होत जिके सुजीव मिथ्यात प्रवर्त जे ।।२।।
दोहा—रिषभ जिनेसुर पुत्र सुत कलंकित मोह मिथ्यात ।
महा सर्व विष्टनु धुरी पूरब सूरि विख्यात ।।३।।
दोहा—तिहि विचित्र दरसन किए रूप सुमिरत व्याप ।
तैसें इतरनि फुनि समिक व्रत सुहानि व्रत आप ।।४।।
दोहा—यक एकांत संसय दुतिय विपरित विनय विख्यात ।
महामोह अग्यान ए कहे पंच मिथ्यात ।।५।।

दोहा—एकांत मिथ्यात वर्णन

वारै पास जिनंद के सजू तीर पलास ।
नगर, शिष्य पिहिताश्रवह बुद्धि कीरति मुनी भास ।।६
मछि आसन पूरन उदर अगनित भ्रष्ट प्रवज्य ।
प्रर्वति कियो एकांत तिनु वस्तर रक्त धरज्य ।।७।।
तातें तिहि बांछत ते भवत पाप अबुद्ध ।
मांस मांहि नहिं जीव जिय फल सक्कर दधि दुग्ध ।।८
वरजनीक मदहू नहीं जल जिम द्रव द्रव्य एह ।
इम लोकनु मंह घोषि कें प्रवर्ति पाप किय जेह ।।९।।
कर्म करै अवरै अवर भुगते इह सिद्धान्त ।
परकलपित किरव ग्यान यह उपज्यो नरक महंत ।।१०

संसय मिथ्यात वर्णन

इकसत अवर छत्तीस विक्रम राजा मरन गत ।
सोरठपुर बलभी ससंघ सेत पढऊ सुपनौ ।। ११।।
भद्रबाहु श्री मुनि गणी सत्याचारज सिक्ष ।
तास सिक्ष जिणचंद दुठ चारित मंद अविक्ष ।।१२।।
तिनहि इहै मत प्रगटि किय त्रिया तिहिं भव मोक्ष ।
केवल ज्ञानी फुनि कमल भक्ष रोग तन पोख ।।१३।।
सीभय अंबर जुत जती वीर गरभ चारित्र ।
परलिंगी हुइ मुकत हुइ फासु भक्ष सरवत्र ।।१४।।
इनहि आदि आगम अवर दुष्ट मिथ्या सासत्र ।
रचे आपकों थापियो प्रथम नरक दुख तत्र ।।१५।।

विपरीत मिथ्यात

सुव्रत तीरथ समय सुध समकित खीर कदंब ।
शिष्य तासु दुठ वसु नृपति अर सुत परवत तंब ।।१६।।
मत विपरीत कियो सबै संजम लोक बिनासि ।
तातें स सब भये घोर महा नरक सातवें वासि ।।१७।।

विनय मिथ्यात वर्णन

सर्व तीर्थंकर के समय उतपति विनय मिथ्यात ।
सजय मुंडित सिर सिखा नगन केम विख्यात ।।१८।।
दुष्ट जिके गुणवंतहू सब दिन भक्ति समान ।
नांहि दंड मन फुनि जननु मूढ नकल पितु ज्ञान ।।१९।।

अज्ञान मिथ्यात वर्णन

वीर तीर्थंकर बहु श्रुती पास संघ गणि सिक्ष ।
मरकट पूरण साधु कथ लोक अग्यान अपिक्ष ।।२०।।
अज्ञानिन के मुख कहै मुकति जीव नहिं ग्यान ।
बहुरि आगमन भमण नहीं भव भव जीवनु जानि ।।२१।।
एक सुद्ध करता सबनु जे जिय सरवस लोक ।
सूनि ध्यान बरनावरन तिहि पर सिक्षत कोक ।।२२।।
जिन मग वाहिज तत्व जे दरसाये मन पाप ।
सप्तम नरक निगोद जाय कै विविध कष्ट दुख आप ।।२३।।

द्राविड संघ उत्पत्ति वर्णन

पूज्यपाद श्री सिक्ष दुष्ट संघ द्राविड करन ।
वज्रनंदि परतक्ष पाहुड वेदी महत श्रुत ।।२४।।
आपने श्रुत वचनेहि भरवन दोष नहिं मुनिन कहुं ।
विपरीत रचिउ तेहि इम विशेष विसतारयऊ ।।२५।।
बीज मांहि नहीं जीवउभ असन नहीं फासु नहिं ।
सावदि मनइ न कोन गिणइ न कलपित ग्रंथ किय ।।२६।।
कछखेत वासत वणिज करि कै जीवन कीन ।
न्हावत सीतल नीर सौं अवर पाप मय लीन ।।२७।।
विक्रम राय मुए पछें बरस पांच से छत्तीस ।
दक्षिण मथुरा तें भयो द्राविड संघ मुनीस ।।२८।।

यापनीय संघ की उत्पत्ति

वरस सात से पांच गत नगर कल्याण सुजात ।
संघ जापनीय जानियो श्री कलस तें विख्यात ।।२९।।

काष्ठा संघ उत्पत्ति

श्री मुनि वीर सुसेनि सिक्ष श्रुत ज्ञाता जिनसेनि।
पदमनंदि श्री पछइ चउसंघउ धारिउ तेन ॥३०॥
तास सिक्ष गुणवंत गुणभद्र ज्ञान परिपूर।
पक्ष सुबुद्धि विवेक जुत भाव लिंगी तप सूर ॥३१
फुनि तिनि पीछे तत्ववित विनय सेन मुनि सार।
तिन सिद्धान्त श्रुत घोषि निज सुरग लोक गति धार ॥३२
विनयसेन दिक्षत प्रगट भयो कुमार सुसेनि।
अगृहीत दिक्षा बहुरि जिहि सन्यास भजेन ॥ ३॥
परिवर्जित पीछी चमर गृही मोह कलितेन।
उन्मारग प्रगटित सबनु वागड देश सुजेन ॥३४॥
त्रिय को दीक्षा फुनि खुलिक लोक सुचर्या वीर।
कर्कस गाहन केस अरु छहउ गुण व्रत धीर ॥३५॥
सोरठा—आगम शास्त्र पुराण प्रायश्चित कछु अन्यथा।
रचित मिथ्यात बखाण मूढ़ जननि परवर्ति किय ॥३६॥
पद्धड़ी—सो श्रवण संघ वाहिकुमार श्रेणी सो समय
मिथ्यात धार।
छांडिउ जिहि उपसम रुद्र लीन पर रचिउ कासट संघ हीन॥
सात सै तरेपण वर्ष वीत विक्रम राजा मरणे अतीत।
नंदियवर ग्राम सुथान जानि काष्ठा संघ उत्पति तहां मानि॥

निपिछ संघ उत्पत्ति

पीछे द्वैसत वरष गत मथुरा माथुर नाथ।
रामसेणि तिहि नाम कह वरणि निपिच्छ सुपाठ ॥४०॥
सोरठा—समकित प्रकृति मिथ्यात कहो तिनिहि बिबजिन।
आप परस्थित जात भमत बुद्धि के वसनु ते ॥४१॥
सोई गुरु मम जान अपर नास्ति चित परि रमण।
स्वगुरु कुल अभिमान इतर बिभंगेह करन फुनि ॥४२॥
पदमनंदी जतिनाथ श्रीमंधर जिन झलकै।
नव विबोधय सिव पाय मुनि किम पावइ शुद्ध यग ॥४३॥
पुहुपदंत बलिभूत देख दखिनु अनुक्रम धरम।
जे भासित मुनि सूत निरविकलप जे तत्ववित् ॥४४॥
दक्खिण विजिझ सुदेस पुहकलपुर मुनि वीरचंद।
बीत अठारह सेसु भिल्लय संघ प्ररूपये ॥४५॥
सो निज गच्छकराक भिन्त पडिकवण और क्रिया।
ग्यानावरण विपाक सुष्ट हुमैं जिन मार गहं ॥४६॥
बहुरि न कहियो कोय गुण गणधर पुंगवमिछत।
दुखभ प्रति यक होय मिथ्या दरशन नाश कर ॥४७॥
धारै मूल गुणेहि वीर मुनि नाम हुइ।
आतम श्रुत धारेह जन प्रबोध दे वीर वतु ॥४८॥
पूरब आचारिज कहेउ गाथा तिहि अनुसारि।
देवसेन श्री मुनि गणी धारा नगर मंझार ॥४९॥
सोरठा—रचिय दरसन सार हार भविय नव सै निवैंनहे
पास जिन धार।
माह सुकुल दशमी पवित ॥५०॥
रूठउ तूठउ लोक सत्य कथक तहि जीव कै।
अथवा नृपति जूं कोकु अभय साटिका रहन हुई ॥५१॥
सत्रह सै बहत्तरि अधिक भादों तेरसि स्याम।
अलपमतिनु कहत यह भाष रच्यौ अभिराम ॥५२॥

इति दर्शन सार भाषा सम्पूर्ण मिति मगसिर सुदी २
स० १९७६ हस्ताक्षर राजुलाल बडजात्या
जैपुर निवासी।

६८ कुन्ती मार्ग,
विश्वास नगर, शाहदरा
दिल्ली ३२

अहिंसा

"मारने की सजा देने वाला, प्राणियों के शरीर को काटने वाला, मारने वाला, खरीदने वाला, बेचने वाला, पकाने वाला, परोसने वाला, व खाने वाला सभी पापी और दुष्ट है। जिसका मांस मैं यहाँ खाता हूँ (मां), मुझको वह भी दूसरे जन्म में अवश्य ही खाएगा।" —मनुस्मृतिः ५।५५

"जो लोग अण्डे और मांस खाते हैं, मैं उन दुष्टों का नाश करता हूँ।"
—अथर्ववेद, काण्ड ८, वर्ग ६, मन्त्र १३.

"हे अग्नि ! मांस खाने वालों को अपने मुंह में रख।" —ऋग्वेद १०८७-२.

तीर्थंकरों के शासन-देव और देवियां

□ पं० बलभद्र जैन, दिल्ली

अर्हन्त प्रतिमा और शासन देवता : जैन प्रतिमा-शिल्प में तीर्थङ्कर-प्रतिमाओं के साथ यक्ष और यक्षी की मूर्ति बनाने का विधान है। ये यक्ष-यक्षी ही शासन देवता अथवा शासन देव और देवियाँ कहलाती है। अनेक आचार्यों ने और प्रतिष्ठा पाठ के रचयिता विद्वानों ने तीर्थङ्कर प्रतिमाओं के साथ यक्ष-यक्षियों की संरचना का विधान किया है। आचार्य वसुनन्दि ने, जो ११-१२वी शताब्दी के विद्वान् है : प्रतिष्ठा सार संग्रह नामक प्रतिष्ठा-ग्रंथ में तीर्थंकर प्रतिमा के साथ यक्ष-यक्षी को अनिवार्य बताते हुए बहुत ही स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—

'यक्षं च दक्षिणे पार्श्वे वामे शासन देवताम् ।
लांछनं पादपीठाधः स्थापयेद् यस्य यद्भवेत् ॥५।१२॥
यक्षाणां देवतानाञ्च सर्वालङ्कारभूषितम् ।
स्ववाहानयुधोपेतं कुर्यात्सर्वाङ्गसुन्दरम् ॥४।७१॥

अर्थात् दक्षिण पार्श्व में यक्ष और वाम पार्श्व में शासन देवता की स्थापना करे तथा पादपीठ के नीचे जिस तीर्थंकर का जो लांछन (चिह्न) हो, वह उत्कीर्ण करावे। यक्षों और शासन देवियों की मूर्ति सम्पूर्ण अलंकारों से विभूषित, उनके वाहनों और आयुघो से युक्त तथा सर्वाङ्ग-सुन्दर बनावे।

इसी प्रकार, पं० आशाधर ने—जो १३वीं शताब्दी के विद्वान् हैं—भी इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा—

'रौद्रादिदोषनिर्मुक्तं प्रातिहार्यांकयक्षयुत् ।'
—प्रतिष्ठासारोद्धार।

अर्थात् अर्हन्त प्रतिमा रौद्र आदि बारह दोषों से रहित हो अशोक वृक्षादि अष्ट प्रातिहार्यों से युक्त हो तथा उसके दोनो पार्श्वों में यक्ष-यक्षी हों।

आचार्य नेमिचन्द—जो १५वी शताब्दी के विद्वान् हैं—ने अपने प्रतिष्ठा ग्रन्थ 'प्रतिष्ठातिलक'[1] में जिनेन्द्र प्रतिमा के साथ यक्ष-यक्षी की स्थापना का विधान पूर्वागत परम्परा के अनुसार निम्न प्रकार किया है—

इन्द्रो जिनेन्द्रोत्तमशासनस्य त्राणे प्रवीणं प्रतिशासनार्हम् ।
न्ययुंक्त सत्कृत्य यमादरात्तं न्यसामि यक्षं जिनसव्यभागे ॥
लब्धाधिकारां जिनशासनस्य त्राणेतत: शासनदेवतेति ।
रूढां भुवि प्रौढतरप्रभावां न्यसामि यक्षीं जिनवामभागे ॥

अर्थात् इन्द्र ने जिनेन्द्र भगवान के उत्तम शासन की रक्षा में प्रवीण और प्रतिशासन में सक्षम जिस यक्ष को सत्कार करके नियुक्त किया था, उसको मैं आदरपूर्वक जिनेन्द्रदेव के दक्षिण पार्श्व में स्थापित करता हूं। जिनेन्द्र के शासन की रक्षा करने का जिसे अधिकार प्राप्त है और लोक में जो शासनदेवता के रूप में प्रसिद्ध है और जो अत्यन्त प्रभावयुक्त है, ऐसी यक्षी की स्थापना मैं जिनेन्द्र-के वाम पार्श्व में करता हू।

इन उपर्युक्त उल्लेखो से सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि जिनेन्द्र प्रतिमा के दक्षिण पार्श्व में यक्ष और वाम पार्श्व में यक्षी की संयोजना करने का विधान है। यक्ष-यक्षी की मूर्ति-संरचना में उन्हे सर्वालंकार विभूषित, तथा उनके वाहन एवं आयुधों से युक्त ही निर्मित करने की आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया है तथा उन्हें जिन शासन के रक्षक शासन देवता के रूप में स्वीकार किया गया है।

तिलोयपण्णत्ती और यक्ष-यक्षी : प्रतिष्ठा ग्रंथों से लगभग ६-७ शताब्दी पूर्व रचित 'तिलोयपण्णत्ती' नामक आर्ष ग्रन्थ में प्रत्येक तीर्थंकर के साथ एक यक्ष और एक यक्षी का विधान किया गया है। यह विधान तीर्थंकर के महनीय और दिव्य प्रभाव को प्रगट करते हुए किया गया है—

'गुज्झकअो इदि एदे जक्खा चउवीस उसह पहुवीणं।
तित्थयराणं पासे चेट्ठंते भत्तिसंजुत्ता ॥४।९३६॥

१. प्रकाशक : दोशी सखाराम नेमचन्द्र, सोलापुर, वीर संवत् २४५१.

अर्थात् ये भक्ति से संयुक्त चौबीस यक्ष ऋषिभादक तीर्थंकरों के निकट रहते हैं।

यह विधान जिस परिप्रेक्ष्य मे किया गया है, वह विशेष ध्यान देने योग्य है। तीर्थंकरो के समवसरण का विस्तृत वर्णन करने के बाद ग्रन्थकार ने बताया है कि २४ यक्ष और २४ यक्षियां भक्तिसंयुक्त हो तीर्थंकरो के निकट रहते है। जिनालय समवसरण के प्रतीक होते है। जब समवसरण में प्रत्येक तीर्थंकर के निकट एक यक्ष और एक यक्षी रहते है तो जिनालय में तीर्थंकर मूर्ति के साथ भी यक्ष-यक्षी रहे यह तर्कसंगत बात है। इसी को आधार मानकर प्रतिष्ठापाठों के रचयिता आचार्यों और विद्वानो ने तीर्थंकर-मूर्ति के साथ यक्ष-यक्षी की मूर्ति बनाना आवश्यक बताया, ऐसा प्रतीत होता है।

शासन देवता-मूर्तियां और उनका निर्माण-काल : जैन प्रतिमा-शिल्प में शासन देवताओं का प्रवेश किस काल में हुआ, यह एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न है। हमारे विनम्र मत में शासन देवताओं के रूप में यक्ष-यक्षियों ने ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी अथवा ईसा की प्रथम शताब्दी में ही जैन प्रतिमा-शिल्प में अपना उचित स्थान बना लिया था। इससे पूर्ववर्ती काल में उन्हें तीर्थङ्करों के सेवक के रूप में तो मान्यता प्राप्त रही, किन्तु शासन देवताओं के रूप में उन्होंने ईसा की प्रथम शताब्दी के आस-पास ही स्थान ग्रहण किया। साहित्य में तो उन्हें पांचवीं शताब्दी में सर्व प्रथम स्थान मिला। आचार्य यतिवृषभ ने 'तिलोयपण्णत्ती' में तीर्थङ्करों के निकट यक्ष-यक्षी के रहने का विधान करके यक्ष-यक्षी की परम्परागत मान्यता को साहित्यिक समर्थन प्रदान किया। इसके पश्चात् तो अनेक आचार्यों ने इस बात की पुष्टि की तथा यक्ष-यक्षियों का सविस्तार रूप-निर्धारण किया। इस रूप-निर्धारण में उनका रूप, आयुध, वाहन, मुद्रा, आसन, अलंकार आदि सम्मिलत हैं। लोक-व्यवहार में भी परम्परा-प्रचलन के पश्चात् ही नियम और विधान निर्मित किये जाते हैं, जिससे परम्परा में एकरूपता और अनुशासन रखा जा सके। किन्तु इन नियम-विधानों से परम्परा प्राचीन होती है। परम्परा का भी कोई आधार होता है। लगता है कि शासन-देवताओं को तीर्थङ्कर-मूर्तियों के साथ स्थान प्राप्त करने में परम्परागत मान्यता का आधार प्राप्त हुआ होगा।

जैन शास्त्रों में शासन देवताओं के मूर्ति-निर्माण का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होने और ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों की यक्ष-यक्षी मूर्तियां उपलब्ध होने पर भी यक्ष-यक्षियों की जैन मान्यता के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों को भ्रम है, ऐसा प्रतीत होता है। सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री यू. पी. शाह का अभिमत है कि ईसा की नौवीं शताब्दी में जैन-प्रतिमा शिल्प में शासन देवताओं का प्रवेश हुआ। इससे एक शताब्दी पूर्व, अर्थात् आठवीं शताब्दी में जैन साहित्य में शासन देवताओं का समुल्लेख प्रारम्भ हुआ। "तिलोयपण्णत्ती" में दी गई यक्ष-यक्षियों की सूची के सम्बन्ध में श्री शाह का मत है कि वह अंश पश्चातकाल में जोड़ा गया है।

श्री शाह ने 'तिलोयपण्णत्ती' के यक्ष यक्षी सम्बन्धी उल्लेख को प्रक्षिप्त अंश माना है। उसका क्या आधार है, यह हम नही समझ सके।

श्री शाह का यह मत भी कि नौवी शताब्दी में जैन प्रतिमा शिल्प में शासन देवताओं का प्रवेश हुआ, अधिक तर्क संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि शासन देवताओं की अनेक मूर्तियां इससे पूर्व काल की प्राप्त होती हैं।

उदयगिरि (उड़ीसा) की नवमुनि गुम्फा और बारह भुजी गुम्फा में भित्तियों पर तीर्थङ्कर मूर्तियां, उनके चिह्न और उनके अधोभाग में उनकी शासन देवियां बनी हुई हैं। बारहभुजी गुम्फा में महावीर की यक्षी सिद्धायिका षोडशभुजी है तथा इसी गुम्फा में चक्रेश्वरी देवी की दो मूर्तियां बारहभुजी हैं। उनके ऊपर आदिनाथ तीर्थङ्कर की मूर्तियां हैं। पार्श्वनाथ मूर्ति के नीचे पद्मावती की जो मूर्ति है, उसके सिर पर सप्तफण-मण्डप बना हुआ है। खण्डगिरि के ऊपर बने हुये आधुनिक मन्दिर में कुछ प्राचीन मूर्तियां रखी हुई हैं। कहा जाता है कि ये मूर्तियां देवसभा (उपर्युक्त मन्दिर के पीछे भग्न जिनालय) से लाकर यहाँ विराजमान की गई थीं। यह ध्वस्त जिनालय सम्राट खारवेल द्वारा निर्मित बताया जाता है। सम्भवतः यह वही मन्दिर है जिसका उल्लेख हाथी-गुम्फा शिलालेख में हुआ है, जिसका निर्माण खारवेल ने अपनी विजि-

जय के बाद किया था और जिसमें "कलिंग जिन" को समारोह पूर्वक विराजमान किया था। यदि इस अनुश्रुति में कुछ तथ्य है तो देवसभा से प्राप्त मूर्तियाँ खारबेल काल की, अर्थात् ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी की माननी होंगी। इन मूर्तियों में एक मूर्ति १४" की अम्बिका की है। देवी ललितासन में आसीन है। उसके दायें हाथ में आम गुच्छक है, बायीं गोद में बालक है। यही एक मूर्ति गोमेद यक्ष और अम्बिका यक्षी की है। दोनों ललितासन से बैठे हुए हैं। अम्बिका की बायीं गोद में एक बालक बैठा हुआ है। दूसरा बालक दोनों के बीच में खड़ा है। देवी के ऊपर आम्रस्तवक है। उसके ऊपर तीर्थङ्कर नेमिनाथ की पद्मासन मूर्ति विराजमान है। दोनों पार्श्वों में चमरेन्द्र खड़े हैं।

अपनी शोध-यात्रा में मुझे अम्बिका और गोमेद की एक सुन्दर मूर्ति खुखुन्दू (जिला देवरिया, उत्तर-प्रदेश) मे देखने का अवसर प्राप्त हुआ। यह मूर्ति गुप्त-काल की मानी जाती है और उत्खनन में प्राप्त हुई है। इसमे अंबिका के साथ केवल एक बालक है। इसमे यक्ष मूर्ति का भी अंकन है। खुखुन्दू के निकट कहाऊ ग्राम में पाषाण-निर्मित एक मानस्तम्भ है। यह स्तम्भ उसके शिलालेख के अनुसार समुद्रगुप्त काल का है। खुखुन्दू और कहाऊ का सम्पूर्ण पुरातत्व गुप्तकालीन है। इसलिए अम्बिका और गोमेद की उक्त मूर्ति को गुप्तकालीन मानने में कोई बाधा नही है।

राजगृही के वैभारगिरि पर उत्खनन में प्राप्त भग्न जिनालय में अनेक मूर्तियाँ रखी हुई है। यहाँ की कुछ मूर्तियां नालन्दा संग्रहालय में तथा कुछ मूर्तियाँ राजगृही नगर के लाल मन्दिर में पहुंचा दी गयी है। वैभारगिरि के इस मन्दिर में सवा दो फुट के एक शिलाफलक में अम्बिका और गोमेद की मूर्तियाँ उत्कीर्ण है। आम्रगुच्छक, बालक, नेमिनाथ-प्रतिमा सब पूर्व की भांति है। विशेषता यह है कि देवी के चरणों के नीचे पांच भक्त बैठे हुए हैं। देवी का एक हाथ भूमि स्पर्श करता हुआ रखा है तथा दूसरा हाथ छाती पर रखा है। तीर्थङ्कर प्रतिमा का मुख खण्डित है। शासन देवता की इस मूर्ति का सर्वसम्मत समय आठवीं शताब्दी माना गया है। इसी मन्दिर में एक मीटर ऊचे शिला-फलक में अम्बिका की एक स्वतन्त्र मूर्ति है। उसमें दोनों बालक है, आम्रगुच्छक है। इसके ऊपर सिंहासन का दस इंच ऊँचा शीर्षफलक है। देवी के अधोभाग में उसका वाहन सिंह बैठा हुआ है।

एक अन्य मूर्ति है जो बड़ी अद्भुत है। एक शिलाफलक में तीन पंक्तियो में २३ तीर्थङ्कर मूर्तियाँ बनी हुई है। चौथी पंक्ति में तीर्थङ्कर माता लेटी हुई है। उनके बगल में बालक तीर्थङ्कर लेटे हुए है। इनके मध्य में भगवान नेमिनाथ की पद्मासन प्रतिमा बनी हुई है। इसके बाद अम्बिका देवी अपने दोनो बालकों—शुभकर और प्रियंकर—को लेकर बैठी हुई है। सबसे अन्त में चमरवाहिनी है। इस मूर्ति के अतिरिक्त अन्य कई मूर्तियाँ हैं, जो नवग्रह, नव देवता, नव देवियों की है। इन सबका अनुमानिक काल आठवीं शताब्दी प्रतीत होता है।

भुवनेश्वर के राजकीय संग्रहालय में गोमुख यक्ष[1] की आठ इंच ऊंची मूर्ति सुरक्षित है, जिसका स्वीकृत समय सातवी शताब्दी है।

उपर्युक्त विवरण से यह सहज ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि न तो यक्ष-यक्षियों का प्रचलन नौवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ और न 'तिलोयपण्णत्ती' नामक आर्षग्रन्थ का यक्ष-यक्षी से सम्बन्धित अंश प्रक्षिप्त है। अपितु आचार्य यतिवृषभ द्वारा यक्ष-यक्षियों का उल्लेख करने के पूर्व ही तीर्थंकरों के साथ और स्वतन्त्र रूप से भी यक्ष-यक्षियों की मूर्तियों का निर्माण प्रचलित हो गया था।

शासन देवताओं के मूर्तिशिल्प का क्रमिक विकास: शासन देवताओ के मूर्तिशिल्प का किस प्रकार क्रमिक विकास हुआ, इसका कोई इतिहास नही मिलता है। वर्तमान में उनका जो विकसित रूप हमे उपलब्ध होता है, इतिहास के विभिन्न युगों में सदा ही यह रूप नहीं रहा। कला कभी स्थिर नही रही; उसकी नाना विधाओं ने विभिन्न देश-कालो की धाराओ मे विभिन्न आकार ग्रहण किये। किन्तु किसी भी काल की विधा के लिए कोई एक निश्चित सिद्धान्त स्थिर नहीं किया जा सकता। अनुमान के आधार पर केवल कल्पना ही की जा सकती है।

---

१. Ay/13 : भुवनेश्वर से प्राप्त।

हमारी विनम्र मान्यता है कि यक्ष-यक्षी की कल्पना को मौर्यकाल में ही आकार प्राप्त होने लगा था। प्रारम्भिक अवस्था में यक्ष-यक्षी को संभवतः चमर-वाहक के रूप में साकार किया गया था। दीदारगंज (पटना) से प्राप्त चमर-धारिणी यक्षी-मूर्ति इसी काल की है। यह पटना संग्रहालय में सुरक्षित है। कुषाण-कालीन मथुरा शैली में यक्ष-यक्षियों के मूर्ति शिल्प की प्रायः उपेक्षा की गई है। किन्तु प्रायः इसी काल में उदयगिरि-खण्डगिरि की रानी गुम्फा, अलकापुरी आदि में यक्ष यक्षी को द्वार पर स्थान दिया गया। जिन्हे हम द्वारपाल और द्वाररक्षिका कहते है, वे यक्ष-यक्षी के अतिरिक्त अन्य कोई नही है। इससे लगता है कि जैन मूर्ति शिल्प मे यक्ष-यक्षियों का प्रवेश तो उस समय हो गया था, किन्तु उन्हें तब तक जिनालय के बाहर रह कर ही सन्तोष करना पड़ा। दक्षिण और दक्षिण-पूर्व में कई स्थानों पर जिनालयों के द्वार पर द्वारपाल के रूप में यक्ष-यक्षियों की मूर्तियां मिलती है। उन्हे जिनालयों के अन्दर प्रवेश पाने और तीर्थङ्कर-मूर्तियों के साथ स्थान ग्रहण करने में कुछ शताब्दियों का समय लगा होगा।

हमें लगता है कि सर्व प्रथम बाईसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ के शासन देवता गोमेद और अम्बिका ने मूर्ति रूप धारण किया। इसके पश्चात् पद्मावती, चक्रेश्वरी, सिद्धायिका और बाद में शेष शासन देवताओं की मूर्तियां निर्मित होने लगीं। ईसा की सातवीं-आठवीं शताब्दी तक शासन देवताओं की मूर्तियों का पर्याप्त विकास हो गया। इतना ही नहीं, नवग्रह, क्षेत्रपाल, सरस्वती आदि देव-देवियो ने एवं प्रतीकात्मक रूप से गंगा-यमुना आदि ने भी इस काल में अपना उचित स्थान बना लिया। नौवीं-दसवीं शताब्दी मे तो तीर्थङ्कर मूर्तियों के साथ अन्य देव-देवियों को भी स्थान प्राप्त होने लगा। शासन देवताओं के मूर्ति-शिल्प के इस क्रमिक विकास का समुचित मूल्यांकन और अध्ययन नहीं हो पाया है। यदि इसका व्यवस्थित अध्ययन हो तो अनेक रोचक रहस्यों का उद्घाटन होने की सम्भावना है।

यह एक रोचक तथ्य है कि यक्षों की अपेक्षा यक्षी-मूर्तियो का सदा ही बाहुल्य रहा है।

यक्ष-यक्षियो के क्रमिक विकास की इस शृंखला में दो बातें विशेष विचारणीय है। प्रथम तो यह कि यक्ष-यक्षियों मे प्रथम आकार किसे मिला, निश्चयात्मक रूप मे यह कहना कठिन है। दूसरे यह कि यक्ष-यक्षियों की मूर्तियां पहले स्वतन्त्र बनी अथवा पहले तीर्थङ्कर मूर्तियों के साथ उनका निर्माण प्रारम्भ हुआ, यह कहना कठिन है, क्योंकि प्रारम्भ से ही दोनों प्रकार की मूर्तियां उपलब्ध होती हैं।

शासन देवता और तन्त्रवाद : कुछ विद्वानों की मान्यता है कि जैन धर्म के शासन देवता तन्त्रवाद की देन हैं। हम उनकी इस मान्यता से असहमत है, क्योंकि आर्ष-ग्रन्थो में समवसरण की जो सरचना बताई गई है, उसमें यक्ष-यक्षियों का भी विशिष्ट स्थान माना गया है। इसलिए यक्ष-यक्षियों की मान्यता किसी प्रभाव का परिणाम नहीं मानी जा सकती। किन्तु यह स्वीकार करने में कोई संकोच नही हो सकता कि एक समय ऐसा भी आया, जब यक्ष-यक्षियों के कार्यों को कुछ विद्वानों, भट्टारकों और यतियों ने तन्त्रवाद के साथ सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया। भारत मे जब तन्त्रवाद का बहुत जोर था और बौद्ध एवं वैदिक धर्म उसकी लपेट मे आ गये थे, उस समय अध्यात्म-प्रधान जैन धर्म के विशाल वृक्ष को भी तन्त्रवाद की इस आँधी ने कुछ झकझोर दिया था। उस काल मे तन्त्रवाद ने जैन धर्म की पूजा पद्धति मे प्रवेश पाने का कुछ प्रयत्न किया था। इसी के फलस्वरूप कुछ विद्वान लेखकों ने यक्ष-यक्षियों का दर्जा उपासक से उठाकर उपास्य तक पहुंचाने का भगीरथ प्रयत्न किया। इस कार्य मे भट्टारकों का योगदान उल्लेखनीय रहा। उन्होने ज्वालामालिनी कल्प, पद्मावती कल्प आदि कल्प ग्रंथों की रचना की; अनेक मन्त्र-शास्त्र रचे गये जिनमें देवताओं को प्रसन्न करने के बहुविध विधान बताये गये, ऐहिक कामनाओं की पूर्ति के लिए अनेक तान्त्रिक प्रयोगों का सृजन किया गया। जैन पूजा-विधि मे पचाङ्ग पूजा (आह्वानन, स्थापन, सन्निधीकरण, पूजन और विसर्जन) का प्रचलन इसी काल मे हुआ। प्रतिष्ठापाठों में यक्ष-यक्षियों, विद्यादेवियों, नवग्रहों, दिग्पालों आदि देवताओं का अष्टद्रव्य से पचांग पूजन का विधान निश्चय ही तन्त्रवाद से प्रभावित रहा है। किन्तु यक्ष-यक्षियों की मान्यता पर तन्त्रवाद का प्रभाव नहीं है,

उनके कार्यों को तन्त्रवाद के आग्रही कुछ विद्वानों ने तन्त्रवाद से प्रभावित करने का अवश्य कुछ प्रयत्न किया। यक्ष-यक्षियों की मान्यता प्राय: जैन प्रतिमा-शिल्प के साथ ही प्रचलित हो गई थी और यह वह समय था जब तन्त्रवाद को समाज मे विशेष महत्व प्राप्त नही हुआ था। दूसरी ओर, यक्ष-यक्षियों के कार्यों को तन्त्रवाद ने मध्योत्तर काल मे कुछ प्रभावित किया था।

जैन धर्म में शासन देवताओं का स्थान : प्रतिष्ठा शास्त्रों में यक्ष-यक्षियो को शासन देवता अथवा शासन रक्षक देवता स्वीकार किया गया है। प्रत्येक तीर्थङ्कर के निकट समवसरण में एक यक्ष और एक यक्षी रहते है। उनके मन में अपने तीर्थङ्कर के प्रति बडी भक्ति रहती है। वे समवसरण में तीर्थङ्कर की अथवा उनके शासन की सेवा या रक्षा किस प्रकार करते हैं अथवा उनका कार्य क्या है, यह किसी ग्रंथ में देखने में नही आया। किसी प्रतिष्ठा ग्रन्थ अथवा पुराण में भी इस सम्बन्ध मे कोई प्रकाश नही डाला गया। किन्तु उन्हे शासन देवता अथवा शासन रक्षक देवता के रूप मे जैन धर्म में मान्यता प्राप्त है, इसमें कोई सन्देह नही है।

आचार्य नेमिचन्द्र कृत प्रतिष्ठा तिलक में यक्ष पूजा के प्रसंग मे यक्षों की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए बताया गया है :

'यक्षं यजामो जिनमार्गरक्षादक्षं सदा भव्यजनैक पक्षम्।
निर्दग्धनि:शेषविपक्षकक्षं प्रतीक्ष्यमत्यक्षसुखे विलक्षम्॥

इसमे यक्षो को जिन शासन में रक्षा-परायण और सदा भव्यजनों का पक्ष लेने वाला बनाया गया है।

इसी प्रकार, यक्षी-पूजा के प्रसंग में उन्हें शासनदेवता बताया गया है। सन्दर्भ इस प्रकार है :

'सम्यक्प्रभावितजिनेश्वर शासन श्री चक्रेश्वरी प्रभृति-शासन देवताया:।'

इसी प्रकार, आचार्य सोमदेव[1] ने यक्ष-यक्षियों को शासन रक्षक स्वीकार किया है और पं० आशाधर[2] ने उन्हे शासन देवता माना है।

प्रतीत होता है कि उत्तर मध्यकाल में तीर्थङ्करों के उपासक शासन देवताओं को ऐहिक कामना-पूर्ति के नाम पर उपास्य का पद प्रदान करने का प्रयत्न प्रारम्भ होने लगा था। किन्तु तभी इस परम्परा के विरुद्ध प्रवृत्ति का जोरदार विरोध भी हुआ। आचार्य सोमदेव[3] ने इस प्रवृत्ति की जोरदार शब्दो में भर्त्सना करते हुए कहा कि तीनों लोकों के दृष्टा जिनेन्द्रदेव और व्यन्तरादिक देवताओ को पूजा विधान में जो समान समझता है, वह नरक में जाता है। उन्होंने यह तो स्वीकार किया है कि परमागम में इन शासन देवताओं की कल्पना शासन की रक्षा[4] के लिए की गई है। अत: सम्यग्दृष्टियों को यज्ञ का कुछ भाग देकर उनका सम्मान करना उचित है। किन्तु उन्होने इस प्रवृत्ति का कड़ा विरोध किया कि अपनी मनो-कामनाओं की पूर्ति के लिए अथवा आपदाओं के निवारण के लिये शासन देवताओं की पूजा उपास्य के रूप में की जाय। उन्होने कहा कि जैन धर्म के भक्त सम्यग्दृष्टि व्रती पुरुषो के ऊपर तो वे शासन देवता और उनके इन्द्र स्वय ही प्रसन्न[5] रहते है।

इसी प्रकार, पं० आशाधर ने अपना विरोध का स्वर मुखर करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा—आपदाओ से आकुलित होकर भी दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक उनकी निवृत्ति के लिये कभी भी शासन देवताओं की सेवा नही करता, पाक्षिक[6] श्रावक ऐसा करता है।

---

१. उपासकाध्ययन ३९।६९८।

२. सागारधर्मामृत ३।७।

३. देवं जगत्त्रयीनेत्रं व्यन्तराद्याश्च देवता:।
सम पूजाविधानेषु पश्यन् दूरं व्रजेदध:॥
—उपासकाध्ययन, ३९।६९७।

४. ता: शासनाधिरक्षार्थं कल्पिता: परमागमे।
अतो यज्ञांशदातेन माननीया: सुदृष्टिभि:॥
—उपासकाध्ययन, ३९।६९८।

५. तच्छासनैकभक्तानां सुदृशां सुव्रतात्मनाम्।
स्वयमेव प्रसीदन्ति ता: पुंसां सपुरन्दरा:।
—उपासकाध्ययन, ३९।६९९।

६ आपदाकुलितोऽपि दार्शनिकस्तन्निवृत्यर्थं शासनदेवतादीन् कदाचिदपि न भजते, पाक्षिकस्तु भजत्यप्रीत्येवमर्थमेकग्रहणम्—सागारधर्मामृत, ३।७-८।

इन विरोधी स्वरों में शासन देवताओं को उपास्य के रूप में मानने और उनकी पूजा करने की परम्पराविरुद्ध मान्यता के विरोध में असह्य क्षोभ की ध्वनि है जो तत्कालीन लोक मानस को प्रतिबिम्बित करती है। यद्यपि उग्र विरोध होने के बावजूद दिगम्बर परम्परा के कुछ भट्टारकों और श्वेताम्बर परम्परा के कुछ आचार्यों की रुचि मंत्र-तंत्र की ओर विशेष रूप से रही, उनके कारण शासन-देवताओं को विशेष महत्व प्राप्त हो गया। विभिन्न कल्पों और विधानो की रचनाएँ इसी का परिणाम है। इस प्रवृत्ति का एक क्लेशकारी परिणाम यह भी निकला कि देवियों के शीर्ष पर वीतराग तीर्थंकरों की मूर्तियाँ बनने लगीं। यह सब होने पर भी शासन देवताओं को तीर्थंकरों के समकक्ष दर्जा कभी नही मिल सका, उन्हे तीर्थंकरों के उपासक के रूप मे ही मान्यता प्राप्त हुई।

यक्ष यक्षियों का पारस्परिक संबन्ध और उनकी जाति : तीर्थंकरों के इन २४ यक्षों और २४ यक्षियों के सबध में कुछ जिज्ञासाए मन में जागृत होती है और अपेक्षा की जाती है कि इनका कुछ साधार समाधान प्राप्त हो। उदाहरणत:—

(१) ये यक्ष यक्षी किस देव निकाय या देवों की किस जाति के होते हे ?

(२) इन यक्ष-यक्षियों का परस्पर में क्या सम्बन्ध होता है, अर्थात् ये युगल पति-पत्नी होते है अथवा नही ?

यहाँ यक्ष शब्द से किसी एक ही जाति के देवों का ग्रहण नही होता। यक्ष शब्द तीर्थंकरो के सेवक या शासन रक्षक के अर्थ मे लिया गया है, ऐसा देवता देवो के किसी निकाय का हो, उसकी किसी भी जाति का हो। यक्ष देवों की एक जाति होती है और यक्ष जाति ज्योतिष्क निकाय को छोड़ कर शेष सभी निकायों मे प्राप्त होती है।

व्यन्तर देवों मे आठ जातियाँ[१] होती है—'किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच। इनमें यक्ष व्यन्तर देवों की एक जाति मानी गई है। ये भी बारह[२] प्रकार के होते हैं—माणिभद्र, पूर्णभद्र, शैलभद्र, मनोभद्र, भद्रक, सुभद्र, सर्वभद्र मानुष, धनपाल, स्वरूप यक्ष, यक्षोत्तम और मनोहरण। इनके माणिभद्र और पूर्णभद्र ये दो इन्द्र होते हैं।

पिशाच जाति के व्यन्तरों मे भी यक्ष नामक देव होते है। पिशाच देवों के १४ भेद[३] बतलाये गए हैं—कूष्माण्ड, यक्ष, राक्षस, संमोह, तारक, अशुचि काल, महाकाल, शुचि, सतालक, देह महादेह, तूष्णीक और प्रवचन।

छह दिशाओं के छह रक्षक[४] देव होते है—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, अनावर्त और आवर्त। ये भी यक्ष कहे जाते है।

२४ यक्षो के नामो मे किन्नर, गन्धर्व, कुबेर और वरुण ये नाम भी सम्मिलित है। किन्नर और गन्धर्व ये व्यन्तर निकाय के देवों के भेद है। अत: ये दोनों व्यन्तर देव होने चाहिये। कुबेर और वरुण ये दोनों लोकपाल देव है। चारों दिशाओं की रक्षा करने वाले देवों को लोकपाल कहते है। चारों दिशाओं की रक्षा करने वाले चार लोकपाल होते है—सोम, यम, वरुण और कुबेर। ऐसे लोकपाल भवनवासियों और कल्पवासियों मे अर्थात् दोनों निकायों में होते हैं। भवनवासियों[५] मे प्रत्येक इन्द्र के पूर्वादिक दिशाओं के रक्षक क्रम से सोम, यम, वरुण और धनद-(कुबेर) नामक चार-चार लोकपाल होते है। इस प्रकार भवनवासियों में ४० लोकपाल होते है। इसी प्रकार, वैमानिक[६] देवों में भी चार-चार लोकपाल होते है। ये लोकपाल सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लांतव, मह शुक्र, सहस्रार और आनतादि चार इन सब इन्द्रों के चार-चार होते है – सोम, यम, वरुण और कुबेर। सौधर्म इन्द्र के लोकपाल नियम से द्विचरमशरीरी होते हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुबेर और वरुण नामक यक्ष लोकपाल थे। वे या तो भवनवासी

१. तत्वार्थ सूत्र, ४।११।
२. तिलोयपण्णत्ती, ६।४२; त्रिलोकसार, २६५–२६६।
३ तिलोयपण्णत्ती, ६।४८-४६ त्रिलोकसार २७१-२७२।
४. प्रतिष्ठासारोद्धार, ३।१९९-२०१।
५. पत्तेक इंदयणं सोमो यम वरुण धणद णामा य।
पुव्वादि लोयपाला हवंति चत्तारि-चत्तारि॥
—तिलोयपण्णत्ती, ३।७१।
६. तिलोयपण्णत्ती, ८।२८७–२९९।

थे अथवा कल्पवासी। धरणेन्द्र और पद्मावती भवनवासी देवों की नागकुमार जाति के उत्तरक्षेत्रीय इन्द्र-इन्द्राणी हैं।

पुराणों आदि में विभिन्न स्थलों पर यक्षों के भिन्न-भिन्न कार्यों का उल्लेख मिलता है, जैसे यक्षेन्द्र चार धर्म-चक्रों को समवसरण मे धारण करते है। यक्ष तीर्थंकरों को ६४ चमर ढुलाते है। समवसरण में यक्ष और यक्षी भगवान के निकट रहते हैं। सर्वाह्न[1] यक्ष गज पर आरूढ़ हो कर मस्तक पर धर्मचक्र रख कर दोनों हाथों से उसे पकड़ रखता है और दो हाथ जोड़े हुए बिहार के समय भगवान् के आगे चलता है। सर्वाह्न यक्ष किस जाति का देव है, यह ज्ञात नही हो पाया। सम्भवत: वह व्यन्तर जाति का होगा। धर्मचक्र को धारण करने वाले यक्षेन्द्र भी व्यन्तर जाति के होते है।

६४ चमर व्यन्तर जाति के यक्ष ढुलाते है। शेष यक्ष-यक्षी किस निकाय या जाति के देव है, इस प्रश्न का उत्तर दृष्टिगोचर नही हुआ।

इसी प्रकार, दूसरा प्रश्न कि प्रत्येक यक्ष-यक्षी युगल का पारस्परिक सम्बन्ध क्या था, यह भी अनसुलझा ही रह जाता है। किसी प्रतिष्ठा शास्त्र मे अथवा दिगम्बर-श्वेताम्बर ग्रन्थ मे इस सम्बन्ध मे कोई संकेत नही मिलता। केवल धरणेन्द्र और पद्मावती के सबन्ध मे उत्तरपुराण आदि शास्त्रों में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि वे भवन-वासी निकाय की नागकुमार जाति के इन्द्र-इन्द्राणी थे। इनके अतिरिक्त, शेष २३ यक्ष-यक्षी भी क्या इसी प्रकार पति-पत्नी थे अथवा नहीं, इस संबन्ध मे कोई सूचना प्राप्त नहीं होती।

यक्ष-यक्षियों के नामों में वैषम्य: तीर्थंकरो के २४ यक्षो और यक्षियो के नामो के संबन्ध मे शास्त्रो में बहुत मतभेद या वैषम्य है। दिगम्बर और श्वेताम्बर शास्त्रो में इनके जो नाम उपलब्ध होते है, वे यहाँ दिये जा रहे है। इससे उनमें कहाँ एकरूपता और कहाँ वैषम्य है, यह समझने में सुविधा होगी।

यक्षो के नाम इस प्रकार हैं: तिलोयपण्णत्ती—(१) गोवदन, (२) महायक्ष, (३) त्रिमुख, (४) यक्षेश्वर, (५) तुम्वख, (६) मातग, (७) विजय, (८) अजित, (९) ब्रह्म, (१०) ब्रह्मेश्वर, (११) कुमार, (१२) पण्मुख, (१३) पाताल, (१४) किन्नर, (१५) किंपुरुष, (१६) गरुड़, (१७) गन्धर्व, (१८) कुबेर, (१९) वरुण, (२०) भृकुटि, (२१) गोमेघ, (२२) पार्श्व, (२३) मातंग और (२४) गुह्यक।

वसुनन्दिकृत प्रतिष्ठासार, संग्रह—(१) गोमुख, (२) महायक्ष, (३) त्रिमुख, (४) यक्षेश्वर, (५) तुंवर, (६) पुष्प, (७) मातग, (८) श्याम, (९) अजित, (१०) ब्रह्म, (११) ईश्वर, (१२) कुमार, (१३) चतुर्मुख, (१४) पाताल, (१५) किन्नर, (१६) गरुड़, (१७) गन्धर्व, (१८) रवेन्द्र, (१९) कुबेर, (२०) वरुण, (२१) भृकुटि, (२२) गोमेद (२३) धरण और (२४) मातंग।

आशाधरकृत प्रतिष्ठासारोद्धार—सभी नाम वसुनन्दि के अनुसार है।

नेमिचन्द्रकृत प्रतिष्ठातिलक—सभी नाम वसुनन्दि के अनुसार है। केवल १३वें यक्ष का नाम षण्मुख है।

हेमचन्द्रकृत अभिधानचिन्तामणि—चौथा यक्ष यक्ष-नायक, छटवाँ सुमुख, आठवाँ विजय, ग्यारहवाँ यक्षेश्वर, तेरहवाँ षण्मुख, अठारहवाँ यक्षेन्द्र, तेईसवाँ पार्श्व। शेष नाम वसुनन्दि के समान है।

वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर—चौथा यक्षेश्वर छटवाँ कुसुम; शेष नाम साधारण परिवर्तन के साथ अभि-धानचिन्तामणि के समान हैं।

ठक्कुरफेरुकृतवास्तुसार प्रकरण—चौथा ईश्वर, अठा-रहवाँ यक्षेन्द्र। शेष हेमचन्द्र के अनुसार है।

पादलिप्तसूरिकृत निर्वाणकलिका—ठक्कुरफेरु के समान हैं।

अपराजितपृच्छा—पहला वृषमुख, चौथा चतुरानन, नौवाँ जय, ग्यारहवाँ किन्नरेश। शेष नाम आचारदिनकर के समान है।

---

१. उत्तुंगं शारदभ्रशुभ्रमुचित सद्विभ्रमं बिभ्रतं,
यो दिव्यद्विपमारुरोह शिरसि श्री धर्मचक्रं दधौ।
हस्ताभ्यामासितद्युति करयुगेनान्येन बद्धांजलि,
तं जैनाध्वररक्षणक्षममिमं सर्वाह्नयक्षं यजे॥
—प्रतिष्ठातिलक, पृ० ९९।

यक्षों के जो नाम विभिन्न दिगम्बर-श्वेताम्बर ग्रन्थों में दिये गए है, उनमें विशेष अन्तर नही है, किन्तु इन शास्त्रों मे दिये गए नामों से तिलोयपण्णत्ती में दिये गए नामों मे भारी अन्तर है। क्रम संख्या की दृष्टि से उसके प्रारम्भिक पाँच नाम ही अन्य ग्रन्थों से मिलते है। शेष नामों में क्रम भग है। तिलोयपण्णत्ती में जो नाम छटवें स्थान पर है, वह अन्य ग्रन्थो में सातवें स्थान पर है। यह अन्तर अन्त तक है। तिलोयपण्णत्ती में चौबीसवें यक्ष का नाम गुह्यक दिया है, किन्तु इस नाम का कोई यक्ष अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलता। इस असंगति का कारण यह है कि तिलोयपण्णत्ती में छटवें नम्बर के यक्ष का नाम छूट गया, जिससे क्रम भंग हो गया और अन्त में चौबीस संख्या पूरी करने के लिए गुह्यक नामक एक यक्ष की कल्पना करनी पड़ी। यह भूल मूल ग्रन्थ की है अथवा प्रतिलिपिकारों और सम्पादकों की, इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

यक्षों की अपेक्षा यक्षियों के नामों के सम्बन्ध मे जैन शास्त्रों में नाम-भेद अधिक है। यहां विभिन्न ग्रन्थों के नाम-साम्य और वैषम्य पर प्रकाश डाला जा रहा है:

तिलोयपण्णत्ती—(१) चक्रेश्वरी (२) रोहिणी (३) प्रज्ञप्ति (४) बज्रशृंखला (५) वज्रांकुशा (६) अप्रतिचक्रेश्वरी (७) पुरुषदत्ता (८) मनोवेगा (९) काली (१०) ज्वालामालिनी (११) महाकाली (१२) गौरी (१३) गान्धारी (१४) वैरोटी (१५) अनन्तमती (१६) मानसी (१७) महामानसी (१८) जया (१९) विजया (२०) अपराजिता (२१) बहुरूपिणी (२२) कूष्माण्डी (२३) पद्मा (२४) सिद्धायिनी।

प्रतिष्ठासार-सग्रह—(१) चक्रेश्वरी (२) रोहिणी (३) प्रज्ञप्ति (नम्रा) (४) बज्रशृखला (प्रतिष्ठासारोद्धार और प्रतिष्ठातिलक में पविशृंखला) (५) पुरुषदत्ता अथवा संसारी (प्र० सा० में खड्गवरा) (६) मनोवेगा (७) काली (मानवी) (८) ज्वालिनी (ज्वालामालिनी) (९) महाकाली (१०) मानवी (११) गौरी (गोमेधका) (१२) गान्धारी (१३) वैरोटी (प्र० ति० मे वरोटिका) (१४) अनन्तमती (१५) मानसी (१६) महामानसी (१७) जयदेवी (जया) (१८) तारावती (१९) अपराजिता (२०) बहुरूपिणी (२१) चामुण्डा (कुसुममालिनी) (२२) आम्रा (कूष्माण्डी) (२३) पद्मावती (२४) सिद्धायिका (सिद्धायिनी)। प्रतिष्ठासारोद्धार और प्रतिष्ठातिलक में शेष नाम समान हैं।

आचारदिनकर—(१) चक्रेश्वरी (निर्वाणकलिका और वास्तुसारप्रकरण मे अप्रतिचक्रा (२) अजितबला (नि० क० और वा० सा० प्र० में अजिता) (३) दुरितारि (४) काली (नि० क० और वा० सा० प्र० मे कालिका) (५) महाकाली (६) अच्युता (अभिधानचिन्तामणि मे श्यामा) (७) शान्ता (८) भृकुटि (९) सुतारा (अ० चि० में सुतारका) (१०) अशोका (११) मानवी (१२) चण्डा (नि० क० और वा० सा० प्र० में प्रचण्डा) (१३) विदिता (१४) अकुशा (१५) कंदर्पा (१६) निर्वाणा (अन्य ग्रन्थों में निर्वाणी) (१७) बला (१८) धारिणी (१९) नागाधिपा (अ० चि० में धरणप्रिया, नि० क० और वा० सा० प्र० में वैरोट्या) (२०) अच्छुप्तिका (नृदत्ता) (२१) गान्धारिका (अन्य ग्रन्थों में गान्धारी या गान्धारा) (२२) अम्बा (अ० चि० में अम्बिका, नि० क० और वा० सा० प्र० मे कूष्माण्डी) (२३) पद्मावती। अभिधानचिन्तामणि, निर्वाणकलिका और वास्तुसारप्रकरण में शेष नाम आचारदिनकर के समान हैं।

अपराजितपृच्छा मे अन्य ग्रन्थो से नाम वैषम्य है। अत. उसके नामों की तालिका पृथक् से दी जा रही है जो इस प्रकार है:

(१) चक्रेश्वरी (२) रोहिणी (३) प्रज्ञा (४) बज्रशृंखला (५) नरदत्ता (६) मनोवेगा (७) कालिका (८) ज्वालामालिनी (९) महाकाली (१०) मानवी (११) गौरी (१२) गान्धारिका (१३) विराटा (१४) तारिका (१५) अनन्तागति (१६) मानसी (१७) महामानसी (१८) जया (१९) विजया (२०) अपराजिता (२१) बहुरूपा (२२) अम्बिका (२३) पद्मावती (२४) सिद्धायिका। अपराजितपृच्छा की यह नाम-सूची श्वेताम्बर ग्रन्थो की अपेक्षा दिगम्बर ग्रन्थों की सूची के अधिक निकट है।

तिलोयपण्णत्ती में यक्षो के नामो के समान यक्षियों के नामों में भी क्रम-विपर्यय हैं और नामों में कुछ अन्तर भी है। इस ग्रन्थ में पाँचवें नाम से ही क्रम-भंग हो गया है तथा ५ नामों में अन्तर भी है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि यक्षियों के नामों में बडा अन्तर मिलता है। खण्डगिरि की बाराभुजी एवं नवमुनि गुम्फाओं में तीर्थंकरों के साथ उनकी यक्षियाँ भी उत्कीर्ण हैं। देवगढ़ और चातियानदाई (वर्तमान में प्रयाग संग्रहालय में) चौबीस यक्षियों की मूर्तियाँ तीर्थंकरों के बिना बनी हुई है। इनमें उनके नाम भी लिखे हुए हैं। देवगढ़ की यक्षियों के नाम किसी भी ग्रन्थ में दिये गए उनके नामों से नहीं मिलते हैं। जिस प्रकार साहित्य में यक्षियों के नामों के सम्बन्ध में परस्पर ऐकमत्य नही है, उसी प्रकार साहित्य और शिल्प के नामों में भी साम्य दिखाई नही पड़ता।

विद्यादेवियों की मान्यता : जैन परम्परा में सरस्वती-पूजा अति प्राचीन काल से प्रचलित रही है। मथुरा के जैन शिल्प मे कुषाण काल की सरस्वती प्रतिमा मिली है। सम्भवत: सरस्वती प्रतिमाओं में यह सबसे प्राचीन है। सरस्वती नामक कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व हो, ऐसा नहीं लगता, बल्कि समस्त द्वादशाङ्गश्रुत को देवता के रूप में माना है। श्रुत की मान्यता भी देव और गुरु के समान है। इसलिए ही श्रुत-भक्ति में "भक्त्या नित्यं प्रवन्दे श्रुतमहमखिलं सर्वलोकैकसारं" कह कर श्रुत की वन्दना की गई है। श्रुत के सम्बन्ध में बताया गया है :

अरहंतभासियत्थं गणधरदेवेहि गंथियं सम्मं।
पणमामि भत्तिजुत्तो सुदणाण महोवहिं सिरसा॥

अर्थात् अरहंतों द्वारा भाषित और गणधर देवों द्वारा ग्रथित श्रुतज्ञानसागर को मैं भक्ति पूर्वक प्रणाम करता हूं।

श्रुत जिनेन्द्र की वाणी है। इसलिए वह जिनेन्द्र के समान ही मान्य और पूज्य माना गया है। इतनी मान्यता होने के कारण उसे श्रुत देवता मान लिया गया और श्रुत देवता के प्रतीक रूप में सरस्वती की कल्पना की गई। सरस्वती की कल्पना सर्वप्रथम किस काल में की गई, निश्चित रूप से यह तो नही कहा जा सकता। किन्तु कुषाण काल की सरस्वती प्रतिमा मिलने से यह कल्पना कम से कम २००० वर्ष प्राचीन तो है ही। इसके पश्चात् सरस्वती की परिकल्पना मे क्रमिक विकास हुआ; उसके वाहन, आयुध, रूप आदि की कल्पना की गई। इसके पश्चात् सरस्वती के षोडश रूपो की कल्पना का विकास हुआ, जिन्हें षोडस विद्यादेविया कहा जाता है। अभिधान चिन्तामणि (देवकाण्ड, द्वितीय) मे इन षोडश देवियो का नामोल्लेख करते हुए इस कल्पना को इस प्रकार व्यक्त किया गया है :

"वाग् ब्राह्मी भारती गौर्गीर्वाणी भाषा सरस्वती।
श्रुतदेवी वचनं तु व्याहारो भाषितं वच: ॥

वाग, ब्राह्मी, भारती, गौ., गीर्वाणी, भाषा, सरस्वती, श्रुतदेवी, वचन, व्याहार, भाषित और वचस् ये सब एकार्थक है।

इसका आशय यह है कि सरस्वती श्रुतदेवता से भिन्न नहीं है और ये विद्यादेवियाँ श्रुतदेवता के ही विभिन्न मूर्त रूप है। 'निर्वाणकलिका' नामक ग्रन्थ मे सरस्वती को द्वादशांग श्रुतदेव की अधिदेवता बताया है। षोडश विद्यादेवियाँ विद्या या ज्ञान की देवियाँ है, ऐसी मान्यता है।

हरिवंशपुराण (५९।२७) मे सरस्वती देवी का नामोल्लेख हुआ है। उसमें बताया है कि जब तीर्थङ्कर नेमिनाथ का विहार हो रहा था, उस समय लौकान्तिक दव भगवान के आगे-आगे चल रहे थे, पदमा और सरस्वती-देविया अपने हाथो मे कमल लेकर तथा उनके परिवार की देवियां हाथो में मंगल-द्रव्य धारण करके भगवान के आगे-आगे चल रही थीं।

ये पद्मा और सरस्वती देवियाँ सम्भवत: लक्ष्मी और सरस्वती देवियां है। लक्ष्मी नामक एक देवी शिखरी-पर्वत के पुण्डरीक सरोवर में पद्म-प्रासाद में सामानिक और पारिषद् देवों के परिवार सहित निवास करती है। छह कुलाचलों के मध्य भाग में पूर्व से पश्चिम तक लम्बे छह विशाल सरोवर हैं। उनमें महापुण्डरीक सरोवर मे निवास करने वाली बुद्धि नाम की एक देवी है। सम्भवत: यह देवी ही सरस्वती देवी है। लगता है कि भगवान नेमि-

नाथ के आगे पद्मा और सरस्वती नामक जो देविया चल रही थी वे कुलाचलो के सरोवर मे रहने वाली बुद्धि और लक्ष्मी देवियाँ थी। ये ऐशानेन्द्र की आज्ञाकारिणी है। रुचकवर द्वीप के कूटो पर दिक्कुमारिकायें निवास करती है। उनमे लक्ष्मीमती और पद्मा नामक देवियो के नाम तो है, किन्तु सरस्वती नामक किसी देवी का नाम नही है। ये दिक्कुमारियाँ तीर्थङ्कर माता की सेवा करती हैं। देवियों के इस विस्तृत विवरण मे भी हमे सरस्वती देवी का नाम नही मिलता, केवल एक बार भगवान नेमिनाथ के बिहार के प्रसग मे उसका नाम आया है। उससे यह भी ज्ञात नही होता कि वह देवो की किस जाति से सबन्धित थी। सम्भावना यही लगती है कि विद्या की अधिष्ठात्री और श्रुत की अधिदेवता सरस्वती द्वादशांग श्रुतज्ञान का काल्पनिक मूर्तरूप है। ऐसा लगता है कि इस कल्पना को शिल्प मे पहले आकार दिया गया, साहित्य मे बाद मे स्थान मिला, क्योंकि साहित्य मे स्थान मिलने से पूर्व ही सरस्वती की प्रतिमाये बननी प्रारम्भ हो गई थी। द्वादशांग श्रुत के अधिदेवता के रूप मे इस देवी को साहित्य मे स्थान पाने मे पर्याप्त समय लगा। तिलोयपण्णत्ती (४।१८८१) मे पाण्डुकवन की जिन प्रतिमाओ के साथ रत्नादिको की श्रुतदेवी, सर्वाह्न और सनत्कुमार यक्षो की मूर्तियाँ रहने का उल्लेख मिलता है। इसमे जिस श्रुतदेवी का उल्लेख किया गया है, वह वास्तव मे क्या सरस्वती-देवी कही जा सकती है?

सरस्वती देवी की कुषाण, गुप्त, प्रतिहार, कलचुरि आदि विभिन्न कालो मे प्रतिमाये बनी। कई स्थानो पर व मिलती है। किन्तु साहित्य मे ९-१०वी शताब्दी मे उसको व्यवस्थित रूप मिला। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही परम्पराओ मे इन्ही या पश्चाद्वर्ती शताब्दियो मे शिल्प शास्त्रों और प्रतिष्ठा शास्त्रो की रचनायें हुई। उनमे तथा प्रासगिक रूप मे अन्य साहित्यिक ग्रन्थो मे सरस्वती और उसके विभिन्न रूपो की अनुकृति पर विद्या-देवियो के रूप, वाहन और आयुध आदि को व्यवस्थित रूप प्रदान किया गया। दिगम्बर परम्परा में प्रायः विद्या-देवियो के पूजा-विधान के रूप मे उनका रूप-वर्णन किया गया है। श्वेताम्बर परम्परा मे उनके मूर्ति-शिल्प का वर्णन मिलता है। दिगम्बर परम्परा मे तीर्थंकर मूर्तियों के अतिरिक्त सर्वतोभद्रिका प्रतिमाये, सहस्रकूट जिनालय, नन्दीश्वर जिनालय, समवसरण जिनालय आदि की परम्परा प्रचलित है, विद्यादेवियो, अष्टमातृकाओं, क्षेत्रपाल, सरस्वती, नवग्रह आदि की मान्यता है और उनमे से कई की मूर्तियाँ भी मिलती है। किन्तु आश्चर्य है कि प्रतिष्ठा-ग्रथो, सिद्धान्त ग्रथो और पुराण ग्रंथो मे इनके सम्बन्ध मे अधिकृत विवरण नही मिलता। इसलिए कुछ लोगो की ऐसी धारणा बन गई है कि दिगम्बर परम्परा मे इनमे से बहुतो का शिल्प श्वेताम्बर परम्परा की अनुकृति पर हुआ है, यद्यपि अभी हम इस धारणा से सहमत नही है और हम जैन शिल्प के इस वैविध्य के आधारो की शोध कर रहे है।

विद्यादेवियों के नाम : १६ विद्यादेवियो के नाम इस प्रकार है—१. रोहिणी, २. प्रज्ञप्ति, ३. बज्रशृंखला, ४. बज्रांकुशा, ५ जाम्बूनदा[1], ६. पुरुषदत्ता, ७. काली, ८ महाकाली[2], ९ गौरी, १०. गान्धारी, ११. ज्वालामालिनी[3], १२ मानवी, १३. वैरोटी[4], १४. अच्युता[5], १५. मानसी, और १६. महामानसी।

तीर्थंकरो की २४ यक्षियो और १६ विद्यादेवियो के नामो का मिलान करने से ऐसा लगता है कि इन १६ देवियो का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। इनमे से २-३ को छोडकर प्राय. सभी नाम यक्षियो मे है। समीकरण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि सरस्वती के विभिन्न रूपो को लेकर १६ विद्यादेवियो की कल्पना की गई, किन्तु उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान नही किया गया, बल्कि यक्षियों के बहुभाग को विद्यादेवी का भी नाम प्रदान किया गया। इन देवियों के यक्षी या विद्यादेवी के

१. अभिधानचिन्तामणि (देवकाण्ड द्वितीय) चक्रेश्वरी। पद्मानन्द १।८३ ८४ अप्रतिचक्रा।
२. अभिधानचिन्तामणि, देवकाण्ड—महापरा। आचार-दिनकर (उदय ३३) मे भी महापरा नाम दिया है।
३ निर्वाणकलिका - ज्वाला।
४. „ वैरोट्या।
५. „ अच्छुप्ता।

रूपों की पृथक् पहचान के लिए उनके रूप, वाहन और आयुधो में अन्तर डाल दिया गया। विद्यादेवियों को स्वतन्त्र व्यक्तित्व न देने का एकमात्र कारण हम यही समझते है कि ये यक्षियो से भिन्न कोई अलग देवी नहीं है। इनका विद्यादेवी का रूप तो कल्पित है। सम्भवत इसीलिए दिगम्बर जैन शिल्प मे इन देवियो का अकन देखने मे नही आया। आबू की विमलवसही मे इनका अकन प्राप्त होता है।

हिन्दू और बौद्ध परम्परा मे भी सरस्वती की मान्यता है। उनमे सरस्वती के षोडश रूपो या षोडश देवियो की मान्यता नही है। किन्तु षोडश विद्यादेवियो मे से अधिकाश देवियो की मान्यता हिन्दू और बौद्ध परम्परा मे भी रही है। देवियों के रूप जैन, हिन्दू और बौद्ध परम्पराओ मे प्राय: मिलते-जुलते रहे है। जैनो के विभिन्न लेखक भी इन देवियों के रूप के सम्बन्ध मे एकमत नहीं रहे। इसलिए किसी देवी-मूर्ति को देख कर किसी पुरातत्व-विशेषज्ञ के लिए यह निर्णय करना अति साहसपूर्ण कार्य ही कहा जायेगा कि प्रस्तुत मूर्ति किस परम्परा विशेष से सम्बन्धित है।

शासन देवों का रूप : शासनदेव या शासन देवता कहने से शासन रक्षक यक्ष और यक्षी एव विद्यादेवी का आशय लिया जाता है। इनका रूप, वाहन, आयुध, मुद्रा, भुजायें और उनमे लिए हुए विविध आयुधो के सम्बन्ध मे विभिन्न जैन शास्त्रो मे ऐकमत्य नही मिलता। स्थान के संकोच के कारण इस सबकी जानकारी विस्तार से न देकर यहाँ केवल उसका सकेत मात्र दिया जा रहा है।

आसन—ये सभी देव-देवियां या तो ललितासन मे बैठते हैं अथवा वीरासन मे। ललितासन मे दाया पैर पीठासन पर रहता है और बायां पैर दायी जघा पर। वीरासन[1] मे दोनो जघाओ के ऊपर दोनो पैरो को रखा जाता है। प्राय: कमल, कूर्म, मकर और पीठासन पर ये देव-देवियाँ वीरासन मे मिलते है, शेष वाहनो पर ललितासन में प्राप्त होते है। ललितासन मे वाहन के एक पार्श्व की ओर ही दोनो पैर रहते है।

वाहन : इन देव-देवियो के वाहन अनेक प्रकार के है। वाहनों के नाम है—वृषभ, कमल, गज, लोहासन, मयूर, हस, गरुड, मृग, तुरग, सिंह, कपोत, पाडा, कच्छप, शूकर, मकर, सर्प, मत्स्य, व्याघ्र, शव, अष्टापद, पुष्प, शरभ, पुरुष, गोधा, अजगर।

मुख : साधारणत: सभी देव देविया अपने सौम्य रूप मे ही शिल्प मे प्राप्त होते है। किन्तु कुछ देवों के मुख एक से अधिक बताये गये है, देवियो मे किसी का मुख एक से अधिक नहीं होता। यक्षो मे तीन, चार, छह और आठ मुख तक माने गये है। त्रिमुख, कुमार, पाताल, किन्नर और गोमेद यक्षो के ३; महायक्ष, ब्रह्म, षण्मुख कुबेर, और भृकुटि यक्षो के ४; रवेन्द्र यक्ष के ६ और वरुण यक्ष के ८ मुख माने गये है। इनके अतिरिक्त, गोमुख यक्ष का मुख गौ जैसा है तथा मातग और गरुड यक्षो के मुख वक्र या कुटिल माने है।

भुजा : यक्षो मे केवल २, यक्षियो मे २, और विद्यादेवियो मे २ के ही दो भुजायें बताई है। चार भुजा वाले देव-देवियो मे १२ यक्षो, १८ यक्षियो और १३ विद्यादेवियो के नाम है। षड्भुजी देव-देवियों में ५ यक्ष और २ यक्षी है। अष्टभुजी ३ यक्ष, १ यक्षी और १ विद्यादेवी है। २ यक्ष और १ यक्षी द्वादशभुजी माने है।

आयुध : शासन देव देवियो में १६ यक्ष और २० यक्षी एक-एक हाथ अभय या वरद मुद्रा मे उठाये हुए है। विद्यादेवियो मे दिगम्बर परम्परा के अनुसार एक भी देवी वरद मुद्रा मे नहीं है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार कई देवियां वरद मुद्रा मे हाथ उठाए हुए है। इन देवियो के शेष हाथो में निम्नलिखित आयुध या उपकरण है—माला, परशु, बिजौरा, वज्र, चक्र, फल, त्रिशूल, कमल, अकुश, तलवार, दण्ड, शख कर्णिका चन्द्र, कमण्डलु, धनुष, ढाल, बाण, नागपाश, सर्प, भाला, घण्टा, मत्स्य, अक्षमाला, शक्ति, मुद्गर, कलश, गदा, मूसल, चाबुक हल, हरिण, पाश, पान पानगुच्छक, पुस्तक, बज्रशृखला, वीणा, कुन्त, खेट और नमस्कार मुद्रा।

वर्ण : शासन देव देवियो का वर्ण इस प्रकार है—

यक्षो मे ३ सुवर्ण, ५ श्वेत, ११ श्याम २ रक्त, १ हरित, १ इन्द्रधनुष और १ मुद्ग वर्ण के यक्ष है।

१ अनगारधर्मामृत ८।-३।। प्रभाचन्द्र कृत क्रियाकलाप।

विज्ञान और महावीर की अहिंसा

□ श्री शम्सुद्दीन, रायपुर

एक बार एक वैज्ञानिक बहुत बड़ी सभा में विज्ञान की उपलब्धियों पर प्रकाश डाल रहा था। उसने बताया कि आज विज्ञान ने इतनी उन्नति कर ली है कि हम अपने कमरे में बैठे-बैठे हजारों लाखों मील दूर की आवाज सुन सकते हैं, यही नहीं वहां होने वाली घटनाओं को भी आंखों से देख सकते हैं, मिनटों में सैंकड़ों मील की यात्रा कर सकते हैं, तेज गरमी में कमरे के भीतर शीतल हवा का आनन्द ले सकते हैं, तथा ठंड में गरमी पैदा कर सकते हैं। आज हमारा जीवन इतना आराम और सुखमय हो गया है कि हम कह सकते हैं कि हमने स्वर्ग को पृथ्वी पर उतार लिया है। इसी समय एक व्यक्ति ने खड़े होकर कहा—हम मानते हैं कि विज्ञान ने हमें पक्षी की तरह आकाश में उड़ना सिखाया, मछली की तरह समुद्र पर तैरना सिखाया, किन्तु एक इन्सान की तरह पृथ्वी पर कैसे रहना यह विज्ञान ने हमें नहीं सिखाया; और क्षण भर के लिये पूरी सभा में सन्नाटा छा गया तथा वैज्ञानिक निरुत्तर हो गया।

बात भी सच है। आज के वैज्ञानिक युग में संसार ने जितनी उन्नति की है, मानवता का उतना ही अधिक पतन होता दिखाई दे रहा है। आज इन्सान, इन्सान न रहकर मशीन का पुर्जा-मात्र रह गया है तथा उसके भीतर निहित दया, क्षमा, प्रेम, सहानुभूति आदि गायब-सी हो रही है। मनुष्य भौतिक सुख-साधनों की अधिकता के बीच भी एक अजीब-सी अशांति और बेचैनी का अनुभव कर रहा है। उसकी इच्छाओं का कोई अन्त नहीं दिखाई देता। एक झूठी मृग-तृष्णा के पीछे वह निरंतर भटक रहा है। यही नहीं, आज इस विज्ञान ने ऐसे-ऐसे खतरनाक औजारों का निर्माण कर दिया है जिनसे मिनटों में सारी दुनिया का ही विनाश हो सकता है। ऐसे समय बरबस हमें भगवान महावीर सरीखे महामानव का स्मरण हो आता है जिनके उपदेश न केवल कुंठित एवं कराहती हुई मानवता के लिये जीवनदान दे सकते हैं, वरन् विश्व को विनाश के गर्त में गिरने से भी बचा सकते हैं।

आधुनिक युग विज्ञान का युग है। इसमें भौतिक दृष्टि से मनुष्य अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंच चुका है। उसने प्रकृति पर विजय पा ली है, अनेक शारीरिक रोगों पर नियंत्रण कर लिया है, तथा भौतिक सुख-सम्पन्नता में स्वर्ग को भी मात दे दी है; किन्तु इतना सब होने के बाद भी आज विश्व में शांति नहीं है। सर्वत्र भय, आशंका एवं खतरे का वातावरण बना हुआ है। आज अणु-शक्ति के निर्माण में होड़ लग गई है तथा प्रत्येक राष्ट्र अपने आपको दूसरों से अधिक शक्तिशाली बनाकर रखना चाहता है। स्वार्थ एवं अहंकार से प्रेरित

यक्षी ११ सुवर्ण, ३ श्वेत, १ रक्त, ६ हरित, १ पीत, १ कृष्ण और १ प्रवाल वर्ण की है।

विद्यादेवियों में ७ सुवर्ण, ३, नील, २ श्वेत, २ श्याम, १ रक्त और १ विद्रुम वर्ण की देवी है।

विशेष : कुछ यक्ष-यक्षियों के विशेष चिह्न होते हैं जिनसे उनकी पहचान होती है; जैसे प्रथम गोमुख यक्ष के मस्तक पर धर्मचक्र होता है। तीसरे त्रिमुख यक्ष के तीन नेत्र होते हैं। पाँचवा तुम्बरु यक्ष सर्प का यज्ञोपवीत धारण करता है। तेईसवें धरणेन्द्र यक्ष के सिर पर सर्प-फण रहता है। चौबीसवें मातंग यक्ष के सिर पर धर्मचक्र रहता है।

इसी प्रकार, बाइसवीं यक्षी आम्रा आम्रवृक्ष की छाया में दो पुत्रों के साथ होती है। प्राय: एक पुत्र उसकी गोद में रहता है और दूसरा बगल में खड़ा रहता है। तेईसवीं यक्षी पद्मावती के सिर पर त्रिसर्पफणावली रहती है।

□ □

शक्ति की इस होड ने संसार को विनाश के कगार पर ला कर खड़ा कर दिया है। इसके एक विस्फोट मात्र से न केवल समूचे विश्व में ताडव फैल सकता है, वरन मानवता के अस्तित्व को भी खतरा पैदा हो सकता है। ऐसी स्थिति मे भगवान महावीर के अहिंसा का सदेश ही वह पतवार है जो विश्व की डूबती हुई नौका को पार लगा सकती है।

विज्ञान के परिणाम-स्वरूप आज जितनी सम्पन्नता बढ़ रही है, लोगो मे उतना ही अधिक असतोष बढ रहा है। इसका कारण लोगो मे बढता हुआ लोभ और मोह है। ज्यों-ज्यो लाभ बढ़ता है, त्यो-त्यों लोभ भी बढता जाता है, और जब लोभ बढता है तो मोह बढता है और इसका अंत होना है दुख और असंतोष में। यही कारण है कि आज सम्पन्न देशों और वर्गो मे सुख-संतोष नही दिखाई देता। भगवान महावीर का उपदेश है कि संतोष से लोभ पर विजत प्राप्त करो। अपनी आवश्यकता मे अधिक का लोभ करना किसी अन्य को उसकी आवश्यकता से वचित करना है। दूसरे शब्दो में, यह उसकी हिंसा है।

विज्ञान ने आज मनुष्य को इतना भौतिकवादी बना दिया है कि वह हर वस्तु को, यहाँ तक कि मानवता को भी, अर्थ की तुला पर तौलने लगा है। पैसा ही आज उसका भगवान है तथा उसके सामने नैतिक मूल्यो का भी कोई महत्व नही। यही कारण है कि जल की कमी होने पर लोग पानी को भी बेचते है, गरीब का बच्चा तड़प-तड़प कर मर जाता है लेकिन फीस के अभाव मे डाक्टर उसके घर नहीं जाता; अकाल से पीडित निर्धन भूखो मर जाते है किन्तु अमीर अनाज को कोठियो मे छिपाकर रखे रहते है। भगवान महावीर का उपदेश है कि समाज के व्यापक हित में अपने सकुचित स्वार्थों का त्याग करो। किसी भूखे को यदि भोजन की जरुरत है तो अपनी रोटी का आधा हिस्सा उसे दे दो। अपना आधा वस्त्र देकर किसी नगे का तन ढांक सकते हो तो उसे सहर्ष दे दो। इस प्रकार, अपने संकुचित स्वार्थ का त्याग कर मानव-मात्र की भलाई करना महावीर के अनुसार सच्ची अहिसा है। जो दूसरों को दुखी और पीड़ित देखकर भी अपने स्वार्थ साधन में लिप्त रहते है वे वास्तव में समाज और मानवता की हिंसा के भागीदार है।

वैज्ञानिक यंत्रीकरण के परिणाम-स्वरूप कृषि एव उद्योगों के उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि अवश्य हुई, किन्तु इसका दुष्परिणाम यह भी हुआ कि बड़े कृषको और उद्योगपतियों में संग्रह-वृत्ति बढ गई। अमीर और भी अमीर होकर पूजीपति बनने लगे तथा गरीब मजदूर और भी गरीब होकर मारे-मारे फिरने लगे। अमीर और गरीब का यह वर्ग-भेद आज इतना अधिक बढ गया है कि अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी हम देश में समाजवाद की स्थापना करने में असफल रहे हैं। सग्रहवृत्ति का ही दुष्परिणाम है कि अधिक उत्पादन होने अथवा पर्याप्त मात्रा में वस्तुएँ उपलब्ध होने के बावजूद भी कृत्रिम अभाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तथा वस्तुओं की कीमतें आसमान छूने लगती है।

ऐसे लोगो के लिए महावीर ने अपरिग्रह का उपदेश दिया है जिसका तात्पर्य है सग्रहवृत्ति से दूर रहना। उनका कहना था कि जितनी हमारी आवश्यकता है, उससे अधिक अपने पास संग्रह करने का हमे कोई अधिकार नही है। यदि घर मे केवल दो प्राणी रहने को है तो बहुत बडी कोठी बना कर अपने कब्जे मे रखना उचित नही। इसी प्रकार, अधिक धन अपने पास सग्रह करके रखने का अर्थ है दूसरे जरूरतमद को उससे वचित रखना। दूसरे शब्दों मे, यह उनकी आर्थिक हिंसा है।

आज के वैज्ञानिक युग मे बिजली की जगमगाती रोशनी तथा गगनचुम्बी अट्टालिकाओ को देख हम भले ही अपनी तरक्की का दम भरे, किन्तु यह भी हमे मानना होगा कि आज व्यक्ति अपने ऊँचे आदर्शों से नीचे गिर गया है। उसका व्यक्तित्व दूषित हो गया है। हर आदमी सोचता है कि मैं ही सब कुछ हू और दूसरे कुछ नही। मैं जो कहता हूं, वही उचित है और बाकी सब अनुचित। इससे अहं की भावना बढ़ती है और मनुष्य का दृष्टिकोण संकुचित होता है। इसी के बाद उसमे अन्य दुर्गुण आ जाते है और वह पतन की ओर बढने लगता है। भगवान महावीर ने कहा कि नम्रता से अहकार को जीतो। इससे

[शेष पृ० १५१ पर]

महावीर : कुछ तथ्य

श्री शोभनाथ पाठक, मेघनगर (झबुआ)

सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य की वरीयता से युग को अवगत कराने वाले, २४वें तीर्थंकर महावीर की महत्ता को आंकना सुगम नही है, जिनके स्याद्वाद व अनेकान्त का सम्बल संसार को सवार, आकुल अन्तस को उबारने मे पूर्ण सक्षम है। सह-अस्तित्व, सहिष्णुता व समन्वय के समवेत स्वर ने उनकी वरवाणी मे उद्भूत हो, भूले-भटके जनो के हृदय को सम्बल दिया, मानव को मानवता की तुला पर ऊपर उठाया, तथा ज्ञान की थाती का अपूर्व कोष धरती पर लुटाया। आज अणु से भयभीत मानवता के उद्धार के लिए महावीर का अहिंसा रूपी अस्त्र वरदान स्वरूप है। ऐसी महान विभूति के विषय मे कुछ विशिष्ट बातें जानकर हम उनके सिद्धान्तो को अपने जीवन मे उतारे, इसी अपेक्षा से ज्ञान दधि के अतल मे पैठ आनन्दानुभूति से निहाल होने का आह्वान है।

महावीर का जन्म-स्थान तथा काल

पार्श्वेशतीर्थसताने पञ्चाशद्द्विशतात्मके।
तदभ्यन्तरवर्त्यायुर्महावीरोऽत्र जातवान ॥

अर्थात् पार्श्वनाथ तीर्थंकर की तीर्थ-परम्परा के २५० वर्षाभ्यन्तर काल मे तीर्थंकर वर्द्धमान् महावीर उत्पन्न हुए। यह शुभ अवसर ५९९ ई० पूर्व का है, जब माता त्रिशला की कुक्षि से ९ मास ७ दिन १२ घटे व्यतीत कर वर्द्धमान चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को अर्यमा योग में उत्पन्न हुए। यही बात विविध ग्रन्थों से भी पुष्ट होती है, यथा—

वृष्टेग्रहैरथ निजोन्नगतै समग्रैलंग्ने,
यथा पतितकालमसूत राज्ञी।
चैत्रे जिनं सिततृतीयजयानिशान्ते,
सोभाह्निचन्द्रमसि चोत्तर फाल्गुनिस्थे ॥[1]

तथा

चैत्रसितपक्षफाल्गुनि शशाकयोगे दिने त्रयोदश्याम्।
जज्ञे स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषु सौम्येषु शुभलग्ने ॥[2]

इन उद्धरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्द्धमान चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को शुभ लग्न में पैदा हुए थे। जबकि अन्य पदो मे और भी उल्लेख मिलता है, यथा:—

सिद्धार्थनृपतितनयो भारतवर्षविदेहकुण्डपुरे।
देव्यां प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान्संप्रदर्श्य विभु ॥[3]

अर्थात् सिद्धार्थ राजा की प्रियकारिणी (त्रिशला) धर्मपत्नी की पवित्र कोख से विदेह जनपद के कुण्डपुर ग्राम मे महावीर का जन्म हुआ था। यही बात 'काव्य-शिक्षा' मे भी कही गई है, यथा:—

भ्रातिमौलिमाणिक्यं सिद्धार्थो नाम भूपति।
कुण्डग्रामपुरस्वामी तस्य पुत्रो जिनोऽवतु ॥[4]

इन तथ्यो से स्पष्ट हो जाता है कि महावीर राजा सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला की कोख से विदेह जनपद के कुण्डग्राम मे पैदा हुये थे। विदेह-जनपद के अन्तर्गत ही वैशाली था जिसके समीप ही कुण्डग्राम था जिसे आजकल वासुकुण्ड कहते है। यही कारण है कि महावीर का सबध वैशाली व विदेह मे विशेष रूप से ज्ञात होता है जो निम्न उद्धरण से उजागर होता है, यथा—

विशाला जननी यस्य, विशालं कुलमेव च।
विशालं वचनं चास्य, तेन वैशालिको जिन: ॥[5]

विदेह-जनपद से भी महावीर की घनिष्ठता व्यक्त की गई है, यथा : "नाए नायपुत्ते नायकुलचन्दे विदेहदिन्ने, विदेहजच्चे विदेहसूमाले तीस वासाईं विदेहसि कह।"[6]

---

1 वर्द्धमानचरित (असग कवि), १७।५८
2. निर्वाण भक्ति, ५; तथा
'आषाढ़जोण्हपक्खछट्ठीए ... अच्छित्ता णवमासे अट्ठयदिवसे चइत्त सियपक्खे'
(जयधवला, भाग १, पृ० ७८)
3 निर्वाणभक्ति, ४.
4. काव्यशिक्षा, ३१.
5. सूत्रकृतांग, २।३.
6. कल्पसूत्र-सूत्र ११

विदेह-जनपद का कुण्डग्राम महावीर के आविर्भाव से इतना पावन एवं गरिमामयी हो गया कि मनीषी उसकी वरीयता का वर्णन करते नहीं अघाते। हरिवंशपुराण मे तो स्वर्ग से इसकी तुलना की गई है, यथा—

अथ देशोऽस्ति विस्तारी जम्बूद्वीपस्य भारते।
विदेह इति विख्यातः स्वर्गखण्डसमः श्रिय।
तत्राखण्डनेत्राली पद्मिनी खण्डमण्डनम्।
सुखाम्भकुण्डमाभाति नाम्ना कुण्डपुर पुरम्॥[1]

अर्थात् स्वर्गिक समृद्धि को भी मात देने वाला विदेह जनपद का कुण्डग्राम कितना गौरवशाली है जहाँ २४वें तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर का शुभ आविर्भाव हुआ।

ये उद्धरण विशेष रूप से इसलिए देने पडे है कि कुछ लोगों के उलट-फेर से महावीर का जन्मस्थान कुण्डपुर (लिछुआड़), अंग जनपद मे दीर्घकाल तक माना जाता रहा है। आज की ऐतिहासिक कसौटी पर यह गलत सिद्ध हुआ है। अब निर्विवाद रूप से वैशाली के पास वासुकुण्ड ही उनका जन्म-स्थान माना जाता है, जहाँ डा० राजेन्द्र-प्रसाद द्वारा एक शिलालेख लगाया हुआ है। इस स्थान को स्वयं मैंने देखा है। इन समस्त स्थानों की परख के बाद भी शोध अपेक्षित है।

बाल्यकाल की उपलब्धियाँ

राजा सिद्धार्थ की धर्म-पत्नी त्रिशला की कोख मे आते ही असीम समृद्धि उमड़ने लगी। अतः राजा ने पैदा होते ही तदनुरूप उस बालक का नाम समृद्धि सूचक वर्द्धमान रख दिया, यथा—

तद्गर्भतः प्रतिदिनं स्वकुलस्य लक्ष्मी।
दृष्ट्वा मुदा विधुकलामिव बर्द्धमानम्॥
सार्धं सुरैर्भगवतो दशमेहि तस्य।
श्रीवर्द्धमान् इति नाम चकार राजा॥[1]

असाधारण प्रतिमा-सम्पन्न वर्द्धमान की बौद्धिक वरीयता जहाँ सब को मोह लेती, वहीं क्रीड़ा में रत, संगमदेव द्वारा परीक्षा ली जाने पर उनके साहस, वीरता, आदि के कारण उन्हें 'वीर' और 'महावीर' की महत्ता से समलंकृत किया गया। अब वे वर्द्धमान से महावीर हो गये।

लोक-कल्याण के लिए सर्वस्व-त्याग

जैसे-जैसे अवस्था बढ़ती गई, महावीर की सांसारिक वैभवविलास की ओर अरुचि परिलक्षित होती रही। त्याग का अंकुर उनके अंतस् में उभरने लगा। माता-पिता तथा भाई नन्दिवर्द्धन इसे भाँप कर उन्हे सांसारिकता मे रिझाना चाहते थे, किन्तु उनके सारे प्रयास विफल रहे। महावीर तो मानवता के कल्याण के लिए आये थे, अत ३० वर्ष की भरी जवानी में उन्होंने अपने अपार सुख, धन-दौलत और राज-पाट को ठोकर मार कर श्रमण दीक्षा को ग्रहण कर लिया। उन्होंने स्पष्ट कहा—

"सव्वं मे अकरणिज्जं पाव कम्म"

अर्थात् आज से सभी पाप कर्म अकरणीय होंगे। तथा—

"करेमि सामाइयं सव्व सावज्ज जोगं पच्चक्खामि"

समस्त सावद्यकर्मो का तीन करण और तीन योग से त्याग करता हूं। महावीर ने अत्यधिक साधनामय जीवन बिताना प्रारम्भ कर दिया।

साधनामय जीवन

न प्रीतिमद्गृहेवासः स्थेय प्रतिमया सह।
न गेहिविनय कार्यो, मौन पाणौ च भोजनम्॥[1]

अर्थात् अप्रीतिकारक स्थानो पर कभी नही रहूंगा। सदा ध्यानस्थ रहकर मौन रहूँगा। हाथ मे ही भोजन करूँगा तथा गृहस्थों का विनय नही करूंगा। 'आचाराङ्ग सूत्र' के अनुसार उन्होने कभी भी पर-पात्र मे भोजन नही किया।[2] महावीर ने कठोरतम साधना की। उनके कानो मे कास ठूसी गई, कुत्तों से कटवाया गया, गावों मे धूल फेंकी गई, अनेक देवों ने असहनीय वेदनाएँ दी, किन्तु महावीर विचलित नही हुए। महीनों-महीनो वे बिना खाये रह जाते, यहाँ तक कि पानी का भी त्याग कर देते, पर ध्यानस्थ वे कंटकाकीर्ण पथ से विचलित नही हुए। पूरे १२ वर्ष ६ मास १५ दिन की तपस्या में महावीर ने केवल ३५० दिन (पारणा के) भोजन किया तथा शेष दिन निर्जल उपवास में व्यतीत किये। घनघोर साधना मे उन्होंने शरीर को तपा डाला। अन्ततः वैशाख शुक्ला दशमी के दिन जृम्भिका ग्राम में ऋजुवालुका नदी

१. हरिवंशपुराण, सर्ग २.
१. बर्द्धमानचरित, १७।६१.
१ कल्पसूत्र सुबो. पृ० २८८.
२. आचाराङ्ग १।६।१, गाथा १६.

के किनारे जीर्ण उद्यान के पास श्यामाक नामक गाथापति के क्षेत्र में शालवृक्ष के नीचे, उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के योग में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। अब वे 'अर्हत', 'जिन', 'सर्वदर्शी' व 'केवली' हुए।

चतुर्विध संघ की स्थापना

इसके बाद ही मध्यम पावा में भव्य समवशरण का आयोजन हुआ, जिसकी व्यवस्था देवताओं ने की। बड़ी सज-धज के साथ यह हुआ, यथा—

अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिः,
दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं,
सतप्रातिहार्याणि जिनेश्वरस्य॥

इसी समवशरण में महावीर ने गौतम आदि ११ गणधरों को श्रमण दीक्षा देकर चतुर्विध संघ की स्थापना की, जिसमें श्रमण, श्रमणा, श्रावक एवं श्राविकाएँ थी। उनके इस पूरे धर्म-परिवार में ९ गण, ११ गणधर, ७०० केवली, ५०० मनःपर्यायी, १३०० अवधिज्ञानी, ६०० चौदहपूर्वधारी, ४०० वादी, ७०० वैक्रियलब्धि-धारी, ८०० अनुत्तरोपपातिक मुनि, १४००० साधु, ३६००० साध्वियाँ, १,५९,००० श्रावक व ३,१८,००० श्राविकाएँ थी।

इसके बाद महावीर घूम-घूम कर सदुपदेशों से लोगों को लाभान्वित करने लगे। जनभाषा अर्द्धमागधी में वे अपना प्रवचन देते जिससे जन-मन मुग्ध हो उनकी ओर खिंचा आता। राजा श्रेणिक, कूणिक आदि तक जहाँ उनके भक्त थे, वहीं हरिकेशी जैसे अछूत भी। महावीर की दृष्टि में सभी समान थे।

निर्वाण

अंततः ७२ वर्ष की आयु में अर्थात् ५२७ ई० पू० में पावा में दीपावली की रात उनको निर्वाण प्राप्त हुआ। इस विषय में थोड़ा मतभेद है कि वह पावानगरी कौन-सी है, जहाँ उन्हें निर्वाण प्राप्त हुआ। वैसे तो मैंने पावा-पुरी व पावानगरी दोनों को देखा है व बहुत कुछ तथ्य एकत्रित किए है। किन्तु लेख बहुत बढ रहा है, अतः यह फिर कभी देंगे। यहाँ बस इतना ही कहकर समाप्त करता हूं कि २५००वाँ निर्वाणोत्सव विश्वस्तर पर मना कर हम सत्य अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह व ब्रह्मचर्य के सम्बल से सृष्टि को सवारें, स्याद्वाद व अनेकांत से युग को निखारे, इसी में मानवता का कल्याण है। □□

[पृ० १४८ का शेषांश]

दया, क्षमा, प्रेम आदि सद्गुण अपने आप मनुष्य मे आयेगे और वह 'अहिंसा परमो धर्म' का पालन कर सकेगा।

आज विज्ञान के भौतिकवादी युग मे लोगो की इच्छाओ का कोई अंत नही और जब मनुष्य की इच्छा की पूर्ति नही होती तो उसे क्रोध आ जाता है। यह क्रोध भी मनुष्य के लिए बड़ा अहितकर है। यह न केवल मनुष्य की शक्ति को क्षीण करता है, वरन् दूसरों के प्रति प्रेम की भावना को भी नष्ट करता है। तप के समय भगवान् महावीर को लोगों ने तरह-तरह से यातनायें दी, उन पर पत्थर फेके, उन्हे बेकसूर मारा-पीटा, किन्तु उन्होंने किसी पर क्रोध नही किया। हिंसा का उत्तर उन्होंने अहिंसा मे दिया। नतीजा यह हुआ कि आगे चलकर लोगों को पश्चात्ताप हुआ और वे उनके चरणो पर आ गिरे। इस प्रकार, महावीर ने अपने जीवन के कार्यों से सिद्ध कर दिया कि अहिंसा, दया क्षमा एव प्रेम मे बडी अपूर्व शक्ति होती है तथा यह शक्ति उसे सच्चे सुख एवं शांति की ओर ले जाती है।

भगवान महावीर ढाई हजार वर्ष पूर्व समाज की जिस स्थिति को देखकर दुखी और विचलित हुए थे, आज उससे कही अधिक बुरी स्थिति हमारे समाज की है। आज का मानव भौतिक प्रगति की चकाचौंध में पथ-भ्रष्ट हो, दिग्भ्रमित-सा इधर-उधर भटक रहा है। धर्म मे उसकी आस्था नहीं; सदाचरण का उसकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं; नीति और आदर्श उसे कोरे उपदेश प्रतीत होते है। ऐसी स्थिति मे, ससार-सागर मे डगमगाती मानवता की इस नैया को भगवान महावीर की अहिंसा ही किनारे लगा सकती है। □□

७/१५० बैजनाथ पारा,
रायपुर, (मध्य प्रदेश)

उपाध्याय यशोविजय : व्यक्तित्व और कृतित्व

□ श्री गोकुल प्रसाद जैन, नई दिल्ली

आचार्य हेमचन्द्रा के पश्चात् उपाध्याय यशोविजय जैसा सर्वशास्त्र-पारंगत और उद्भट दूसरा विद्वान् दृष्टिगोचर नहीं होता। दर्शन शास्त्र के तो वे असाधारण मनीषी थे। तर्क-शास्त्र में इनकी विशेष गति थी। ये वि० सं० १६८० से १७४३ तक वर्तमान रहे।

यद्यपि यशोविजय ने स्वयं अपने व्यापक साहित्य में कहीं पर भी अपने विषय में कुछ नहीं लिखा तो भी 'सुजसवेलीभास' के आधार पर उनका थोड़ा-बहुत परिचय प्राप्त हो जाता है। 'सुजसवेलीभास' के रचयिता मुनिवर कान्तिविजय उनके समकालीन थे। अतः यह कृति इस दृष्टि से सर्वथा प्रामाणिक मानी जानी चाहिए।

उपर्युक्त रचना में भी यशोविजय के जन्मस्थान के विषय में कुछ नहीं लिखा है। इसी कारण अभी तक इस विषय पर मतभेद था, किन्तु अब महाराजा कर्णदेव के ताम्रपत्र से सिद्ध हो गया है कि उनका जन्म गुजरात के 'कनोडा'[1] गांव में हुआ था। यशोविजय का जन्म सं० १६८० के लगभग हुआ था।

यशोविजय के पिता का नाम नारायण और माता का नाम सौभाग्य देवी था। दोनों ही धर्मपरायण, दान-शील और उदार वृत्ति के व्यक्ति थे। उनका प्रभाव यशो-विजय पर भी पड़ा। इनका बचपन का नाम जसवन्त अथवा यशवन्त था। उनका एक छोटा भाई पद्मसिंह भी था। अहमदाबाद में प्रसिद्ध हीरीश्वर जी के चतुर्थ पट्टधर पं. नयविजय जी ने वि० सं० १६८८ में यशवन्त को, उसके माँ-बाप की स्वीकृति के साथ दीक्षा दी। तत्पश्चात् ये यशोविजय कहलाये।

पं० नयविजय जी स्वयं प्राकृत, संस्कृत, गुजराती, व्याकरण, कोश, ज्योतिष आदि विद्याओं के उद्भट विद्वान् थे। उनके सान्निध्य में यशोविजय का विद्याध्ययन प्रारम्भ हुआ और शीघ्र ही यशोविजय भी संस्कृत, प्राकृत, गुजराती और हिन्दी में पारंगत हो गये और काव्य रचना करने लगे। एक बार अहमदाबाद में उनकी अद्भुत स्मरण-शक्ति और प्रखर बुद्धि से प्रभावित होकर सेठ धन जी सूरा ने दो हजार चाँदी की दीनारें, उनके उच्च अध्ययन के लिए भेंट की। वे वाराणसी चले गये और वहाँ के सर्वोत्कृष्ट विद्वान् भट्टाचार्य जी से षड्दर्शन का पारायण किया। वहाँ वे 'न्याय विशारद' और 'न्यायाचार्य' से विभू-षित हुए। तीन वर्ष के उपरान्त वहाँ से आकर उन्होंने वि० सं० १७०३-१७०७ तक चार पर्यन्त तक आगरा में कर्कश तर्क शास्त्र का अध्ययन किया।

वे नव्य न्याय के बड़े भारी विद्वान थे और उन्होंने उसी शैली में कई ग्रन्थ भी रचे। उनके जैन तर्क भाषा, ज्ञानबिन्दु, नय रहस्य, नय प्रदीप आदि ग्रन्थ उत्कृष्ट कोटि के हैं। उनकी विचार सारणि बहुत ही परिष्कृत और सतुलित थी।

यशोविजय जैन न्याय के भी प्रकाण्ड पंडित थे। उनसे प्रभावित होकर ही पं० बनारसीदास दिगम्बर बन सके थे। ये जन्म से गुजराती थे किन्तु अनेक वर्ष तक हिन्दी क्षेत्र में रहने के कारण हिन्दी पर भी इनका पूर्ण अधिकार हो गया था। अगाध विद्वता अर्जित करके लौटने पर यशोविजय का अहमदाबाद के सूबेदार महावत खां ने अपने दरबार में बड़ा शानदार सम्मान किया। वहां उन्होंने अपनी विद्वत्ता और स्मरण शक्ति के परिचायक अठारह अवधान प्रस्तुत किये और सब को अत्यन्त प्रभा-वित किया। अहमदाबाद में ही उन्हें वि० सं० १७१८ में 'उपाध्याय' पदवी से विभूषित किया गया।

---

१. महेसाणा से पाटण जाने वाली रेलवे लाइन पर दूसरा स्टेशन धीणोज है। इससे चार मील पश्चिम में कनोडा गांव है।

यशोविजय ने वि. सं. १७१६ से १७४३ तक साहित्य सृजन किया। उन्होंने संस्कृत में ही लगभग ५०० छोटे-बड़े ग्रन्थों की रचना की। संस्कृत, प्राकृत, गुजराती और हिन्दी पर उनका समान अधिकार था और उन्होने इन्ही चार भाषाओं में लिखा है।

वि० स० १७४३ मे[1] डभोई नगर में उपाध्याय यशोविजय का स्वर्गवास हुआ। यहाँ वि० सं० १७४५ मे प्रतिष्ठित यशोविजय जी की पादुका अब भी विद्यमान है।

पं० नाथूराम जी प्रेमी ने डभोई नगर को यशोविजय का जन्मस्थान माना है।[2] अब यह बात मान्य नही रही है। यशोविजय ने पूर्ण ब्रह्मचर्य और सच्ची साधुता पूर्वक जीवन यापन किया और वे गौरव के साथ लगभग ६५ वर्ष जीवित रहे। श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य के पश्चात् उन जैसे प्रकाण्ड विद्वान् वस्तुत: यशोविजय ही थे।

यशोविजय ने मुख्य रूप से तर्क और आगम पर लिखा है। किन्तु व्याकरण, छन्द, अलकार और काव्य के क्षेत्र मे भी उनकी गति अद्भुत थी। उन्होंने टीकाए और भाष्य लिखे है तथा अनेक मौलिक कृतियो की रचना की हैं। 'खण्डन खण्ड-खाद्य' जैसे ग्रंथ की रचना उनकी अलौकिक प्रतिभा और अगाध पाण्डित्य की परिचायक है। उन्होंने जैन परम्परा के चारों अनुयोगो पर महत्वपूर्ण रचनाए की है। वे जीवन भर शास्त्रो का चिन्तन करते रहे और नव्य शास्त्रो का निर्माण कराते रहे। उनकी कृतियाँ तीन प्रकार की है—खण्डनात्मक, प्रतिपादनात्मक और समन्वयात्मक। खण्डन में वे पूर्ण गहराई तक पहुचे है। प्रतिपादन उनका सूक्ष्म और विशद है। यद्यपि उनकी सभी कृतिया अभी तक उपलब्ध नही हुई है तो भी जितनी कृतियां मिली है। उनमे उपाध्याय जी के अगाध पांडित्य और अलौकिक प्रतिभा और सृजन शक्ति का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

यशोविजय ने गुजराती भाषा में अनेक स्तवनों, गीतों और वन्दनाओं की रचना की है जो सब "गुर्जर साहित्य संग्रह" के दो भागों में प्रकाशित हो चुका है। इनका लिखा 'जस विलास' हिंदी का प्रसिद्ध काव्य ग्रंथ है। यह प्रकाशित हो चुका है और इसमें इनके ७५ पदों का संग्रह है। इसके अतिरिक्त उनकी हिन्दी की कृतियां 'आनन्दघन अष्टपदी', 'दिग्पट ८४ बोल', 'साम्य शतक', 'दूहा', 'नव निधान स्तवन', तथा अध्यात्म और भक्तिपद भी है।

इन्होने अपने आनन्दघन अष्टपदी[3] नामक ग्रंथ में हिन्दी के जैन सन्त आनन्दघन की स्तुति में जो आठ पद बनाए थे, उन्ही का सग्रह है। कहा जाता है कि उपाध्याय यशोविजय और आनन्दघन जी की भेंट भी हुई थी। आनन्दघन सदैव अध्यात्म रस मे मग्न रहते थे। जब जन सम्पर्क मे आते तो सुबोध और सुरुचिपूर्ण शैली मे उपदेश देते थे। यशोविजय जी उनसे मिलना चाहते थे। यशोविजय जैसा विद्वान् उन्हे देख भाव विमुग्ध हुए बिना न रह सका। आनन्दघन की प्रशसा मे यशोविजय द्वारा लिखा एक पद इस प्रकार है :

"आनन्द की गत आनन्दघन जाणे।
वाइ सुख सहज अचल अलख पद,
वा सुख सुजस बखाने ॥१॥
सुजस विलास जब प्रगटे आनन्दरस,
आनन्द अक्षय खजाने।
ऐसी दशा जब प्रगटे चित अन्तर,
सोहि आनन्दघन पिछाने ॥२॥

इस पद मे, योगीराज आनन्दघन से मिलने तथा आध्यात्मिक अध्ययन और मनन से प्राप्त आत्मानुभव के आनन्द और आकर्षण की झलक मिलती है। ज्ञान के साथ चरित्र का मेल और पाण्डित्य के साथ आत्म-साक्षात्कार की आकांक्षा मणि-कांचन का सुयोग है।

---

१. यह दक्षिण पूर्व रेलवे लाइन पर, बड़ोदा से १६ मील दूर स्थित एक रेलवे स्टेशन है। इसकी जन संख्या लगभग ४० हजार है।

२. पं० नाथूराम प्रेमी : हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, बम्बई, सन् १६१७ ई०, पृष्ठ ६२।

३. आनन्दघन पद सग्रह में पृष्ठ १६४ पर छप चुकी है। यह संग्रह अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई से वि० सं० १६६६ में प्रकाशित हुआ था।

यशोविजयजी ने दिक्पट चौरासी बोल[1] पं० हेमराजजी के 'सितपट चौरासी बोल' का खण्डन करने के लिए लिखी थी। इनके विषय में प० सुखलाल जी का यह अभिमत है कि उपाध्यायजी पक्के जैन और धुरंधर पडित थे। यह ठीक ही प्रतीत होता है क्योंकि उन्होंने 'अध्यात्म-मत खण्डन' मे तार्किक खण्डन-मण्डन का आश्रय लिया है।

'दिक्पट चौरासी बोल' की उन्नीसवी शताब्दी की लिखी हुई एक हस्तलिखित प्रति अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर में उपलब्ध है। इसमे १६१ पद्य है।

इनकी 'साम्य शतक'[2] नामक रचना में १०५ पद्य है। यह ग्रन्थ श्री विजयसिंह सूरि के 'साम्य शतक' के आधार पर मुनि हेम विजय के लिए लिखा गया था। कविवर के दूहा नामक ग्रन्थ में १०४ दोहों मे समाधितन्त्र का पद्यानुवाद है तथा 'नवनिधान स्तवन' मे नौ स्तवन है।

यशोविजय की रचना 'जसविलास', 'सज्झाय पद अने स्तवन सग्रह' नाम के पद-संग्रह मे छपी है। इसमें ७५ मुक्तक पद है जो सभी जिनेन्द्र की भक्ति से सम्बन्धित हैं। इनके अतिरिक्त भी कविवर के अनेक पद विभिन्न शास्त्र भंडारों में उपलब्ध होते है। यशोविजय के पदो मे भावनाएं तीव्र और आवेशमयी हैं और सगीतात्मक प्रवाह के साथ अवतरित हुई है। भाषा में लाक्षणिक वैचित्र्य न हो कर सरसता और सरलता है। पदो में प्रधानतया आध्यात्मिक भावों की अभिव्यंजना है। अपने आराध्य के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा और भक्ति की भावना यशोविजय में तीव्र रूप मे पाई जाती है। इनके अनेक पदो मे बौद्धिक शान्ति के स्थान पर आध्यात्मिक शान्ति की भावना दृष्टिगोचर होती है। आध्यात्मिक विश्वासों और आस्थाओं की भाव भूमि पर मानव आत्मानन्द मे कितना विभोर हो जाता है, यह इस पद मे दर्शनीय है :—

हम मगन भये प्रभु ध्यान में ॥टेक॥
बिसर गई दुविधा तन मन की, अचिरा-सुत-गुनगान में
॥हम० ॥१॥
हरि-हर-ब्रह्म-पुरन्दर की रिधि, आवत नहिं कोउ मान में।
चिदानंद की मौज मची है, समता रस के पान में
॥हम० ॥२॥
प्रभु गुन अनुभव चन्द्रहास ज्यों, सो तो न रहै म्यान में।
चम्पक 'जस' कहै मोह महा हरि, जीत लियो मैदान में
॥हम० ॥६॥

× × × ×

यशोविजय जी के पदो की भाषा अत्यन्त सरल है। इनके पदों में आत्मनिष्ठा और वैयक्तिक भावना भी विद्यमान है। इनके पदो मे भक्ति और अध्यात्म का स्रोत बड़े निर्मल रूप में प्रवाहित हुआ है। इसी आशय का इनका एक पद इस प्रकार है—

परम प्रभु सब जन सबदै ध्यावै।
जब लग अन्तर भरम न भाजै, तब लग कोउ न पावै
॥परम० ॥१॥
सकल अंस देखै जग जोगी, जो खिन समता आवै।
ममता अंध न देखै याको, चित चहुँ ओरें ध्यावै
॥परम० ॥२॥
पढ़त पुराण वेद अरु गीता, मूरख अर्थ न पावै।
इत उत फिरत गहत रस नाहीं, ज्यों पसु चरवित चावै
॥परम० ॥३॥
पुद्गल से न्यारो प्रभु मेरो, पुद्गल आपु छिपावै।
उनसे अन्तर नाहि हमारे, अब कहां भागो जावै
॥परम० ॥४॥

यशोविजय के सभी पदों में आत्मानन्द की मस्ती झलकती है तथा सभी में भक्ति, ज्ञान और अध्यात्म की पुट दृष्टिगोचर होती है, जो कि इन पदो से स्पष्ट है—

चिदानन्द अविनासी हो, मेरो चिदानन्द अविनासी हो।
कोरि मरोरि करम की मेटैं, सुजस सुभाव बिलासी हो॥

× × × ×

तथा—

चेतन जो तूं ज्ञान अभ्यासी।
आपही बांधे आपही छोड़े, निजमति शक्ति विकासी॥१॥

× × × ×

एव—

चेतन अब मोहि दर्शन दीजै।
तुम दर्शनें शिव सुख पाइजे, तुम दर्शनें भव छीजे॥१॥

× × × ×

इनके पद सोरठा, धनाश्री (आशावरी), काफी, जगलो आदि रागों में मिलते है। पद पूर्णतया गेय है। भाषा पर कहीं-कही गुजराती एवं राजस्थानी का प्रभाव परिलक्षित होता है। □□

३, राम नगर, नई दिल्ली-५५

---

१. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, भाग ४, उदयपुर, सन् १९५४, पृष्ठ १३९।

२. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रथो की खोज, भाग ४, उदयपुर, सन् १९५४।

भागवतपुराण और जैनधर्म

□ श्री त्रिवेणीप्रसाद शर्मा, जबलपुर

हमारा भारत देश प्रारम्भ से ही सदैव धर्म परायण रहा है। धर्मपरायणता अपनी पराकाष्ठा पर पहुच कर धर्म-भीरुता में भी परिणत होती देखी गई; यहाँ तक कि युद्ध में भी धर्म की प्रधानता रही और धर्मयुद्ध में अपनी अटूट आस्था के कारण ही एक नहीं कई बार भारतीयो को विदेशी आक्रमणकारियो से पराजित होना पड़ा। इस बात का भारतीय इतिहास साक्षी है।

सभवत: २५०० ई० पू० एवं २००० ई० पू० के बीच आर्यों का भारत प्रवेश पश्चिमोत्तर प्रदेश की ओर से हुआ। भारत मे आकर बसने व पूर्ण शान्ति स्थापित होने के पश्चात् आर्यों ने वेदो का सृजन किया और चारो वेद उस काल की सभ्यता व धार्मिक अवस्था के परिचायक है। वैदिक काल को पूर्व वैदिक व उत्तर वैदिक काल मे विभाजित किया जाता है। पूर्व वैदिक काल मे धर्म का रूप अत्यन्त सरल था; और वैदिक धर्म बड़ा ही उदार, व्यापक एव स्पृहणीय था परन्तु उत्तर वैदिक काल मे उसमे अनेक जटिलताओ का समावेश हो गया और कुछ परस्पर विरोधी एवं असगत मान्यतायें भी दिखलाई पड़ने लगी। ईसा के पूर्व सातवीं सदी तक वैदिक धर्म मे आडम्बर का बाहुल्य स्पष्ट परिलक्षित होने लगा।

इस सबके परिणाम स्वरूप, प्रबुद्ध धर्मोपदेशकों ने धर्म मे आई हुई जटिलताओं एवं आडम्बरो को हटाने तथा उसे पुन: सरल करने की ओर अपना ध्यान लगाया। जैन धर्म ऐसे प्रयत्नें में अग्रणीय था। जैन धर्म के सिद्धान्तो में, उत्तर वैदिक काल के अन्त के समय तक धर्म में घुसी हुई कुरीतियों व असंगतियों को त्यागने के साथ ही अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसी सदाचार सम्बधी पुरानी धार्मिक मान्यताओं के नियम इतने कठोर कर दिये गये कि धर्म में भ्रष्ट तरीकों एवं आडम्बर के समावेश की कोई सम्भावना नही रह गई।

जैन धर्म के प्राय: सभी प्रमुख सिद्धान्त वैदिक धर्म के ग्रन्थों मे मिलते है, यद्यपि यह सच है कि उनके साथ ही साथ उत्तर वैदिक काल में धर्म के अन्दर विरोधाभास तथा आडम्बरों की बहुलता के कारण सूक्ष्म अध्ययन से ही यह समानता स्पष्ट होती है। इस कथन के प्रतिपादन हेतु श्रीमद्भागवत पुराण में वर्णित कतिपय धार्मिक मान्यताओ की ओर यहाँ पर संक्षेप में संकेत किया जाता है।

जैन धर्म शास्त्रो के अनुसार भगवान् ऋषभदेव इस युग में धर्म के प्रथम प्रवर्तक थे। वह भगवान् के अवतार व प्रथम तीर्थंकर थे। इनके उपरांत तेईस और तीर्थंकर अवतरित हुए जिनमे भगवान् महावीर अन्तिम व चौबीसवें तीर्थंकर माने जाते है। इनका जन्म आज से लगभग २५-७२ वर्ष पूर्व बिहार मे हुआ था। श्रीमद्भागवत पुराण (१–३ अ. एवं २–७ अ.) मे भी भगवान् के चौबीस अवतारों का उल्लेख है जिनमे से श्री ऋषभदेव के रूप में भगवान् का आठवाँ अवतार माना गया है जो जैन धर्म के प्रवर्तक थे।

जैन धर्म के निम्नलिखित प्रमुख सिद्धान्तों का दर्शन भी श्रीमद्भागवत पुराण मे कई स्थलों पर होता है :—

आत्मा का अस्तित्व :

आत्म-प्रधान जैन धर्म के अनुसार सभी प्राणियों में, यहाँ तक कि पेड़-पौधों में भी पृथक् आत्मा का अस्तित्व है। श्रीमद्भागवत (२–९ अ०) के अनुसार स्वयं भगवान ने सृष्टि-रचयिता ब्रह्मा को श्रीमद्भागवत के मूल चार श्लोकों को सुनाया तथा इस सिद्धान्त की पुष्टि की कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों में औ

नारायण का एक-सा प्रकाश विद्यमान है। विवेक-दृष्टि द्वारा उनके कुछ भी भेद न जानकर सभी जीवों में भगवान का एक-सा स्वरूप समझना चाहिए। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सोना, चाँदी, लोहा एवं मिट्टी आदि के बर्तनों पर एक जैसा पड़ता है, उसी तरह सभी जीवों में भगवान का एक-सा प्रकाश समझना चाहिए। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन एकादश व द्वादश स्कंध में भी हुआ है।

आत्मा की पूर्णता :

जैन धर्म के अनुसार प्रत्येक मनुष्य त्याग और शुद्ध भाव से कार्य करके कष्टों से स्थायी छुटकारा पा सकता है, आत्म साक्षात्कार द्वारा पूर्ण बन सकता है तथा परमात्मपद भी प्राप्त कर सकता है। श्रीमद्‌भागवत के अनुसार, जो ज्ञानी मनुष्य सब प्राणियों में एक मात्र भगवान त्रिलोकीनाथ को ही प्रकाशित देखता है, उसे ब्रह्मज्ञानी एवं आवागमन से मुक्त जानना चाहिए (२–७ अ०)। जप, तप एवं ईश्वर का पूजन करने से मनुष्य अनेक प्रकार के सुखों को भोगने के पश्चात् मोक्ष-पद को प्राप्त होता है (१–१७ अ०)। योगी सब प्राणियो में ईश्वर का एक बराबर चमत्कार देखता है। श्रीमद्‌भागवत में अनेक राजाओं की कथा वर्णित है, जिन्होंने वृद्धावस्था में राज्य-भार उत्तराधिकारी को सौंप कर सांसारिक लोभ, मोह व ऐश्वर्य त्याग कर, तपस्या व सत्संग करते हुए निर्वाण पद प्राप्त किया। भगवान् ऋषभदेव जी ने भी ऐसा ही किया (५–६ अ०)।

कर्म की प्रधानता :

जैन धर्म के अनुसार जो मनुष्य जैसा आचरण करेगा उसे वैसा ही परिणाम भुगतना होगा। कर्मों से छुटकारा पाने पर स्थायी शांति व सुख प्राप्त होता है। श्रीमद्‌भागवत में भी इसी बात का प्रतिपादन है कि जो प्राणी दुष्कर्म करता है उसे नरक की यातना भुगतनी पड़ती है और जो सदाचारी होता है वह मोक्ष प्राप्त करता है। नरकों का वर्णन विस्तार से (५-६ अ० व १-१७ अ०) में किया गया है कि संसार मे समस्त जीव अपने-अपने पापों (दुष्कर्मों) के कारण दुःख पाते हैं। जब तक प्राणी इस संसार से विरक्त नहीं होता, तब तक वह जन्म-मरण से मुक्त नहीं हो पाता (८–२४ अ०)।

संसार से छूटने का उपाय :

सांसारिक कष्टों से छुटकारा पाने के लिए जैन धर्म मनुष्य को अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह महाव्रतों के पूर्ण पालन की आवश्यकता बतलाता है। श्रीमद्‌भागवत में भी इन सभी गुणों की महिमा के बखान है। इनके विपरीत कार्य करने वाले को जीते जी अनेक कष्ट व मृत्यु उपरान्त नरक होने की बात कही गई है। प्रथम स्कंध, सप्तम अध्याय में आततायी के छः लक्षण बताये गए है—आग लगाना, विष देना, गुरु की आज्ञा न मानना, ब्राह्मण होकर अधर्म करना, द्विजाति में जन्म ले कर मदिरा पान करना, और अन्य प्राणियों को मार कर खाना। वहाँ हिंसा को बुरा माना गया है। हिंसा करने वाला अज्ञानी बन कर अन्य अपराध भी करता है। राजा परीक्षित ने अपने द्वारा समीक ऋषि के गले में मृत सर्प डालने का कारण यही माना था कि "वन में शिकार खेलते हुए जीव हिंसा करने से वह अज्ञानी बन गए थे और इसी कारण उनसे वह अपराध हुआ।" (१—१८)। जो मनुष्य सांसारिक सुख में लिप्त नहीं होते तथा किसी को कष्ट नहीं पहुंचाते, उन्हें कभी दण्ड नही भोगना पड़ता (३—२७)। मनुष्य स्वभाव में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुण समय-समय पर अवश्य ही प्रवेश कर जाते है, इसीलिए इन सबसे मोह त्याग कर केवल हरि-स्मरण करना सर्वोत्तम है। (४—११ अ०)। साधु-सन्तों की सेवा करना एवं संगति करना मोक्ष का द्वार है और परस्त्री गमन करना, चोरी, जुआ खेलना, विषयी होना व मदिरा पान करना नरक का द्वार है, इसमें कुछ भी संदेह नही (५—४ अ०)।

अहिंसा महाव्रत :

जैन धर्म में अहिंसा को सर्वश्रेष्ठ स्थान है। किसी भी प्राणी को मारना तो दूर, उसे दुःख पहुँचाने के लिए सोचना या सलाह देना भी पाप है। श्रीमद्‌भागवत में भी अहिंसा की महिमा बताई गई है। एक भीलों के राजा ने जब भद्रकाली के समक्ष अपनी पूर्व मनौती के अनुसार एक ब्राह्मण की बलि चढ़ानी चाही तो भद्रकाली ने राजा की तलवार छुड़ा कर उसी से राजा व उसके पुरोहित का सिर काट लिया (५–६ अ०)। जो कोई किसी मनुष्य

व पशु-पक्षी को अपने भोजन के लिये या शत्रुता से मारता है, उसे यमदूत महारौरव नरक में डाल देते है। जो कोई हिरण व पक्षी आदि को बांध रखता है, उसे कुम्भी पाक नरक होता है (५—२६ अ०)। देवी-देवताओं के नाम से अपने भोजन के लिए जीव हिंसा करने वाला भी नरकगामी होता है। सब धर्मो से उत्तम धर्म यह है कि मन, वचन, कर्म से किसी का अनिष्ट न करे (७—१५ अ०) जो मनुष्य अपने शरीर को पुष्ट करने के लिए जीव हिंसा करते है, वे अवश्य ही नरक के भागी होते है (११—२१ अ०)।

सत्य महाव्रत :

हित, मित और प्रिय वचन बोलना ही सत्य बोलना है, जिसका जैन धर्म में विशेष महत्व है। श्रीमद्भागवत के अनुसार, जो कोई किसी से द्रव्य लेकर झूठा न्याय करता है, अथवा झूठी गवाही देता है, वह "विश्वासन" नामक नरक का भागी होता है (५—२६ अ०)। पापों को नष्ट करने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत रख कर श्रेष्ठ धर्म तथा तपस्या करना, इन्द्रियों को अपने वशीभूत रखना, मन को सांसारिक मायाजाल से विरक्त रखना, सत्य बोलना, मन, वचन व कर्म से किसी का अनिष्ट न करना, परोपकार में तत्पर रहना तथा किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना, ये सभी प्रयत्न आवश्यक है (६-१२ अ.)। भगवान् ने अपने अनेक रूपों का वर्णन करते हुए उद्धव से कहा था कि सत्य वक्ताओं में सत्य वही है।

अचौर्य महाव्रत :

चोरी करने से मनुष्य का व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन कलुषित हो जाता है, ऐसा जैन धर्म का मत है। श्रीमद्भागवत में भी चोरी अत्यन्त बुरा कुकर्म माना गया है। स्वामी से बिना पूछे किसी भी वस्तु का लेना चोरी है। जो मनुष्य दूसरे का धन एवं स्त्री छल-बल कर ले लेता है वह "तामिस्र" नरक को जाता है। जो कोई किसी ब्राह्मण का धन व खेत चोरी से या जबरदस्ती ले लेता है वह "सन्देदशन" नामक नरक का भागी होता है (५—२६ अ०)।

ब्रह्मचर्य महाव्रत :

जैन धर्म में ब्रह्मचर्य महाव्रत का बड़ा महत्व है। श्रीमद्भागवत में भी इसे बड़ा महत्व दिया गया है। परस्त्रीगमन या पराये पुरुष से अनैतिक सम्बन्ध बड़ा पाप है। ब्रह्मचर्य की महिमा पापों को नष्ट करने के लिए एक आवश्यक गुण के रूप में मानी गई है। व्रत के समय ब्रह्मचर्य का विशेष महत्व दर्शाया गया है।

अपरिग्रह महाव्रत :

धन का परित्याग सांसारिक झगडों से मुक्ति पाने के लिए आवश्यक है। तृष्णा रखने से धर्म नहीं रहता और लज्जा छूट जाती है। धर्मात्मा व्यक्ति के लक्षणों में बताया गया है कि वह सत्यवादी हो, हृदय में दया रखे व दीन-दुखियों का दुःख हरण करने का यथाशक्ति प्रयत्न करे, दान दे और लालच का त्याग करे तथा जीव हिंसा न करे। धन प्राप्त होने पर दान एवं पुण्य करना ही उत्तम है। जो लोभी मनुष्य धन संचय करके मर जाते है, उनको यमपुरी में चोरों में समान दंड भोगना पड़ता है। इन्द्रपुरी "अमरावती" का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वहाँ कामी, क्रोधी, लोभी तथा अहंकारी और केवल अपने शरीर का पालन करने की इच्छा रखने वाले प्राणी नहीं पहुंच सकते। लालच करके अधिक दान लेना उचित नहीं होता। संतोष ही परम धन है। त्याग की महिमा का वर्णन एकादश स्कंध के आठवें और नौवें अध्याय में भी मिलता है। तृष्णा और क्रोध ही समस्त जीवों से अशुभ कार्य कराते है। धन एकत्रित करने से दुःख के अतिरिक्त सुख नही मिलता।

अनेकान्तवाद :

धार्मिक विचारधारा को निश्चय तथा व्यवहार दोनों दृष्टियों से परिष्कृत करने में जैन धर्म विशेष सफल रहा। सदाचार केवल बातोंही भरसे नहीं बल्कि मनसा, वाचा और कर्मणा तीनों प्रकार से प्रतिपादित होने पर ही वास्तविक कहा जा सकता है। जैन धर्म में मांसाहार, मदिरापान, व्यभिचार, शिकार, चोरी, द्यूतकर्म, अशुद्ध भोजन व पान इत्यादि त्याज्य व्यसन माने गये हैं और इन्हें त्यागे बिना कोई सच्चा जैन नहीं हो सकता। इन सभी व्यसनों को श्रीमद्भागवत पुराण में भी निषिद्ध करार दिया गया है। अनेक कथानक ऐसे हैं जिनमें इन व्यसनों के वशीभूत हो

(शेष पृष्ठ १६२ पर)

जैन संस्कृति और मौर्यकालीन अभिलेख

☐ स्व० डा० पुष्यमित्र जैन, आगरा

मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त भारत के सर्व-प्रथम सम्राट् थे, वे जैन धर्म के अनुयायी थे। यह बात अब ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर भी सिद्ध हो चुकी है। इनके पश्चात् इस वंश में बिन्दुसार, अशोक, सम्प्रति आदि प्रतापी सम्राट् हुए। इनमे बिन्दुसार और सम्प्रति तो आरम्भ से अन्त तक जैन धर्म के अनुयायी रहे। परन्तु कलिंग युद्ध तक जैन धर्म मे आस्था रखने के पश्चात् अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। राजतरंगिणी में भी इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि अशोक जैन धर्मानुयायी था, वह बड़ा धर्मात्मा था, उसने अनेक स्तूपों का निर्माण कराया तथा विस्तात्रपुर के धर्मारण्य विहार में एक बहुत ऊँचा जिन मन्दिर बनवाया।[1] मौर्य सम्राटो ने शिला-खण्डों पर अनेक अभिलेखो को उत्कीर्ण कराया। इनका ऐतिहासिक तथा सास्कृतिक दृष्टि से बड़ा महत्त्व है।

सारनाथ स्तम्भ

जैन मान्यताओं के अनुसार भगवान महावीर का चिह्न सिंह है और केवल ज्ञान के पश्चात् तीर्थंकर चतुर्मुख प्रतीत होते है। इसके अतिरिक्त जब वे विहार करते है तो धर्मचक्र उनके आगे-आगे चलता है। अतः सारनाथ स्तम्भ का धर्म चक्र और सिंहचतुष्टय भगवान महावीर के धर्म प्रचारार्थ विहार का स्मरण दिलाते है। सांची के सिंह-चतुष्टय पर धर्मचक्र नही है, वह उनके समवशरण में विराजमान होने का प्रतीक है। पाटलिपुत्र के खनन कार्य में मौर्यकालीन स्तम्भ शीर्ष में बृषभ चतुष्टय प्राप्त हुआ है। यह भगवान ऋषभदेव की स्मृति में निर्मित प्रतीत होता है। गिरनार के त्रयोदश अभिलेख मे भगवान बुद्ध का स्मरण हस्ति के रूप में किया गया[2] है। इसी आधार पर वृषभ-चतुष्टय और सिंह-चतुष्टय भी क्रमशः भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर के द्योतक है; अतः भग-वान् महावीर के सम्बन्ध में होने के कारण सारनाथ स्तम्भ जैन संस्कृति का प्रतीक है।

इस स्तम्भ के सम्बन्ध में इतिहासकारों का अभिमत है कि यहाँ (सारनाथ) पर भगवान बुद्ध ने अपना सर्व-प्रथम धर्मोपदेश देकर पांच व्यक्तियों को अपना शिष्य बनाया और इस प्रकार धर्मचक्र प्रवर्तन का कार्य आरम्भ किया।[3] इस स्मृति को चिरस्थायी बनाने हेतु ही अशोक ने इस स्तम्भ का निर्माण कराया और सिंहचतुष्टय पर धर्मचक्र की स्थापना की। परन्तु यह तर्क युक्तिसंगत नही है, क्योंकि गिरनार त्रयोदश अभिलेख में अशोक ने भग-वान् बुद्ध को हस्ति के रूप में स्मरण किया है। यदि धर्म-चक्र प्रवर्तन की स्मृति में इसका निर्माण कराया जाता तो धर्मचक्र भगवान् बुद्ध के प्रतीक हस्ति अथवा हस्ति-चतुष्टय पर स्थापित होता, न कि सिंह-चतुष्टय पर। अतः इस स्तम्भ का निर्माण भगवान् महावीर के बिहार गमन को स्मृति मे ही हुआ है।

ग्यारह लघु अभिलेख

गुर्जरा, मास्की, रूपनाथ, सहसराम, ब्रह्मगिरि, सिद्ध-पुर, एरगुडि, गोविमठ, अहरौर, वैराठ तथा जटिंग रामे-श्वर इन ग्यारह लघु अभिलेखों का प्रमुख विषय यह है ढाई वर्ष और कुछ अधिक समय हुआ, मै प्रकाश रूप मे उपासक था, परन्तु मैंने अधिक पराक्रम नही किया। एक वर्ष और कुछ अधिक समय हुआ, जब मैने संघ[4] की शरण ली, तब से अधिक पराक्रम करता हूं। इस काल मे जम्बू द्वीप में जो देवता अमिश्र थे, वे इस समय मिश्र किये गए, पराक्रम का यही फल है। इनमें से गुर्जरा और मास्को

---

१. राजतरंगिणी, पृष्ठ ८।

२. सर्व श्वेत हस्ति विश्व का कल्याण करें; श्वेत हस्ति भगवान् बुद्ध का प्रतीक है।

३. डा० रजबली पांडे कृत अशोक अभिलेख, पृष्ठ १३।

४. संघ का अर्थ जैन संघ और बौद्ध सघ दोनों है।

अभिलेखों में अशोक का तथा शेष मे प्रियदर्शी का उल्लेख है। इससे विदित होता है कि अशोक के लिए भी प्रियदर्शी[5] का प्रयोग होता था और ये समस्त अभिलेख उसी के द्वारा उत्कीर्ण कराये गये है क्योंकि इन समस्त अभिलेखों के विषय मे समानता है।

इन अभिलेखों मे से वैराट, मास्को तथा जटिंग रामेश्वर को छोड कर शेष आठ में २५६ अंकित है। ब्यूलर का कथन है कि यह बुद्ध निर्वाण सम्वत है[6], परन्तु ऐसा मानने से अशोक का समय[7] ५४४-२५६-२८८ ई० पू० आता है, जब कि अशोक के राज्याभिषेक का समय २७२ ई० पू० है। इससे अशोक और बुद्ध निर्वाण की सगति ठीक नही बैठती है। अत: २५६ बुद्ध निर्वाण सम्वत नहीं हो सकता। आजकल इतिहासकारो का अभिमत है कि इसका (२५६ का) अर्थ २५६वां पड़ाव है।[8]

परन्तु यह भी युक्तिसंगत नही है क्योंकि एक के अतिरिक्त शेष सात मे पड़ाव की क्रम सं० २५६ से कम अथवा अधिक होगी। आठो मे ही पड़ाव क्रम सं० २५६ नही हो सकती। अत: २५६ का तात्पर्य २५६वा पड़ाव भी नहीं है।

अशोक राज्याभिषेक के आरम्भिक आठ वर्षों में जैन धर्म का अनुयायी था, जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है। अत: २५६ वीर निर्वाण सम्वत है जो अभिलेखों पर उत्कीर्ण है। इस प्रकार इन अभिलेखो का निर्माणकाल ५२७[9]-२५६-२७१ ई० पू० है, अर्थात् राज्याभिषेक के दूसरे वर्ष ही अशोक ने इन्हे उत्कीर्ण कराया था। २५६ वीर निर्वाण सम्वत मानने से इसकी अशोक के शासनकाल तथा अभिलेखों मे वर्णित एक वर्ष और कुछ अधिक समय के पराक्रम से संगति टीक बैठती है। ढाई वर्ष के कम पराक्रम का समय राज्याभिषेक से पूर्व का जान पड़ता है जिसमें अशोक को अपने भाइयों के साथ संघर्परत रहना पड़ा था। भाइयों को पराजित करने के पश्चात् अशोक २७२ ई० पू० मे सिंहासनारूढ़ हुआ और अगले वर्ष ही इन अभिलेखों को उत्कीर्ण कराया।

जम्बूद्वीप मे जो देवता अमिश्र थे, उन्हें मिश्र बनाया गया इसकी व्याख्या के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानो के अनुसार, जम्बूद्वीप में जो देवता अमृषा (सत्य) थे, वे मृषा किये गये।[10] इसके विपरीत अन्य विद्वानो का मत है कि अशोकने अपने धर्माचरण से जम्बूद्वीप को ऐसा पवित्र बना दिया कि यह देवलोक सदृश हो गया और देव तथा मानव का अन्तर मिट गया।[11] परन्तु ये दोनों ही व्याख्यायें युक्तिसंगत नही है क्योंकि पाली या प्राकृतमें सस्कृत मृषा का रूप 'मुसा' होता है 'मिसा' नहीं। इसी प्रकार डेढ़ वर्ष के पराक्रम में अशोक ने जम्बूद्वीप को देवलोक सदृश बना कर देव और मानव का अन्तर समाप्त कर दिया, यह बात भी हृदयग्राही नही है।

अब प्रश्न उठता है कि इस उपर्युक्त वाक्य का वास्तविक तात्पर्य क्या है। आमिश्र को आमिष पढ़ने पर अर्थ बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है, अर्थात् जम्बूद्वीप में जिन देवताओं पर पशुबलि दी जाती थी, अशोक द्वारा अहिंसा प्रचार से वह बन्द हो गई और उसके स्थान पर देवताओं को मिष्ठान्न, अन्न, घृत, नारियल, फल, फूल आदि की बलि[12] दी जाने लगी। वास्तव में, धर्म के नाम पर पशुबलि ही उस युग की सबसे बड़ी समस्या थी। अशोक ने अहिंसा प्रचार से इस समस्या का समाधान किया। इसी तथ्य की ओर इन अभिलेखों में सकेत किया गया है। इस कार्य में अशोक को जो सफलता मिली वह कोई आश्चर्य की अथवा अनहोनी बात नही है। भारतीय वाङ्मय में इस प्रकार के और भी उदाहरण मिलते है। काश्मीर के राजा मेघवाहन द्वारा अहिंसा धर्म प्रचार का यह परिणाम निकला कि पशुबलि के स्थान पर मिष्ट अर्थात् आटे के

---

५. प्रियदर्शी का प्रयोग समस्त मौर्य सम्राटों के लिए होता था, इसका विवरण आगे दिखाया गया है।

६. अशोक अभिलेख, पृष्ठ ११२।

७. बुद्ध निर्वाण सम्वत ५४४ है।

८. अशोक अभिलेख, पृष्ठ ११२।

९. ५२७ ई० पू० भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ है।

१०. डा० राजबली पाण्डे कृत अशोक अभिलेख, पृ. ११२

११. वही

१२. बलि का अर्थ भेंट है।

पशु तथा मृत पशु से काम लिया जाने लगा।[13] दशवीं शताब्दी में विरचित यशस्तिलकचम्पू से भी विदित होता है कि महाराज यशोधर ने अपनी माता के आग्रह से आटे के मुर्ग की वलि दी थी।

इतिहासकारों का अभिमत है कि अशोक ने इन अभिलेखों को राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष अर्थात् २७२–१२ =२६० ई० पू० में उत्कीर्ण कराया था, क्योंकि वे ढाई वर्ष और डेढ वर्ष की गणना कलिंग विजय से करते है। परन्तु ऐसा करना युक्तिसंगत नही है, क्योंकि अभिलेखो में १२वें, १३वें, १६वें, २६वें वर्ष आदि का उल्लेख है। यह गणना राज्याभिषेक से की जाती है। कलिंग विजय से इसकी गणना करने का कोई औचित्य ही नहीं है। राज्याभिषेक से गणना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अशोक ने इन अभिलेखों को उस समय उत्कीर्ण कराया जब कि वह जैन धर्म का अनुयायी था, अतः वे अभिलेख जैन संस्कृति के प्रतीक है।

देवानां प्रिय

शङ्का—इन सभी अभिलेखों में देवानां प्रिय का उल्लेख है[14] और यह बौद्ध साहित्य की देन है, क्योंकि वैदिक साहित्य मे इसका अर्थ "मूर्ख" है। अतः यह बात समझ मे नही आती कि जैन होकर भी अशोक ने बौद्ध साहित्य के इस शब्द का प्रयोग इन अभिलेखो में क्यों किया?[15]

समाधान—'देवाना प्रिय' यह शब्द केवल बौद्ध साहित्य की ही देन नही है। जैन साहित्य मे भी इस आदरसूचक शब्द का प्रयोग साधारण जनता से लेकर राजा महाराजाओं तक के लिए मिलता है; उदाहरणार्थ महाराज सिद्धार्थ अपनी रानी त्रिशला को "देवाणुप्पिया" तथा सभासदों को 'देवाणुप्पिए' कह कर सम्बोधित करते है। ऋषभ ब्राह्मण भी अपनी पत्नी देवानन्दा के लिए देवाणुप्पिया का प्रयोग करता है। वीर निर्वाण सम्वत् १२०६ मे विरचित पद्मपुराण में भी रविषेणाचार्य ने गौतम गणधर द्वारा राजा श्रेणिक को 'देवानां प्रिय' इस आदर सूचक शब्द से सम्बोधित कराया है। इस प्रकार, अति प्राचीन काल से विक्रम की आठवीं शताब्दी तक प्रयोग मिलता है। अतः इसे केवल बौद्ध साहित्य की ही देन कहना भ्रम है। अशोक द्वारा अभिलेखों मे इसका प्रयोग जैन संस्कृति के अनुकूल ही है।

चतुर्दश अभिलेख

गिरनार, कालसी, शहवाज गढ़ी, मानसेहरा, धोली तथा जौगाड़ा में से प्रत्येक जगह एक-एक शिलाखंड पर चतुर्दश अभिलेख उत्कीर्ण है। धोली और जोगाड़ा के शिलाखंड पर एकादश, द्वादश तथा त्रयोदश अभिलेख नहीं हैं। इनके स्थान पर दो पृथक्-पृथक् अभिलेख है। परन्तु इन छहों शिलाखंडों के अभिलेखो में विषय की दृष्टि से समानता है, अर्थात् गिरनार के प्रथम अभिलेख का जो विषय है, शेष पाँचों शिलाखंडों के प्रथम अभिलेख का भी वही विषय है। यही बात अन्य अभिलेखो के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होती है। इनमे से प्रथम चार अभिलेख राज्याभिषेक के १२वें वर्ष मे उत्कीर्ण कराये गये है। कलिंग विजय से सम्बन्धित अभिलेख १३वां है। यदि इन समस्त अभिलेखों का निर्माता अशोक होता, तो महत्व तथा समय चक्र की दृष्टि से कलिंग अभिलेख को प्रथम स्थान मिलता। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रथम बारह अभिलेखो के निर्माता अशोक के पूर्वज है। इनमें से प्रथम, चतुर्थ तथा पंचम अभिलेखों का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने पर भी यही निष्कर्ष निकलता है कि इनका अशोक की अपेक्षा उसके पूर्वजो से कहीं अधिक सम्बन्ध है।

प्रथम अभिलेख में यज्ञों में पशुबलि, हिंसात्मक उत्सव तथा मांस भक्षण का निषेध है। यज्ञो मे पशुबलि तथा हिंसात्मक कार्यों की तो जैन और बौद्ध दोनों ही धर्मों में समान रूप से निन्दा की गई। परन्तु बौद्ध धर्म में मांस भक्षण का निषेध नही है। स्वय भगवान बुद्ध का शरीरान्त भी मास भक्षण के निमित्त ही हुआ था।[15] इसके विपरीत जैन धर्म में मांस भक्षण की घोर निन्दा करते हुए मांसभक्षी को नरकगामी की संज्ञा दी गई है। अशोक के पूर्वज

---

१३. राजतरंगिणी, पृष्ठ ३१

१४. कलिंग विजय राज्याभिषेक के आठवें वर्ष की घटना है।

१५. कहा जाता है कि भगवान बुद्ध ने सुअर के मांस का भक्षण किया था, उन्हें अतिसार का रोग हुआ और परिणाम स्वरूप उनका शरीरान्त हुआ।

चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार जैन धर्म के अनुयायी होने से मांस-भक्षण के विरोधी थे। इसकी पुष्टि अरेभाई अभिलेखों से होती है। इसमे लिखा है: राजा जीवधारियों को मार कर खाने से परहेज करता है। विद्वान् पुरालिपि शास्त्र के आधार पर इस अभिलेख को तृतीय शती ई० पू० के पूर्वार्द्ध अर्थात् चन्द्रगुप्त मौर्य अथवा बिन्दुसार के समय का मानते है।[16]

चाणक्य चन्द्रगुप्त का गुरु तथा साम्राज्य का महामंत्री था, वह भी अहिंसा[17] धर्म में आस्था रखता था, तथा मांस-भक्षण[18] और मृगया का विरोधी था। अतः सम्राट् और महामन्त्री द्वारा पारस्परिक विचार-विनिमय के पश्चात् हिंसात्मक उत्सवों पर प्रतिबन्ध लगाना तथा राजकीय पाकशाला के निमित्त पशुओं के वध को रोक देना स्वाभाविक ही है। इसके विपरीत बौद्ध धर्म के अनुयायी अशोक द्वारा मांस-भक्षण का निषेध अस्वाभाविक-सा प्रतीत होता है, क्योंकि स्वय भगवान बुद्ध भी मांस-भक्षण करते हैं। अतः यह अभिलेख अशोक की अपेक्षा उसके पूर्वजों से कहीं अधिक सम्बन्धित है।

चतुर्थ अभिलेख :

इसका प्रमुख विषय हस्ति-दर्शन, विमान-दर्शन, अग्नि स्कंध दर्शन तथा दिव्य प्रदर्शनों द्वारा जनता मे धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न करना है। इसके अतिरिक्त इसमें इस बात का भी उल्लेख है कि सैकड़ों वर्षो से श्रमण और ब्राह्मणों के प्रति अनुचित व्यवहार हो रहा था, परन्तु देवानां प्रियदर्शी के धर्मानुशासन में उनके प्रति उचित व्यवहार में वृद्धि हुई है। इस अभिलेख को भी अशोक के साथ संगति ठीक नहीं बैठती। अब क्योंकि हस्ति दर्शन के अतिरिक्त अन्य दिव्य दर्शनों का बौद्ध धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है, इसके विपरीत इन सबका जैन-धर्म में उल्लेख है। तीर्थङ्कर की माता को १६ स्वप्न आते हैं। इनमें हस्ति, विमान तथा अग्नि स्कंध भी है। श्वेताम्बर जैन मन्दिर में धातुओं के बने हुए इन स्वप्नों का पर्यूषण पर्व तथा अन्य धार्मिक उत्सवों पर प्रदर्शन भी किया जाता है।

अशोक के पूर्वज जैन धर्मानुयायी थे। अतः उनके राज्य मे श्रमणों और ब्राह्मणों के प्रति अनुचित व्यवहार का प्रश्न ही नही उठता। इसके विपरीत चन्द्रगुप्त मौर्य से पूर्व मगध मे १५० वर्ष तक नन्दों का राज्य रहा। ये शूद्र और अत्याचारी थे, जैसा कि इतिहास से विदित होता है। अतः इनके राज्य मे श्रमणों और ब्राह्मणों के प्रति अत्याचार होना कोई अस्वाभाविक बात नही थी। महापद्मनन्द ने तो चाणक्य का अपमान भी किया था। चन्द्रगुप्त के सम्राट् होते ही स्थिति में परिवर्तन हुआ तथा श्रमणों और ब्राह्मणों के प्रति उचित व्यवहार में वृद्धि हुई। इस अभिलेख में इसी ओर संकेत किया गया है। अतः इस अभिलेख की संगति अशोक के पूर्वजों के साथ ही ठीक प्रतीत होती है।

पंचम अभिलेख में धर्म-वृद्धि हेतु भाई-बहिनों तथा सम्बन्धियों के अन्तःपुर में राज कर्मचारियों के बीच तथा प्रजाजनों में धर्म महामात्र नियुक्त करने का उल्लेख है। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार, राज्याभिषेक से पूर्व ही अशोक ने अपने समस्त भाई-बहिनों का वध करवा डाला था। अतः भाई-बहिनों के यहां महामात्र नियुक्त करने वाला अभिलेख अशोक का नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि अशोक ने अपने पुत्र और पुत्री को भिक्षुक तथा भिक्षुणी बना कर लंका में तथा अन्य भिक्षुओं को तिब्बत आदि देशों में धर्म प्रचारार्थ भेजा था। भारत में भी यह कार्य भिक्षुओं से न करा कर धर्म महामात्रों से क्यों कराया गया, जबकि गृहत्यागी और निर्लिप्त भिक्षुओं का जनता पर जितना प्रभाव पड़ता है, उसका शतांश भी वेतनभोगी धर्म महामात्रों का नही पड़ सकता। वास्तविकता यह है कि ये धर्म महामात्र और कोई नहीं, वरन् गुप्तचर थे जिन्हें चाणक्य के परामर्श से नियुक्त किया गया था। कौटिल्य अर्थशास्त्र[19] में इस प्रकार महामात्र नियुक्त करने का उल्लेख भी है।

द्वितीय, तृतीय तथा ६वें से १२वें अभिलेखों का विषय लोकोपयोगी कार्य, प्रतिवेदन, दान तथा धर्म महिमा आदि से

१६. डा० राजबलीकृत अशोक अभिलेख, पृष्ठ १६२
१७. 'अहिंसा-लक्षणो धर्मः' चाणक्य प्रणीत सूत्र ५६१, कौटिल्य अर्थशास्त्र ६८२
१८. मांस भक्षणम् अयुक्तं सर्वेषाम्, वही
१९. अर्थशास्त्र, पृष्ठ ३९, ४०

सम्बन्धित है। उनकी संगति किसी के साथ भी बैठाई जा सकती है। परन्तु त्रयोदश अभिलेख अशोक का है, और महत्व तथा समयचक्र की दृष्टि से यह उसका प्रथम अभिलेख ही हो सकता है। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि इससे पहले के बारह अभिलेख अशोक के पूर्वजों के ही है।

प्रियदर्शी

शङ्का—रूपनाथ आदि ग्यारह अभिलेखों के आधार पर प्रियदर्शी अशोक का उपनाम है। उपर्युक्त वर्णित बारह अभिलेखो में भी प्रियदर्शी का उल्लेख है। अतः ये सभी चतुर्दश अभिलेख अशोक के ही होने चाहिए।

समाधान—प्रियदर्शी अशोक का उपनाम नहीं है। यदि ऐसा हो तो मास्को और गुर्जरा अभिलेखों में अशोक के साथ प्रियदर्शी का भी उल्लेख होता। सुदर्शन झील के अभिलेख से विदित होता है कि अशोक के समय में तुष्प नामक राज कर्मचारी ने इसका जीर्णोद्धार कराया। तत्पश्चात् यह कार्य प्रियदर्शी द्वारा कराया गया। भाषाविशेषज्ञों के अनुसार अरे भाई अभिलेख चन्द्रगुप्त अथवा विन्दुसार के समय का है और उसमें भी प्रियदर्शी का उल्लेख है। इन दोनों अभिलेखों (सुदर्शन झील, अरे भाई) के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि अशोक के उत्तराधिकारी तथा पूर्वज सभी प्रियदर्शी कहलाते थे। संक्षेप में, सभी मौर्य सम्राटों के लिए प्रियदर्शी का प्रयोग होता था।

भातीय वाङ्मय का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि अशोक वाटिका में रावण सीता को 'प्रियदर्शने' तथा मथुरा में काली कृष्ण और बलदेव को 'प्रियदर्शी' कह कर सम्बोधित करते है। निमित्त ज्ञानी भी महाराज सिद्धार्थ से कहते है कि तुम्हारा पुत्र प्रियदर्शी होगा।

इससे स्पष्ट है कि जिन व्यक्तियों के दर्शन से सुखानुभूति होती थी, उन्हे प्रियदर्शी कह कर सम्बोधित किया जाता था। सम्भव है इसी आधार पर जनता मौर्य सम्राटों को प्रियदर्शी कह कर सम्बोधित करती हो।

इनके अतिरिक्त और भी बहुत से मौर्यकालीन अभिलेख है। इनमें से कुछ अशोक के तथा शेष सम्प्रति के है। □□

(पृष्ठ ५७ का शेष)

कर शक्तिशाली व्यक्ति भी दुःख व संताप के भागी हुए। इस प्रकार के अवगुणों वाले व्यक्तियों के लिए नरक निश्चित है। (पृ० २६ अ०)। जैसा लोग दूसरे की भूमि, धन और स्त्री को लेने के लिए परिश्रम करते हैं और अपने पराये को मार डालते हैं, वैसा परिश्रम यदि काम, क्रोध, लोभ आदि बलवान शत्रुओं को जीतने में करें तो इनका परलोक सुधर जाए। जो मनुष्य सम्पूर्ण जीवों में श्री नारायण की शक्ति को एक समान देखता है तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के वशीभूत होकर किसी से शत्रुता अथवा मित्रता नहीं रखता, वही मुक्ति पद को प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवत में अनेक प्रसंगों में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है कि संसार के सभी प्राणियों में एक समान ही परमात्मा का चमत्कार है। ज्ञानी मनुष्य को किसी की निन्दा अथवा स्तुति नही करनी चाहिए, उसे सब जीवों में परमेश्वर का एक-सा चमत्कार जानना चाहिए (११—२७ अ०)। किसी को दुःख न दे और मन, कर्म, बचन से जहां तक बन पड़े परोपकार करता रहे तथा जब तक प्राणी ब्राह्मण और चाण्डाल के शरीर में एक ही ईश्वर का प्रकाश नहीं देखता, तब तक वह अज्ञानी बना रहता है।

□□

१५६०, नेपियर टाउन, जबलपुर

तीर्थंकर महावीर तथा महात्मा बुद्ध : व्यक्तिगत सम्पर्क

☐ डा० भागचन्द्र जैन

भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध ई० पू० पांचवीं-छठीं शताब्दी के उत्क्रान्तिकारी व्यक्तित्व थे। उन्होंने तत्कालीन सामाजिक तत्त्वों की प्रसुप्त चेतना को जागृत करने का और सर्वसाधारण व्यक्ति की समस्याओं का मौलिक अध्ययन कर उनका अपने-अपने ढंग से समाधान प्रस्तुत करने का यथाशक्य प्रयत्न किया था। अमीर-गरीब और ऊँच-नीच के बीच की खाई को पाटने में सर्वाधिक प्रयत्न करने वाले ये दोनों ही महापुरुष थे। सर्वोदय की अनुपम अजस्र धारा में समाजवाद का शुद्ध और सही चिन्तन इन्हीं की मानसिक चेतना का परिणाम है।

दोनों ही महापुरुष एक ही क्षेत्र और एक ही काल में समान रूप से विहार करते रहे। कुछ समय समान परम्परा का अनुगमन भी किया। परन्तु उनका व्यक्तिगत सम्पर्क कहां तक हुआ; यह अभी स्पष्ट नहीं हो सका। इसे स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है कि हम "व्यक्तिगत सम्पर्क" को कुछ विस्तृत अर्थ मे ग्रहण करें। साथ ही उनकी परम्पराओं और विहार-स्थलियों पर काल की दृष्टि से विचार करें।

पार्श्वनाथ-परम्परा :

भ० पार्श्वनाथ भ० महावीर से ३५० वर्ष पूर्व काशी के उरगवंशीय नरेश अश्वसेन और वामा के घर अवतरित हुए थे। बालब्रह्मचारी के रूप में समूचा जीवन व्यतीत कर सौ वर्ष बाद सम्मेदशिखर से उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। इसी वंश में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती हुए जिनका उल्लेख पालि साहित्य में बहुत अधिक आता है। इस समय लिच्छवि और वज्जिगणों में पार्श्वनाथ द्वारा प्रवेदित धर्म ने लोकधर्म का रूप ले लिया था।

जैसा हम जानते है, पार्श्वनाथ का धर्म चातुर्याम था। इसका उल्लेख जैन और बौद्ध दोनों आगम साहित्य में पर्याप्त हुआ है। जैन आगमों में पार्श्वनाथ परम्परानुयायियों को पासत्थ अथवा पार्श्वापत्य कहा गया हैं और वहां यह निर्देश है कि साधुओं को इनका सहवास नहीं करना चाहिए—

पासत्थो सण्ण कुशील संथवो ण किर वट्टती काऊं।

साधुगणानां पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्था: तथा संयमा-नुष्ठानेऽवसीदन्ति इत्यवसन्ना: तथा कुत्सितं शील येषां ते कुशीला: एतै: पार्श्वस्थादिभि: सह संस्तव: परिचय: सह-संवासरूपो न किल यतीनां वर्तते कर्तुमिति।[1]

पार्श्वापत्यों के प्रति ऐसी धारणा शायद इसलिए रही होगी कि उस समय तक उनमें शिथिलाचार बढ़ने लगा था, और इसे दूर करने के लिए ही महावीर ने पञ्च-महाव्रतो की स्थापना की। पालि त्रिपिटक इस विकास का उल्लेख करता है। उदाहरणत: दीर्घनिकाय के सामञ्ज-फल सुत्त में निगण्ठ नातपुत्त को "चातुर्यामसंवर युत्तो" कहा गया है। याम का तात्पर्य है महाव्रत। यहां तीर्थंकर महावीर ने प्रथमत: अपनी पूर्व परम्परा का ही अनुगमन किया होगा और उसी का ध्यान महात्मा बुद्ध को रहा होगा। इसीलिए चातुर्यामसंवर का सम्बन्ध निगण्ठ नात-पुत्त से रखा गया है। वस्तुत: यह सम्बन्ध पार्श्वनाथ परम्परा से होना चाहिए था। एक और भूल यहां हुई। सब्बवारिवारितो, सब्बवारियुतो, सब्बवारिधुतो और सब्ब-वारिफुटो इन चारों महाव्रतों की परम्परा सही नही है।

---

१. सूत्र कृताङ्ग वृ. १०२ पृ. १७७

उत्तराध्ययन सूत्र के २३वें अध्ययन का केशी गौतम संवाद भी इस बात का निदर्शक है कि महा-वीर के संघ में पार्श्वनाथ परम्परा के अनुयायी भी थे। इनको जैनागमों मे "पासावच्चिज्ज" कहा गया है। आचारांग में भ. महावीर के माता-पिता को भी पार्श्वापत्यीय कहा गया है (२ १५.१५)।

२. ठाणांग, पृ. १ टीका

कुछ भी हो, इतना निष्कर्ष तो निकाला ही जा सकता है कि महात्मा बुद्ध पार्श्वनाथ परम्परा से भलीभांति परिचित रहे होंगे। जहाँ तक महाव्रतों के परिगणन की बात है, उसे हम जैन आगमों में देख सकते है। ठाणांग[1] में यह परम्परा इस प्रकार है—

१. सर्वपाणातिपातवेरमण,
२. सर्वमृषावादवेरमण,
३. सर्वादत्तादानवेरमण और
४. सर्वबहिद्धादानवेरमण। यहाँ मैथुन और परिग्रह दोनों का अन्तर्भाव है।

असिवन्धकपुत्त गामिणि निगण्ठनातपुत्त का शिष्य था। भ० बुद्ध ने उससे पूछा—निगण्ठनातपुत्त अपने श्रावकों को कैसी शिक्षा देते है? उत्तर मे गामिणि ने कहा—नि. नातपुत्त निम्नलिखित पापों से दूर रहने का आग्रह करते है

१. पाणं अतिपातेति,[3]
२. अदिन्नं अतिपातेति,
३. कामेसु मिच्छा चरति और
४. मुसा भणति।

यहाँ भी चार प्रकार के पापों का ही उल्लेख है, पांच का नही। दूसरी बात उल्लेखनीय यह है कि नि० नातपुत्त ने परिग्रह से कुशील को पृथक कर उसे जो स्वतन्त्र रूप दिया था, उसका तो पालि त्रिपिटक में उल्लेख है परन्तु परिग्रह का नही। इसका तात्पर्य है—महात्मा बुद्ध उक्त सुधार से परिचित थे। भले ही उसका प्रचार न होने के कारण पाँचों का यथाक्रम उल्लेख नहीं किया जा सकता हो।

अंगुत्तर निकाय मे निगण्ठ नातपुत्त के अनुसार पापाश्रव के पांच कारण दिये गये है—

१. पाणातिपाति होति,
२. आदिन्नादायि होति,
३. अब्रह्मचारि होति,
४. मुसावादि होति और
५. सुरामेरयमज्जप्पमादट्ठायी होति।

यहाँ भी पांच पापों का उल्लेख क्रमशः नहीं हुआ और परिग्रह के स्थान पर सुरामेरयमज्जप्पमादट्ठान का उल्लेख किया गया। इन उद्धरणों से तीन निष्कर्ष निकाले जा सकते है।

१. पार्श्वनाथ की परम्परा चातुर्यामसंवर की थी।
२. निगण्ठ नातपुत्त ने चातुर्यामसंवर की जगह पांच महाव्रतों का उपदेश दिया।
३. महात्मा बुद्ध दोनों परम्पराओं से परिचित थे।
इन उद्धरणों मे ये दो मुख्य दोष प्रतीत होते हैं—
१. जैन परम्परा का उल्लेख यथाक्रम न होना।
२. परिग्रह जो पापाश्रव के कारणों में अन्तिम था, का उल्लेख न होना।

भगवान् महावीर:

लगभग ६६६ ई० पू० बिहार की पुण्यस्थली वैशालीय क्षत्रिय कुण्डग्राम में ज्ञातृकुलीय काश्यप गोत्रीय महाराज सिद्धार्थ और वासिष्ठ गोत्रीय त्रिशला के घर चैत्र-शुक्ला त्रयोदशी के दिन महावीर का जन्म हुआ था। कल्पसूत्र में इनके और दूसरे नाम श्रमण और वर्धमान दिये है। पालि साहित्य महावीर का निगण्ठ नातपुत्त के नाम से उल्लेख करता है। सूत्रकृताङ्ग[4] और भगवती सूत्र इनको वैशालिक कहते है।[5]

संसार का उपभोग किये बिना ही तीस वर्ष की अवस्था में महावीर स्वामी ने महाभिनिष्क्रमण किया। लगभग बारह वर्ष की कठोर तपस्या के बाद उनको केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। इसके बाद धर्मोपदेश करते हुए ७२ वर्ष की अवस्था में कार्तिकी अमावस्या को रात्रि के अन्तिम प्रहर में उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

महात्मा बुद्ध

शाक्य पुत्र महात्मा बुद्ध का जन्म ५६३ ई० पू० अथवा परम्परा के अनुसार ६२४ ई. पू. ६ में कपिलवस्तु के

३. संयुत्तनिकाय भाग ४, पृ. ३१७।
४. विशाला जननी यस्य विशालकुलदेवता।
विशालं प्रवचनं चास्य तेन वैशालिको जिनः॥
२२ २.३ पृ. मं. ७८१
५. भ. सू. १. २. १. पृ. २४६
६. मैं परम्परासम्मत जन्मतिथि को ही मानने के पक्ष में हूं।

राजा शुद्धोदन और महिषी महामाया के घर लुम्बिनीवन में हुआ था। बाल्यावस्था का नाम सिद्धार्थ था। सोलह वर्ष की अवस्था में सिद्धार्थ का यशोधरा के साथ वैवाहिक सम्बन्ध हो गया। यशोधरा पुत्रवती भी हो गई परन्तु सिद्धार्थ का मानसिक संघर्ष रोका नहीं जा सका। फलतः उन्होंने २० वर्ष की अवस्था मे प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। लगभग छह वर्षों तक उस समय प्रचलित सभी धर्मों में दीक्षित होकर सिद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न किया किन्तु असफल होने पर मध्यम मार्ग की कल्पनापूर्वक आचार-विचार के माध्यम से सिद्धि-प्राप्ति मे सफलता प्राप्त की।[७] तभी से धर्म प्रचार-प्रसार करते हुए भगवान बुद्ध ८० वर्ष की आयु मे परिनिवृत्त हुए।

महात्मा बुद्ध का परम्परा गत धर्म क्या था, यह कहना कठिन है। लेकिन अनुमानतः ऐसा लगता है कि वे पार्श्वनाथ परम्परा के अनुयायी रहे होंगे। नामों के आधार पर संस्कृति विशेष का ज्ञान हो सकता है। शुद्धोदन (शुद्ध ओदन=शुद्धभात) अर्थात शुद्ध भोजन करने वाले, सिद्धार्थ (सिद्ध हो गया है अर्थ-प्रयोजन—मुक्ति-प्राप्ति जिसका), महामाया (संसार-भ्रमण में महिलाओं को कारण मान कर उनके लिए माया आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।) आदि नाम है जिनसे आभासित होता है कि वे जैन-धर्म के पालक रहे होंगे। लिच्छवि और वज्जिगणो में पार्श्वनाथ का धर्म पर्याप्त रूप से लोकप्रिय हो गया था। बुद्ध का भी उनसे घनिष्ठ सम्बन्ध था। पालि त्रिपिटक में बुद्ध ने सभी सम्प्रदायों की कड़ी आलोचना की परन्तु निगण्ठ नातपुत्त के प्रति उन्होंने आदर प्रदर्शित किया। दीघनिकाय[८] में अचेल कस्सप के नाम पर कुछ ऐसी तपस्याओं के रूपों का उल्लेख मिलता है जिनको श्रमण-ब्राह्मण अपनाये हुए थे। मज्झिम निकाय[९] मे कहा गया है कि इन सभी तपस्याओं का भगवान बुद्ध ने बोधि प्राप्त करने के पूर्व अभ्यास प्राप्त किया था। बाईस प्रकार के उन विभिन्न तप-रूपों को मूलाचार आदि ग्रन्थो में विधि-निषेध आदि के रूप में देखा जा सकता है। इसके विस्तार में जाना यहाँ उचित नहीं। परन्तु इतना निश्चित है कि बुद्ध और उनका कुल जैन धर्म में दीक्षित रहा है। प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में भगवान महावीर और बुद्ध के व्यक्तिगत सम्पर्क जानने के लिए यह एक मूल कड़ी है। आचार्य देवसेन के कथन से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। उन्होंने लिखा है कि बुद्ध पिहिताश्रव नामक जैन मुनि के शिष्य थे जिन्होंने उन्हे पार्श्वनाथ परम्परा मे दीक्षित किया और बुद्धकीर्ति नाम रखा। परन्तु कुछ समय बाद मत्स्य, मासादि का भक्षण कर लेने से उन्हें संघ से निष्कासित होना पड़ा और लाल कपड़े पहिन कर उन्होंने अपना पृथक् रूप से संघ स्थापित किया। इसे ही बौद्ध धर्म का नाम कालान्तर मे दे दिया गया।[१०]

उभय महापुरुषों का काल :

म० महावीर और म० बुद्ध दोनों महापुरुषो का काल अभी तक विवादास्पद बना हुआ है। विद्वान् महावीर का परिनिर्वाण ४६८ ई. पू. से लेकर ५४६ ई. पू. तक रखते है और बुद्ध का परिनिर्वाण ४८७ ई. पू. से लेकर ५४४ ई. पू तक सोचते है। अधिकांश विद्वान् महावीर का परिनिर्वाण ५२७ ई. पू. और बुद्ध का परिनिर्वाण ४८३ ई. पू. मानते है। इस विषय मे यहाँ विस्तार से नही कहा जा सकता, परन्तु इतना तो अवश्य है कि यह काल यदि स्वीकार किया गया तो मानना होगा कि पालि त्रिपिटक मे आये प्रायः सभी उल्लेख उत्तरकालीन है और गढ़े हुए प्रतीत होते है। इस सन्दर्भ मे यह भी उल्लेखनीय है कि जैन आगम मूलतः बुद्ध के विषय में कोई विशेष सूचनायें नही देता। उत्तरकालीन वृत्ति. निर्युक्ति आदि मे अवश्य उल्लेख मिलते है।[११] जैनागम और बौद्धागम के उल्लेख परस्पर कालक्रम की दृष्टि से उक्त कालगणना में विपरीत सिद्ध होते है। इसलिए यदि महावीर का परिनिर्वाण ५४५ ई. पू. और बुद्ध का परिनिर्वाण ५४३ ई. पू. स्वीकार किया जाय तो बहुत कुछ गुत्थियाँ सुलझ जाती है।

महावीर के वर्षावास और विहार-स्थल :

ठाणांग सूत्र मे महापद्मचरित्र के प्रसंग में महावीर के विषय मे लिखा है कि मैने तीस वर्ष गृहस्थावस्था में, १२

---

७. तं च पनम्हाक रुच्चति चेव खमति च तेन चाम्ह अत्तमना ति, मज्झिम निकाय, प्रथम भाग पृ. ६३।

८. दीघनिकाय, प्रथम भाग, पृ. १६६।

९. मज्झिम निकाय, प्रथम. पृ. ७७।

१०. दर्शनसार ८-९।

११. सूत्रकृताग निर्युक्ति, श्रुतस्कंध द्वितीय, पत्र नं. १३४-१३६

वर्ष १३ पक्ष केवलज्ञान प्राप्ति में और तेरह पक्ष कम तीस वर्ष धर्म प्रचार में बिताये।" इसके अनुसार महावीर ने ४२ वर्ष निम्न स्थलों में बिताये।

१. कुण्डग्राम, कर्मारग्राम, मोराक सन्निवेश, ज्ञातखण्डवन, कोल्लाग-सन्निवेश, दूइज्जंतग, अस्थिकग्राम (वर्षावास),
२. मोराक, दक्षिण-उत्तर वाचाल, सुरभिपुर, श्वेताम्बी, राजगृह, नालन्दा (वर्षावास),
३. कोल्लाग, ब्राह्मणग्राम, सुवर्णखल, चम्पा (वर्षावास),
४. कालाप, कुमाराक, पत्त, चोलाक, पृष्ठ चम्पा (वर्षावास),
५. कयंगला, श्रावत्ता, कलंकबुका, पूर्णकलश, श्रावस्ती, नंगला, राडदेश, मलय, भद्दिल (वर्षावास),
६. कमली, तंवाय, वैशाली, जम्बूसंड, कुपिय, ग्रामाक, भद्दिया (वर्षावास),
७. मगध, आलंभिया, (वर्षावास),
८. कुण्डाक, बहुसालग, लोहार्गला, गोभूमि, मर्दन, पुरिमताल, उन्नाग, राजगृह (वर्षावास),
९. लाढ-वज्रभूमि और सुम्हभूमि,
१०. सिद्धार्थपुर, कूर्मग्रा, वैशाली, वाणिज्यग्राम, श्रावस्ती (वर्षावास),
११. सानुलट्ठिय, मोसलि, सिद्धार्थपुर आलंया, श्रावस्ती, वाराणसी, मिथिला, मलय, कौशाम्बी, राजगृह, वैशाली (वर्षावास),
१२. सुंसुमारपुर, नन्दिग्राम, कौशाम्बी, मेढियग्राम, सुमंगल, एम्पा (वर्षावास),
१३. जंभियग्राम, मेंढिय, पावा, राजगृह (वर्षावास),
१४. ब्राह्मणकुण्ड, क्षत्रियकुण्डग्राम, वैशाली (वर्षावास),
१५. कौशाम्बी, श्रावस्ती, वाणिज्यग्राम (वर्षावास),
१६. राजगृह, (वर्षावास),
१७. चम्पा, वीतभय, वाणिज्यग्राम (वर्षावास),
१८. वाराणसी, आलंभिया, राजगृह (वर्षावास)
१९. राजगृह (वर्षावास),
२०. कौशाम्बी, आलंभिया, वैशाली (वर्षावास),
२१. मिथिला, काकन्दी, पोलासपुर, वाणिज्यग्राम, वैशाली (वर्षावास),
२२. राजगृह, (वर्षावास),
२३. कृतंगला, श्रावस्ती, वाणिज्यग्राम (वर्षावास),
२४. ब्राह्मणकुण्ड, कौशाम्बी, राजगृह (वर्षावास),
२५. चम्पा (वर्षावास),
२६. काकन्दी, मिथिला (वर्षावास),
२७. श्रावस्ती, मिथिला (वर्षावास),
२८. हस्तिनापुर, मोकानगरी वाणिज्यग्राम (वर्षावास),
२९. राजगृह (वर्षावास),
३०. चम्पा, दशार्णपुर, वाणिज्यग्राम (वर्षावास),
३१. काम्पिल्यपुर, वैशाली (वर्षावास),
३२. वैशाली (वर्षावास),
३३. राजगृह, चम्पा, राजगृह (वर्षावास),
३४. राजगृह, नालन्दा (वर्षावास),
३५. वाणिज्यग्राम, वैशाली (वर्षावास),
३६. साकेत, वैशाली (वर्षावास),
३७. राजगृह (वर्षावास),
३८. नालन्दा (वर्षावास),
३९. मिथिला (वर्षावास),
४०. मिथिला (वर्षावास),
४१. राजगृह (वर्षावास) और
४२. अपापापुरी (वर्षावास) यहीं निर्वाण हुआ।

महात्मा बुद्ध के वर्षावास और विहार-स्थल :

महात्मा बुद्ध २९ वर्ष की अवस्था में संन्यासी हुए और लगभग ६ वर्ष के बाद बोधि प्राप्त की और ८० वर्ष की अवस्था में उनका परिनिर्वाण हुआ। इस बीच उनके वर्षावास और विहार-स्थल निम्न प्रकार से रहे—

१. वाराणसी, ऋषिपतन (वर्षावास),
२. गया, राजगृह (वर्षावास),
३. राजगृह (वर्षावास),
४. कपिलवस्तु, राजगृह (वर्षावास),
५. वैशाली, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, वैशाली (वर्षावास),
६. राजगृह, मंकुलपर्वत (वर्षावास),

१२. ठाणांगसूत्र, ठाणा ९, उद्देश्य ३, सूत्र ६९३ की वृत्ति, पृ. ५६१/१ धवला में महावीर का केवलिकाल २९ वर्ष ५ माह २० दिन लिखा है।

७. त्रायस्त्रिंश (वर्षावास),
८. श्रावस्ती राजगृह, वैशाली, सुसुमारिगिरि–चुनार (वर्षावास)'
९. कौशाम्बी (वर्षावास),
१०. पारिलेयक (वर्षावास),
११. श्रावस्ती, नाला–नालन्दा (वर्षावास),
१२. कुरु-कल्माषदम्य, मथुरा, वेदंजा (वर्षावास),
१३. प्रयाग, काशी, वैशाली, चालियपर्वत (वर्षावास),
१४. वैशाली, श्रावस्ती, साकेत, आपण श्रावस्ती (वर्षावास),
१५. कुसीनारा, कोसल, कपिलवस्तु, राजगृह, चम्पा, कपिलवस्तु (वर्षावास),
१६. अलवी-कानपुर (वर्षावास),
१७. कौशाम्बी, राजगृह (वर्षावास),
१८-१९. चालिय पर्वत,
२०. चम्पा, सुम्हदेश (हजारीबाग जिला), राजगृह (वर्षावास),
२१. वैशाली, राजगृह, श्रावस्ती (वर्षावास),
२२-४५. वर्षावास श्रावस्ती में किया। इस बीच बुद्ध कोसल, कुरु, राजगृह, नालन्दा सामगाम (शात्मा-देश), पावा, वैशाली, कुसीनारा आदि स्थानो पर विहार करते रहे।
४६. वैशाली (वर्षावास)। यह वर्षावास युक्तिसंगत नहीं दिखाई देता। २९ वर्ष की अवस्था मे बुद्ध ने महाभिनिष्क्रमण किया, ३५ वर्ष की अवस्था में बोधिलाभ हुआ और ८० वर्ष की अवस्था में वर्षावास से पूर्व, वैशाख–पूर्णिमा को उनका परिनिर्वाण हुआ। इसलिए अंगुत्तर निकाय (२.४५) का यह कथन कि बुद्ध का ४६वां वर्षावास वैशाली में हुआ, भ्रान्तिपूर्ण प्रतीत होता है।

दोनों महापुरुषों का व्यक्तिगत सम्पर्क :

भ. महावीर और भ. बुद्ध के वर्षावासों और विहार स्थलों पर दृष्टिपात करने से दोनों महापुरुषों की विहार-भूमि कभी न कभी निश्चित रूप से एक ही ग्राम रही होगी। श्रावस्ती, राजगृह, नालन्दा, कौशाम्बी आदि कुछ ऐसे ही नगर है जहाँ दोनों ने अपने धर्म का पर्याप्त प्रचार-प्रसार किया। यदि महावीर का परिनिर्वाण ५२७ ई. पू. और बुद्ध का परिनिर्वाण ४८३ ई. पू. मान कर चला जाय तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि महावीर का निर्वाण हो जाने पर म. बुद्ध ने धर्मचक्रप्रवर्तन किया। परन्तु यह विचार सही प्रतीत नहीं होता। सूत्रकृतांग में महावीर के १९वें वर्षावास के समय राजगृह में आर्द्रकुमार का बौद्ध भिक्षु के साथ शास्त्रार्थ होने की घटना का उल्लेख आया है।[13] बुद्ध का २२वां वर्षावास भी राजगृह में हुआ। इसी प्रकार और भी अनेक प्रसग है।

महा. राहुल जी ने बुद्धचर्या को कालक्रम की दृष्टि से संजोने का प्रयत्न किया है। तदनुसार धर्मचक्रप्रवर्तन के समय ही बुद्ध की भेंट आजीविक संप्रदाय के भिक्षु से हुई। हम जानते हैं, गोशालक महावीर के साथ १०वें वर्षावास तक रहा। इसलिए संभव है बुद्ध की उसी से या उसी के अन्य किसी शिष्य से भेंट हुई होगी।

बुद्ध[14] जब मंकुल पर्वत पर वर्षावास कर रहे थे, उस समय राजगृह के एक श्रेष्ठी ने चन्दन पात्र को सीके पर बांध रखा और उसे दिव्य शक्ति द्वारा उठाने को तीर्थंकरों से कहा; परन्तु अजित केशकम्बली, पकुध कच्चायन, संजय वेलट्ठिपुत्त, निगण्ठ नातपुत्त व मक्खलि गोशाल ये सभी तीर्थंकर असफल हुए। परन्तु बुद्ध के शिष्य पिण्डोल भारद्वाज ने उस बर्तन को सरलता पूर्वक उठा लिया। यह सुनकर बुद्ध ने अपने शिष्यों को प्रातिहार्य न करने का शिक्षा-पद दिया। बाद में बिम्बिसार ने बुद्ध से प्रातिहार्य करने के लिए कहा क्योंकि उक्त सभी तीर्थिक उन्हें चेलेंज दे रहे थे। यह जानकर बुद्ध ने चार माह बाद प्रातिहार्य करने को कहा। तीर्थिक बुद्ध के पीछे-पीछे चले। उनके साथ वे राजगृह और श्रावस्ती भी पहुंचे। बुद्ध ने अपना प्रातिहार्य प्रसेनजित के समक्ष किया। फलस्वरूप आम की गुठली ने अचानक एक बड़े वृक्ष का रूप ले लिया। तीर्थिक कोई प्रातिहार्य नही कर सके। इस प्रसंग में यह भी उल्लेख है कि निगण्ठ लजाते हुए भाग गये। शक्र ने बुद्ध की सहायता की। यह ध्यान देने की बात है कि यहां निगण्ठ नातपुत्त के स्थान पर निगण्ठ (जैन

१३. सूत्रकृतांग २. ६. पत्र नं. १३५-१५८।

१४. चुल्लवग्ग ५, धम्मपद अट्ठकथा ४. २।

साधु) का उल्लेख है। यहाँ निगण्ठ नातपुत्त के सर्वज्ञत्व पर भी छींटाकशी की गई है।[15] इस घटना से लगता है बुद्ध और महावीर ने राजगृह और श्रावस्ती में एक साथ ही वर्षावास बिताया। फिर भी वे एक दूसरे के समक्ष स्पष्ट रूप में नहीं आये।

नालन्दा में भी बुद्ध और महावीर दोनों ने एक साथ वर्षावास किया।[16] संयुत्तनिकाय में कहा गया है कि महावीर ने श्रमण गौतम बुद्ध से शास्त्रार्थ करने के लिए अपने प्रधान शिष्य असिबन्धकपुत्त गामणी को भेजा था और उससे यह प्रश्न करने को कहा था कि तथागत जब कुलों की उन्नति और रक्षा की बात करते हैं तो ईतिपूर्ण व सूखे प्रदेश मे क्यो विहार करते है? बुद्ध के इस प्रश्न के उत्तर से प्रभावित होकर ग्रामणी उनका अनुयायी हो गया है। इसी समय बुद्ध ने ग्रामणी से प्रश्न किया कि निगण्ठनातपुत्त अपने श्रावकों को कौनसा धर्मोपदेश करते है? ग्रामणी ने उत्तर में कहा कि हिंसा, असत्य, स्तेय, कुशील आदि कुकृत्य करने वाला दुर्गति पाता है। इसलिए व्यक्ति को इन पापों से बचना चाहिए। इसी उत्तर-प्रत्युत्तर से प्रभावित होकर ग्रामणी बुद्ध का शिष्य हो गया। इस घटना से भी यही लगता है कि बुद्ध और महावीर दोनों ने कभी एक दूसरे से मिलने का प्रयत्न नही किया बलिक वे अपने शिष्यों को ही शास्त्रार्थ के लिए भेजते रहे।

[17]इसी प्रकार की एक घटना वैशाली में हुई। यहाँ भी दोनों महापुरुष उस समय वैशाली में ठहरे हुए थे। सीह ने नि. नातपुत्त से बुद्ध के दर्शन करने को जाने की अनुमति मांगी जिसे नि. ना. ने अस्वीकार कर दिया यह कहकर कि क्रियावादी होते हुए अक्रियावादी के पास क्यों जाते हो? उत्तर में बुद्ध ने अपने आपको क्रियावादी और अक्रियावादी दोनों बताया। सूत्रकृतांग[18] में भी बौद्ध धर्म को अक्रियावाद में सम्मिलित किया गया है। बाद में अंगुत्तरनिकाय में भी लिखा है कि सीह बुद्ध का शिष्य हो गया। फिर भी बुद्ध ने सीह को कहा कि चिरकाल से तुम्हारा कुल निगण्ठों के लिए रहा है, इसलिए उन्हें दान देना बन्द नहीं करना चाहिए। वहीं यह भी लिखा है कि सीह ने बुद्ध को मांस खिलाया जिसकी घोर निन्दा निगण्ठों ने की।

अन्तगडदसाओ (पृ. ६) में श्रेणिक के उन पुत्रों और रानियों के नाम दिये गए है जिन्होंने भ. महावीर से प्रव्रज्या ली थी। पुत्रों में जालि, मयालि, उववालि, पुरुषसेन, वारिसेण, दीर्घदन्त, लष्टदन्त वेहल्ल, वेहास, अभय, दीर्घसेन, महासेन, गूढदन्त, शुद्धदन्त, हल्ल, द्रुम, द्रुमसेन, महाद्रुमसेन, सिंह, सिंहसेन, महासिंह सेन और पूर्णसेन[19] ये नाम मिलते है। पालि त्रिपिटक में निगण्ठनातपुत्त के शिष्यों में सीह, दीघनख, उपालि और अभय का नाम आता है। संभव है, ये श्रेणिक के ही पुत्र हों।

मेण्डक नामक गृहपति भी जैन था जो बाद में बुद्ध का अनुयायी हो गया, ऐसा पिटक में कहा गया है।[20] यह अंगदेश के भद्दियानगर का रहने वाला श्रेष्ठी था। बिंबसार राजा के पांच अमित-भोग-संपन्न श्रेष्ठी थे—जोतिय, जटिल, मेंडक, पुण्णक और काकवलीय।[21] मेडक उनमें एक था। इसी के पुत्र धनंजय श्रेष्ठी की अग्रमहिषी सुमना देवी के गर्भ से ही विशाखा का जन्म हुआ था। कालान्तर में इसका सम्बन्ध श्रावस्ती के मृगार श्रेष्ठी के पुत्र पुण्ड्रवर्धन से हुआ। मृगार निगण्ठों का पूजक था और विशाखा बुद्ध मे अधिक भक्ति रखती थी। मृगार ने निगण्ठों को बुलाया परन्तु विशाखा ने उनकी कड़ी आलोचना की, नग्नत्व की दृष्टि से। फलस्वरूप मृगार भी बौद्ध हो गया।[22] यहाँ भी निगण्ठ नातपुत्त का नाम नहीं, निगण्ठों का नाम है। फिर भी यह सत्य है कि अंगदेश और श्रावस्ती में जैन-बौद्ध समान रूप से रहते थे।

१५. संयुत्तनिकाय, ३.१.१।
१६. संयुत्तनिकाय, ४०. १. ९।
१७. अंगुत्तर निकाय, ८.१.२.२।
१८. सूत्रकृतांग १२.९—ते चार्वाकबौद्धादयोऽक्रियावादिन एवमाचक्षते...पृ. २१८।
१९. तीर्थङ्कर महावीर, भाग २, पृ. ५३।
२०. महावग्ग २.२।
२१. धम्मपद अट्ठकथा।—४.८।
२२. अंगुत्तर निकाय अ. कथा, १.७.२।

शाक्य देश मे भी जैन और बौद्धधर्म दोनो लोकप्रिय थे। मज्झिम निकाय में एक उद्धरण है कि शाक्य देशीय देवदह ग्राम मे महात्मा बुद्ध भिक्षुओं से कहते है कि निगण्ठों का सिद्धान्त है कि व्यक्ति जो सुख, दुःख या अदुःख, असुख का अनुभव करता है, वह सब उसके पूर्वकृत कर्मों के हेतु से। इन पूर्वकृत कर्मों का तपस्या द्वारा अन्त करने से और नवीन कर्मो का आश्रव-द्वार बन्द हो जाने से भविष्य मे व्यक्ति परिणाम-रहित (अनाश्रवी) हो जाता है। परिणाम रहित होने से कर्मक्षय, कर्मक्षय से दुःखक्षय, दुःखक्षय से वेदनाक्षय, वेदनाक्षय से सभी दुःख जीर्ण हो जाते है।[२३] इस सिद्धान्त की यहाँ अनर्गल आलोचना की गई है। राजगृह मे भी बुद्ध ने निगण्ठों के इस सिद्धान्त को उन्ही से सुना था और उनका अनुमोदन भी किया था। यही निगण्ठ नातपुत्त के सर्वज्ञत्व की भी कटु आलोचना भगवान बुद्ध ने की है। आनन्द ने भी सन्दक परिव्राजक से कौशाम्बी मे निगण्ठ नातपुत्त के सर्वज्ञत्व की तीव्र आलोचना की और उसे अनाश्वासिक (मन को संतुष्ट न करने वाला) बताया।[२४]

महात्मा बुद्ध का १७वां वर्षावास राजगृह में हुआ था।[२५] उस समय विभिन्न मतावलम्बियों ने यह जानकर हर्ष व्यक्त किया कि इस बार अंग-मगधों को आध्यात्मिक लाभ मिलने का स्वर्ण अवसर है जो कि राजगृह मे पूर्ण काश्यप, मक्खलि गोसाल, अजितकेश कम्बली, पकुध कच्चायन, संजय वेलट्ठिपुत्र और निगण्ठ नातपुत्त वर्षावास के लिए आये हुए है। भगवान महावीर का १६वाँ, २२वा, २४वां वर्षावास राजगृह मे हुआ, यह जैनागमों से भी ज्ञात होता है।

चम्पा में भी भ. बुद्ध ने सभी तीर्थंकरो की तपस्या की आलोचना की, वज्जिय महित गृहपति से। आलोचना तभी की जाती है जब उस सिद्धान्त का प्रचार अधिक हो जाता है। हम जानते हैं कि चम्पा महावीर की मुख्य विहार-भूमि रही है।

नालन्दा में महात्मा बुद्ध का जब ४२वां वर्षावास हो रहा था, उस समय निगण्ठ नातपुत्त भी वहाँ अपनी बड़ी परिषद् के साथ ठहरे हुए थे। तब दीर्घतपस्वी निर्ग्रन्थ बुद्ध के पास पहुंचा। बुद्ध ने पूछा—निगण्ठ नातपुत्त पापकर्म के लिए कितने कर्मों का विधान करते हैं। तपस्वी ने उत्तर दिया—कर्म का नही, दण्ड का विधान करना निगण्ठ नातपुत्त का नियम है। ये दण्ड तीन प्रकार के है, कायदण्ड, वचनदण्ड और मनोदण्ड। इनमे कायदण्ड महादोषयुक्त है। उपालि गृहपति भी महावीर का भक्त था। गौतम के साथ वादविवाद करने के लिए महावीर ने उपालि को भेजा। अन्त में कहा गया कि उपालि और दीघतपस्वी दोनों बुद्ध के अनुयायी हो गये। यह जानकर महावीर उपालि के पास गये और उससे पूछा—तुम किसके शिष्य हो ? उत्तर में उपालि ने बुद्ध की ओर हाथ जोड़कर संकेत किया। इसके आगे तो यहाँ तक बताया कि बुद्ध का सत्कार असह्य हो जाने पर महावीर ने मुह से उष्ण रक्त उगल दिया।[२७]

इसके बाद दोनों महापुरुषों का विहार राजगृह की ओर हुआ। राजगृह में निगण्ठ नातपुत्त ने अभय राजकुमार को गौतम के पास वादविवाद करने को भेजा और कहा कि गौतम से पूछो—"क्या भन्ते ! तथागत ऐसे वचन बोल सकते है जो दूसरो को अप्रिय-अपमानपूर्ण हों ?" यदि "हाँ" कहे तो प्रतिप्रश्न करना कि पृथक्जन (साधारण संसारी जीव) और तथागत में क्या भेद हुआ ?" और यदि उत्तर निषेधात्मक रहे तो कहना "आपने देवदत्त के लिए भविष्यवाणी क्यों की है कि देवदत्त आपायिक है, देवदत्त नैरयिक है, देवदत्त कल्पस्थ है, देवदत्त अचिकित्स्य है। आपके इस वचन से देवदत्त को असन्तोष हुआ। गौतम ने इस प्रश्न का उत्तर दिया कि यह एकांशिक (बिना अपवाद के) दृष्टि से कहा जा सकता। अन्त में अभय बुद्ध का शिष्य बन गया।[२८]

२३. मज्झिम निकाय ३.१.१।
२४. मज्झिम निकाय १.२.४।
२५. चुल्लवग्ग, ६. चूलसकुलुदायी सुत्त (राजगृह) में भी सकुल उदायी परिव्राजक ने नि. नातपुत्त के सर्वज्ञत्व की आलोचना की।
२६. मज्झिम निकाय २.६.७।
२७. म. निकाय, २.२.६।
२८. अभयराजकुमार सुत्त, मज्झिम निकाय, १.५.८।

राजगृह में ही घटित एक और घटना है। अजात शत्रु ने तत्कालीन सभी तीर्थंकरों से सामञ्ञफल (श्रमण्य-फल) पूछा। निगण्ठ नातपुत्त ने उत्तर में चातुर्यामसवर बताया।[२९] यहाँ ज्ञातव्य है कि चातुर्याम सवर निगण्ठ नातपुत्त का नही था, पार्श्वनाथ का था।

राजगृह की इन घटनाओं से लगता है, महावीर और बुद्ध दोनों के शिष्य परस्पर मिलते-जुलते थे और वाद-विवाद भी करते थे। सम्भव है, दोनो महापुरुषो का यहां व्यक्तिगत सम्पर्क भी हुआ हो; जैसा उक्त उद्धरणो से प्रतीत होता है। सूत्रकृतांग के अनुसार आर्द्रक कुमार (महावीर का परम शिष्य) ने शाक्यपुत्रों से वादविवाद किया और उन्हें पराजित किया।[३०]

महावीर-विषयक अन्तिम उद्धरण सामगाम सुत्त मे दिया गया है जिसमे पावा में महावीर के परिनिर्वृत हो जाने की सूचना बुद्ध को दी गई। कुछ लोगो का कहना है कि यह सूचना वस्तुत. गोशालक से सम्बन्धित है, निगण्ठ नातपुत्त से नही। परन्तु ऐसा तर्क प्रस्तुत करना युक्ति संगत नही जंचता। अभी हमने ऐसे उद्धरण देखे जिनसे दोनों महापुरुषों के अनेक वर्षावास अन्तिम समय तक एक ही स्थान पर होते रहे।

समान व्यक्तिगत सम्पर्क बनाये रखने वाले राज-परिवार :

भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध से समान रूप से व्यक्तिगत सम्पर्क बनाये रखने वाले अनेक राजा थे। उस समय की प्रजा भी धर्म-सहिष्णु हुआ करती थी। राजाओं में श्रेणिक, कुणिक (अजातशत्रु), चेटक, चण्ड-प्रद्योत, प्रसेनजित, अभयकुमार आदि ऐसे थे जिन्होने महावीर और बुद्ध दोनों से समान रूप से सम्पर्क बनाये रखा। यही कारण है कि दोनो—जैन और बौद्ध-साहित्य—उन्हे अपना-अपना बतलाते है। महावीर और बुद्ध के व्यक्तिगत सम्पर्क बनने और बिगडने में इन राजाओं की भी पर्याप्त भूमिका रही है। लेख के विस्तार के भय से इस प्रसंग को यहा उपस्थित नही करना चाहता।

उपसंहार :

अन्त मे हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध दोनो महापुरुषों के बीच प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्तिगत सम्पर्क बना रहा है। यद्यपि जैनागमो मे एतद्विषयक सामग्री लगभग न के बराबर है, परन्तु पालि त्रिपिटक मे जो जैसा भी निगण्ठ नातपुत्त के सन्दर्भ मे मिलता है, उसे हम पूर्णतः अस्वीकार नही कर सकते; भले ही वह पक्षपातपूर्ण रहा हो। महावीर के निर्वाण-काल के विषय मे भी इस सन्दर्भ में पर्याप्त विचार किया जाना चाहिए। मुझे तो ऐसा लगता है, यदि महावीर का परिनिर्वाण ५४५ ई. पू और बुद्ध का परिनिर्वाण ५४३ ई. पू स्वीकार कर लिया जाय तो अधिक युक्तिसंगत है।

□□

भगवान अपनी चर्या के अनुसार घर-घर में घूमते और वैसे ही खाली हाथ लौट आते। इस चर्या में पांच मास और पच्चीस दिन पूरे हो गये। छब्बीसवें दिन भगवान् धनावह श्रेष्ठि के घर पहुँचे। वहां एक कुमारी देहली के बीच खड़ी थी। उसके पैरों में बेड़ी थी। सिर मुंडित था। तीन दिन की भूखी थी। उसके पास एक सूप था। उसके कोने में उबले हुए उड़द थे। वह राजपुत्री थी। वर्तमान में वह दासी का जीवन बिता रही थी।

कुमारी ने भगवान् को देखा। उसका चेहरा खिल उठा। दु ख की घटायें विलीन हो गईं। उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा। वह मुदित-स्वर में बोली—'भन्ते मेरे पास और कुछ नहीं है। ये उबले हुए उड़द हैं।' आप अनुग्रह करें। मेरे हाथ से आहार लें। भगवान् को आते देख कुमारी को लगा, वे आहार लेने की मुद्रा में हैं। किन्तु कुछ ही क्षणों में उसकी आशा, निराशा में बदल गयी, भगवान आहार लिए बिना ही मुड़ गये। उसके चेहरे पर उदासी छा गई। आँखों से आँसू बह चले। भगवान् ने सिसकियां सुनी। वे वापस मुड़े। कुमारी के हाथ से उबले हुए उड़द का आहार ले लिया।

□ आचार्य श्री तुलसी

---

२९. दीर्घनिकाय, १.१.२।

३०. तीर्थङ्कर महावीर, भाग २, पृ. ५७-५८।

महावीर के विदेशी समकालीन

□ डा० भगवतशरण उपाध्याय, उज्जैन

ईसा पूर्व छठी सदी, जिसमें तीर्थङ्कर महावीर का जन्म हुआ था (५६६-२७), संसार के इतिहास में असाधारण उथल-पुथल की सदी थी। सारे संसार मे तब चिंतन के क्षेत्र में विद्रोह हो रहा था और नये विचार प्रतिष्ठित किए जा रहे थे, नये दर्शन रचे-परिभाषित किये जा रहे थे। भारत, चीन, ईरान, इस्रायल—सर्वत्र नये विचारो की धुन लगी थी।

भारत मे यह युग उपनिषदों का था, जिन्होने वेदों के बहुदेववाद से विद्रोह कर 'ब्रह्म' की प्रतिष्ठा की, चितन को हिंसात्मक यज्ञों से ऊपर रखा, ब्राह्मणों के प्रभुत्व को तिरस्कृत कर क्षत्रियो को सत्ता दर्शन के क्षेत्र मे स्थापित की। उस काल मे सत्य की खोज मे विचारो का संघर्ष करते अनेक साधु, आचार्य और परिव्राजक अपने-अपने शिष्य-सघ लिए देश मे फिरा करते और तर्क तथा प्रज्ञा से सत्य को परखते। ये प्राय: सभी विचारक-दार्शनिक—कम से कम महावीर और बुद्ध के समकालीन—अनीश्वरवादी अध्यात्मवादी थे। इनमे अग्रणी महावीर और बुद्ध थे जो क्षत्रिय और अभिजात थे और अश्वपति कैकेय, प्रवहण जैवलि, अजात शत्रु काशेय, और जनक विदेह की राज-परम्परा मे विचारों के प्रवर्तक हुए। इन्होंने उपनिषदो के 'ब्रह्म' को भी छोड़ दिया, आत्मा को भी और वैचारिक विद्रोह को आगे बढ़ाया।

महावीर के समसामयिकों, स्वदेशी चितकों में बुद्ध थे, जिनके विचारों का देश-विदेश मे सर्वत्र घना प्रचार हुआ। इनके अतिरिक्त पाँच अन्य दार्शनिको के नाम तत्कालीन साहित्य ने बचा रखे है—ये थे पुराण कश्यप, अजित केश-कम्बलिन्, पकुध कात्यायन, सजय बेलट्ठिपुत्त, और मक्खलि गोसाल। पुराण कश्यप, पाप-पुण्य मे भेद नहीं मानते थे, न उनकी सम्भावना ही स्वीकार करते थे। अजित, जो केशो का कम्बल धारण करते थे, कर्मो के फल, आत्मा, पुनर्जन्म को अस्वीकार करते थे। पकुध भौतिक जगत्, सुख-दुख आदि का रचयिता किसी को नही मानते थे और न ही वध, हत्या, पीड़ा आदि मे कोई दोष मानते थे। संजय संदेहवादी दर्शन के प्रवक्ता थे और मक्खलि आजीवक संप्रदाय के प्रवर्तक थे जो अन्त मे महावीर के शिष्य हो गए थ। इनके अतिरिक्त दो और दार्शनिक उस काल में अपने सघ लिए लोगों को उपदेश दिया करते थे—आलार कालाम और उद्दक (रुद्रक) रामपुत्त। दोनो बुद्ध के गुरु रह चुके थे। इनके आश्रमों मे कुछ काल रह कर बुद्धत्व प्राप्त करने से पहले गौतम ने ज्ञानार्जन किया था, पर वहाँ अपने प्रश्नो के सही उत्तर न पा उनसे विरक्त होकर वे राजगिरि की ओर जा पहाड़ियाँ लांघ गया पहुचे थे और वहा उन्होंने सम्यक् सम्बोधि प्राप्त की थी।

चीन मे उसके इतिहास का क्लासिकल काल—चुन-चिउ का सामन्ती युग—प्राय ७२२ ई० पू० ही जन्म ले चुका था और राजनीति अव सस्कृति की ओर नेतृत्व के लिए देख रही थी। नेतृत्व दर्शन और धर्म ने दिया भी उसे। महावीर के प्राय: जीवन काल में ही, छठी सदी ई० पू० मे, चीन के विशाल देश मे तीन महापुरुष जन्मे-कन्फ्यूशस (ल० ५५१-४७९ ई० पू०), लाओ-त्जू (ल० ५६० ई० पू०) और मो त्ज् (ल० ५००-४२० ई० पू०) लाओ-त्जू तो सम्भवत: ऐतिहासिक व्यक्ति न था पर उसका ऐश्वर्य पर्याप्त फला-फूला। शेष दोनों धार्मिक-दार्शनिक नेता अभिजात कुलो के थे, महावीर और बुद्ध की ही भाँति। कन्फ्यूशस लू राज्य का रहने वाला था और सुंग राजकुल की एक शाखा में जन्मा था। उसके पूर्वज वस्तुत: शाग सम्राटों के वंशज थे जो कालान्तर में लू राज्य मे जा बसे थे। कन्फ्यूशस का दर्शन तत्त्वत: राजनीतिक था। उसका चिन्तन यद्यपि प्रतिक्रियावादी थ

क्योंकि वह अपने समाज को 'डिकेडेन्ट—निम्नगामी—मानता था और अतीत के स्वर्णयुग को लौट जाना चाहता था। उसी दिशा मे उसने प्रयत्न भी किये पर प्रतिक्रियावादी होते हुए भी उसका वैचारिक आंदोलन चल निकला और उसने जनता पर अपने मोह का जादू डाला, ठीक उसी तरह जिस तरह प्रतिक्रियावादी होते हुए भी अवनीन्द्रनाथ टैगोर का अजन्तावादी आंदोलन भारत मे चल गया था और उसका जादू बंगाल पर दीर्घ काल तक छाए रहा था। कन्फ्यूशस ने प्राचीन ग्रंथों का अपने चिन्तन दर्शन के अनुरूप ढालकर उनकी व्याख्या की और आदिम अकृत्रिम जीवन की ओर उसने अपने अनुयायियों को लौट चलने को कहा। आचार उसका परम आराध्य बना। भारत के दार्शनिक, महावीर के साथ-साथ सभी भारतीय चिन्तक, रूढ़ि विरोधी थे, अपनी तर्कसत्ता की लीक पर चलते थे। अनुकरण मौलिक चिन्तन का शत्रु है यह वे जानते थे और अपनी ही खोजी राह पर चलते थे।

मोत्जू कन्फ्यूशस का एकान्त प्रतिगामी था, रूढियों का अप्रतिम शत्रु। वह सगठित समाज को ही अस्वीकार करता था। उसे अनित्य और दु खकर मानता था। महावीर के भारतीय समकालीनो मे मोत्जू अत्यन्त निकट था वह भी अभिजात था, उसका दर्शन भी आभिजात्यसूचक एकान्तिक था। उसका दार्शनिक आदोलन मोहिस्त नाम से फैला।

ताओवाद का प्रवर्तक लाओत्जू भी प्राय. तभी हुआ था। यद्यपि उसकी ऐतिहासिकता मे कुछ लोगों ने अविश्वास किया है। लाओत्जू चाहे ऐतिहासिक व्यक्ति न रहा हो, पर उसके दर्शन की बेल उसी काल लगी, जब केवली महावीर अपने देखे सत्य का भारत मे प्रचार कर रहे थे। ताओवाद पर्याप्त फैला जो वस्तुत. आज तक मर नही पाया। बौद्धधर्म के चीन मे प्रचार के बाद उसका दर्शन नए धर्म का सबल प्रतिद्वन्दी सिद्ध हुआ। अपने सावधि समाज को उसने भी निम्नगामी—डिकेडेन्ट माना और अकृत्रिम सहज जीवन को उसने अपनाया। उसने प्रव्रज्या को सराहा और कभी राजसत्ता का अनुगामी वह नही बना।

महत्त्व की बात है कि कन्फ्यूशस को छोड़ शेष प्रायः सारे चीनी दार्शनिक चिन्तक भारतीय चिन्तकों की ही भांति अस्तेय, अपरिग्रह, अहिंसा का जीवन जी रहे थे और उसका प्रचार कर रहे थे। यही कारण था कि बौद्ध भिक्षुओं का जब चीन मे प्रवेश हुआ, तब वहाँ के श्रद्धालुओं को वह नया बौद्ध धर्म सर्वथा विदेशी नहीं लगा। वस्तुतः इन आदोलनों ने उस धर्म के लिए भूमि तैयार कर दी। कुछ ही काल बाद चीन मे एक विकट घटना घटी। उत्तर-पश्चिम मे सूखा पड़ा, कान्सू के हूण विचल हुए, चरागाहों की खोज में पश्चिम की ओर चले और उनकी टक्करो से यूहची उखड़ गये। यूहचियों ने शकों को और पश्चिम मे ढकेला। शकों ने वक्षु (आमूदरिया की घाटी) से ग्रीकों को भगा दिया। यूहची की पीठ पर ही हूण भी थे जो अपनी बारी (आमूदरिया) मे जा बसे। तभी भारत का अशोक बौद्धधर्म के साधुओ को देशान्तरो मे भेज रहा था। जिसके पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य ने महावीर के धर्म को अपनाया था और जिसके पौत्र, दशरथ और सम्प्रति क्रमशः आजीवक और जैन धर्मों का पालन-प्रचार कर रहे थे। चीन ने देखा तकलाम-कान-तुर्फान-तुनहुआंग की राह भारतीय चीवरधारी भिक्षु उन भारतीय बस्तियो की ओर जानलेवा राह से चले आ रहे थे जो रेशमी व्यापार के महापथ पर बस गई थी और जो उस बौद्ध ऐश्वर्य को भोग रही थी, जिसका अनेकांश महावीर चिन्तन से प्रभावित था।

पश्चिमी एशिया साम्राज्यों की सत्ता से संत्रस्त था। सुमेरियों के ध्वंसावशेष पर बाबुली उठे थे, बाबुलियों के भग्नस्तूपों पर असुरो ने अपने अपूर्व भवनो के स्तम्भ खड़े किए थे और तलवार से अपनी कीर्ति लिखी थी। उनका साम्राज्य अब नष्ट हो रहा था। आर्य मीदियों की उठती हुई सत्ता के अब वे शिकार हो रहे थे। उन्होने असुरों की राजधानी निनेवे को जला डाला था और महावीर के समकालीन ईरानी सम्राट कुरुष ने मिस्र से आरमीनीया तक और सीरिया से सिन्धु तक की भूमि जीत ली थी, जिसकी साम्राज्य सीमा पूरब मे दारा ने सिन्धु नदी लांघ रावी तक बढ़ा ली थी। जब महावीर बासठ वर्ष के हुए तभी ५३७ ई० पूर्व में उधर एक महान घटना घटी—

कुरुष ने बाबुल की सत्ता नष्ट कर दी। यह महा दूरगामी प्रभाव उत्पन्न करने वाली घटना थी, कारण कि इसने उन यहूदी नबियो को बन्धन मुक्त कर दिया, जिन्हे खल्दी सम्राट ने इस्रायल से लाकर कैद में डाल दिया था। बाइबिल की 'पुरानी पोथी' की वह घटना भी तभी घटी थी जिसका उल्लेख हर भाषा का मुहाविरा करता है। सर्वनाश के लिए 'दीवाल का लेख'। बाबुल का राजा बेलशज्जार तब जशन मे मस्त था। दावत चल रही थी। नगी नारियाँ भोजन परस रही थी। किवदन्ती है, एक हाथ निकला और महल की दीवाल पर उसने लिख दिया—तुम तौले जा चुके हो, तुम्हारे दिन समाप्त हो चुके है, तुम्हारा अन्त निकट है—मेने, मेने, तेकेल, उफार्सीन। और कुरुष ने तत्काल हमला कर बाबुल को जीत लिया।

बाबुल जीत तो लिया गया पर बाबुल के पुराने जयी असुरो का देवता 'असुर' ईरानियो के सिर जादू बनकर जा चढ़ा। उसका उल्लेख महान देवता के रूप मे 'आहूर-मज्दा के नाम से जेन्दावेस्ता मे हुआ और उसी देवता के प्रधान पूजक महावीर के प्राय. समकालीन पारसियो के नबी जरथुस्त्र हुए। अग्नि की पूजा के समर्थक, आचार को धर्म मे प्रधान स्थान देने वाले इस धार्मिक ने ईरान की सीमाओ को अपने उपदेशो से गुंजा दिया। जरथुस्त्र का धर्म हो गया, दारा आदि सभी राजाओ ने उसे स्वीकार किया। पर स्वयं उस धर्म के प्रचारक को धर्मार्थ बलि हो जाना पड़ा। अग्नि शिखा के सामने मन्दिर मे वह पूजा कर रहा था। तब असहिष्णु आततायिओ ने उसमे प्रवेश कर महात्मा का वध कर दिया। भारत इस प्रकार की हत्याओ से धर्म और दर्शन के क्षेत्र मे सर्वथा मुक्त था।

ग्रीस युद्धों में व्यस्त था, वहा के पेरिक्लिशयन युग का अभी आरम्भ नही हुआ था। उसके सुकरात और दियोजिनीज, अफलातून और अरस्तू अभी भविष्य के गर्भ मे थे। पर हा, पश्चिमी एशिया के भूमध्य सागरीय पूर्वी अचल में एक ऐसी जाति का जन्म कुछ सदियो से हो गया था जिसके नबियो के समान शक्तिमान् स्वर मे धार्मिक नेता कही और कभी न बोले थे। वह जाति थी यहूदी, फिलिस्तीन की, जूदिया इस्रायल की, इब्राहिम और मूसा की सन्तान। शाब्दिक शक्ति और चुनौती भरी वाणी में, उनका संसार मे कोई साथी नही। उन्हीं में कालान्तर मे ईसा और बतिस्मावादी योहन का जन्म हुआ पर हम बात तो उनकी कह रहे है जिन्होंने खूनी असुर सम्राटो को ललकारा था और निर्भीकता का राजनीति और धर्म के क्षेत्र मे साका चलाया था—वे भी महावीर के समकालीन थे। उनको ही कुरुष ने खल्दी सम्राटो के बन्धन से बाबुल मे मुक्त किया था।

एकेश्वर वाद की कल्पना सबसे पहले यहूदियों ने की, यहवा अथवा जेहोवा की जिसका नाम ऋग्वेद तक में विशेषण के रूप मे इन्द्र, वरुण आदि महान आर्य देवताओं के नामो के साथ जुड़ा मिलता है। यहूदियो, विशेषकर उनके नबियो के अन्य देवता का इस्रायल में पूजा जाना असह्य था। अत्याचारियों को धिक्कारने का कार्य सन्त एलिजा और एलिशा के समय ही आरम्भ हो गया था। इस्रायलो ने महावीर से सौ साल ही पहले शान्ति के पक्ष मे युद्ध के विरोध में पहली आवाज उठाई थी—उन्हें अपनी तलवारो को गला कर हल के फल बनाने पड़ेंगे' और 'एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के विरुद्ध तलवार नही उठा सकेगा।' जैरेमिया ने असुर सम्राट असुर बनिपाल के विध्वसात्मक आक्रमण से अपनी जनता को तो आगाह किया ही था। उस सम्राट को भी उसकी खूनी युद्ध-नीति के लिए धिक्कारा था।

नाहूम के जीवन काल मे ही महावीर जन्मे थे। सर्वहर्ता सर्वनाशी असुर सम्राटो की राजधानी के प्रति, निनेवे के प्रति, उसके विध्वस के पूर्व, नाहूम ने चुनौती और धिक्कार के स्वर मे ललकारा था—'देख और सुन ले, निनेवे, इस्रायल का देवता तेरा दुश्मन है—देख तेरी कारसाजी, तेरे खूनी कारनामे, तुझे नगा करके, हम राष्ट्रों और जातियों को दिखा देंगे। तू चैन की नीद नहीं सो पायेगा, आग की लपटो मे जल मरेगा। तेरे शासक तेरे अभिजात बिखर जाएंगे, दूर दूर पहाड़ी चोटियों पर टुकड़े टुकडे होकर कुचल जाएगे। उन्हे कोई इकट्ठा न कर पावेगा, तेरा कोई नाम-लेवा पुसाहाल न रहेगा! सुनले।" निनेवे नयी उठती हुई आर्यों की शक्ति से नष्ट कर दिया गया।

अहिंसा : प्राचीन से वर्तमान तक

□ श्री जगन्नाथ उपाध्याय, वाराणसी

अहिंसा भारतीय परम्परा मे एक विकसनशील आध्यात्मिक प्रयोग है और वह विभिन्न प्रयोगों के द्वारा ही एक उच्चतम मानसिक गुण तथा नीति-धर्म के रूप मे विकसित हुआ है। अहिंसा का स्वरूप प्रयोगात्मक इस अर्थ में रहा है कि वह अन्य अनेक आध्यात्मिक तत्वों की तरह पूर्व से विश्वास-प्राप्त धर्म नहीं, प्रत्युत उसके पीछे व्यावहारिक परिणतियाँ और साधको के अनुभव दीख पड़ते हैं। इस प्रकार व्यावहारिक अनुभव और मानसिक साधना के द्वारा यह एक अपार्जित तथ्य के रूप में प्रस्तुत है, जो सदा विद्यमान स्थिति में रहा है। इस विकास-क्रम में अहिंसा जब तक अधिक व्यक्तिगत रही है, तब तक उसका व्यवहार क्षेत्र में सामान्य परीक्षण नही हो सकता था किन्तु प्राचीन काल मे ही जैसे-जैसे व्यक्तिगत अनुभवों की व्यावहारिक सिद्धि के रूप में संभावना की जाने लगी, वैसे-वैसे उसके वैज्ञानिक तथ्य के रूप मे विकसित होने की धारणा पुष्ट होती गयी। बीसवी शताब्दी में महात्मा गाँधी ने इस आध्यात्मिक तत्व को व्यावहारिक तथ्य के रूप में लाकर खड़ा कर दिया। उन्होंने इस क्षेत्र मे युगान्तरकारी साहस का परिचय दिया और इसके लिए राजनीति का क्षेत्र चुना, जो व्यावहारिक दृष्टि से बहुत ही विषम और जटिल होता है, जिसके लिए धर्म और इतिहास ने कूटनीति या अनीति को भी ग्राह्य, न्याय्य और क्षम्य माना है। गाँधी जी के महान् प्रयोगों ने इस दिशा की अग्रिम सम्भावनाओं को बहुत ही मुखरित कर दिया है। अब हम इस स्थिति मे है कि अहिंसा के इतिहास का तर्क समस्त वैज्ञानिक अध्ययन कर सकें और इसकी नयी व्यावहारिक सम्भावनाओं पर अपना विचार व्यक्त कर सके।

प्राचीन भारतवर्ष मे अहिंसा के विकास के दो क्षेत्र रहे है—एक व्यक्तिगत साधना का तथा दूसरा व्यावहारिक कल्पना का। व्यक्तिगत साधना के रूप में विकास का एक मात्र श्रेय योग-शास्त्र को है और उसके व्यावहारिक सम्भावनाओ का सुविस्तृत विवेचन बौद्ध जातकों महाभारत, बौद्ध-त्रिपिटकों, जैन कथाओं मे तथा इनके वर्ण्य विषय पर जो पश्चाद्वर्ती साहित्य काव्य, नाटक, पुराणादि लिखे गए है, उनमे ऊहापोह के साथ वर्णित है।

योग की प्रामाणिकता में चार्वाक और मीमांसकों को छोड़ कर किसी भी भारतीय दार्शनिक परम्परा मे विवाद नहीं रहा है। यह स्पष्ट है कि योग मे भी विश्वास-लब्ध तत्वों की भावना के लिए पर्याप्त अवकाश है, इसके आधार पर परमात्मा में मतभेद भी रहा है, किन्तु अहिंसा की स्थिति उनसे भिन्न है। सभी एकमत से अहिंसा की उपयोगिता को स्वीकार करते है। परिभाषा और विश्लेषण में भी प्रायः सभी समान हे। एक तो अहिंसा की गणना बौद्धों के अनुसार शील मे, वैदिकों के अनुसार 'यम' में तथा जैनो के अनुसार 'अणु-व्रतो' मे की गई है,

---

इस्राइल जब अपनी शक्तिम भविष्यवाणी से दिशाए गुंजा रहा था। तब महावीर चालीस साल के थे। उसने अपनी आवाज से अपनी जनता (यहूदियो) को फिर जगाया इसी के समय बाबुली कैद से कुरुष ने, महावीर के जीवन काल में ही नबियों को छुड़ाया, जहाँ वे दशकों वन्दी रहे थे और धार्मिक नेताओं के साथ वह भी इस्रायल लौटा और कुछ ही दिनों बाद सुलेमान (सालोमन) का विध्वंस्त मंदिर फिर जेरुसलम में उठ खड़ा हुआ।

इस्रायली यहूदी नबी बाबुली कैद में कुचले जाते रहे या उन्होंने अपने धार्मिक विश्वासों पर आंच नहीं आने दी, न अपना धर्म छोड़ा, न यहवो के अतिरिक्त दूसरे देवता को स्वीकार किया। उसी कैदखाने मे उन्होंने अपनी धर्म पुस्तक के पांच आधार पेन्तुतुख' लिखे जो बाइबिल मे 'पुरानी पोथी'—ओल्ड टेस्टामेन्ट के नाम से प्रसिद्ध हुए।

□□

अध्यक्ष—प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति-विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म० प्र०)

जो वास्तव में प्रधान रूप मे योग नही, योगाङ्ग है । यह अन्य नैतिक एव व्यावहारिक गुणो—चोरी, असत्य, सुरापान आदि विरतियो—के साथ पठित है। इस प्रकार अहिंसा को अतवर्य तत्व नही माना गया है । यही कारण है कि बहुत प्राचीनकाल मे ही प्रयोग-दृष्टि से अहिंसा के क्षेत्र को बहुत व्यापक समझा जाने लगा । उसे बौद्धो ने 'अप्रमाण' जैनों ने 'महाव्रत' तथा पातञ्जलों ने 'सार्वभौम महाव्रत' की सज्ञा दी है । इस प्रकार प्राचीनकाल मे ही अहिंसा के निरपवाद नियम होने की क्षमता आकलित कर ली गई थी । पतजलि यह स्वीकार करते है कि अहिंसा जाति, देश और काल की सीमाओ से बधी हुई नही है। पुराने यज्ञवादियों ने तथा उनके पोषक मीमासकों ने अहिंसा को सीमित करने का विपुल प्रयास किया है। उसमें उनको आंशिक सफलता भी मिली है। योगियो ने भी लोक-व्यवहार मे विविध विवशताओं के कारण अपने ढंग से अहिंसा की सीमा मानी है, किन्तु धार्मिक आधार पर नही । यहाँ तक कि वैदिक योगियो ने भी अहिंसा के समक्ष हिंसक यज्ञादि की श्रेष्ठता को कभी नही स्वीकार किया । योगियो के प्रभाव से मनु आदि धर्मशास्त्रकारों तक को यज्ञ के एक श्रेष्ठ विकल्प के रूप मे अहिंसा को स्वीकार करना पड़ा । मनु किसी एक देशी आचार्य का मत बताते है कि वे लोग यज्ञशास्त्रवेत्ता है, किन्तु उसका अनुष्ठान न करके सदा विषयो का होम इन्द्रियों मे करते है ।

एतान् एते महायज्ञान् यज्ञशास्त्रविदो जनाः ।
अनीहमाना सतत इन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥

मनु स्वय भी कहते है कि सभी श्रेयस्कर एव अनुशासनपूर्ण कार्य अहिंसा से ही सम्पन्न हो सकते है ।

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।

उक्त तथ्यों के आधार पर अहिंसा की मान्यता के सम्बन्ध में सभी भारतीय विचारकों का जो ऐकमत्य मालूम होता है, वह इतिहास के अनेक घात-प्रतिघातो का समन्वित परिणाम है, जिसे हम परवर्तीकाल मे भारतीय संस्कृति मे प्रतिफलित पाते हैं । किन्तु अहिंसा की मूल समस्या का हम तब तक आवश्यक विश्लेषण और समाधान नही कर पायेंगे, जब तक प्राचीन भारत की उन स्पष्ट दो धाराओ को ध्यान में नहीं रखेंगे, जिन्हें प्रवृत्ति और निवृत्ति अथवा ब्राह्मण और श्रमण अथवा ऋषि-मुनि अथवा हिंसक-अहिंसक नाम से जाना जाता है । इन दो धाराओं में भारतवर्ष का संपूर्ण बाह्य और आन्तर जीवन विभक्त रहा है । संपूर्ण भारतीय इतिहास में इस विभाजन को हम कभी अति स्पष्ट, कभी ईषत् स्पष्ट और कभी अन्तर्लीन पाते है । वर्तमान जीवन भी इस विभाजन से अछूता नहीं है । इन प्रवृत्तियों के विश्लेषण के बिना भारतीय जीवन के अंतरंग को समझना सम्भव नही है और न तो इसके बिना भारतीय समाज को कोई निर्बाध दिशा ही दी जा सकती है । इन विकास धाराओ के समुचित ज्ञान पर ही अहिंसात्मक प्रयोगों का वर्तमान और भविष्य बहुत कुछ निर्भर है । अहिंसा का अन्तर्राष्ट्रीय प्रयोग भी भारतीय परिवेश मे एक भिन्न प्रकार का ही होगा । इस अनिवार्यता का भी हमें ध्यान रखना होगा ।

अहिंसा का तत्वज्ञान और उसका प्रयोग श्रमणधारा की विशेषता है । इसका प्रारम्भ महावीर और बुद्ध से ही नही, प्रत्युत इसके प्रारंभिक सकेत ऋग्वेद, ब्राह्मण-ग्रन्थो मे तथा विभिन्न प्रकार के सांख्य सम्प्रदायों में भी मिलते है । महावीर और बुद्ध ने अपने सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों से इसे ऐसा महत्व प्रदान किया, जिससे इसके अनुरूप एक ओर तत्वज्ञान और आचार का विकास हुआ, दूसरी ओर हिंसा-सम्मत यज्ञयागादि विविध कर्म-काण्डो का विरोध भी खड़ा हुआ । श्रमण शम-प्रधान और निवृत्तिवादी थे । इनका प्रधान कर्त्तव्य था जीवन-शोधक और उद्देश्य था दुःख निवृत्ति या निःश्रेयस् । ब्राह्मणो का उद्देश्य ऐहिक एव आमुष्मिक सुख भोग था । उनका प्रधान कर्त्तव्य था समाज मे ऐसे सुदृढ़ वर्ग बने रहें जिसमे विद्या, रक्षा और धन की किसी प्रकार कमी न हो । निवृत्ति वादियों में समानता नही थी । बुद्ध मे अपने सद्धर्म के विस्तार का अदम्य उत्साह था । वह प्रज्ञा के प्रकाश से ही सम्भव था, अतः उन्होने प्रज्ञा पर विशेष जोर दिया । महावीर ने व्यक्ति की शुद्धि और उसके आचार पर विशेष महत्व दिया । दोनों में सम और

शम, समता और शांति ऐसी समान मान्यताएं थी जिन पर अहिंसा का विकास सम्भव होता। ब्राह्मणो का झुकाव सुख और व्यवस्था की ओर होने से उनका विरोध विषमता, युद्ध या अशान्ति से नही था। अतः अहिंसा की तरफ उनका आकर्षण तब तक नहीं हुआ, जब तक यह संभावना खड़ी नही हो गयी कि अहिंसा भी यथासभव सुख और व्यवस्था का साधन बन सकती है। श्रमण जिस समाज मे रहते थे, वह बड़ा ही विषम और कोलाहलपूर्ण था, उसमे समता और शान्ति मूलक व्यवस्था आवश्यक थी, अतः उनके लिए यह आवश्यक हुआ कि वे व्यक्तिगत अहिंसा का समाजोन्मुख प्रयोग करें। जीवन की इन दोनों धाराओं के कारण शताब्दियों तक हिंसा और अहिंसा के सामर्थ्य-असामर्थ्य तथा धर्म अधर्म के सम्बन्ध में ऊहापोह एवं शास्त्रार्थ होता रहा। यह कार्य विचार और भावना के क्षेत्र में ही नहीं, प्रत्युत सामाजिक और व्यावहारिक क्षेत्र मे भी हुआ।

यद्यपि अहिंसा के विकास की दृष्टि से अब तक भारतीय इतिहास का परिशीलन नहीं किया गया है, तथापि इस प्रकार के अध्ययन की पर्याप्त सामग्री विकीर्ण मिलती है। अति प्राचीनकाल मे जैनो में नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर द्वारा किए प्रयोगों का संग्रह होना चाहिए। कहा जाता है कि यदुवंशी नेमिनाथ के विरोध से विवाहादि उत्सवों मे होने वाले पशुओ का वध और मत्स्य-मांस सुरा आदि से संबन्धित फिजूलखर्ची बन्द हुई थी। काशीराज अश्वपति के कुमार पार्श्वनाथ ने उस समय प्रचलित तपस्याओं द्वारा होने वाली अनेकानेक प्रकार की हिंसाओं का विरोध किया। महावीर स्वामी के कार्यो का साक्ष्य प्राचीन जैनागमों में सुरक्षित ही है।

भगवान् बुद्ध अहिंसात्मक आन्दोलन के प्रवर्तकों मे महानायक है, जिन्होने व्यक्ति, समाज और धर्म के क्षेत्र में प्रचलित हिंसा का एक साथ विरोध किया। उन्होंने अपनी आलोचनाओं से हिंसा के विरोध मे केवल लोकमत ही तैयार नही किया, अपितु हिंसक राजन्यों और ब्राह्मणों के बीच स्वयं उपस्थित होकर हजारों यज्ञीय पशुओं को छोड़वाया और यज्ञयूपों को तुड़वाया। उन्होंने अपने सैकड़ों अनुयायियों को स्वयं अहिंसक आचरण एवं व्यवहार का प्रशिक्षण दिया, जो हिंसक समाज मे पहुंच कर सद्धर्म का प्रयास करें तथा मरणान्त अपनी अहिंसक वृत्ति को न छोड़ें। बुद्ध का कहना था कि दोनों तरफ से डण्डे और भाले चलते हों, उनकी चोट से अंग अंग छिद गया हो, उस पर भी हमारे अनुयायी के मन में दौस (द्वेष) आ जाए तो वह धर्मशासन की रक्षा नही कर सकता। इस परिस्थिति में पड़ा हुआ व्यक्ति हिंसक को यह शिक्षा दे, 'न चेव नो चित विपरिणत भविस्सति न च पापिक वाचं निच्छारेस्साम, हितानुम्मी च विहरिस्साम मेत्तचित्ता, न दोमान्तरा (मज्झि० ककचूपम सुत्त) दो सीमाओ मे स्थित नदी के पानी को लेकर लिच्छवि और वज्जियों के बीच होने वाले सघर्ष को बुद्ध द्वारा बचाने का प्रयास, उनके द्वारा अङ्गुलिमाल जैसे भयंकर डाकुओ के सुधारने का प्रयत्न, अहिंसक प्रयोगों की सफलता का निदर्शन है। ऐसी घटनाओ का वैज्ञानिक अध्ययन करके अहिसा-शक्ति की सभावनाएं समझी जानी चाहिए।

यह जानने की बात है कि बौद्ध तथा जैन धर्मो के अनुयायी गणतन्त्रो और राजाओं द्वारा समाजसुधार और धर्मप्रचार का कौन सा अहिंसक मार्ग अपनाया गया था, जिससे कहीं भी विपक्षियों के खून का एक कतरा भी नहीं गिरा और शताब्दियों शताब्दियो तक प्रजा पर श्रमण विचारो का प्रभाव छाया रहा। देश में ही नहीं, सुदूर विदेशों तक सैकड़ों और हजारो की संख्या मे निहत्थे भिक्षु पहुच कर धर्म का साम्राज्य स्थापित कर सके थे। उसके पीछे एक ऐसी अदम्य शक्तियों का संकेत है, जो हजारो कुर्बानियों के बाद भी उसकी प्रेरणा से धर्म दूत आगे बढ़ते गये। हमें एशिया के विभिन्न देशों के ऐतिहासिक साक्ष्यो के आधार पर उस कार्य-विधि का अध्ययन करना होगा। अवश्य ही उससे विभिन्न प्रकार के अहिंसात्मक प्रयोग सामने आयेंगे। अपने देश में ही अशोक और उनके पुत्र एवं पौत्र, कलिंगराज, खारवेल, गुर्जर प्रतिहार सिद्धराज, कुमारपाल, धर्मपाल आदि ऐसे दर्जनों ऐतिहासिक राजाओं के नाम हैं, जिनकी शासन-विधि के

आधार पर हम ऐसे निष्कर्ष निकाल सकते हैं, जो अहिंसा के विकास में महत्वपूर्ण साबित होंगे।

अहिंसा के सम्बन्ध में किसी निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए श्रमण ब्राह्मणों द्वारा अहिंसा या हिंसा की श्रेष्ठता और उपयोगिता सिद्ध करने के लिए काव्य, कथा, पुराणों और जातकों में लिखित ऐतिहासिक, अर्ध ऐतिहासिक या अनैतिहासिक घटनाओं के संयोजन करने का जो भावात्मक एवं कलात्मक प्रयास किया गया है, उससे भारतीय संस्कृति के हिंसा-अहिंसा—प्रधान पक्षों पर महत्वपूर्ण आलोक पड़ता है। उससे दोनों पक्षों की समन्वयात्मक प्रवृत्ति का भी अध्ययन होता है। इसमें महाभारत के अनेकानेक स्थल जैसे श्रीमद्भगवत् गीता आदि, अश्वघोष, कालिदास के काव्य-नाटक, आर्य शूर, सुबन्धु, वाण के काव्य सहायक होंगे। इसी प्रकार प्राकृत काव्य और अन्य जैन ग्रन्थों में पउम चरिय, रयणचूडरायचरिय, निशीथ चूर्णि, उपदेशमाला, कथाकोश आदि, इस प्रकार के अध्ययन में उपयोगी है। उदाहरण स्वरूप व्याघ्री जातक के आदर्श को लें-बोधिसत्व ने दूर से भूख से तड़फड़ाती व्याघ्री को तत्काल प्रसव से पैदा हुए अपने ही बच्चों को खाते जाते हुए देख, अपने अनुगामी शिष्य को दूसरे मार्ग चल कर आगे प्रतीक्षा करने के लिए भेज कर बोधिसत्व स्वय अपने को ही समर्पित कर व्याघ्री के बच्चों को और अपने शिष्य को बचा लेते है। ढूंढते हुए शिष्य ने अन्त मे गुरु की कुछ हड्डियाँ ही प्राप्त की। इस अहिंसक आदर्श के जवाब मे कालिदास ने रघुवश मे गुरु की गाय नन्दिनी को बचाने के लिए व्याघ्र के समक्ष अपने को समर्पित न करके क्षत्रिय धर्म के अनुसार दिलीप ने बाण खीचा, किन्तु तरकस से हाथ सट जाने के कारण स्वयं अपने को ही अर्पित कर देना चाहा। इस घटना की पूरी संरचना, और वहाँ के कथोपकथन से क्षात्र धर्म की श्रेष्ठता और हिंसा की कथंचित उपयोगिता स्पष्ट की जाती है। अश्वघोष और कालिदास के सभी काव्य इस दृष्टि से वाद-प्रतिवाद के समान है। महाभारत भी इस दृष्टि से बहुत ही सम्पन्न है। गीता के अति प्रसिद्ध प्रसंग को ही लें, अर्जुन द्वारा प्रारम्भ में जिस उत्कृष्ट कोटि की त्यागपूर्ण अहिंसा-वृत्ति का उल्लेख कराया गया है और उसके जवाब में पूरी गीता द्वारा अहिंसा के गुण अनासक्ति से समन्वित क्षात्रधर्म और हिंसा को श्रेष्ठ रूप में खड़ा किया गया। इस प्रकार के प्रसंगों के सूक्ष्म अध्ययन से हम केवल अपनी संस्कृति को ही नहीं पहचानेंगे, अपितु उससे हम हिंसा अहिंसा के मूलभूत प्रश्नों को लेकर आधुनिक सन्दर्भ में भी सोचने में सहायता ले लेंगे।

भारतीय जीवन में अहिंसा के सम्बन्ध में हजारों वर्षों से अन्तः शोध तथा व्यावहारिक प्रयोग चल रहे हैं, किन्तु अभी तक वे अपनी प्रयोगावस्था मे ही हैं। किसी प्रयोग को दर्शन की कोटि में लाने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न प्रयोगों और मान्यताओं के आधार पर विचार प्रतिफलित हों, अथवा वे विचार प्रयोगों से समर्थित एव परीक्षित हो। भारतवर्ष ने इस विषय मे जो प्रभूत अनुभव प्राप्त किए है, किसी निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए उनका उपयोग होना चाहिए। इसी दृष्टि से कुछ ऐतिहासिक और सास्कृतिक तथ्यों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया। किन्तु यह सब अहिंसा का बहिरंग स्वरूप है। उसका अन्तरग उसके अपने अन्दर का ही संगत विकास है, जो विशेष रूप से मानसिक साधना का क्षेत्र है। इस अन्तरग विवेचन से यह देखा जा सकता है कि प्राचीन भारत के मनीषी उनकी चारित्रिक उत्क्रान्ति अहिंसा के विकास की किस मंजिल तक पहुंची थी, आगे चलकर महात्मा गांधी के युगान्तरकारी प्रयासों से उसमें क्या प्रगति हुई। इससे हम अहिंसा के भविष्य की संभावनाएं पूरी तरह से ज्ञात भी कर सकते हैं।

□□

अध्यक्ष—पालि एवं बौद्ध-दर्शन विभाग,
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी-२

भारतीय संस्कृति को जैनकला का योग-दान

□ श्री नीरज जैन, एम. ए., सतना (म० प्र०)

भारतीय संस्कृति का विकास अपनी जिस लम्बी यात्रा को पार करके अपने वर्तमान तक पहुंचा है, उस यात्रा की कथा बड़ी रोचक है। संस्कृति के सन्दर्भ में भारतवर्ष को हम एक बड़े भारी उपवन की तरह समझ सकते हैं। उपवन की शोभावृद्धि में हर पौधे का, प्रत्येक लता का और यहां तक कि धरती की दूब का भी महत्वपूर्ण योग होता है। दूब, लता, पौधे और वृक्ष अपने आप में उपवन नहीं कहे जा सकते, किन्तु इनका समूह सहज ही उपवन का नाम पा जाता है और उसकी शोभा सुषमा का भागीदार बन जाता है। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति के विकास में कला की जिन विधाओं का और कला के जिन प्रकारों का योगदान है, वे सब उसकी महानता के भागीदार हैं।

भारतीय संस्कृति के विकास की इस प्रक्रिया में जैनों का बहुमुखी योगदान रहा है; चाहे वह साहित्य का क्षेत्र रहा हो, चाहे ललित कलाओं की किसी भी विधा का क्षेत्र रहा हो। आदिम युग की भित्ति-चित्रकला से लेकर परवर्ती काल के पाण्डुलिपि-चित्र-फलकों तक तथा ई० पू० के स्तूपीय वास्तु शिल्प से लेकर, शिलोत्कीर्ण गुफा मन्दिरों की दुर्गम राह से होते हुए परवर्तीकाल के गगनचुम्बी, शिखर शोभित अलंकृत मंदिरों तक और शुगकालीन आयागपट्ट की प्रतीक प्रतिमाओं से लेकर कुण्डलपुर के बड़े बाबा और श्रवणबेलगोल के गोम्मतेश्वर तक भारतीय कला के विकास में सर्वत्र जैन कलाकार अपना महत्वपूर्ण योगदान बड़ी सक्षमता के साथ अर्पित करता दिखाई देता है।

इस छोटे से लेख में हम भारतीय संस्कृति को जैन मूर्तिकला और पुरातत्त्व के योगदान का ही एक संक्षिप्त लेखा-जोखा प्रस्तुत करेंगे।

हमारे देश में मूर्तिकला के अवशेष तथा प्रमाण आज से सवा दो हजार वर्ष पूर्व—तीसरी शती ई० पू० से मिलना प्रारम्भ होते हैं। इसी समय से ही हमें जैन स्थापत्य तथा मूर्तियां बड़ी संख्या में प्राप्त होती हैं। अवशेषों से यहां हम तीन हजार वर्ष ईसा पूर्व के हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो के अवशेषों की गणना नहीं कर रहे क्योंकि अभी तक उस कला का न तो पूर्वापर सम्बन्ध जोड़ा जा सका है और न उस काल की लिपि ही पढ़ी जा सकी है। तो भी, सैन्धव सभ्यता के अवशेषों में हमें पशुओं में एक विशाल स्कन्ध युक्त वृषभ तथा एक जटाधारी योगी का अंकन—वहां प्राप्त हुए हैं। वृषभ तथा जटाजूट के कारण हम योगी की प्रतिमा को प्रथम जैन तीर्थंकर मान सकते हैं। यहां से प्राप्त अवशेषों में एक धड़ भी है जो खड्गासन है तथा स्पष्ट ही जैन-मूर्ति से मिलता-जुलता है।

वर्त्तमान प्रमाणों के आधार पर यदि हम तीसरी शती ई० पू० के काल को भारतीय मूर्तिकला के उद्भव का प्रारम्भ मानें तो हमे ज्ञात होता है कि प्रारम्भ से ही भारतीय मूर्तिकला के उद्भव और विकास की इस यात्रा में जैन कलाकारों का योगदान उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण रहा है। भारतीय मूर्तिकला की कोई ऐसी परम्परा या विधा नहीं है, जिसका सम्पूर्ण और सही प्रतिनिधित्व जैन कलावशेषों में प्राप्त न होता हो। यह बात केवल विविधता पर ही नहीं, बहुलता पर भी लागू होती है। उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक प्रायः समस्त देश में प्रत्येक काल का प्रतिनिधित्व करने वाले जैन शिल्पावशेष इतनी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते है कि उनके माध्यम से भारतीय मूर्तिकला का सर्वांगीण अध्ययन किया जा सकता है। नागरी लिपि के क्रमिक विकास का अध्ययन किया जा सकता है; गुर्वावली तथा गच्छ और गण परम्परा में अनेक नये नाम जोड़े जा सकते हैं और जैन कथा साहित्य के कतिपय सर्वथा नवीन आख्यानों का उद्घाटन किया

जा सकता है। यह बात अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी कि 'पत्थरों से सिर टकराकर' इन उपलब्धियों की प्राप्ति के लिए जो अध्यवसाय और श्रम किया जाना चाहिए, उसका शतांश भी अभी नहीं किया गया है।

यही स्थिति अप्रकाशित जैन साहित्य तथा अप्रसिद्ध जैन चित्रकला की भी है। साहित्य में तो मेरी गति नहीं है पर इतना मैं कह सकता हूं कि 'सितन्नवासल्ल' के जैन मंदिरों की अनुपम चित्रकारी, एलौरा की जैन गुफा, इन्द्र-सभा की विस्मृतप्राय चित्रसम्प्रदा और 'जिन कांची' आदि अनेक स्थानों की जैन चित्रकला जब प्रकाश में लाई जाएगी तब भारतीय चित्रकला का इतिहास नये सिरे से लिखने की आवश्यकता पड़ेगी।

मौर्य एवं शुंगकाल

भारत पर सिकन्दर महान् के आक्रमण (३२६ ई० पू०) के उपरान्त उत्तर भारत मे प्रसिद्ध मौर्य साम्राज्य स्थापित हुआ। इस साम्राज्य का सबसे प्रतापी सम्राट अशोक हुआ। अशोक यद्यपि बौद्ध धर्मानुयायी था परन्तु जीवन के अन्तिम समय मे उसके द्वारा जैन धर्म अंगीकार कर लिए जाने के उल्लेख जैन साहित्य मे मिलते हैं। जैनधर्म, साहित्य और कला को अशोक का संरक्षण प्राप्त होने का भी उल्लेख आता है। अशोक के पौत्र सम्प्रति ने तो न केवल जैनधर्न धारण किया वरन् देश भर में तथा देश के बाहर अफगानिस्तान तक उसका प्रचार भी किया। बिहार में जो इतिहास प्रसिद्ध जैन राजा हुए, उनमें श्रेणिक (बिम्बिसार), अजातशत्रु, चेटक, जितशत्रु, नन्द-वर्द्धन, चन्द्रगुप्त और सम्प्रति के नाम उल्लेखनीय है।

यद्यपि इस काल मे बौद्धमठ, विहार, स्तूप और स्तम्भ ही अधिकतर निर्मित किये गए तथा जैन और शैव निर्माण बहुत ही अल्प हुए, फिर भी इस काल के कुछ बहुत शानदार अवशेष खण्डगिरि उदयगिरि की गुफाओं मे, बिहार में पटना के आस-पास तथा मथुरा से प्राप्त हुए हैं। खण्डगिरि उदयगिरि की जैन गुफाओं का निर्माता सम्राट खारवेल अशोक की ही तरह महान् प्रतापी धार्मिक और यशस्वी सम्राट था। हाथीगुम्फा शिलालेख के अनुसार, खारवेल ने अपने शासनकाल के बारहवें वर्ष में मगध पर आक्रमण करके विजय प्राप्त की और भग-वान् जिनेन्द्र की वह प्रसिद्ध प्रतिमा पुन: प्राप्त की जिसे कभी राजा नन्द उठाकर लाया था और जो 'कलिंग जिन, नाम से प्रसिद्ध थी। इस प्रकार ईसा से बहुत पहले जैन मूर्तियो का न केवल अस्तित्व सिद्ध होता है बल्कि उनकी लोकप्रसिद्धि भी सिद्ध होती है।

जैन कलाकार इस काल में अपने आराध्य तीर्थंकरों की एक से एक मनोज्ञ और सुन्दर मूर्तियां बनाने लगे थे। यद्यपि वैदिक पीठ और तोरण पूजा के माध्यमों का अंकन मथुरा के जैन स्तूपों में भी मिला है परन्तु तात्कालिक तीर्थंकर प्रतिमाओ की भी वहां कमी नही है। मथुरा में तो जैन तीर्थंकर प्रतिमाओं के निर्माण की यह शृंखला उत्तरोत्तर विकसित होती हुई, गुप्तकाल में हमें अद्भुत रूप में दिखाई देती है। देश के अनेक भागों में, दूर-दूर तक, मथुरा के स्थानीय लाल बलुवा पत्थर से मथुरा में ही बनी हुई प्रतिमाएं इतनी अधिक मात्रा में प्राप्त हुई है जिनसे लगता है कि या तो इन प्रतिमाओं का निर्माण किसी बृहद और सुनियोजित धार्मिक अनुष्ठान अभियान अन्तर्गत हुआ होगा या फिर मथुरा में व्यापारिक दृष्टिकोण से ये मूर्तियां बनाकर देश-देशान्तर को भेजी जाती थी। शुंगकाल में मथुरा मे जिस अद्भुत शिल्प का निर्माण हुआ, उसमें जैन आयागपट्ट तथा कतिपय जैन तीर्थंकर मूर्तियां उस काल की समूची निर्मिति अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। आयागपट्ट के मध्य में तीर्थंकर का अंकन करके चारों ओर स्वस्तिक, नंद्यावर्त, धर्मचक्र, मीनयुगल, स्वस्तिक, कलश तथा अनेक प्रकार के लता वृक्षों का जो मनोहारी संयोजन मथुरा के कलाकार ने किया है अथवा उसकी कुशल और प्रवण छेनी से तीर्थंकर मूर्तियों पर देवत्व और वीतरागता के जो भाव अवतरित हुए हैं, उससे वहां के कलाकार के सौन्दर्य-बोध और भावांकन की क्षमता का प्रमाण मिलता है।

लगभग उसी काल में निर्मित खण्डगिरि-उदयगिरि की गुफाओं मे भी तात्कालिक विकसित और एक सर्वथा सुनियोजित जैन मूर्तिकला के दर्शन होते हैं। वहा 'कलिंग जिन' की पुनःस्थापना का महोत्सव मनाते हुए सम्राट खार-वेल और उनकी राजमहिषी का उल्लासपूर्ण अंकन तो

दर्शनीय ही बन पड़ा है। उसके अतिरिक्त पूजन की सामग्री लेकर जाते हुए राजपुरुषों तथा क्रीड़ारत बालकों आदि का अंकन भी हुआ है। तीर्थंकर प्रतिमाओ के परिवार में शासनदेवियों का आयुध, वाहन आदि के साथ बनाया जाना भी खण्डगिरि की अपनी विशेषता है। पुरातत्त्व में शासनदेवियों का प्राचीनतम अस्तित्व संभवतः यहीं प्राप्त होता है। इस स्थान की सामग्री की शोध कराकर उसे प्रकाश में लाने की बड़ी आवश्यकता है। इस दिशा में स्व० बाबू छोटेलाल जी का कार्य अधूरा पड़ा हुआ है जिसे आगे बढ़ाया जाना चाहिए। लोहानीपुर (पटना) से प्राप्त कतिपय तीर्थंकर प्रतिमाएं भी जो पटना संग्रहालय में संग्रहीत है, इस काल का अच्छा प्रतिनिधित्व करती है।

गुप्तकालीन मूर्तिकला :

कला और संस्कृति के विकास में गुप्तकाल (चौथी, पांचवी और छठवी शती ई०) को इस देश का स्वर्णकाल कहा जाता है। स्थापत्य, शिल्प, चित्रांकन और साहित्य रचना का जो कार्य इस काल में हुआ, वह उसके बाद उतनी विशिष्ट कलात्मक और मौलिक शैली में फिर कभी नहीं हो सका।

इस काल में भी कला के किसी भी शाखा के विकास और निर्माण में जैनों का योगदान कम नही रहा। चित्रांकन तथा साहित्य-सृजन के अलावा शिल्प के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है। इस काल में जैन धर्म की स्थिति, देश में प्रायः हर जगह अच्छी थी। जगह-जगह नागर शैली के ऊंचे-ऊंचे शिखरबंद मंदिरों का निर्माण हुआ। इन मंदिरों के शिखर नीचे की ओर से उत्तरोत्तर संकीर्ण होते हुए ऊपर जाकर एक मंगलकलश के रूप में परिवर्तित हो जाते थे। जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ की तपस्या भूमि और निर्वाण स्थली कैलाश थी। अतः ये शिखर उसी की अनुकृति के रूप में निर्मित किए जाते थे। नागवंशियों द्वारा अपनी राज्य-सीमा के प्रतीकरूप में नागर शैली के मंदिरों के प्रवेश-द्वार पर गंगा और यमुना का अंकन प्रारम्भ किया गया था। राज्यचिह्न होने के कारण जैनों ने इस पद्धति को भी अपनाया।

भूमरा और नचना के शिव तथा पार्वती मंदिर पूर्व-गुप्तकाल के अच्छे उदाहरण माने जाते हैं। इन्हीं मंदिरों के पार्श्व में, उसी काल मे सीरा पहाड़ की जैन गुफाओं तथा उनमें स्थित मनोहर तीर्थंकर प्रतिमाओं का निर्माण हुआ तथा सिद्धनाथ की जटाजूट युक्त सुन्दर जैन मूर्तियां अस्तित्व मे आयीं। सीरा पहाड़ की मूर्तियो के इन्द्र और विद्याधर युगल अपनी सुन्दरता और सुघड़ता के कारण गुप्तकाल के उत्तम प्रतिनिधि हैं, तथा वहां से प्राप्त भगवान् पारसनाथ की सप्तफणावलि युक्त उत्थित पद्मासन प्रतिमा—जो अब रामन (सतना) के तुलसी संग्रहालय मे स्थित है—उस काल की प्राणवान् कला का एक श्रेष्ठ उदाहरण है।

उत्तर तथा मध्यभारत में गुप्तकाल के अवशेषों में देवगढ, राजघाट, वाराणसी, मन्दसौर और पवाया आदि अनेकों स्थानों से प्राप्त सामग्री की गणना की जाती है। देवगढ में यद्यपि मध्ययुग का शिल्प ही अधिक है तथापि वहाँ की कतिपय मूर्तियां और एक दो मन्दिर निश्चित ही गुप्तकाल की रचना हैं। ये मूर्तियाँ सज्जा की विविधता तथा कला के अंकन में गुप्तकालीन कला के मान की रक्षा करती हैं। राजघाट से प्राप्त धरणेन्द्र-पद्मावती सहित पारसनाथ प्रतिमा भी कला की दृष्टि से उत्कृष्ट मानी गयी है। यह मूर्ति भारत कला भवन, वाराणसी में संगृहीत है।

दक्षिण का योगदान :

विख्यात पुरातत्त्वज्ञ श्री टी० एन० रामचन्द्रन के मतानुसार 'दक्षिण में जैनधर्म के प्रचार-प्रसार का इतिहास द्रविड़ों को आर्य सभ्यता का पाठ पढ़ाने का ही इतिहास है।' इस अभियान का प्रारम्भ तीसरी शती ई० पू० में आचार्य भद्रबाहु की दक्षिण यात्रा से हुआ। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य इस यात्रा में साथ रहा और उसी समय से जैनकला और साहित्य की गतिविधिया दक्षिण में परिलक्षित होती हैं।

आचार्य भद्रबाहु के उपरान्त कालकाचार्य और विशाखाचार्य द्वारा भी दक्षिण की यात्रा की गयी। पैठन के राजदरबार में कालकाचार्य की बड़ी मान्यता थी। वह

पैठन प्रतिष्ठान के नाम से प्रसिद्ध था और यहीं चतुर्थकाल में तीर्थङ्कर मुनि सुव्रतनाथ की प्रतिमा स्थापित किये जाने का उल्लेख पद्मपुराण में है। पैठन के सातवाहन राजाओं द्वारा निर्मित दूसरी शती ई० पू० का स्थापत्य उपलब्ध है। छठवीं शती ई० में कवि रविकीर्ति द्वारा ऐहोल मे विशाल जैन मन्दिर का निर्माण हुआ। चालुक्यों के राज्यकाल में इसी समय ऐहोल तथा बदामी में अन्य अनेक मन्दिरों, मूर्तियों तथा गुहामन्दिरों का निर्माण हुआ। ऐहोल मे रविकीर्ति के शिलालेख में इस राज्याश्रय का उल्लेख है। यहाँ की विशाल अम्बिका मूर्ति भी कला की दृष्टि से उल्लेखनीय है।

कर्नाटक मे जैनकाल के लिए स्वर्णयुग का प्रारम्भ गंगवंश के राज्यकाल से हुआ। कहा जाता है कि इस राजवंश की स्थापना में जैनाचार्य सिंहनन्दि का बड़ा हाथ था और वंश के प्रथम राजा को उनका परामर्श भी प्राप्त था। इसी राजवंश का तीसरा राजा दुर्विनीत (६०५-५० ई०) हुआ जो आचार्य पूज्यपाद का बड़ा भक्त था। दुर्विनीत के पुत्र मश्कर ने तो जैनधर्म को राज्यधर्म ही घोषित कर दिया।

इसी वंश मे राजल्ल प्रथम (८१७-२८ ई०) हुआ जिसने अरकाट जिले मे वल्ली मलई ग्राम मे एक विशाल जैन गुफा और कुछेक मन्दिरों का निर्माण कराया। इस राजवंश के दीर्घ शासनकाल मे दक्षिण में अनेक जगह समय-समय पर जो मूर्तियाँ, मन्दिर और गुफायें निर्मित हुई, वे दक्षिण भारत मे जैनकला के एक सुनियोजित और क्रमिक विकास की साक्षी है। यह राजवश जैनधर्म के प्रति इतना आस्थावान तथा श्रद्धालु था कि इसके एक प्रतापी राजा मारसिंह तृतीय (९६१-७४ ई०) द्वारा अन्त में सल्लेखना मरण अगीकार करने का उल्लेख मिलता है। इसी मारसिंह के स्वनामधन्य सेनापति श्री चामुण्डराय हुए जिनके द्वारा श्रवणबेलगोल की अद्भुत गोम्मटेश्वर प्रतिमा का निर्माण हुआ।

दशवीं शती ई० के अन्तिम चरण में निर्मित भगवान् बाहुबली की यह विशाल एवं सौम्य प्रतिमा ५७ फीट ऊंची है। इस मूर्ति में केवल आकार में ही ऊंचाई नहीं है वरन् शरीर-सौष्ठव, अनुपात, कला और भाव-प्रवणता की ऊंचाइयां भी जितनी इस मूर्ति ने पाई है, उतनी अन्यत्र देखने में नही आती। अपनी उसी महानता और विशिष्टता के कारण यह प्रतिमा संसार के आश्चर्यों में गिनी जाती है तथा भारतीय मूर्तिकला में जैन कलाकारों का यह संभवतः सबसे निराला, बहुमूल्य और महत्त्वपूर्ण योगदान है।

कतिपय विशाल-प्रतिमाएं :

बाहुबलि की खड्गासन मूर्तियों की स्थापना दक्षिण भारत की अपनी विशेषता रही है। ऐहोल और बादामी की गुफाओं तथा मन्दिरों में छठवी शती में निर्मित बाहुबलि की अनेक सुन्दर मूर्तियां उपलब्ध हैं। आठवीं, नौवीं और दसवी शती में एलोरा की जैन गुफाओं का निर्माण हुआ जो जैनकला का एक अद्वितीय उदाहरण है। यहाँ भी बाहुबलि की स्थापना की यह परम्परा वर्तमान रही है जिसके प्रमाण में हम कारकल की ४२ फुट ऊंची तथा बेलूर की ३५ फुट की उन प्रतिमाओं को ले सकते हैं जिनका निर्माण क्रमशः १४३२ और १६०४ ई० में हुआ।

उत्तर भारत में बाहुबलि की स्थापना प्राचीनकाल में प्रायः नहीं हुई। खजुराहो, देवगढ़, बिलहरी, तेवर आदि में जहां उनका अंकन हुआ भी, वहां प्रायः छोटी-छोटी मूर्तियां बनाकर ही सन्तोष कर लिया गया, परन्तु प्रायः इन सभी स्थानों पर सोलहवें तीर्थङ्कर शान्तिनाथ की मूर्ति अथवा तीनों चक्रवर्ती तीर्थङ्करों—शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ—की एकत्र प्रतिमायें एक से एक बढ़कर विशाल और सुन्दर बनायी गयी। उन मूर्तियों के सन्दर्भ में अहार, देवगढ़, खजुराहो, बानपुर, बजरंगगढ़, ऊन, ग्वालियर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें आहार क्षेत्र पर १२३५ ई० में स्थापित १४ फुट ऊंची भगवान् शान्तिनाथ की चमकदार पालिश से युक्त प्रतिमा सर्वाधिक सुन्दर और आकर्षक है। इसे 'उत्तर भारत का गोमटेश्वर' कह सकते है।

विशाल प्रतिमाओं का यह वर्णन तब तक पूरा नहीं कहा जा सकता जब तक इसमें कुण्डलपुर (दमोह, म० प्र०) की विशाल पद्मासन प्रतिमा का उल्लेख न कर दिया जाय। भव्य आसन और सौम्यरूप में विराजमान

१४ फुट ऊंची यह मूर्ति जटाजूट युक्त भगवान आदिनाथ की है। सिंहासनस्थ यक्ष गोमुख और चक्रेश्वरी भी इसी की साक्षी है पर तीन सौ वर्ष पूर्व इस मन्दिर के जीर्णोद्वार के समय, सिंहासन के सिंह युगल से प्रभावित होकर एक तत्कालीन शिलालेख में इसे महावीर की प्रतिमा मान लिया गया। तब से यह मूर्ति महावीर रूप में ही पूजी जा रही है। वैसे तो देश में अनेक स्थानों पर इससे भी विशाल पद्मासन प्रतिमायें है परन्तु कला का जो सबल और अविस्मरणीय प्रभाव तथा वीतरागता की जो अपूर्व अनुभूति इस प्रतिमा से होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ ही है। इसका निर्माण पूर्व मध्यकाल में हुआ।

मध्यकाल—आज देश में जितने भी शिल्पावशेष उपलब्ध होते हैं, उनमें से अधिकांश का निर्माण मध्यकाल में ही हुआ। देश के इतिहास में यह समय एक सर्वव्यापी धार्मिक चेतना का काल था और इस काल में प्रायः समूचे देश में जो धार्मिक अनुष्ठान, मन्दिर निर्माण और प्रतिमा-प्रतिष्ठायें हुई, उनके खण्डित साक्ष्य आज हमारे चारों ओर बिखरे पड़े हैं। केवल बौद्धधर्म को छोड़कर इस काल में शैव, वैष्णव, शाक्त और जैन मतावलम्बियों द्वारा अपने-अपने आराध्य देवताओं की प्रचुरतापूर्वक स्थापना की गई। बड़े-बड़े मन्दिर ही नही बल्कि अगणित मन्दिरो के समूह और नगर भी निर्मित हुए। देवगढ़, खजुराहो, तिरूपरुत्ति-कुनरम, हलेबीड, आबू, कोर्णाक, एलोरा, मूडबद्री, चित्तौड़ आदि ऐसे ही स्थान हैं। इस काल मे कला के विकास और प्रचार-प्रसार के इस दौर मे जैनो का योगदान कम नहीं है। एलौरा की इन्द्रसभा नामक जैन गुफा की दो मंजिला बनावट, उसमें पारसनाथ, बाहुबलि, इन्द्र और अम्बिका की सविशेष प्रतिमायें तथा उसकी योजनाबद्ध सज्जा सहज विस्मरणीय नहीं है। देवगढ़ में तो मध्यकाल की जैनकला की सम्पत्ति का जो कोष भरा पड़ा है, उसकी खोज खबर लेने में भी अभी एक युग लगेगा। यहाँ धरणेन्द्र-पद्मावती के सैकड़ों युगल मूर्तिखण्ड तथा अम्बिका के विविध रूपों की अनेक मूर्तियाँ और प्रायः सभी शासन देवियों की एक से एक बढ़कर सुन्दर स्वतन्त्र मूर्तियाँ जैनकला की उत्कृष्टता, सौन्दर्य-बोध और सूक्ष्मतर कल्पना-शक्ति का परिचय देती आज भी यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं।

खजुराहो में जैन कलाकार के महत्त्वपूर्ण योगदान का मूल्यांकन करना अधिक आसान है क्योकि वहाँ एक ही केन्द्र में शैव, वैष्णव और शाक्त मन्दिरों के समूह भी पाये गये हैं। इनमें विशालता की दृष्टि से कन्दर्प महादेव का मन्दिर सबसे बड़ा है परन्तु जैन समूह का पार्श्वनाथ मन्दिर खजुराहो के मन्दिरों में अपनी विशेषता रखता है। बाह्य भित्तियों पर निर्मित अप्सरा और यक्षिणी मूर्तियों में उस मन्दिर ने खजुराहो में अद्वितीय ख्याति पायी है। इन मूर्तियों का आकार समूचे खजुराहो के किसी भी मन्दिर की मूर्तियों के आकार से बड़ा है। हास्य, लास्य, नृत्य, शृंगार, युद्ध, राग-रंग, क्रीड़ा तथा शोक, अबाल, क्षुधा आदि के साथ भजन, पूजन, अर्चना, स्तुति, शास्त्रार्थ, प्रवचन आदि के नाना अभिप्रायों के माध्यम से खजुराहो के मूर्ति कलाकार ने कलाकार की भावना को इस मन्दिर की भित्तियों पर बड़ी सफलता-पूर्वक व्यंजित किया है। शास्त्रीय दृष्टि से देखें तो दिक्-पाल, द्वारपाल, गंगा-यमुना, अष्ट मातृकायें, नवगृह, सोलह विद्यादेवियाँ, चौबीस शासन-देवियाँ और अनगिनत यक्ष-यक्षियाँ खजुराहो के इन पारसनाथ और आदिनाथ मंदिरों में अंकित है। पारसनाथ मन्दिर की तीन-चार अप्सरा प्रतिमायें तो अनेक देशी-विदेशी विद्वानों की सम्मति में समूचे खजुराहो की अद्वितीय अनुपम और अनमोल निधि है।

शान्तिनाथ मन्दिर में मूलनायक की १४ फुट ऊंची प्रतिमा के अतिरिक्त धरणेन्द्र-पद्मावती की सर्व सुन्दर युगल मूर्ति तथा सत्ताइस नक्षत्रों का शिलांकन उल्लेखनीय है। घंटाई मन्दिर भी अपनी बारीक कलाकारी के लिए प्रसिद्ध है।

तिरुपरुत्तिकुनरम् में भी शिवकांची, विष्णुकांची और जिनकांची का एकत्र वैभव देखकर हम जैनकला का महत्त्व सहज ही आंक लेते हैं। आबू के सगमरमर निर्मित जैन मन्दिर तो अपनी विलक्षणताओं के कारण बहुश्रुत हैं। संगमरमर की सूक्ष्म से सूक्ष्म कटाई और रंग-बिरंगी पच्चीकारी तथा बड़े-बड़े खम्भों के आधार पर विशाल सभाकक्ष आबू की विशेषता है। छतों, मेहराबों और तोरणों की सयोजना में तो वहाँ के कलाकार की

छैनी और अधिक सन्तुलित और अधिक चमत्कार पूर्ण हो उठी है। बड़े महत्त्व की बात यह है कि कला के इन सभी आडम्बरों के मध्य भी वीतराग जिनेन्द्र की सादगी-पूर्ण सौम्य मुद्रा के अवतरण में भी आबू के कलाकार को बराबर की सफलता प्राप्त हुई है। चौदहवीं शती में आबू में डिजाइनों जालियों और पच्चीकारी के जो नमूने इन जैनकला-आराधकों ने प्रस्तुत किये थे, उनकी समानता कर पाने मे ताजमहल का कलाकार भी सक्षम नही हो सका।

परवर्तीकाल मे जब भारतीय मूर्तिकला की आराधना दक्षिण मे विशेष रूप से हुई तब वहाँ भी जैन कलाकार पीछे नही रहा। पर जब कला का ह्रास देश में हुआ तो जैनकला का भी ह्रास होता गया। फिर भी आज जो प्रमाण उपलब्ध हैं, उनके सहारे यह कहा जा सकता है कि भारतीय कला के विकास में ही नहीं, प्रसार में भी जैनों का योगदान प्रचुर एवं महत्त्वपूर्ण रहा है। □ □

सुषमा प्रेस,
सतन (म०प्र०)

महावीर-कालीन भारत की सांस्कृतिक झलक

□ श्री कन्हैयालाल सरावगी

राजनैतिक स्थिति :

महावीर के काल में भारत में प्रायः साठ से अधिक राज्य विद्यमान थे। इन्हें महा-जनपद या जनपद कहा जाता था। इनके नाम कम्बोज, गंधार, कैकेय, पंचाल, शाल्व, वैराट, मरु, सिन्धु-सौवीर, कच्छ, सुरठ, मरहट्ट, मत्स्य, आभीर, कुरु, सूरसेन, वत्स, अवन्ती, लोहित्य, भग्ग, कोसल, काशी, शाक्य, मल्ल, वज्जि, विदेह, मगध अंग, उत्कल, कलिंग, बंग, भुत्तव, कामरूप, प्रागज्योतिष, कोलीय, मौर्य, सबर, कोंकण, आन्ध्र, पाण्ड्य, ताम्रपर्णि, आदि थे। इनमे वत्स, अवन्ती, कोसल और मगध मे राजतंत्र था, बाकी गणतंत्रात्मक थे।

राजतंत्रों का राजा निरकुश नहीं होता था, वह मंत्रि परिषद की राय से कार्य करता था और प्रजा की भावना का समादर था। गणतंत्र में कहीं एक मुख्य राजा होता था, कही गणराजाओं की परिषद थी, कहीं मुख्य राजा होते हुए भी गणपरिषद् प्रधान थी और कहीं मुख्यगण बारी-बारी से राज्य करते थे। कुछ एक महत्वाकांक्षी विस्तार-लोलुप सम्राट् भी थे। गणतंत्रों से इनके सम्बन्ध अच्छे नहीं थे और कभी-कभी वे युद्ध तक कर बैठते थे। मगध का राजा कुणिक (अजातशत्रु) इसका ज्वलंत उदाहरण है। उसने वज्जि, काशी, कोसल, और मल्ल राष्ट्रों को आक्रमण द्वारा जीत कर अपने राज्य का विस्तार किया था। कोसल के राजा विदुडभ (विदुधव) ने शाक्यों पर आक्रमण कर उन्हें अपार क्षति पहुंचाई थी, पर शाक्यों पर कोसल का शासन स्थापित नहीं हुआ था। इसमें राज्य-विस्तार की कामना न होकर बदले की भावना थी।

गणतंत्रों के सम्बन्ध आपस में प्रायः अच्छे थे। कारण विशेष से कभी-कभी कुछ विवाद भी उठते रहते थे। नदी, जल, परिवहन, ग्राम आदि के कारणों से विवाद उठना ही इनमें मुख्य था। कभी-कभी किसी कन्या को लेकर भी झगड़े खड़े हो जाते थे।

शासन-पद्धति :

वज्जियों में एक मुख्य राजा होते हुए भी गणों की परिषद से यह राष्ट्र शासित था। मल्ल राष्ट्र के गण-राजा बारी-बारी से राज्य करते थे। जैन शास्त्रों के अनुसार वज्जि और मल्ल गणतन्त्रों की नौ नौ शाखायें थीं। वज्जि गणतंत्र में लिच्छिवि प्रमुख थे, बाकी ज्ञातृ, विदेह, मल्ल, उग्र, भोग, ऐक्ष्वाक आदि थे। ज्ञातृ महावीर का पितृकुल था, इसकी परम्परा ऋषभदेव के कुल से संबंधित बताई जाती है। मल्ल भी इक्ष्वाकु के वंश से सम्बन्धित थे। लक्ष्मण के पुत्र चन्द्रकेतु ने इसे बसाया था।

गणतंत्रों की राज्य-प्रणाली सुव्यवस्थित थी और

नियमों का पूर्ण समादर था। राष्ट्र के रक्षार्थ सेना रखी जाती थी और आंतरिक सुव्यवस्था के लिए आरक्षी दल रखा जाता था। प्रत्येक गण अपने में स्वतंत्र भी था और परस्पर सम्बद्ध भी था। अपनी सीमा में जहां गणराजा सर्वोपरि थे, वहां राष्ट्रीय तल पर एक दूसरे से बंधे हुए और संस्थागार के नियमों के अधीन थे। उस समय अपराध कम होते थे और दण्ड-व्यवस्था दृढ़, पर सरल थी। अपराधों के न्याय के लिए उत्तरोत्तर कई न्यायालय बने हुए थे।

अजेयता के सात कारण :

गणतंत्रों की प्रणाली की सुव्यवस्थिति पर बुद्ध और अजातशत्रु के महामात्य वर्षकार की वार्ता से समुचित प्रकाश पड़ता है। यद्यपि प्रस्तुत प्रसग वैशाली (वज्जियों) से सम्बध रखता है, पर गणतत्रों की प्रणाली प्रायः मिलती-जुलती होने के कारण इसे सभी गणतंत्रो की प्रणाली कह सकते है। बुद्ध ने आनन्द के माध्यम से वर्षकार को वज्जियो की अजेयता के सात कारण बताये थे जो निम्न प्रकार थे :—

१—वज्जि इकट्ठे जुटते, उठते-बैठते, उद्यम करते, और राष्ट्रीय कर्त्तव्यो का पालन करते है;

२—वज्जि बार-बार इकट्ठे होते, इनके जुटाव पूर्ण और सर्व-सम्मिलित होते है;

३—वज्जि सभा की राय से नियम बनाए बिना आज्ञा या आदेश नही प्रसारित करते, नियमो का उल्लघन नही करते, पुराने नियमो का पालन करते और संस्थाओ से मिल कर कार्य करते है।

४—वज्जि वृद्धों का आदर करते, उनकी सेवा करते उनकी बातो पर ध्यान देते, मानते हैं,

५—वज्जि कुल नारियो और कुमारिकाओं का समादर करते है, उन पर बलात्कार नहीं करते है;

६—वज्जि देवस्थानों को मानते, उनकी रक्षा करते हैं और उनकी सम्पत्तियो को नही छीनते है और

७—वज्जि अर्हतों की रक्षा करते, उन्हे आदर देते, न आए हुओ को बुलाते और आये हुए राज्य मे इच्छानुसार निरापद विहार करें, इसका ध्यान रखते हैं। (दीघनिकाय)

गणतंत्रों में सबसे बड़ा और शक्तिशाली वज्जि गणतंत्र था। संभवतः भारत वर्ष का सर्वप्रथम गणतंत्र भी यही था। इसमें ७७०७ गण-राजा सम्मिलित थे। मगध राजतंत्र से सटे होने के कारण मगध की आंखें इस संघ पर लगी रहती थीं श्रेणिक (बिम्बसार) ने भी वज्जियों पर आक्रमण किया था, पर पीछे चेटक की पुत्री चेल्लना से विवाह करने के बाद आपस में संधि हो गई थी। अजात शत्रु ने तो इस गणतंत्र को सहायकों मल्ल, काशी और कोसल सहित अधीनस्थ कर लिया था।

अधिकारी एवं अमात्य :

गणतंत्रों की राज्य प्रणाली में निम्न अधिकारी एवं अमात्य होते थे :—

राजा, उपराजा, सेनाध्यक्ष, भाण्डागारिक (कोषाध्यक्ष) ये चार मुख्य थे। इनके अतिरिक्त शुल्क, व्यवहार, आरक्षण, वाणिज्य, दौत्य आदि के लिए विभिन्न अमात्य रखे जाते थे। अधिकारियों और अमात्यो मे चुने हुए और वेतनभुक्त दोनो प्रकार के लोग होते थे। गणतत्रो मे एक संस्थागार होता था, जिसमे सभी गणराजा उपस्थित होकर विचार-विमर्श करते, नियम बनाते और सम्बन्धित विषयो —सधि, विग्रह, परराष्ट्र-सम्बन्ध आदि पर निर्णय लेते थे। सामान्यतः निर्णय सर्व-सम्मत होते थे, मतैक्य नही होने पर छद (वोट) लिए जाते थे। संस्थागार में जो निर्णय हो जाता या जो नियम बन जाता, उसे मानना सबके लिए अनिवार्य था।

छद तीन प्रकार के लिए जाते थे—मौखिक हाथ उठा कर या सहमति सूचक खड़े होकर और शलाकाओ के द्वारा। शलाका छद को गुप्त मतदान कह सकते है। विभिन्न रंगों की शलाकायें वितरित कर दी जाती थीं और पक्ष-विपक्ष के रंगों की घोषणा के उपरान्त उन्हे एकत्र कर बहुमत से निर्णय होता था। साधारणतः जब जो विषय उपस्थित होता था, उसी पर विचार किया जाता था, विषयान्तर में जाने की अनुमति नहीं दी जाती थी।

कला एवं विद्या :

उस समय प्रायः अस्सी से भी अधिक कलायें एवं विद्यायें प्रचलित थीं, जैसे लेख, गणित नाटक, सगीत,

वाद्य, युद्ध, शस्त्रयुद्ध, मल्लयुद्ध, गजलक्षण, हयलक्षण, गोलक्षण, काव्य, प्रहेलिका, द्यूत आदि। राजाओं को इन विद्याओं का जानना आवश्यक माना जाता था। साधारण लोग भी अधिक से अधिक विद्याओं में निपुण होते थे।

राजाओं के राज्यारोहण के समय विशेष प्रकार के आयोजन होते थे। किसी पुष्करिणी, नदी अथवा नदियों, तीर्थों आदि के जल से अभिषेक किया जाता था। इस अवसर पर अन्य राजा, मंत्री, सामंत, परिजन, पुरजन, पुरोहित आदि उपस्थित होते थे और स्वस्ति-वाचन, आशीर्वाद, कर्त्तव्य-शिक्षा आदि के साथ सिंहासन पर बैठाया जाता था और तिलकोपरांत प्रजा तथा अमात्य राजभक्ति की प्रतिज्ञा लेते थे। अनेक प्रकार के मंगल-द्रव्य—कलश, धान्य, वस्त्र आदि रखे जाते थे।

खड्ग, गदा, धनुष-बाण, हल-मूसल, भाले आदि युद्ध के मुख्य आयुध थे। मल्लयुद्ध भी प्रचलित था। अजातशत्रु ने दो नये आयुधों—रथमूसल और महाशिलाकटक का प्रयोग किया था। दोनों महासंहारक अस्त्रों के सहारे उसने वज्जियों पर विजय पाई थी। गज, घोड़े, रथ, ऊँट, खच्चर आदि युद्ध की सवारियां थीं। राजमहिषियाँ भी रण-कौशल में निष्णात होती थीं और आवश्यकता पड़ने पर युद्ध भी करती थीं। कभी-कभी अपने पतियों की सहायतार्थ भी युद्ध-भूमि में साथ जाती थीं। बन्धुल मल्ल के साथ उसकी पत्नी मल्लिका ने भी अभिषेक-पुष्करिणी के लिए लिच्छवियों से युद्ध किया था।

विवाह :

अन्य राष्ट्रों से मैत्री या विग्रह संस्थागार में विचारोपरान्त ही होता था। विवाह और दीक्षा साधारणतः माता-पिता की अनुमति से होते थे। कहीं-कहीं स्वयंवर की भी प्रथा थी। स्वयंवर में कन्या का बलपूर्वक हरण भी होता था। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि अपहृत कन्या की इच्छा के विरुद्ध अपहरणकर्त्ता उससे विवाह नहीं करता था, वरन् कन्या इच्छित पुरुष को लौटा दी जाती थी। राजाओं में बहुविवाह प्रचलित था, अन्तर्जातीय विवाह भी होते थे, परन्तु पहला विवाह क्षत्रियाणी से करना अनिवार्य था। क्षत्रियाणी से उत्पन्न संतान ही राज्य की अधिकारी होती थी।

जो राजा प्रथम विवाह अन्य जातियों में कर लेता था, वह जातिच्युत हो जाता था और वह अपनी विवाहिता की जाति का माना जाता था। यह सब रक्त-शुद्धि की भावना से किया जाता था। शाक्यों में तो शाक्यों के अतिरिक्त पुरुष या स्त्री से विवाह न करने का कठोर नियम था। रक्तशुद्धि की रक्षार्थ चाचा की लड़की या सगी बहन से भी विवाह करना प्रचलित था। नारियाँ भी विदुषी और युद्धनिपुण होती थीं तथा राजकार्यों में भी भाग लेती थीं। सामंतों की कन्याओं से भी राजपुरुष विवाह करते थे। श्वेताम्बर ग्रंथों के अनुसार महावीर का विवाह महासामंत समरवीर की कन्या यशोदा से हुआ था: दिगम्बर जैन-शास्त्रों के अनुसार महावीर आजन्म अविवाहित थे।

सामाजिक स्थिति :

महावीर-काल में सामाजिक स्थिति भी सुव्यवस्थित थी। वर्ण और जातियाँ भी विद्यमान थीं, पर उनके घेरे कठिन नहीं थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, रजक, चाण्डाल, चर्मकार, स्वर्णकार, कुम्भकार, दारुशिल्पी आदि जातियाँ थीं। आचार-विचार भेद से आर्य और अनार्य के भी विभाग थे। पहले वर्णाश्रम-व्यवस्था कुछ जटिल थी, परन्तु महावीर और बुद्ध की विचारधारा ने उसमें परिवर्तन ला दिया था।

लोगों में विभिन्न प्रकार के वस्त्र और आभूषणों का भी प्रचलन था। वस्त्रों में देवदूष्य, दुकूल, क्षौम, चीनांशुक, पटवास, वल्कल आदि और आभूषणों में मुकुट, कुंडल, केयूर, चूड़ामणि, कटक, कंकण, मुद्रिका, हार, मेखला, कटिसूत्र कंठक, रत्नावली, नूपुर आदि का प्रचलन था। प्रसाधन-सामग्रियां भी अनेक थीं। साधारण से लेकर बहुमूल्य सामग्रियां व्यवहृत होती थीं। चन्दन, कुंकुम, अंगराग, आलक्तक, अंजन, शतपाक तेल, सहस्रपाक तेल, गंध, (इत्र), अनेक सुगन्धित द्रव्य, मिश्रित लेप, सिंदूर, कस्तूरी, माला, ताम्बूल, आदि के व्यवहार का उल्लेख मिलता है। लिच्छवियों की वेश-भूषा को देख कर बुद्ध ने उनकी तुलना त्रायस्त्रिंश स्वर्ग के देवों से की थी। पुरुष और महिला दोनों ही गहने और सजीले

वस्त्रों से अपने अंग सजाते थे, विभिन्न प्रकार के लेप-गंध आदि भी लगाते थे।

मनोरञ्जन के लिए नाटक, गीत, वाद्य, चित्रकला, छद-रचना, द्यूत, जलक्रीड़ा, वृक्षारोहण, आमली क्रीडा आदि का प्रमुखता से प्रचलन था। विशेष अवसरों पर अनेक सामूहिक महोत्सव भी होते थे। नगर-नारियाँ भी थीं, उन्हें राष्ट्र से बाहर जाने की साधारणतः अनुमति नहीं थी।

आवागमन और भारवहन के लिए घोड़े, हाथी, ऊंट, खच्चर, बैल, शकट, शिविका, रथ, नाव, पोत आदि का व्यवहार होता था। मकान कच्चे और पक्के दोनों तरह बनते थे। फूल की कुटिया और पर्वत-गुफाओं से लेकर सतखण्डे महल तक बनते थे। मकान काठ, ईट तथा पत्थर के—जिसकी जहा सुविधा होती, बनते थे। साधुओं के आवास के लिए सघाराम, विहार, चैत्य आदि बनते थे।

तत्कालीन देश मे जहा समृद्धि थी, वहा कुछ उपेक्षित दलित और विपन्न भी थे। उन्हे ऊँचा उठाने और समाज मे उपयुक्त स्थान दिलाने की दिशा मे महावीर का बहुत बडा योगदान है। श्रमण सस्कृति ने मानव को समानता का मत्र दिया था। जाति और वर्ण के बदले आचरण, श्रेष्ठता और पूज्यता का आधार बन गया था।

आर्थिक स्थिति :

आर्थिक दृष्टि से भी तत्कालीन भारतवर्ष सम्पन्न था। कृषि, पशुपालन, व्यापार, वाणिज्य, कला-कौशल मे भी यह देश प्रचुर प्रगति कर चुका था। आतरिक व्यापार के साथ ही विदेशों से भी जलपोतों के सहारे व्यापार होता था। पूर्व मे ताम्रलिप्ति और पश्चिम मे भडौच के बन्दरगाह प्रसिद्ध थे। यहाँ से रेशमी वस्त्र, मलमल, कबल, सुगन्धित द्रव्य, औषधियाँ, मोती, रत्न, हाथी-दाँत, लकड़ी, सोने-चादी, मिट्टी आदि के सामान विदेशो को भेजे जाते थे। स्थानीय लोग भी इनका व्यवहार करते थे।

दूर देशों या विदेशो मे व्यापार-वाणिज्य के लिए कई व्यापारी समूह मे जाते थे और मार्ग दिखाने के लिए सार्थ होते थे। सार्थो को मार्गों का पूरा ज्ञान होता था और निरापद यात्रा के लिए उनका सहयोग आवश्यक अथवा अनिवार्य था। सार्थ सम्पन्न भी होते थे, वे व्यापारियों को निश्चित शुल्क या भागीदारी के आधार पर ऋण भी देते थे। सार्थों के अपने यान, वाहन, चालक, वाहक, रक्षक आदि भी होते थे। प्राचीन भारत में सार्थों की भूमिका की विशेष जानकारी डा० मोतीचन्द्र की पुस्तक 'सार्थवाह' से मिलती है।

लेन-देन के लिए निष्क, शतमान, कार्षापण आदि का व्यवहार था। मुद्राओं पर जनपद, श्रेणी अथवा धार्मिक चिह्न अकित हुआ करते थे। वाणिज्य-व्यापार पर राजकीय नियन्त्रण नही था, कर-भार भी आय के दसवें से छठें भाग तक सीमित था। विशेष परिस्थितियो, युद्ध, दुर्भिक्ष आदि के समय यह अवश्य ध्यान रखा जाता था कि कोई अनुचित लाभ न ले सके। जगलो, दुर्गम मार्गो मे कही कही दस्युदल भी सक्रिय होते थे। यो अपराध बहुत कम होते थे।

धार्मिक स्थिति :

इस युग मे प्राचीन धार्मिक परम्परायें टूट रही थी और धार्मिक एव सामाजिक तल पर महान परिवर्तन हुए थे। बलि, यज्ञादि क्रियाकाण्डो का स्थान भक्ति, उपासना, सत्कर्म और सदाचार ने ले लिया था। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनो सस्कृतियाँ साथ-साथ चल रही थीं, बौद्ध सस्कृति अपेक्षाकृत नवीन थी, पर दिन-दिन इसका विस्तार हो रहा था। महावीर-निर्वाण के बाद इसका अधिक प्रसार हुआ। कुछ क्षेत्रो मे इसे राजकीय सरक्षण भी मिला था। उस समय धर्म के नाम और सिद्धातो पर अनेक वाद रचे जाते थे। धर्म-परिवर्तन साधारण-सी बात थी। कही कही एक ही कुल परिवार के व्यक्ति अलग-अलग धर्मों को मानते थे।

महावीर के काल में श्रमण-संस्कृति में श्रावक, श्राविका साधु, साध्वी, चतुर्विध संघ की स्थापना हुई थी। जैनों की देखा-देखी बौद्धों ने भी इसी प्रकार चतुर्विध संघ बनाया था। महावीर के अतिरिक्त अन्य पाँच तीर्थिक—मखलि गोशाल, प्रकुध कात्यायन, संजय वेलट्ठिपुत्र, अजित केशकम्बल और पूर्ण कास्यप प्रसिद्ध थे। बुद्ध भी एक समकालीन तीर्थिक थे। वैदिक धर्म में भी जटिल, त्रिदण्डी, मुडित आदि अनेक आम्नाय थे। धर्मगुरुओं और साधुओं

का सम्मान था और उन्हें आवश्यक आवास, आहार, वस्त्र पात्रादि दिये जाते थे।

बौद्ध साहित्य मे उल्लेख :

उपर्युक्त सात तीर्थिको (धर्मनायको) मे महावीर और बुद्ध को छोड़ कर बाकी के विषय मे बहुत कम जानकारी मिलती है। इसका कारण सम्भवत. यही है कि उनके आम्नायो का उच्छेद हो चुका है। बौद्ध साहित्य मे तत्सम्बन्धी जो उल्लेख मिलता है, उसका सार इस प्रकार है—

मंखली गोशाल :

मखली गोशाल नियतिवादी थे। वे कहते थे–प्राणी की शुद्धता या अपवित्रता का कोई हेतु नही होता। प्राणियो के सामर्थ्य से कुछ नही होता, उनमे बल, पराक्रम, वीर्य या शक्ति नही है। वे अवश, दुर्बल और निर्वीर्य है। वे नियति (भाग्य), सगति एव स्वभाव के कारण परिणत होते है और जन्मो मे दु:ख भोगते है।

प्रकुध कात्यायन :

प्रकुध कात्यायन अन्योन्यवादी थे। पृथ्वी, अप, तेज, वायु, सुख, दु:ख एव जीव—इन सात पदार्थो को वे स्वयभू बताते थे, किसी के बनाये हुए नही। उनके अनुसार कोई किसी को न तो सताता है न सुख पहुचाता है। पदार्थों को जानने या कहने वाला कोई नही है। कोई किसी के प्राण नही लेता। हत्या करने वाले का शस्त्र सात पदार्थो के बीच के अवकाश मे घुस गया है, ऐसा मानना चाहिए।

संजय वेलट्ठिपुत्र :

सजय वेलट्ठिपुत्र विक्षेपवादी थे। परलोक है या नही, प्राणियो की औपपातिकता है या नही, अच्छे-बुरे कर्मो का फल होता है या नही. मृत्यु के बाद जीव रहता है या नही. इन बातो के विषय मे उनकी कोई निश्चित धारणा नही थी।

अजित केशकम्बल :

अजित केशकम्बल उच्छेदवादी थे। उनके अनुसार इहलोक, परलोक, माता-पिता, दान, यज्ञ, होम मे कुछ नही है। इनको जानने वाला भी कोई नही है। शरीर चार भूतो—पृथ्वी, अप, तेज और वायु—का बना है। जब वह मरता है तो पृथ्वी धातु पृथ्वी मे, अप धातु जल में, तेज धातु तेज मे और वायु धातु वायु मे मिल जाते है तथा इन्द्रियाँ आकाश मे चली जाती है। दान करने की बात मूर्खतापूर्ण है: मृत्यु के बाद प्राणियों के गुण—अवगुणो की चर्चा होती है, उनका कुछ भी शेष नही बचता' सब भस्म हो जाता है।

पूर्ण काश्यप :

पूर्ण काश्यप अक्रियावादी थे। वे कहते थे कि किसी के अच्छे बुरे कर्मों का कोई पुण्य-पाप नही होता। चाहे कैसा भी दान, यज्ञ किया जाय, उसका पुण्य नही होता और चाहे जैसी हिंसा, चोरी, असत्य-भाषण आदि करे, उसका पाप भी नही होता।

निगंठ नातपुत्त (महावीर) :

निगठ नातपुत्त (महावीर) संवरवादी थे, उनके चार सवर थे—

१—निर्ग्रन्थ जल का वारण करता है, जिससे जल के जीव न मर जाये।

२—निर्ग्रन्थ सभी पापो का वारण करता है।

३—निर्ग्रन्थ सब पापो के वारण से धूतपाप हो जाता है।

४—निर्ग्रन्थ सभी पापो के निवारण में लगा रहता है।

इस प्रकार चार-चार सवरो से संवृत रहने के कारण निर्ग्रन्थ, गतात्मा (अनिच्छुक), यतात्मा (संयमी) और स्थितात्मा कहा जाता है।

उपर्युक्त वर्णन दीघनिकाय सामञ्ञफल-सुत्त मे आता है, जिसे धर्मानन्द कोसाम्बी ने भगवान बुद्ध, पृ० १८१-१८३ मे उपस्थित किया है।

जैन साहित्य में उल्लेख :

जैन-साहित्य से भी तत्कालीन धर्मनायकों पर विशेष प्रकाश नही पडता। मंखली गोशाल के विषय मे कुछ उल्लेख मिलता है, परन्तु अन्य नाम या उनके सम्प्रदायों का नाम देखने मे नही आता। जैन-शास्त्रो के अनुसार मखली गोशाल से महावीर का साक्षात्कार हुआ था। कुछ समय तक वे महावीर के शिष्य भी रहे, परन्तु बाद में

अलग होकर महावीर के कट्टर विरोधी हो गये; यहां तक कि उन्होंने महावीर पर तेजोलेश्या तक भी छोड दी थी। महावीर-निर्वाण से सोलह वर्ष पूर्व वह भयंकर बीमारी के कारण मृत्यु को प्राप्त हुए।

महावीर के जीवन (कर्म-क्षेत्र) से वज्जि, विदेह, मगध और मल्ल देशो का गहरा सम्बन्ध था। वज्जि देश में उनका जन्म, वैशाली—वर्तमान बसाढ—के निकट कोल्लाग सन्निवेश के क्षत्रिय-कुण्डग्राम में हुआ था। उनके प्रायः बारह वर्षावास इस क्षेत्र मे हुए थे। विदेह क्षेत्र की मिथिला मे छः वर्षावास हुए थे। मगध मे चौदह वर्षावास हुए थे और राजगृह के विपुलाचल और वैभार पर्वतो के प्रान्तों मे उनकी देशनाये और आगमागों के उपदेश हुए थे। मल्ल देश और वज्जि देश की सीमा के आस-पास जृम्भिक ग्राम मे उन्हे केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई थी और मल्ल राष्ट्र के पावानगर मे हस्तिपाल की रज्जुक-सभा-भवन में वे निर्वाण को प्राप्त हुए थे। मल्लो और लिच्छिवियो ने निर्वाणोपरान्त उनके सम्मान मे प्रोषध कर दीपावली मनाई थी।

वज्जि देश वर्तमान बिहार का तिरहुत प्रमण्डल था, जिसकी राजधानी वैशाली थी। वैशाली से वायव्य कोण मे कोल्लाग सन्निवेश (कोल्हुआ) था और उसी के अन्तर्गत क्षत्रिय—कुण्डग्राम था। वज्जि गणतन्त्र बनने के पहले तिरहुत प्रमण्डल का अधिकाश क्षेत्र नेपाल का दक्षिणी भाग विदेह क्षेत्र कहा जाता था, इसकी राजधानी मिथिला थी। आजकल इसे जनकपुर धाम कहते है। यह नेपाल की तराई मे है। मिथिला मल्लि और नमि दो–तीर्थङ्करों एव अकम्पित गणधर की जन्मभूमि रही है। मगध के अन्तर्गत वर्तमान पटना, गया और हजारीबाग के जिले थे, इसकी राजधानी राजगृह मे थी। मल्ल राष्ट्र में वर्तमान देवरिया, आजमगढ़ (उत्तर-प्रदेश) के जिले थे। सारन (बिहार) का कुछ भाग भी इसमें सम्मिलित था। तीर्थङ्कर पुष्पदन्त का जन्म देवरिया के पास ही काकन्दी में हुआ था।

तब और अब :

महावीरकालीन भारत से आज के अभावग्रस्त देश की कोई तुलना नहीं है। उस समय आत्मनिर्भरता थी और प्रगति का माध्यम देशी साधन, भावना, विचार, वेष, भाषा और भोजन थे। लोग कर्त्तव्य-निष्ठ थे और उनका नैतिक स्तर ऊँचा था। आज हम कृषि, उद्योग, वाणिज्य, व्यवसाय, विनिमय, परिवहन, शिक्षा, समाज-व्यवस्था, सस्कृति, स्वास्थ्य आदि सबके लिए शासन की ही अपेक्षा करते है। कर्त्तव्य-निष्ठा और आत्म-निर्भरता का यह शीर्षासन रूप है। हमारा अतीत बताता है कि व्यक्ति की आत्मनिर्भरता, नैतिकता और कर्त्तव्य-निष्ठा से राष्ट्र को आत्मनिर्भरता, निष्ठा और नीति थी। अतीत के इतिहास को सुरक्षित रखने और उसके पुनर्निरीक्षण की सार्थकता तभी है, जब हम इससे प्रेरणा ले और उसके माध्यम से अतीत एवं वर्तमान की त्रुटियो को दूर कर उज्ज्वल भविष्य का निर्माण कर सकें। महावीर ने जिस अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह और अनेकान्त का विचार दिया था, उसे व्यक्तिगत और राष्ट्रीय जीवन मे परिस्फुट कर हम सत्यार्थ मे प्रगति की ओर अग्रसर होंगे और एक ऐसे सर्वोदयी समाज की रचना कर सकेंगे जिसमे अभाव, असतोष, उत्पीड़न, अनैतिकता, जमाखोरी, घूसखोरी, हड़ताल, तालाबन्दी, पदलोलुपता, शासकीय नियत्रण आदि को स्थान नही होगा।

महावीर के इस २५००वें निर्वाण-वर्ष के अवसर पर उनके उपदेशो को जीवन मे उतारने की भावना जागरित करने का संकल्प लेना मानव-मात्र का कर्त्तव्य है।

□□

महावीर-काल : कुछ ऐतिहासिक व्यक्ति

□ श्री दिगम्बर दास जैन, एडवोकेट, सहारनपुर

इतिहासकारो का कहना है कि भारत का प्रामाणिक इतिहास भ० महावीर के जन्म से प्रारम्भ होता है, इसलिए हम उनके समय के ही कुछ ऐतिहासिक पुरुषो का उल्लेख कर रहे है। यदि हम अपनी विपुल सामग्री तथा भावना के अनुसार विस्तार-पूर्वक वर्णन करे तो जितने व्यक्तियो का कथन किया जाता है, उतने ही ग्रन्थ लिखने होगे। स्थान के अभाव के कारण हमे केवल उनका सक्षप मे सकेत करना पड़ रहा है—

१. महाराज चेटक—वैशाली के सम्राट् और भ० महावीर के नाना थे। यह इतने सुदृढ जैन थे कि इन्होने प्रण कर रखा था कि अपनी पुत्रियो को अजैन से नही विवाहूगा। अजैनके घर जैन कन्या जैनधर्म का इच्छानुसार भली प्रकार पालन नही कर सकती। इनके महायोद्धा १० पुत्र धनदत्त, दत्तभद्र, उपेन्द्र, सुदत्त, सिहभद्र, सुकुम्भोज, आकम्पन, सुपतंग, प्रभजन, और प्रभास तथा ७ कन्याए थी।[1]

(i) त्रिसलादेवी, जो कुण्डल पुर के राजा सिद्धार्थ से ब्याही थी और भ० महावीर की माता थी।
(ii) मृगावती कोशाम्बी नरेश शतानीक की रानी थी।
(iii) सुप्रभा दशार्ण देश के राजा दशरथ से ब्याही थी।
(iv) प्रभावती सिंधु सौवीर (कच्छ) देश के राजा उदयन की रानी थी।
(v) चेलना जो मगध सम्राट श्रेणिक-बिम्बसार की पट रानी थी।
(vi) सती चन्दना संसार की कामवासनाओं को रोकने के लिए स्वयं आजन्म ब्रह्मचारिणी रही और भ० महावीर के समोशरण मे आर्यिका हो गई थी और अपने घोर तप-बल से सर्वश्रेष्ठ मुख्य आर्यिका हुई।
(vii) ज्येष्टा बचपन से ही वैरागी थी और अखण्ड ब्रह्मचारिणी रही।

इस प्रकार महाराजा चेटक समस्त भारत के सुप्रसिद्ध राजाओ के निकट सम्बन्धी थे। सत्य तो यह है कि पंचम काल मे जैनधर्म उनके तथा उनकी सतान के ही परिश्रम का फल है।

२. बिम्बसार—उपनाम श्रेणिक, मगध-सम्राट, भारत का प्रथम ऐतिहासिक नरेश, सुदृढ जैनधर्मी।[2] भ० महावीर के समोशरण का सर्वश्रेष्ठ पर मुख्य श्रोता। २४ तीर्थकरो का परम भक्त। पटना हाई कोर्ट के जज टी० डी० बनर्जी ने सम्मेद शिखर जी के फैसले मे लिखा है

---

1. King Chetak and his queen Bhadra were devout Jain who observed the daily vows of a lay-man, They got 10 sons and 7 daughters, who all were devotee of Mahavira. —Dr. Kamta Prasad : Religion of Tirthankaras.

2. (i) The literary and legendary traditions of Jains about Shrenika are so varied and so well recorded that they are eloquent witness to the high respect with which the Jainas held him one of their greatest Royal Patrons, whose historicity fortunately past all doubts

—Jainism in Northern India, p. 116 to 118.

(ii) Shrenik—Bimbsar was Jain.

—Early History of India, p. 33-45.

(iii) Shrenika, Bimbsar, Ajat-Satru and Udayin were followers of Jainism.

—Cambridge History of India, Vol. I, p. 161.

कि श्रेणिक ने तीर्थंकरों के निर्वाण-स्थान खोजकर वहा उनकी स्मृति में चरण स्थापित कराये थे।[2A] विद्वानो का मत है कि यदि महाराजा श्रेणिक भ० महावीर से ६० हजार प्रश्न न पूछते तो पचम काल मे जैन धर्म सम्बन्धी कुछ भी जानकारी न होती। विस्तार के लिए श्रेणिक चरित्र (सूरत, जो हिन्दी मे छप चुका है) देखिए।

३. **अभय कुमार**—श्रेणिक पुत्र। समस्त बुद्धिमानो मे सर्वश्रेष्ठ। एक बार श्रेणिक ने अभय कुमार से एक सफेद, दूसरा काला–दो तम्बू नगरी के बाहर लगवा दिये और घोषणा करा दी कि जो सच्चे जैनी है, सफेद वे तम्बू म और जो नही है, वे काले तम्बू मे बैठ जायें। शाम का श्रेणिक और अभय कुमार देखने गए तो सफेद तम्बू मे तिल रखने को भी स्थान न था। इतन अधिक व्यक्तियो से उन्होने पूछा कि आप अपने को सच्चा जैनी कहते हो? उन्होने कहा कि हम जैनधर्म के सम्बन्ध मे सब कुछ जानते है। काले तम्बू मे केवल ३-४ आदमी थे। उनसे पूछा कि तुम सच्चे जैनी क्यो नही हो? उन्होने कहा कि यत्न करने पर भी हम क्रोध, मान, माया, लोभ को नही त्याग सके। अभय कुमार ने कहा–जैनधर्म के सम्बन्ध में भी कुछ जानते है? उन्होने कहा—"केवल जानने से क्या होता है? आचरण तो पूरे रूप से नही कर पाते, फिर सच्चे श्रावक कैसे? श्रेणिक ने अभय कुमार से कहा कि आज तुमने मुझे सच्चे श्रावकों के दर्शन करा दिए। अभय कुमार पशु-वध के विरुद्ध था।[3] राज्य-सुख त्याग कर दिगम्बर मुनि हो मोक्ष पद पाया।

४. **वारिषेण**—वारिषेण भी श्रेणिक पुत्र था। गृहस्थी मे भी प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी की रात्रि को श्मशान मे ध्यान लगाता था। बचपन मे ही इसे मुनि होता देख कर इसका मित्र तथा राज्यमत्री का पुत्र पुष्पडाल भी उनके साथ दिगम्बर मुनि हो गया। परन्तु अपनी काली स्त्री के मोह को न त्याग सका, इसलिए ध्यान मे उसका जी न लग सका। वारिषेण ने यह बात भाँप ली और उसे अपने पुराने राजमहल मे ले जाकर अपनी अत्यन्त सुन्दर नवयुवती ३२ रानियाँ दिखाई। पुष्पडाल विचार करने लगा कि जब वारिषेण इतने विशाल राज्य-वैभव तथा रूपवती रानियो का मोह त्याग सकता है तो क्या मै एक काली और कुरूप स्त्री को नही छोड़ सकता? उसने वारिषेण का धन्यवाद किया कि आपने मुझे धर्म से डिगने से बचा लिया। दोनों फिर भ० महावीर के समोशरण मे आ गए और शरीर तक से मोह त्याग कर इतना घोर तप किया कि केवल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष-पद पाया। वारिषेण सम्यक् स्थिति अग मे सुप्रतिष्ठ कहलाने लगे।

५. **अजातशत्रु**—अजातशत्रु भी श्रेणिक पुत्र था। डा० वी० ए० स्मिथ ने आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया

2A. The Hindu Traveller's account, published in Asiatic Society's Journal, January, 1824, reveals the fact, how Raja Shrenika of Magadha, contemporary of Mahavira Swami had discovered the Nirvan-place of Tirthankaras and established charan (Shrines) at Sammed Shikara (Parshv, Hill in Bihar).

—Honble Justice T. D. Banarji, Judge Patna High Court, Judgement of Sammed Sikharji case.

3. In the Court of Bimbasar, some officers observed that flesh was rather cheap. Abhay Kumar was much agrivously affected. At night, he went to the houses of those officers and asked each one to give half ounce flesh of his heart, which had been prescribed, as remedy for the queen. Each one excused himself and gave Abhay Kumar a large amount of money for a promise not to mention their refusal to the King. Next day, Abhay Kumar deposited the amount in the King's court and told that according to his experience, flesh is not available at any price. Those officers also supported him and it was decided that flesh should not be taken. —VOA, 19·7, p. 55.

पृ० ५१ पर बताया है कि अजातशत्रु बौद्धधर्मी नहीं बल्कि सुदृढ जैन था।[4] डा० राधाकुमुद मुकर्जी[5] आदि[6] अनेक सुप्रसिद्ध इतिहासकार भी इसकी पुष्टि करते है। स्वयं महात्मा बुद्ध अजातशत्रु को बौद्ध धर्म स्वीकार न करने पर ऐसे महान् सम्राट् को बदकिस्मत कहते है।[7] भ० महावीर का समवशरण इसकी राजधानी में आया तो इतना हर्षित हुआ कि जैन जरनल अक्तूबर १९६८ पृ० ६६ ६९ के अनुसार उसने १२ लाख ५० हजार रुपये सूचना देने वाले को पुरस्कार मे दिये और स्वयं अपनी रानी सुभद्रा को साथ ले बडी भक्ति और उत्साह से उनकी वन्दना को गया।

६ **बाहुत्व कुमार**— यह अजातशत्रु का लघु भ्राता था। राज्य की बाँट पर अजातशत्रु से इसकी अनबन हो गई। अजातशत्रु जिसका उपनाम कुणिक था, इसको जान से मरवाना चाहता था जिसके भय से इसने महाराजा चेटक के पास वैशाली जाकर शरण-याचना की। महाराज जानते थे कि अजातशत्रु अत्यन्त बलवान योद्धा है। परन्तु एक सुदृढ जैन शरण मे आये हुए को अभय-दान देने मे कैसे इनकार कर सकता था ? अजातशत्रु ने चेटक से बाहत्त्व-कुमार को मांगा, इनकार करने पर विशाल सेना लेकर वैशाली पर आक्रमण कर दिया। महाराज चेटक तथा इसका प्रधान सेनापति सिंहभद्र और सेनापति वरुण नाग अहिंसा व्रत के धारी थे। लोग चकित थे कि शत्रु अति प्रबल है और हमारा राजा तथा सेनापति किसी चींटी तक को मारना पाप समझते है। वे कैसे विजय प्राप्त कर सकेंगे ? वैशाली सेनापति से शत्रु सेनापति ने कहा—वार करो, उसने कहा—वार करना मेरा धर्म नहीं, देश-रक्षा (Defence) मेरा धर्म है, यदि आपने वार किया तो नाको चने चबवा दूंगा। शत्रु ने पूरी शक्ति से आक्रमण किया। वैशाली-सेना बड़ी वीरता से लडी, ६ मास तक घमासान युद्ध होता रहा, दोनों तरफ से हजारों सैनिक मारे गये। अजातशत्रु चकित था कि वैशाली सेना इतने लम्बे समय तक रणभूमि मे कैसे ठहर सकी ? उसने एक निमित्त-ज्ञानी से कारण पूछा तो उसने कहा कि वैशाली में २०वें तीर्थंकर मुनि सुव्रतनाथ का स्तम्भ है। यह उसका अतिशय है कि जब तक वह स्थित है, वैशाली अजय रहेगी। अजातशत्रु बडा चतुर था। उसने अपना दूत चेटक के पास भेजा कि मुनि सुव्रतनाथ स्तम्भ उसे दे दिया जावे तो वह बिना युद्ध वापस लौट जावेगा। चेटक स्तम्भ देना नही चाहते थे, शान्तप्रिय थे। हजारों सैनिकों के मारे जाने से दुःखी थे और समझते थे कि हजारों और मारे जायेंगे। इसलिए वह स्तम्भ उन्होंने उसे दे दिया। स्तम्भ का देना था कि वैशाली विजय हो गई।

७. **धनकुमार**— सेठानी प्रभावती का पुत्र। अटूट सम्पति का स्वामी यह जैनधर्मी था। भ. महावीर के समव-शरण मे जिन-दीक्षा ले दिगम्बर मुनि हो गया। मोक्ष-पद पाया। विस्तार के लिए धनकुमार चरित्र (सूरत)।

८. **जीवन्धर**—हेमाग देश (मैसूर प्रान्त) का सम्राट्

---

4. Both Buddhists and Jainas claimed Ajat-Satru as one of them The Jaina claim appears to be well founded.
   —Dr. V. Smith : Oxford History of India, 2nd Edition 1923, Oxford, p. 51.
5. Ajat-Satru was a follower of Mahavira in the days of Buddha and Mahavira.
   —Dr. Radha Kumud Mukerjee, The Hindu Civilization (Hindi Edn) pp. 190 91.
6. There are many more reasons for Ajat-Satru not being a follower of Buddha, such as his intimacy with Deva Dutt—a rebel disciple of Buddha : enimity with the Vrijis—a favourite clan of Buddha, his battle against Prasenajita—a stunch devotee and follower of Buddha.
   —Jain Journal (Calcutta) Oct. 1968, p. 65.
7. Buddha's disregard for Ajat-Satru is clear from Buddha's own statement, "Ajat-Satru is an unfortunate King."
   —Dighanikaya, Samannyanphala Sutra.

जैनधर्मी था। मरते हुए कुत्ते को णमोकार मन्त्र दिया जिसके प्रभाव से वह स्वर्ग मे देव हुआ। विस्तार के लिए जीवन्धर चरित्र।

९. शालिभद्र—यह इतना धन्ना सेठ था कि जिन रत्न कम्बलों को पसन्द आने पर महाराजा श्रेणिक भी नही खरीद सका, उनको सवा लाख स्वर्ण मुद्रा प्रति कम्बल देकर ३१६ कम्बल व्यापारियो के पास थे, सब खरीद लिए। श्रेणिक को पता चला तो चकित रह गया और भगवान महावीर से पूछा कि यह इतना धनी क्यो हुआ? गौतम गणधर ने बताया कि पिछले जन्म मे यह सखिया नामक अत्यन्त दरिद्री ग्वालन का पुत्र सगम था। कई दिन तक इसे भोजन प्राप्त न होता था। एक दिन इसे जिद्द हो गई कि खीर खाऊंगा। माता सोचने लगी कि दूध और मीठा कहा से लाएँ? सगम के रोने से पड़ोसी को दया आई और उसने दे दिया। खीर खाने को ही था कि एक मुनि महाराज आहार के निमित्त आ गये। सगम उन्हे देख कर बड़ा हर्षित हुआ। भूल गया अपनी भूख को, बड़ी भक्ति और पडगाह से प्रगाह कर विधि पूर्वक उसने मुनि को आहार कराया। यह इतना भाग्यशाली, धनी, यश और तेज का स्वामी था। यह दि० मुनि को आहार देने का फल है।

१०. सिहभद्र—चेटक का सेनापति था। भ० महावीर का उपदेश सुन कर उसने कहा कि मै सेनापति हू, शत्रुओ को मारना मेरा धर्म है। मै चाहता हू कि अणुव्रत धारण करू, परन्तु अहिसा-धर्म मेरे सैनिक कार्य मे बाधक है। गौतम गणधर ने कहा कि सैनिक धर्म तो श्रावक का प्रथम धर्म है। देश-रक्षा तथा अत्याचारो का अन्त अहिंसक कार्य है, हिसक नही। यह सुनकर सिहभद्र ने श्रावक के व्रत तुरन्त ले लिए।

११. आनन्द—वैशाली के निकट बाणिज्य ग्राम के सर्वश्रेष्ठ व्यापारी थे। चार करोड अशर्फियां ब्याज पर, चार करोड़ कारबार मे, चार करोड अचल सम्पत्ति और चार करोड़ स्वर्ण मुद्राये नकद थी। यह भगवान महावीर की वन्दना को गए और कहा कि इतनी अधिक सम्पत्ति होने पर भी मुझे शान्ति प्राप्त नही होती। गौतम गणधर ने कहा—श्रावक के व्रत लो, उनके आचरण मे अवश्य मिलेगी। आनन्द ने कहा कि चार व्रतो का तो मैं आज भी पालन कर रहा हू। परिग्रह-परिमाण-व्रत का पालन नही हो सकता, क्योकि जो सामग्री मुझे आज प्राप्त है, उससे कम मे मेरा निर्वाह नही हो सकेगा। गौतम गणधर ने बताया कि शाति आकुलता के कारण होती है। आकुलता की जड इच्छाओं को केवल परिग्रह-परिमाण-व्रत वश मे कर सकता है। शान्ति के इच्छुकों को अपरिग्रह-व्रत पालना ही होगा। इसका पालन कुछ भी कठिन नही, जितनी अपनी आवश्यकता समझो, उतने का परिमाण कर लो। यदि आप जो सम्पत्ति आज है, उनसे अधिक यदि हो जावे तो उसका त्याग कर दें। यही परिग्रह-परिमाण है। आनन्द ने यह सुन कर ५ अणुव्रतो के पालने की प्रतिज्ञा कर ली और घर आकर अपने कर्मचारियो को समस्त सम्पत्ति का चिट्ठा बाँधने का आदेश दिया और कहा कि इस चिट्ठे से सम्पत्ति बढने न पावे, मुझे तुरन्त सूचित करो। अगले दिन पशुगृह का दरोगा १ मन दूध लाया, आनद ने कहा—५ सेर घर के खर्च के लिए रख कर बाकी हस्पताल मे मरीजो के लिए भेज दो। बाग का माली सन्तरे, केले, आम आदि के टोकरे लाया तो आनद ने आवश्यकता के अनुसार रख कर सब पाठशालाओ मे बच्चो के लिए भिजवा दिए। मुनीम गण ने बताया कि १० हजार ब्याज का आया है। आनन्द ने कहा, धर्मशाला बनवाने मे लगा दो। प्रतिदिन ऐसा होने लगा तो सब आनन्द के यश गाने लगे। आनन्द को अधिक कमाने की इच्छा न रही। सन्तोष धारण रखने से परम शान्ति मिलने लगी। जो यह समझते थे कि भगवान महावीर ने करोड़ो की सम्पत्ति रखने वाले को भी परिग्रह व्रत का धारी बना दिया, अब उनके रहस्य को समझे।

१२. महात्मा बुद्ध (५६७–४८७ ई० पू०) राइस-डेविड का कहना है कि महात्मा बुद्ध ने अपना धार्मिक जीवन जैन धर्मी के रूप मे आरम्भ किया।[8] वास्तव

---

8. Buddha started his religious life as a Jain. At any rate Gautama gave himself up to a cause of austerities under the influence of his Jain teacher.

—Budhism And Vaisali (By Public Relation Dept., Bihar Govt.) p. 9.

निकट शान्ति से बैठ गये। केवल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पाया।

२६. **अर्जुन माली**—महा भयानक दुष्ट, जो ६ मनुष्य और एक स्त्री प्रतिदिन मार डालता था और जिसके भय से कोई उस जगल से आ-जा नही सकता था। इसको पकड़ने के लिए महाराजा श्रेणिक ने १०,००० रुपयों का पुरस्कार घोषित कर रखा था। राजगिरि के सेठ सुदर्शन पर जो महावीर-समोशरण मे वन्दना को जा रहा था, यह झपट पडा। वीर-वन्दना-भाव के पुण्य फल से वन-देवता ने उसे कील दिया। अर्जुन बड़ा शक्तिशाली था। उसने बहुत यत्न किये, किन्तु बन्धन-मुक्त न हो सका। वह सुदर्शन के चरणो मे गिर पडा। सुदर्शन ने कहा कि यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो मेरे साथ वीर-वन्दना को चलो। अर्जुन ने कहा कि वहा तो महाराजा श्रेणिक जैसे धनवान् और धर्मात्मा आदि को स्थान मिलता है। मुझ जैसे निर्धन और पापी को कौन जाने देगा? सुदर्शन ने कहा कि वहाँ राजा हो या रक, धर्मात्मा हो या पापी, छोटा हो या वडा, सब पुरुषो को एक जैसा स्थान मिलता है। यह सुन कर अर्जुन साथ हो लिया और वीर-उपदेश से इतना प्रभावित हुआ कि समस्त ससारी वस्तुओ का मोह त्यागकर दिगम्बर मुनि हो गया। ऐसे महा दुष्ट और पापी को मुनि अवस्था मे देख श्रेणिक चकित रह गया और जिसको पकडने और मृत्यु-दण्ड देने के लिए भारी पुरस्कार की घोषणा कर रखी थी, भक्ति भाव से उसे नमस्कार किया।

३०. **शब्दालपुत्र**—यह कुम्हार पोलासपुर मे रहता था। वह वीर के समोशरण मे गया तो इतना प्रभावित हुआ कि उसने तुरन्त श्रावक के व्रत लिए। उस समय माली, कुम्हार, कहार आदि भी श्रावक-व्रत पालते थे।

३१. **विक्रमसिह**—पोलासपुर का राजा था, जैन धर्म का अनुयायी था। वीर के उपदेश से प्रभावित होकर उसके राजकुमार एवन्त ने अपने पिता से दि० मुनि होने की आज्ञा माँगी तो उसने कहा कि अभी तुम बच्चे हो, मुनि-व्रत नही पाल सकोगे। राजकुमार ने कहा कि धर्म पालन आयु पर नहीं, बल्कि श्रद्धा और विश्वास पर है। वैसे आयु का भरोसा क्या? मृत्यु के लिए बच्चा और बूढा एक समान है। यदि जीवित भी रहा तो सदा निरोगी रहने का क्या विश्वास? रोगी से धर्म-पालन नही हो सकता। बुढापे मे तो धर्म-साधना की शक्ति ही नही रहती। मनुष्य-जीवन बार-बार नहीं मिलता। सयम मनुष्य ही पाल सकता है। छोटी-सी आयु में ही वह दि० मुनि हो गया।

३२ **स्पात्यकीय**—नामक अन्तिम (११वां) रुद्र ने वीर-तप की परीक्षा के लिए उज्जैन के अति मुक्ति नामक शमशान मे रात्रि के समय अपनी मायामयी विद्या के बल पर भयानक वर्षा जोरदार वृक्षो तक को उखाड़ देने वाली आंधी, आदि से महावीर स्वामी पर अत्यन्त घोर उपसर्ग किया। तप से न डिगने पर उसने हजारो विष-भरे सर्प, विच्छू आदि उनके नग्न शरीर से चिपटा दिये। पर्वत के समान ध्यान मे सुदृढ देखकर चकित हो उसने उनके चरणों मे गिर कर क्षमा मागी। सब उपसर्ग दूर करके सुगन्धित हवा चलाई, परन्तु भ० महावीर तो राग-द्वेष रहित थे। उपसर्ग से दुखी और उनके दूर होने पर सुखी न होते हुए निरन्तर ध्यानारूढ रहे।

३३. **गुह्यक**—भ. महावीर का शासन देवता (यक्ष) था। उसका वाहन हाथी था। वीर का परम भक्त था।

.४. **सिद्धार्नी**—वीर शासन-देवी (यक्षिणी) और वीर भक्ता थी।

और भी अनेक प्रसिद्ध राजे आदि वीर-भक्त उनके समय मे हुए। स्थान के अभाव से उन सबका वर्णन नही कर पाये।

केवल भारत मे ही नही, विदेशो तक मे वीर की मान्यता थी। डा० राधाकृष्णन, भूतपूर्व भारतीय राष्ट्रपतिके, शब्दों मे वीर-जन्म-शताब्दी ६०० ई पू. आध्यात्मिक शान्ति तथा अन्त करण की शुद्धि के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। चीन मे लाओत्से और कनफूशस, यूनान मे परमेनिडस और एम्पेदोक्लस, ईरान में जरथुस्त्र और भारत में भ० महावीर

और महात्मा बुद्ध हुए है।[15]

ईरान के बादशाह कुरूष (५५४-५३० ई० पू०) का राजकुमार आर्द्रक तो भ० महावीर की सर्वज्ञता सुनकर अपने ५०० मित्रों सहित भ० महावीर की वन्दना को आया। वह और उसके सब साथी वीर के उपदेश से इतने प्रभावित हुए कि समस्त राज्य-सुख त्याग दिगम्बर मुनि (भ० महावीर के समोशरण मे) हो गए।[16] इनके प्रभाव से ईरान में जैन धर्म का प्रचार हुआ और ईरानी जैन-सिद्धान्त अपनाने लगे।

यूनान का प्रसिद्ध दर्शनिक पंथेगोरस भ० महावीर का समकालीन था। उसने भी वीर के सिद्धान्तों को अपनाया और अपने देश में प्रचार किया। वह आत्मा और आवागमन को मानता था और न केवल मास-मछली बल्कि कन्दमूल आदि को अभक्ष्य मानता था।[17]

चीन के सन्त विचारक लाओत्से ने अपने देश मे रत्नत्रय का प्रचार किया।[18]

इतिहास-रत्न डा० ज्योति प्रसाद ने अपनी प्रसिद्ध रचना भारतीय इतिहास एक दृष्टि पृ. ४८-५० पर बताया कि भ० महावीर से भारत मे ही नहीं बल्कि समस्त ससार मे ज्ञान-जागृति हुई। फिलिस्तीन मे मूसा आदि सन्त विचारक हुये।

इतिहास साक्षी है कि वीर-काल मे जगत के विभिन्न भागो मे अनेक प्रख्यात विचारक, दार्शनिक, धर्म प्रवर्तक हुए जिन्होंने अपने अपने देशो मे भ० महावीर के प्रमुख सिद्धान्तो का प्रचार किया। □□

15 600 B.C. was remarkable for the Spiritual unrest and intelletual ferment in many countries. In CHINA we had Lao-Tze and Confusius, in GREECE Parmenides and Empedocles, in IRAN Zarathustras in India, Mahavira and Buddha.

—Dr. S. Radha Krishnan. Foreward 2500 years of Buddhism, Published by Publication Divison, Govt of India, P. V.

16 i. Shrenik's Son Abhay Kumara had friendship with Prince of Persia by name Ardraka. He called him to India and took him to Mahavira. Hearing the divine discorse, Ardraka becama Jaina monk. He took the massage of Animsa to his c untry.

—Religion of Tirthankaras, World Jain Mission's publication.

ii. Jain Siddhant Bhaskar, Vol XI, P. 2 for details.

iii Dictionary of Jain Biography (Arrah) pp. 11 to 92.

17. i The Greek Philosopher Pythagoras (born 580 B C) was contemporary of Mahavira, believed in the theory of of metapsychosis, transmigration of soul doctrine of Karma and refrained from the destruction of life and eating meat and even regarded a certain vegetable as taboo.

—The Legacy of India, Oxford (1937)

ii. All these beliefs are peculiary and distinctively Jain and they have little in common with either the buddhist or the Brahmanic religions.

—Dr Jyoti Prashad : Jainism, The Oldest Divine Religion, p. 19.

18. Lao-Tse, the great sage philosopher of China preached three jewels (1) Forgiveness, (2) Restraint, (3) Alysence of aspiration of being first in the world.

—Jain Journal, (Calcutta) Oct. 1966, p. 44.

से महात्मा बुद्ध भ० महावीर के सिद्धान्तों से इतना प्रभावित हुए कि वे जैन बन गए; परन्तु जैन मुनि का कठिन तप और २२ परिषह सहन न कर पाने के कारण अपना एक नया मध्यम (बौद्ध) धर्म प्रचलित कर दिया।[9] महात्मा बुद्ध स्वयं स्वीकार करते है कि उसने जैन मुनियों की क्रियाओं का पालन किया।[10] अनेक विद्वानों का कहना है कि महात्मा बुद्ध ने अनेक जैन सिद्धान्त अपने बौद्ध धर्म मे शामिल किए।[11] बुद्ध भ० महावीर को सर्व दृष्टि से ज्ञानी स्वीकार करते थे और कहते थे कि ऐसा अनुपम ज्ञान उन्हे (बुद्ध को) प्राप्त नही।[12]

१३ उदय सिन्धु—ये सौवीर के इतने महान सम्राट थे कि कई सौ मुकुट बन्द राजे उनके आधीन थे। चेटक की पुत्री प्रभावती उनकी पट रानी थी। दोनों वीर-भक्त थे। अपनी राजधानी मे उन्होंने महावीर जैन मन्दिर भ० महावीर के जीवन काल में ही बनवा लिया था जिसमे उन्होंने भ० महावीर की स्वर्णमयी प्रतिमा विराजमान कर रखी थी।[13] उनके मंदिर मे भ० महावीर की सुन्दर काष्ठ की एक बड़ी अनुपम और कलापूर्ण प्रतिमा इतनी मनोज्ञ थी कि मालवा देश का राजा चन्द्रप्रद्योत उस सन्दल की वीर-मूर्ति को अपनी राजधानी उज्जैन ले गया और उसे उदयन युद्ध करके वापस लाया।[14] राजा रानी दोनों दिगम्बर मुनियों के इतने भक्त और सेवक थे कि स्वर्ग के देव परीक्षा हेतु एक रोगी कुष्ठी, अत्यंत दुर्गन्ध पूर्ण कि कोई उनके पास भी न जाता था, मुनि बनकर उनकी नगरी मे आया। दोनो ने बड़ी श्रद्धा से उनका व्याव्रत किया। उसका मल-मूत्र तक भी उन्होंने उठाया जिसे देखकर वह मुनि असली देव-रूप मे प्रगट हुआ। उन दोनों की बडी प्रशसा की और महाराजा उदयन सम्यक् के तीसरे निर्विचिकित्सा अंग मे जग प्रसिद्ध हुये।

१४. सती चन्दना—चेटक की पुत्री इतनी सुन्दर थी कि एक विद्याधर उसे उठाकर ले गया और अपनी पट रानी बनाना चाहा। वह सहमत न हुई तो एक भयानक जगल मे छोड दिया। वहाँ भीलों के राजा ने अपनी स्त्री बनाना चाहा और इनकार करने पर कोशाम्बी के बाजार में उसे नीलाम कर दिया। एक वैश्य ने उसे खरीद लिया। चन्दना उसके साथ नहीं जाती थी। वहाँ के सेठ वृषभ सेन बहुत-सा धन वेश्या को देकर चन्दना को घर ले आया। उनकी सेठानी ने चन्दना को अपने से भी सुन्दर और चतुर जानकर ईर्ष्याभाव से उसके सर के बाल कटवा कर लोहे की जंजीरो मे जकड़ कर काल कोठरी मे बन्द कर दिया और खाने को मिट्टी के प्याले में कोदों के दाने देती थी। भ. महावीर को विहार करते हुये कोशाम्बी आये ६ माह हो गये। राजे महाराजे प्रगाहने को खड़े होते पर उनका निमित्त न मिलना। चन्दना ने झरोखे मे उनके

---

9 In fact Buddha being inspired by the teachings of Lord Mahavira, became JAIN SAINT, but being unable to stand the hard life of a Jain monk, he founded the Madhyam Path
—J.H M. Feb. 1925, p. 26.

10 (i) मज्झिम नि० १/२/६ (हिन्दी पृ. ४८-४६)।
(ii) विस्तार के लिए, हमारा वर्द्धमान महावीर" पृ. ४३६

11. Karma theory of Jain is an original and integral part of their system. They (Buddhists) must have borrowed the term (Asrava) from Jains.
—Dr. H Jacobi, Encyclopaedia of Religion & Ethics, Vol. VII, p. 472.

(i) Buddha must have borrowed Jaina Doctrines.
—Prof. Sil : J.H.M. November, 1928, p. 3.
(ii) Jainism is mother of Buddhism.
—Dr. H. Jacobi, Digamber Jain, Surat, Vol. V, p. 48.

12. मज्झिम नि० भाग १, पृ० ६२-६३।

13. Udayin was a devout Jain King. He got built a very beautiful Jaina temple in his capital with gold image of Lord Mahavira.
—Dr. Kamta Prasad, Sanksipt Jain Itihas Vol. I, pp. 14-23.

14 Da. U.P. Shah : Studies in Jain Art.

दर्शन किए जिसके पुण्य फल से उसकी जंजीर स्वयं टूट गई। मिट्टी का प्याला-स्वर्ण का और कोदे के दाने खीर बन गये। उसने विधि पूर्वक भगवान को आहार दिया जिसको सुनकर वहाँ का राजा शतानीक और उसकी रानी मृगावती उस भाग्यशाली चन्दना के दर्शन करने सेठ वृषभसेन के घर आये। सेठानी घबरा गई कि चन्दना ने मेरे अत्याचार कह दिये तो प्राणदण्ड मिलेगा। वह चन्दना के चरणों मे पडी। राजा और रानी ने चन्दना को पहचान लिया। वह रानी की सगी बहिन थी। चन्दना को राज मंडल मे ले जाना चाहा; परन्तु संसार के भयानक दुःखो को देखकर, लोक-कल्याण हेतु जब महावीर स्वामी को केवल ज्ञान हो गया; तो वह उनके समवसरण मे आर्यिका हो गयी और योग्यता के बल पर शीघ्र ही सर्व प्रमुख आर्यिका कहलाई।

१५. **चेलना** :—चेटक-पुत्री तथा मगध सम्राट् श्रेणिक की पटरानी श्रेणिक ने अपनी राजधानी राजगिरि मे, आत्म-धर्म, अगस्त १९६६, पृ०१७० के अनुसार, चेलना के कहने पर भगवान् महावीर के ही जीवन काल में उनका विशाल मन्दिर बनवाया। महाराजा श्रेणिक को सुदृढ़ जैन और वीर-भक्त बनाना इसी महिला-रत्न का कार्य था।

१६. **यमिनी**—महा तारा शालिभद्र की पुत्री, इतनी विद्वान् और ज्ञानवती थी कि हरिभद्र सूरि जैसे विद्वान् को शास्त्रार्थ मे पराजित करके उन्हे जैन धर्म मे दीक्षा दिखलाई।

१७. **इन्द्रभूति गौतम**—वीर-समय का सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण विद्वान् था। राजगिरि के निकट गोवट ग्राम का निवासी था। इसका गोत्री गौतम था जिसके कारण इसको गौतम भी कहते थे। वसुभूति के ज्येष्ठ पुत्र थे। पृथ्वी इनकी माता थी। ५०० प्रचण्ड विद्वानो के गुरु थे। भगवान् महावीर से शास्त्रार्थ करने उनके समवशरण मे गये, परतु उनके अनुपम ज्ञान, सर्वज्ञता से प्रभावित होकर उनके निकट जैन मुनि हो गये और अपनी योग्यता से उनके प्रमुख गणधर बन गये।

१८. **अग्निभूति गौतम**—इन्द्रभूति के मझले भ्राता और उस समय के प्रचण्ड ब्राह्मण विद्वान् तथा ५०० शिष्यों के गुरु थे। भ० महावीर से प्रभावित होकर ५०० शिष्यों सहित जैन मुनि तथा उनके दूसरे गणधर हो गये।

१९. **वायुभूति गौतम**—इन्द्रभूति के लघु भ्राता और अपने समय के महाविद्वान् ब्राह्मण थे। ५०० शिष्यों सहित, भ० महावीर के ज्ञान से ही प्रभावित हो जैन मुनि हो गये और उनके तीसरे गणधर बने।

२०. **सचिदत्त**—अपने समय के बड़े विद्वान् ब्राह्मण पण्डित थे। यज्ञ मे प्रसिद्ध थे। भ० महावीर से प्रभावित होकर दिगम्बर मुनि हो गये और हिंसक तप व यज्ञ त्याग कर महावीर के चौथे गणधर हुए।

२१. **मण्डिक**—धनदेव की स्त्री विजया देवी के पुत्र और प्रसिद्ध ब्राह्मण विद्वान् थे। भ० महावीर के उपदेश से प्रभावित होकर जैन मुनि हो गये और पांचवें गणधर बने।

२२. **मौर्य-पुत्र**—काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण मौर्य के पुत्र थे। भ० महावीर के समवशरण मे जैनमुनि होकर छठे गणधर कहलाये।

२३. **आकम्पित**—मिथिला-निवासी, गौतम गोत्रीय, देवदत्त के पुत्र थे। जयन्ती इनकी माता का नाम था। ब्राह्मण-धर्म त्याग दिगम्बर मुनि हो गए। भ० महावीर के सातवें गणधर थे।

२४. **अचल वसु**—कोसला निवासी ब्राह्मण थे। नन्दा देवी इनकी माता का नाम था। ब्राह्मण-धर्म त्याग कर वीर स्वामी से प्रभावित हो जैन मुनि हो गये और आठवें गणधर हुए।

२५. **मंत्रिय**—वत्स देश के निवासी। कौडिन्य नामक ब्राह्मण के पुत्र। माता वरुण देवी। नवें गणधर अत्यन्त चतुर और बुद्धिमान।

२६. **प्रभास**—इनके पिता का नाम बल और माता का नाम अतिभद्रा था। राजगिरि निवासी, महा पण्डित। ब्राह्मण पुत्र, दसवें गणधर थे।

२७. **सुधर्म**—राजगिरि के सुप्रसिद्ध ब्राह्मण के महा विद्वान् पुत्र। जैन मुनि होकर भ० महावीर के ११वें गणधर थे।

२८. **यशोधर**—महा मुनि, सिंह से भी भयानक ५०० शिकारी कुत्ते एक दुष्ट ने इन पर छोड़ दिये; परन्तु यह ध्यान में मग्न रहे और इनकी शान्त मुद्रा तथा तप के प्रभाव से वह सब क्रूर कुत्ते प्यार से दुम हिलाते हुए इनके

भगवान् महावीर ने धर्म-तीर्थ के लिए चतुर्विध संघ-मुनि, आर्यिका, श्रावक तथा श्राविका की व्यवस्था की। सारे पारिवारिक तथा धार्मिक संस्कारों मे श्रावक तथा श्राविका की स्थिति तथा स्तर समान है। इस सत्य से मुख नहीं मोडा जा सकता। पारिवारिक व्यवस्था, चाहे वह किसी भी संस्कृति की हो, पुरुष-प्रधान है। कुछ अपवादों को छोड कर पुरुष-प्रधान-व्यवस्था को ही आदर्श माना गया है। यह कटु सत्य है कि गृहस्थ-जीवन मे नारी का जो अभ्युत्थान होना चाहिए था, वह नही हो पाया है। नारी स्वयं भी मोहग्रस्त रही है और इस व्यवस्था को उसने आनन्द और हर्ष से स्वीकार किया है। यह जन-साधारण की बात है परन्तु कुछ राजा तथा श्रेष्ठि-परिवार इसके अपवाद हो सकते है।

नारी के विभिन्न रूप

पुरुष के व्यक्तिगत तथा सामाजिक मे जीवन हमें नारी के विभिन्न रूप प्राप्त होते है। जैसे – पुत्री बहिन, पत्नी, प्रेमिका तथा माँ इत्यादि। इसके अनेक रूपों मे समाज तथा पुरुष प्रभावित हुआ है और वह स्वयं भी अनेक रूपों तथा स्थितियो से प्रभावित हुई है। नारी की दुष्टता की चरम सीमा का चित्रण भी है तथा उसकी विशालता, कोमलता और प्रेम की उदात्तता के चित्र भी देखने को मिलते है।

स्त्रियो के चरित्र के सम्बन्ध मे सम्मुग जातक (बौद्ध ग्रन्थ) मे कहा है कि—

सुरक्खित मेत्ति कथं नु विस्ससे।
अनेक चितासु न हत्थि रखना।
एताहि पाताल पपात सन्निभा।
एत्थय मत्तो व्यसनं निञ्छति॥

"यदि कोई समझता है कि मैंने अपनी स्त्री को सुरक्षित रखा हुआ है तो वह भ्रम में है। उसका कभी विश्वास नही करना चाहिए। स्त्री की बुद्धि बहुत ही चंचल होती है, उसकी रक्षा नही की जा सकती है। उसका स्वभाव तो झरने की तरह होता है जो बराबर ऊपर से नीचे की ओर ही गिरता रहता है। ऊपर उठना उसके लिए सर्वथा असम्भव है। नीचे गिरना ही उसका स्वभाव और धर्म है। जो भी व्यक्ति उसके प्रति असावधान रहता है, वह दुखी रहता है।" ऐसे अनेकानेक प्रसंग विभिन्न धार्मिक तथा सामाजिक ग्रन्थों में मिलेंगे। इनका पुरुष-समाज पर व्यापक प्रभाव पडा और नारी के प्रति पुरुष-संस्कार बहुत क्रूर और अमानवीय बने।

पारिवारिक स्थिति के अतिरिक्त उस काल में नारी को चेटिका, दासी, गणिका तथा वेश्या के रूपों को भी धारण करना पडा। अधिकाश में यह परिस्थितियाँ नारी की स्वेच्छा से उत्पन्न नही हुई परन्तु पुरुष-प्रधान समाज ने अपने शारीरिक तथा आर्थिक बल के कारण अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए उस पर थोप दी। तुलसी दास जी की निम्न पक्ति से नारी की सामाजिक विवशता तथा पर-वशता का आभास होता है।

"कत विधि सृजी नारि जग माहि।
पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं॥

"हे विधाता तूने, औरत की रचना ही क्यों की? पराधीन व्यक्ति को सपने मे भी सुख नही मिलता।" नारी-जीवन की विवशता पर रोना आता है। उपर्युक्त पक्तियाँ नारी के अन्तर्मन की व्यथा व्यक्त कर रही है। नारी जीवन के बोझ को अनमने-पन से स्वयं न जी कर दूसरों के लिए जी रही थी। ऐसी परिस्थिति मे भी पुरुष-समाज उसके मातृत्व की महिमा का गान करके लाभ उठाने से नही चूका। मा से अपेक्षा की गई कि पुत्र चाहे कपूत ही निकले परन्तु माता कभी कुमाता नहीं होती है। धन्य है नारी, उसने इसे भी अक्षरश: पूरा किया।

साध्वी-व्यवस्था

परन्तु उसे मिला क्या? क्या कभी उसके अन्तर्मन को शान्ति मिल पायी? क्या समाज ने समझा कि ऐसी भीषण स्थिति उसमे जीवन के प्रति वैराग्य पैदा नही कर सकती। नारी इस वैषम्य से ऊब उठी थी। इस सूत्रकालीन व्यवस्था के विरोध मे जो क्रान्ति हुई, उससे नारी ने भिक्षुणी व्यवस्था को स्वीकार किया। वह व्यवस्था नारी के प्रति आदर के भाव जागृत कर सकी और नारी-जीवन का विशिष्ट अग बन गई।

वैदिक-साहित्य मे भिक्षुणी-साध्वी तथा संन्यासिनी या उससे मिलती-जुलती किसी भी ऐसी व्यवस्था का उल्लेख नही मिलता है। वैदिक युग में साध्वियों का

अस्तित्व नही था। कही-कही विदुषी नारियो तथा ब्रह्म-वादिनी स्त्रियों का वर्णन अवश्य मिलता है परन्तु वह किसी व्यवस्था का द्योतक नही है।

ऋषि-पत्नियाँ तथा रानिया पति की सहयोगिनी के रूप मे ही धार्मिक (यज्ञादि) कृत्य करती थी। वान-प्रस्थ तथा सन्यासाश्रम मे उन्हें प्रवेश करने का अधिकार नही था। इसमे पुरुष-वर्ग का ही एकाधिकार था। उत्तर वैदिक काल मे नारी धार्मिक अधिकारो से वचित कर दी गई। कालान्तर मे उसका ह्रास ही होता गया।

जैन-आगमों से भली-भाँति स्पष्ट है कि उस काल मे भी नारी को न केवल जैन धर्मानुयायी पुरुषों के समान धार्मिक अधिकार प्राप्त थे; बल्कि आर्यिका-सघ की व्यवस्था मे नारी साध्वी बनने पर भी किसी प्रकार का प्रतिबन्ध या अकुश नही था। महावीर-काल मे स्त्रियो को सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दानो दृष्टियो से पुरुषो के समान स्तर तथा प्रतिष्ठा मिली।

जैन-आगमो में आर्यिका-सघ की व्यवस्था प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के काल से ही थी। उनकी दोनो पुत्रियां ब्राह्मी तथा सुन्दरी ने आर्यिका-दीक्षा भगवान से ली थी और ब्राह्मी (मुख्य आर्यिका) के नेतृत्व मे तीन लाख आर्यिकाओ का सघ था। उसके बाद भी प्रत्येक तीर्थंकर के काल मे आर्यिका-सघ की व्यवस्था थी। पार्श्वनाथ के काल मे आर्यिका-सघ की प्रधान आर्यिका पुष्पचूला थी तथा उनके नेतृत्व मे ३८ हजार आर्यिका थी। महावीर के आर्यिका-सघ मे ३६ हजार आर्यिकाए थी। प्रधान आर्यिका सती चन्दना थीं परन्तु कुछ का कहना है कि प्रधान आर्यिका यशस्वती थी परन्तु यह विवाद ग्रस्त बात नही है कि सती चन्दना प्रसिद्ध आर्यिका थी।

जैन महाव्रती सघ-व्यवस्था मे जैनाचार्य-निर्मित नियमों के आधार पर मुनि-सघ तथा आर्यिका-सघ का सरक्षण व सचालन करते थे। सत्पात्र नारी को आर्यिका-दीक्षा लेने में कोई विशेष कठिनाई नही होती थी। मुनि-सघ तथा आर्यिका-सघ के स्तर मे थोड़ा ही अन्तर था परन्तु व्यवहार में यह समान ही था। मुनि तथा आर्यिका की दिनचर्या तथा विनय के नियम लगभग समान ही है। समाज में दोनो का विशिष्ट स्थान था और आज भी है। राजा तथा प्रजा दोनों ही आयिका या परिव्राजिका को पूरा पूरा विनयपूर्वक सम्मान देते है।

जो नारिया पारिवारिक तथा सामाजिक कारणों द्वारा पीड़ित होती थी तथा जिनके मन में वैराग्य के अंकुर फूट निकलते थे, वे प्रव्रज्या लेती थी। इसमे राज-कुल सामन्त तथा श्रेष्ठी व सम्भ्रान्त परिवारो की नारिया भी होती थी जिन्हे ससार की असारता की विवेकमयी अनुभूति हो जाती थी। इस सर्वोदय-तीर्थ में नारी को पूरे आत्मोत्थान का अवसर तथा तज्जन्य आनन्द प्राप्त होता था।

भगवान महावीर के काल मे कई सम्प्रदाय थे और उन सम्प्रदायो के सस्थापकों ने अपने लिए भी 'तीर्थंकर' उपाधि का प्रयोग किया है जैसे पूरण कास्सप, मक्खलि-गोसाल, अजित केसकम्बलि, पकुधकच्चायन् (प्रकुध कात्यायन) सञ्जय वेलट्ठिपुत्त, शुद्धोदन-पुत्र बोधिसत्व। इनके अतिरिक्त भी इनसे छोटे अनेक शास्ता थे जो अपने सिद्धान्तो को उस काल मे प्रचलित कर रहे थे। इनमें से कुछ ने महावीर का अनुकरण करके लघुरूप में भिक्षुणी-सघ की व्यवस्था करने का प्रयास किया परन्तु वह चल नही पाई। बौद्ध-धर्म में ही अशत उसका पालन हो पाया। बौद्ध-धर्म को छोड़कर लगभग सभी सम्प्रदाय छिन्न-भिन्न हो गए और उनका चिह्नमात्र भी शेष नही है।

बौद्ध-धर्म में बोधिसत्व ने भिक्षु सघ की स्थापना की परन्तु भिक्षुणी-सघ की स्थापना उसके कई वर्षों (लगभग सात आठ वर्ष) तक नही हुई। उसका कारण यह है कि बुद्ध नारी के प्रति उदासीन रहे। अपनी राज-कुमार अवस्था में उन्होंने अतःपुर की परिचारिकाओं को घृणित रूपो में देखा था और उससे उनके मन में ग्लानि उत्पन्न हो गई थी। यह भी उनकी प्रव्रज्या का एक कारण था। उन्होने स्त्रियो को ब्रह्मचर्य का विकार बताया था।

"इत्थी मल ब्रह्मचरियस्स एत्थाय सज्जते पजा"
सयुत्त निकाय १।३६

उनका विश्वास था कि नारी पिता, पति तथा पुत्र

महावीर तथा नारी

□ श्री रत्नत्रयधारी जैन, नई दिल्ली

"नारी तथा महावीर" विषय अपने आप मे बडा विचित्र लगता है; क्योंकि जनमानस पर यह बात स्पष्ट है कि वह जन्मना ब्रह्मचारी, अन्तर्मुखी, आत्मदर्शी तथा अपरिग्रही थे; तब उनका नारी से क्या सम्बन्ध हो सकता है ?

यह भ्रांति फैली हुई है कि आध्यात्मिक धरातल पर होने से सभवतया उस महामानव ने "नारी नरकस्य द्वारम्" माना है। इस भ्रान्ति का आधार है—दिगम्बर आम्नाय की यह मान्यता—"नारी-पर्याय से मोक्ष नही हो सकता।" इस मान्यता को नारी के प्रति बडा अनुदार माना गया है। बुद्ध के अनुसार भी स्त्री सम्यक् सम्बुद्ध नही हो सकती। अन्य धर्मों मे भी ऐसी मान्यताएँ है कि मोक्ष-प्राप्ति मे परम पुरुषार्थ हेतु पुरुष-पर्याय ही अपेक्षित है या आध्यात्मिक उत्थान तथा तप की जितनी क्रियाएँ है, वे पुरुष के शरीर-सगठन से ही सहज और सुलभ है।

आज के परिवेश मे; जब यह वर्ष भगवान महावीर का २५००वा निर्वाण-वर्ष है तथा सयुक्त-राष्ट्र-सघ द्वारा भी इस वर्ष को अन्तर्राष्ट्रीय "नारी-वर्ष" के रूप मे मनाया जा रहा है; प्रस्तुत विषय पर चर्चा अत्यन्त आवश्यक एवं समीचीन है।

जैनेतर ग्रन्थों में नारी :

रामायण, महाभारत आदि अनेक जैनेतर ग्रन्थों के कतिपय उद्धरणो मे जहाँ एक ओर नारी को हीन, पतित, पापिनी, अविश्वसनीय तथा पुरुष की सम्पत्ति कहा गया है, वहाँ देवी रूपी नारी को लक्ष्मी, सरस्वती तथा शक्ति का उच्चतम रूप माना गया है। यह सब होते हुए भी स्त्री-आचार-सहिता एकागी रही है, जबकि पुरुष के लिए आचार-सहिता से उसका निरकुश प्रभुत्व व्यक्त होता है।

काव्य-ग्रन्थो मे भी नारी के नख-शिख-वर्णन का बाहुल्य है; मानो मानव एवं देवो के मनोविनोद के लिए ही नारी की सृष्टि हुई हो। उसे पुरुष के लिए भोग विलास का अन्यतम साधन माना गया है। नायिका, गणिका, वारांगना, अभिसारिका, दूती आदि अनेक रूपों में नारी का चित्रण इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है। इससे स्पष्ट है कि रसिक राजा एवं गणप्रधान तथा सम्पन्न श्रेष्ठी-वर्ग उन्मत्त प्रणय-व्यापार के लिए नारी का खुलकर उपयोग करते थे।

वैदिक काल में तो नारी का सामाजिक स्तर अच्छी स्थिति मे रहा परन्तु शनैः शनैः इसका ह्रास होता गया; यहाँ तक कि स्मृति-युग मे नारी द्वारा वेद-मन्त्रो के उच्चारण पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। स्वतन्त्र जीवन-यापन उसके लिए निषिद्ध हो गया।[1] नारी की बौद्धिक शक्ति के प्रति अवज्ञा का भाव प्रकट किया गया। नारी को 'अगुलि-भर प्रज्ञा वाली' कह कर अपमानित किया गया। नारी को केवल सन्तानोत्पत्ति का साधन माना गया।[2]

मातृ-सत्तात्मक समाज के स्थान पर पितृ-सत्तात्मक समाज की स्थापना से नारी की दशा दिन-प्रतिदिन दयनीय होती गई। नारी के जितने रूप ग्रन्थों मे उपलब्ध होते है, वे पुरुष-सत्ता से प्रभावित है। मध्यकालीन साहित्य मे नारी-व्यक्तित्व की मरणासन्न दशा व्यक्त होती है। शृङ्गार-परक साहित्य ने न केवल अपने युग को प्रभावित किया अपितु इसका कुप्रभाव सुदीर्घ काल तक बना रहा।

---

१. पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रस्तु स्थविरे भावे, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥
—बोधायन धर्म-सूत्र, २।३।४।२

२. प्रजननार्थं स्त्रियः सृष्टाः, सन्तानार्थं च मानवाः।
—मनुस्मृति ९।९६

रामायण, महाभारत, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य-धर्म-सूत्र, वसिष्ठ-धर्म-सूत्र, हरिवंश-पुराण ग्रादि वैदिक ग्रन्थों तथा दीघनिकाय, सुल्लावग्ग, जातक-कथा ग्रादि बौद्ध ग्रन्थों से नारी की हीन सामाजिक स्थिति पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है। इन ग्रन्थों ने यदा-कदा जहाँ भी नारी को सम्मानित रूप में प्रदर्शित किया है, वे नारिया केवल राजकुल, सामन्त, श्रेष्ठि-वर्ग की कुछ नारियाँ हैं। सामान्य नारी को तो वेश्या, शूद्र तथा पशु की स्थिति में रखा गया है।

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि बौद्ध एवं जैन युग के ग्रारम्भ तक नारी की स्थिति हीन तथा दयनीय हो चुकी थी।

महावीर द्वारा क्रान्ति का सूत्रपात

लिच्छवि गणराज्य में जन्मे महावीर इससे भली भांति परिचित थे। इसीलिए उन्होंने क्रान्ति की उद्घोषणा की ग्रौर धार्मिक जड़ता, कर्मकाण्ड तथा पुरुष-प्रधान समाज-व्यवस्था तथा ब्राह्मणवाद का बहिष्कार करने को कहा। वर्ण-व्यवस्था पर सीधा कुठाराघात किया। मानव की समानता तथा सम्मान को धर्म का मूल कहा। प्राणिमात्र के प्रति समता तथा प्रेम भाव की प्रेरणा दी। एकागी दृष्टिकोण ग्रौर भ्रान्ति तथा हठाग्रह की अग्नि से जलते हुए लोगो को ग्रनेकान्त तथा स्याद्वाद का रस-पान कराया। मानवीय गुणो की वृद्धि तथा प्रत्येक व्यक्तित्व के चरम विकास का लक्ष्य रखा। इसी स नारी का भी ग्रभ्युदय तथा चरम विकास हुग्रा।

नारी को भगवान् ने प्रतिष्ठित किया। उसके मातृत्व को पूज्य बनाया। उसे ग्रात्म-कल्याण का मार्ग बतलाया। उस पथ पर नारी की ग्रग्रगति के लिए भिक्षुणी तथा ग्रार्यिका-संघों की स्थापना हुई। उसे पुरुष के समान ही धार्मिक ग्रधिकार मिले। जैसे-जैसे महावीर की विचार-धारा फैली, वैसे-वैसे नारी का उत्साह बढता गया ग्रौर वह सम्मानित स्थान प्राप्त करती गई।

भगवान् महावीर ने कहा कि नारी ही तीर्थंकर तथा शलाका पुरुषो को जन्म देने वाली है। उन्होंने कहा कि नारी त्याग की मूर्ति है ग्रौर जब वह विवेक से विचरण करती है, ग्रपनी इच्छायें ग्रल्प कर लेती है।

जैन-ग्रन्थों में नारी

वैदिक संस्कृति में पुत्र के जन्म को महत्व दिया गया है। पितृ-ऋण से मुक्ति पाने के लिए पुत्र-प्राप्ति परम ग्रावश्यक मानी गई है। परन्तु श्रमण (जैन व बौद्ध) सस्कृति मे इस पर कोई ग्राग्रह नही। वहाँ इसकी उपेक्षा की गयी है। पुत्र नरक से पिता की रक्षा नहीं कर सकता है। कर्म में प्रत्येक जीव स्वतत्र है। इसलिए उसे पिण्ड तथा जल-तर्पण ग्रादि क्रिया काण्ड की कोई ग्रावश्यकता नही है। इस मान्यता से पुत्र तथा पुत्री की समानता के प्रति दृष्टिकोण को बल मिलता है। ग्रन्य सस्कारो मे भी नारी के व्यक्तित्व को ग्रागमो मे सम्मान से देखा गया है।

जैन-ग्रागमो मे भी कई स्थलो पर नारी के प्रति कटु एव दुर्भावना-पूर्ण वाक्यो का उपयोग हुग्रा है। इसका एक कारण यह है कि भगवान् महावीर के बाद जैन-साहित्य तथा ग्रागम-ग्रथ वैदिक तथा बौद्ध प्रभाव से ग्रछूते नही रह सके। सस्कृतियो का ग्रादान-प्रदान एक काल मे इतना व्यापक ग्रौर गहरा होता है कि कभी कभी मूल मान्यता उसकी चपेट मे पूर्णतया नष्ट हो जाती है।

ध्यान-पूर्वक चितन तथा मनन करने पर ज्ञात होगा कि नारी के विषय मे जो कुछ भी कहा गया है, वह सयम-पालन तथा उसकी रक्षा हेतु है। ग्रगर पुरुष के सयम-पालन मे स्त्री बाधक होती है तो उसी प्रकार नारी के सयम-पालन मे पुरुष बाधक होता है। वास्तव मे जो भी दोष है, वह पुरुष या नारी का एक दूसरे के प्रति दृष्टिकोण तथा भावानुभूति का है। जिस भाव की स्थापना की जाती है, वैसे ही रूप के दर्शन होते हैं ग्रौर वैसी ही क्रिया तथा प्रतिक्रिया का फल होता है। जैन-दर्शन की नीव गुण-पूजा पर ग्राधारित है, इस लिए किसी भी बाह्य पदार्थ तथा व्यक्ति से, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, साधना प्रभावित नहीं हो सकती, जब तक व्यक्ति की दृष्टि स्वयं प्रभावित न हो। भावना प्रधान होने से जो भी परिणाम होता है, उसका कर्ता स्वयं जीव होता है। ग्रन्य कोई भी उसका हित ग्रहित, नही कर सकता है। बौद्ध तथा जैन ग्रागमों ने नारी को सात तथा चौदह रत्नों में से एक माना है।

के अधीन गृहस्थ में रह कर यथाशक्ति धर्म का पालन करे। वे सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से स्त्रियो को सघ में प्रवेश देने के पक्ष में नही थे। उस काल मे नारी का ब्रह्मचर्य में विश्वास व उसे पालने की इच्छा होने पर भी शारीरिक रचना के कारण उसे पुरुष के बल-प्रयोग द्वारा भ्रष्ट किया जा सकता था।

बुद्ध के प्रधान भिक्षु आनन्द इस सम्बन्ध में उदार थे और महावीर का श्रमणी-संघ भी उनकी दृष्टि में था। उन्होंने कितनी बार चाहा कि भिक्षुणी-सघ भी स्थापित हो, परन्तु बुद्ध ने इसके लिए अनुमति नही दी। इसी प्रकार का प्रयास बुद्ध की मौसी गौतमी भी करती रही। उनके हाथ भी निराशा लगी। एक बार उन्होने अपने केशों को कटवा लिया था तथा बौद्ध भिक्षुओ के समान काषाय वस्त्र धारण कर लिए और अन्य बहुत-सी स्त्रियों को भी अपने साथ ले लिया और कपिल-वस्तु से वैशाली की पद-यात्रा की।

आनन्द तथा गौतमी ने एक के बाद एक तर्क दिए और बुद्ध ने अनिच्छा तथा अनमने-मन से सहमति प्रदान की थी। आनन्द ने भिक्षुणी-संघ के विधान की रचना की और इस व्यवस्था से भिक्षुणी बनने के लिए मार्ग खोल दिया। इस संघ की प्रमुखता भिक्षुओं के हाथ मे थी। भिक्षु और भिक्षुणी का स्तर जैन मुनि तथा आर्यिका के समान एक-से स्तर का नही बन पाया।

भिक्षु और भिक्षुणी-सघ की स्थापना से कई नवीन समस्यायें समाज के सामने उत्पन्न हुई। यह देश का दुर्भाग्य रहा कि उस काल की राज्य-व्यवस्था के कारण भिक्षुणी के साथ अनुचित कार्य करने से कुशील व्यक्ति सामाजिक या राजदण्ड का भागी नही होता था। भिक्षुणी-संघ प्रतिष्ठा तथा सम्मान प्राप्त नहीं कर सका।

आज भी बौद्ध धर्मावलम्बियों में मान्यता है कि नारी (निम्न जीव) को संघ में प्रवेश कराकर शाक्य मुनि ने अच्छा नहीं किया। ऐसा करके उन्होंने बौद्ध-धर्म की उन्नति को ५०० वर्ष पीछे धकेल दिया है। आज भी हिमालय के किन्नर प्रदेश, तिब्बत एवं लद्दाख में (जो कि बौद्ध-धर्म के गढ़ हैं), नारी को सम्मानित पद प्राप्त नहीं है। आज बौद्ध भिक्षुणी नाम-मात्र को रह गई हैं। गोम्फाओं, मठों, विहारों, चैत्यों तथा मन्दिरों में भिक्षुणी-संघ का अभाव-सा ही है। उस काल में भी बौद्ध भिक्षुणी तथा जैन आर्यिका-सघ की सख्या के अनुपात में बड़ा अन्तर था। जैन आगमो मे कहीं भी ऐसा वर्णन नही मिलता कि किसी गणिका ने आर्यिका-दीक्षा ली हो; परन्तु अनेक गणिकाओं ने बौद्ध भिक्षु-संघ मे दीक्षा ली थी। उनमें से प्रख्यात आम्रपाली है। भिक्षुणी-संघ तथा आर्यिका-संघ—दोनों दीक्षित नारी-संघो की किस प्रकार की व्यवस्था होगी, यह इस ओर इगित करता है।

भगवान् महावीर की चतुर्मुखी-संघ-व्यवस्था ने धर्म-तीर्थ की वृद्धि में पर्याप्त महत्वपूर्ण योग दिया है। इससे समाज में नारी का श्राविका तथा श्रमणिका के रूप में सम्मान का स्थान बना रहा है।

भगवान् महावीर के काल की अनेक घटनायें ऐसी हैं जब कि नारी ने उनके आत्मदीप के प्रकाश में शान्ति तथा कल्याण की अनुभूति की। परन्तु यहाँ दो घटनाओं की चर्चा से नारी के प्रति उनके कल्याणमय तथा करुणामय दृष्टिकोण के दर्शन होते है।

सती चन्दनबाला

सती चन्दनबाला की कथा से कौन परिचित नहीं है? राजा शतानीक ने विजयदशमी का पर्व चम्पा नगरी को लूट कर मनाया था। सैनिको ने महारानी धारिणी तथा वसुमती का अपहरण कर लिया। धारिणी की मृत्यु मार्ग में रथ से कूदने के कारण हो गई। अनेक दुःखद परिस्थितियों मे से होकर अन्त में चन्दना का विक्रय हुआ और धनवाह सेठ ने वसुमती को धन देकर प्राप्त कर लिया। अब वह दासी का जीवन जी रही थी।

महावीर के ज्ञान में वसुमती की सारी स्थिति चित्रित हो गई। वह अभिग्रह रख कर आहार को निकले। दासी के वीभत्स रूप पर वह प्रहार करना चाहते थे। उनकी भावना थी कि नारी के लिए यह अभिशाप सदैव के लिए मिट जाए।

महावीर कौशाम्बी में निरन्तर कितने ही दिन निराहार लौट आते। सारी नगरी चिन्ता में डूब गई कि चार महीने से भगवान् प्रतिदिन आहार के बिना वैसे ही लौट जाते हैं।

महाराज शतानीक ने उपस्थित होकर भगवान से अपनी तथा नगरवासियों की ओर से प्रार्थना की, परन्तु वे मौन रहे। इस दशा में लगभग ६ महीने बीत गए।

एक दिन भगवान् महावीर धनवाह सेठ के घर की उस चौखट पर जाकर खड़े हो गए जहां पर चन्दना बन्दिनी का जीवन व्यतीत कर रही थी। वह भगवान् को देख कर एकदम खडी हो गई। वह प्रसन्न थी, सब अभिग्रह पूरे थे परन्तु अश्रुकण नही थे। भगवान् मुडे, ऐसा देख कर चन्दना की आखों से अश्रुधारा बह निकली। उसने प्रार्थना की—आप तो नारी जाति के उद्धारक हैं। दास-प्रथा तोड़ने के लिए कटिबद्ध है, फिर भी आप लौट चले। भगवान् ने मुड़ कर देखा और वापिस आ गए। अब तो सभी संकल्प पूरे हो गए थे। चन्दना ने उबले उड़द का आहार भगवान् को दिया। सब बेड़ियां टूट गईं, सती का तेज चमक उठा। दासी से आहार लिया। यह बात सारे नगर मे फैल गई। दासी चन्दना को पहचान लिया गया कि वह राजा दधिवाहन की पुत्री वसुमती है। दासत्व से चन्दना की मुक्ति हो गई। दासत्व पर कुठाराघात तथा नारी-बन्ध-विमोचन की इससे बड़ी घटना और क्या हो सकती है? नारी-उत्थान का अनुपम प्रयोग था।

चन्दनबाला ने संसार त्याग कर भगवान् से आर्यिका-दीक्षा ले ली। वह आत्मोत्थान के मार्ग की पथिक बन गई। नारी-जाति के विकास का अवरुद्ध द्वार खुल गया।

मृगावती की कथा

दूसरी घटना बड़ी ही विचित्र है। अहिंसा तथा नारी-कल्याण का अद्भुत प्रयोग है।

उज्जयिनी का राजा चण्डप्रद्योत बहुत शक्तिशाली तथा कामुक था। वह शतानीक की पत्नी महारानी मृगावती पर मोहित हो गया था और अपने लिए उसकी मांग की। शतानीक ने प्रस्ताव ठुकरा दिया। इसका प्रत्याशित फल कौशाम्बी पर आक्रमण हुआ। शतानीक घबरा गया और रुग्ण होकर मृत्यु को प्राप्त हुआ।

महारानी तथा जनता ने कौशाम्बी की यथाशक्ति रक्षा करने का प्रयास किया, परन्तु चण्डप्रद्योत की सैन्य शक्ति के सामने वह एक बाल-प्रयास ही था। युद्ध का आतंक छा गया।

मृगावती ने इस घोरतम अंधकार तथा निस्सहाय अवस्था में भगवान् महावीर का स्मरण किया। भगवान महावीर कौशाम्बी के उद्यान में आ गये। महावीर का आगमन होते ही मृगावती ने कौशाम्बी नगर के सब द्वार खुलवा दिए। भय तथा अन्धकार अभय तथा प्रकाश में परिवर्तित हो गए। मृगावती भगवान् के समवसरण में आई। वहां पर चण्डप्रद्योत भी आया। भगवान् की दिव्य-ध्वनि हुई। सबने आत्मधर्म तथा अहिंसा का रस-पान किया। चण्डप्रद्योत का आक्रोश तथा काम शान्त हो गया। रानी ने भगवान से प्रार्थना की और साध्वी होने की इच्छा प्रकट की। कौशाम्बी के राजकुमार अपने पुत्र उदयन की सुरक्षा का भार चण्डप्रद्योत को सौंपकर उसने जयन्ती (शतानीक की भगिनी) के साथ आर्यिका-दीक्षा ले ली। वासना का तमस् प्रेम में बदल गया। आक्रान्ता संरक्षक बन गया। मृगावती का शील सुरक्षित रह गया - यह नारी की सुरक्षा तथा अहिंसा का अद्वितीय उदाहरण है।

चतुर्विध संघ में नारी

भगवान महावीर के सर्वोदय-तीर्थ में हिंसा तथा दास-प्रथा का विरोध है और समता का उपदेश है। जाति-प्रथा और ऊँच-नीच का इसमें कोई स्थान नहीं। नारी-जाति का पूर्णोदय उसमें है। नारी की गरिमा का सम्यक् मूल्यांकन है। महावीर भगवान् द्वारा प्रतिपादित चतुर्विध संघ-श्रमण, श्रमणिका श्रावक तथा श्राविका—आज भी चल रहा है।

संघ-व्यवस्था धर्म-तीर्थ के लिए अत्यन्तावश्यक मानी गई है। वर्तमान काल में भी श्राविका (गृहस्थ-नारी) को चतुर्विध संघ की प्रवृत्ति में केन्द्र माना गया है। सुशील, चरित्रवती तथा धर्मज्ञा नारी पति को सुखी रखने का कारण बनती है तथा श्रमण और श्रमणिका को नवधा भक्ति से आहार देकर धर्म-तीर्थ के अवगाहन में बड़ा योग देती है।

गांधी जी गुजरात-निवासी थे। गुजरात प्रदेश की संस्कृति जैनत्व-प्रधान रही है। वहाँ पर नारियों का बड़ा

सम्मान रहा है तथा धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों मे उनका बहुमूल्य योगदान रहा है। इसका गांधी जी पर प्रभाव पड़ा और इसी कारण उन्होंने अपने सब कार्यों में जैसे आश्रमों व आन्दोलनों में, नारी जाति से पूर्ण सहयोग लिया। उन पर आर्यिका-संघ का अपूर्व प्रभाव था। इसलिए सब राष्ट्रीय प्रवृत्तियों में उन्होंने नारियों का सहयोग प्राप्त किया था। आज की राष्ट्रीय चेतना भी नारी-चेतना बनी है। महावीर की सर्वोदय-क्रान्ति को गांधी जी ने अहिंसा-पालन और नारी-जाति का उत्थान करके अपने में समग्रतया उतार लिया था।

उनका अटूट विश्वास था कि स्त्रियों में अहिंसा की विशेष शक्ति रहती है और इसीलिए सर्वोतम क्रान्ति उन्ही के द्वारा सिद्ध होगी।

विनोबा जी के (पवनार आश्रम से व्यक्त) निम्न भाव हैं :

"जैनधर्म के आचार्य श्री महावीर स्वामी का यह २५००वां निर्वाण-वर्ष है। महावीर स्वामी पहले धर्माचार्य है, जिन्होने समाज-प्रवाह के विरुद्ध जाकर महिलाओं को अपने धर्म-सम्प्रदाय में आदर का स्थान दिया। यही, कारण है कि आज देश में हजारों जैन साध्वियाँ अहिंसा संयम, सहिष्णुता और अपरिग्रह का व्रत लेकर हिम्मत के साथ धर्मोपदेश देती हुई समाज में विचरती है।"

—मैत्री, जून १९७५ पृ. ४०४

महर्षि रमण ने भी कहा था :

"पति के लिए चरित्र, संतान के लिए ममता, समाज के लिए शील, विश्व के लिए दया तथा जीवमात्र के लिए करुणा संजोने वाली महाप्रकृति का नाम ही नारी है।"

आचार्य विनोबा भावे ने स्त्री शक्ति के सन्दर्भ मे कहा :

"मैं मानता हूं कि जब तक शकराचार्य के समान प्रखर वैराग्य-सम्पन्न स्त्री पैदा नहीं होती; तब तक स्त्रियो का उद्धार कृष्ण, बुद्ध, गाधी जैसे पुरुष भी नही कर सकते हैं। कुछ सीमा तक मदद की जा सकती है। किन्तु स्त्रियों का उद्धार स्त्रियों से ही होने वाला है; वैराग्य, शील और ज्ञान का प्रचार करने वाली बहनें, जिनसे शास्त्र बन सकता है, क्यो न निकले, यह मेरी समझ मे नही आता।

"अगर मैं स्त्री होता तो न जाने कितनी बगावत करता। मैं तो चाहता हू कि स्त्रियों की तरफ से बगावत हो। लेकिन बगावत तो वह स्त्री करेगी जो वैराग्य की मूर्ति होगी। वैराग्य-वृत्ति प्रगट होगी तभी तो मातृत्व सिद्ध होगा। स्त्रियाँ स्वतंत्रता चाहती है तो उन्हे वासना के बहाव में बहना नही चाहिए।"

महावीर ने दासी चन्दना को प्रधान आर्यिका के रूप में दीक्षित करके नारी को क्रान्ति की प्रेरणा दी। महाप्रकृति को उसकी महाशक्ति का ज्ञान कराया तथा उसकी वैराग्य-वृत्ति को सम्यक् धर्म का उपदेश देकर सम्पुष्ट किया। नारी मात्र को त्रिशला का सम्मान दिया।

इसे दैवी, सुखद तथा विचित्र सयोग कहे या प्रकृति की सत्यता का उद्घोष कहे कि महावीर के इस २५००वे निर्वाण-महोत्सव-वर्ष को 'संयुक्त-राष्ट्र सघ' ने 'नारी-वर्ष' घोषित करके भगवान महावीर को उपयुक्त श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है। □□

८, जनपथ लेन,
नई दिल्ली-१

□□□

महावीर-वाणी

जो परिग्रह में फंसे हुए हैं, वे वैर को ही बढ़ाते हैं।
जिसका चित्त विषयों से विरक्त है, वह योगी ही आत्मा को जान सकता है।
जो आत्मा को जानता है, वह सब शास्त्रों को जानता है।

□□□

जैन ज्योतिष-साहित्य : एक सर्वेक्षण

□ स्व० डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, आरा

"ज्योतिषां सूर्यादिग्रहाणां बोधकं शास्त्रं"—सूर्यादि ग्रह और काल का बोध कराने वाला शास्त्र ज्योतिष कहलाता है। अत्यन्त प्राचीन काल से आकाश-मण्डल मानव के लिए कौतूहल का विषय रहा है। सूर्य और चन्द्रमा से परिचित हो जाने के उपरान्त ताराओं, ग्रहों एवं उपग्रहों की जानकारी भी मानव ने प्राप्त की। जैन परम्परा बतलाती है कि आज से लाखों वर्ष पूर्व कर्मभूमि के प्रारम्भ में प्रथम कुलकर प्रतिश्रुति के समय में, जब मनुष्यों को सर्वप्रथम सूर्य और चन्द्रमा दिखलायी पड़े, तो वे सशंकित हुए और अपनी उत्कंठा शान्त करने के लिए उक्त प्रतिश्रुति नामक कुलकर मनु के पास गये। उक्त कुलकर सौर-ज्योतिष के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आगमिक परम्परा अनविच्छिन्नरूप से अनादि होने पर भी इस युग में ज्योतिष-साहित्य की नीव का इतिहास यहाँ से आरम्भ होता है। यों तो जो ज्योतिष-साहित्य आजकल उपलब्ध है, वह प्रतिश्रुति कुलकर से लाखों वर्ष पीछे का लिखा हुआ है।

जैन ज्योतिष-साहित्य का उद्गम और विकास—आगमिक दृष्टि से ज्योतिष शास्त्र का विकास विद्यानुवादांग और परिकर्मों से हुआ है। समस्त गणित-सिद्धान्त ज्योतिष-परिकर्मों में अंकित था और अष्टांग निमित्त का विवेचन विद्यानुवादांग मे किया गया था। षट्खडागम धवला-टीका[1] मे रौद्र, श्वेत, मैत्र, सारगट, दैत्य, वैरोचन, वैश्वदेव, अभिजित्, रोहण, बल, विजय, नैऋत्य, वरुण, अर्यमन् और भाग्य—ये पन्द्रह मुहूर्त आये है। मुहूर्तों की नामावली वीरसेन स्वामी की अपनी नहीं है, किन्तु पूर्व परम्परा से प्राप्त श्लोकों को उन्होने उद्धृत किया है। अतः मुहूर्त-चर्चा पर्याप्त प्राचीन है।

प्रश्नव्याकरण में नक्षत्रों की मीमांसा कई दृष्टिकोणों से की गई है। समस्त नक्षत्रों का कुल, उपकुल और कुलोपकुलों में विभाजन कर वर्णन किया गया है। यह वर्णन-प्रणाली ज्योतिष के विकास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। घनिष्ठा, उत्तराभाद्रपद, अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, उत्तराफाल्गुनी, चित्रा, विसाखा, मूल एवं उत्तराषाढा—ये नक्षत्र कुलसंज्ञक; श्रवण, पूर्वाभाद्रपद, रेवती, भरणी, रोहिणी, पुनर्वसु, आश्लेषा, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त, स्वाति, ज्येष्ठा एवं पूर्वाषाढा—ये नक्षत्र उपकुलसंज्ञक और अभिजित्, शतमिषा, आर्द्रा एवं अनुराधा कुलोपकुल-संज्ञक है। यह कुलोपकुल का विभाजन पूर्णमासी को होने वाले नक्षत्रो के आधार पर किया गया है। अभिप्राय यह है कि श्रावण मास के घनिष्ठा, श्रवण और अभिजित्; भाद्रपदमास के उत्तराभाद्रपद, पूर्वाभाद्रपद और शतमिषा; आश्विनमास के अश्विनी और रेवती; कार्तिकमास के कृत्तिका और भरणी, अगहन या मार्गशीर्ष मास के मृगशिरा और रोहिणी, पौषमास के पुष्य, पुनर्वसु और आर्द्रा, माघमास के मघा और आश्लेषा, फाल्गुनमास के उत्तराफाल्गुनी और पूर्वाफाल्गुनी, चैत्रमास के चित्रा और हस्त, वैशाखमास के विशाखा और स्वाति, ज्येष्ठमास के ज्येष्ठा, मूल और अनुराधा एवं आषाढमास के उत्तराषाढा और पूर्वाषाढा नक्षत्र बताए गए है।[2] प्रत्येक मास की पूर्णमासी को उस मास का प्रथम नक्षत्र कुलसंज्ञक, दूसरा उपकुलसज्ञक और तीसरा कुलोपकुलसज्ञक होता है। इस वर्णन का प्रयोजन उस महीने का फल निश्चय करना है। इस ग्रन्थ मे ऋतु, अयन, मास, पक्ष और तिथि सम्बन्धी चर्चायें भी उपलब्ध है।

समवायाङ्ग में नक्षत्रों की तारायें, उनके दिशाद्वार आदि का वर्णन है। कहा गया है—"कत्तिआइया सत्तणक्खत्ता पुव्वदारिआ। महाइया सत्तणक्खत्ता दाहिणदारिआ।

1. धवला टीका, जिल्द ४, पृ. ३१८.

2. प्रश्नव्याकरण, १०. ५.

अनुराहा-इया सत्तणक्खता अवरदारिआ। घनिट्ठाइया सत्तणक्खता उत्तरदारिआ"[3] अर्थात् कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य और आश्लेषा—ये सात नक्षत्र पूर्वद्वार, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति और विशाखा—ये नक्षत्र दक्षिणद्वार, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा, अभिजित् और श्रवण—ये सात नक्षत्र पश्चिमद्वार एवं धनिष्ठा, शतभिषा पूर्वाभाद्रपद, रेवती, अश्विनी और भरणी—ये सात नक्षत्र उत्तरद्वार वाले हैं। समवायांग १।६, २।४, ३।२, ४।३, ५।६ में आयी हुई ज्योतिष चर्चाएं महत्वपूर्ण है।

ठाणांग मे चन्द्रमा के साथ स्पर्श-योग करने वाले नक्षत्रों का कथन किया गया है। यहाँ बतलाया गया है—कृत्तिका, रोहिणी, पुनर्वसु, मघा, चित्रा, विशाखा, अनुराधा और ज्येष्ठा—ये आठ नक्षत्र चन्द्रमा के साथ स्पर्शयोग करने वाले है। इस योग का फल तिथियों के अनुसार विभिन्न प्रकार का होता है। इसी प्रकार नक्षत्रों की अन्य संज्ञायें तथा उत्तर, पश्चिम और पूर्व दिशा की ओर से चन्द्रमा के साथ योग करने वाले नक्षत्रों के नाम और उनके फल विस्तार-पूर्वक बतलाये गये है। ठाणांग में अंगारक, काल लोहिताक्ष, शनैश्चर, कनक, कनक-वितान, कनक-संतानक, सोमहित, आश्वासन, कज्जीवग, कर्बट, अयस्कर, दंदुयन, शंक, शंखवर्ण, दन्द्राग्नि, धूमकेतु, हरि, पिंगल, बुध, शुक्र, बृहस्पति, राहु, अगस्त, मानवक, काश, स्पर्श, पुर, प्रमुख, विकट, विसन्धि, विमल, पीपल, जटिलक, अरुण, अगिल, काल, महाकाल, स्वस्तिक, सौवास्तिक, वर्द्धमान, पुष्पमानक, अकुश, प्रलम्ब, नित्यलोक, नित्योदिचित, स्वयंप्रभ, उसण, श्रेयंकर, प्रेयंकर, आयंकर, प्रथंकर, अपराजित, अरज, अशोक, विगतशोक, निर्मल, विमुख, वितत, विस्रुत, विशाल, शाल, सुव्रत, अनिवर्तक, एकजटी, द्विजटी, करकरीक, राजगल, पुष्पकेतु एव भावकेतु आदि ८८ ग्रहों के नाम बताए गए है।[4] समवायांग में भी उक्त ८८ ग्रहो का कथन आया है। "एगमेगस्सण चंदिम सूरियस्स अट्ठासीइ महग्गहा परिवारो',[5] अर्थात् एक एक चन्द्र और सूर्य के परिवार में, अट्ठासी-अट्ठासी महाग्रह है। प्रश्न-व्याकरण में सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु या धूमकेतु—इन नौ ग्रहों के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला गया है।

समवायांग में ग्रहण के कारणों का भी विवेचन मिलता है।[6] इसमें राहु के दो भेद बतलाये गये हैं—नित्यराहु और पर्वराहु। नित्यराहु को कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष का कारण तथा पर्वराहु को चन्द्रग्रहण का कारण माना है। केतु, जिसका ध्वजदण्ड सूर्य के ध्वजदंड से ऊँचा है, भ्रमणवश वही केतु सूर्यग्रहण का कारण होता है।

दिन-वृद्धि और दिन-ह्रास के सम्बन्ध में भी समवायांग मे विचार-विनिमय किया गया है। सूर्य जब दक्षिणायन मे निषध-पर्वत के आभ्यंतर मण्डल से निकलता हुआ ४४वें मण्डल-गमन मार्ग से आता है, उस समय ६१/८८ मुहूर्त दिन कम होकर रात बढ़ती है—इस समय २४ घड़ी का दिन और ३६ घड़ी की रात होती है। उत्तर-दिशा में ४४वें मण्डल-गमन मार्ग पर जब सूर्य आता है, तब ६१/८८ मुहूर्त दिन बढ़ने लगता है। इस प्रकार जब सूर्य ९३वे मण्डल पर पहुचता है, तो दिन परमाधिक ३६ घड़ी का होता है। यह स्थिति आषाढ़ी पूर्णिमा को आती है।[7]

इस प्रकार जैन आगम ग्रथों मे ऋतु, अयन, दिनमान, दिनवृद्धि, दिनह्रास, नक्षत्रमान, नक्षत्रों की विविध सज्ञायें, ग्रहों के मण्डल, विमानों के स्वरूप और विस्तार ग्रहो की आकृतियों आदि का फुटकर रूप मे वर्णन मिलता है। यद्यपि आगम गन्थो का सग्रह काल ई० सन की आरंभिक शताब्दी या उसके पश्चात् ही विद्वान् मानते है, किन्तु ज्योतिष की उपर्युक्त चर्चायें पर्याप्त प्राचीन हैं। इन्हीं मौलिक मान्यताओं के आधार पर जैन ज्योतिष के

---

३. समवायाग, स. ६, सूत्र ५.

४. ठाणांग, पृ. ९८-१००.

५. समवायांग, स. ८८.१.

६. समवायांग, स. १५.३.

७. बहिराओ उत्तराओणं कट्ठाओ सूरिए पउमं छम्मासं अयमाणे चोयालिस इमे मडलगते अट्ठासीति एगसीट्ठ भागे मुहुत्तस दिवसखेत्तस निबुट्ठेत्ता रयणीखेत्तस अभिनिवुट्ठेत्ता सूरिए चौर चरइ। —स. ८८.४.

सिद्धान्तों को ग्रीकपूर्व सिद्ध किया गया है।[८]

इतिहासज्ञ विद्वान् गणित ज्योतिष से भी फलित को प्राचीन मानते हैं। अतः अपने कार्यो की सिद्धि के लिए समय-शुद्धि की आवश्यकता आदिम मानव को भी रही होगी। इसी कारण जैन आगम ग्रन्थो मे फलित ज्योतिष के बीज तिथि, नक्षत्र-योग, करण, वार, समय-शुद्धि, दिनशुद्धि आदि की चर्चायें विद्यमान है।

जैन ज्योतिष साहित्य का सांगोपांग परिचय प्राप्त करने के लिए इसे निम्न चार कालखण्डों में विभाजित कर हृदयंगम करने में सरलता होगी।

आदिकाल— ई. पू. ३०० से ६०० ई. तक।
पूर्व मध्य काल— ६०१ ई. से १००० ई. तक।
उत्तर मध्य काल— १००१ ई. से १६०० ई. तक।
अर्वाचीन काल— १६०१ ई. से १८६० ई. तक।

आदिकाल की रचनाओं मे सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, अंगविज्जा, लोकविजययन्त्र एवं ज्योतिष्करण्डक आदि उल्लेखनीय हैं।

सूर्यप्रज्ञप्ति प्राकृत भाषा में लिखित एक प्राचीन रचना है। इस पर मलय गिरि की संस्कृत टीका है। ई० सन् से दो वर्ष पूर्व की यह रचना निर्विवाद सिद्ध है। इसमें पंचवर्षात्मक युग मानकर तिथि, नक्षत्रादि का साधन किया गया है। भगवान् महावीर की शासनतिथि श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से, जबकि चन्द्रमा अभिजित नक्षत्र पर रहता है, युगारम्भ माना गया है।

चन्द्रप्रज्ञप्ति में सूर्य के गमनमार्ग, आयु, परिवार आदि के प्रतिपादन के साथ पंचवर्षात्मक युग के अयनों के नक्षत्र, तिथि और मास का वर्णन भी किया गया है।

चन्द्रप्रज्ञप्ति का विषय प्रायः सूर्यप्रज्ञप्ति के समान है। विषय की अपेक्षा यह सूर्यप्रज्ञप्ति से अधिक महत्वपूर्ण है। इसमें सूर्य की प्रतिदिन की योजनात्मिका गति निकाली गई है तथा उत्तरायण और दक्षिणायन की विधियों का अलग-अलग विस्तार निकाल कर सूर्य और चन्द्र की गति निश्चित की गई है। इसके चतुर्थ प्राभृत में चन्द्र और सूर्य का संस्थान तथा तापक्षेत्र का संस्थान विस्तार से बताया गया है। इसमें समचतुस्त्र, विषमचतुस्त्र आदि विभिन्न आकारों का खण्डन कर सोलह वीथियों में चन्द्रमा को समचतुस्त्र गोल आकार बताया गया है। इसका कारण यह है कि सुषमा-सुषमाकाल आदि के श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन जम्बूद्वीप का प्रथम सूर्य पूर्व-दक्षिण-अग्निकोण में और द्वितीय सूर्य पश्चिमोत्तर-वायव्यकोण में चला। इसी प्रकार प्रथम चन्द्रमा पूर्वोत्तर—ईशानकोण मे और द्वितीय चन्द्रमा पश्चिम-दक्षिण नैऋत्य कोण में चला। अतएव युगादि में सूर्य और चन्द्रमा का समचतुस्त्र संस्थान था, पर उदय होते समय ये ग्रह वर्तुलाकार निकले, अतः चन्द्रमा और सूर्य का आकार अर्धकपीठ-अर्ध समचतुस्त्र गोल बताया गया है।

चन्द्रप्रज्ञप्ति में छायासाधन किया गया है और छाया-प्रमाण पर से दिनमान भी निकाला गया है। ज्योतिष की दृष्टि से यह विषय बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यहाँ प्रश्न किया गया है कि जब अर्धपुरुष-प्रमाण छाया हो, उस समय कितना दिन व्यतीत हुआ और कितना शेष रहा? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि ऐसी छाया की स्थिति मे दिनमान का तृतीयांश व्यतीत हुआ समझना चाहिए। यहाँ विशेषता इतनी है कि यदि दोपहर के पहले अर्धपुरुष-प्रमाण छाया हो तो दो तिहाई भाग-प्रमाण दिन गत और एक भाग प्रमाण दिन शेष समझना चाहिए। पुरुष प्रमाण छाया होने पर दिन का चौथाई भाग गत और तीन चौथाई भाग शेष, डेढ़ पुरुष प्रमाण छाया होने पर दिन का पंचम भाग गत और चार पंचम भाग (४/५ भाग) अवशेष दिन समझना चाहिए।[९]

इस ग्रंथ में गोल, त्रिकोण, लम्बी एवं चौकोर वस्तुओं की छाया पर से दिनमान का आनयन किया गया है। चन्द्रमा के साथ तीस मुहूर्त तक योग करने वाले श्रवण, घनिष्ठा, पूर्वाभाद्रपद, रेवती, अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा पुष्य, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल और पूर्वाषाढ़—ये पन्द्रह नक्षत्र बताए गए है। पैतालीस

८. चन्दाबाई-अभिनन्दन-ग्रन्थ के अन्तर्गत 'ग्रीकपूर्व जैन ज्योतिष विचारधारा' शीर्षक निबन्ध, पृ. ४६२.

९. ता अवड्ढपोरिसाणं छाया दिवसस्स कि गते सेसे वा ता तिभागे गए वा ता सेसे वा, पोरिसाणं छाया दिवस्स कि गए वा सेसे वा जाव चउभाग गए सेसे वा। चन्द्रप्रज्ञप्ति, प्र. ९.५.

मुहूर्त तक चन्द्रमा के साथ योग करने वाले उत्तराभाद्रपद, रोहिणी, पुनर्वसु, उत्तराफाल्गुनी, विशाखा और उत्तराषाढ़ा—ये छः नक्षत्र एवं पन्द्रह मुहूर्त तक चन्द्रमा के साथ योग करने वाले शतमिषा, भरणी, आर्द्रा, आश्लेषा, स्वाति और ज्येष्ठा - ये छ. नक्षत्र बताये गये है।

चन्द्रप्रज्ञप्ति के १९ वें प्राभृत में चन्द्रमा को स्वतः प्रकाशमान बतलाया है तथा इसके घटने-बढ़ने का कारण भी स्पष्ट किया गया है। १८वें प्राभृत में पृथ्वी तल से सूर्यादि ग्रहों की ऊँचाई बतलाई गयी है।

ज्योतिष्करण्डक एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमे अयनादि के कथन के साथ नक्षत्र लग्न का भी निरूपण किया गया है। यह लग्न-निरूपण की प्रणाली सर्वथा नवीन और मौलिक है—

लग्गं च दक्खिणाय विसुवे सुवि अस उत्तरं अयणे।
लग्गं साई विसुवेसु पंचसु वि दक्खिणे अयणे

अर्थात् अश्विनी और स्वाति ये नक्षत्र विषुव के लग्न बताये गये है। जिस प्रकार नक्षत्रों की विशिष्ट अवस्था को राशि कहा जाता है, उसी प्रकार यहाँ नक्षत्रों की विशिष्ट अवस्था को लग्न बताया गया है।

इस ग्रंथ में कृत्तिकादि, धनिष्ठादि, भरण्यादि, श्रवणादि एवं अभिजित आदि नक्षत्र-गणनाओं की विवेचना की गई है। ज्योतिष्करण्ड का रचनाकाल ई० पू० ३०० के लगभग है। विषय और भाषा—दोनो ही दृष्टियों से यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण है।

अंगविज्जा का रचनाकाल कुषाण-गुप्त-युग का सन्धिकाल माना गया है। शरीर के लक्षणों से अथवा अन्य प्रकार के निमित्त या चिह्नों से किसी के लिए शुभाशुभ फल का कथन करना ही इस ग्रंथ का वर्ण्य विषय है। इस ग्रन्थ में कुल साठ अध्याय है। लम्बे अध्यायों का पाटलों में विभाजन किया गया है। आरम्भ के अध्यायो में अंगविद्या की उत्पत्ति, स्वरूप, शिष्य के गुण-दोष, अगविद्या का माहात्म्य प्रभृति विषयों का विवेचन किया गया है। गृह-प्रवेश, यात्रारम्भ, वस्त्र, यान, धान्य, चर्या, चेष्टा आदि के द्वारा शुभाशुभ फल का कथन किया गया है। प्रवासी घर कब और किसी स्थिति में लौटकर आयेगा, इसका विचार ४५ वें अध्याय में किया गया है। ५२ वें अध्याय में इन्द्र-धनुष, विद्युत, चन्द्रग्रह, नक्षत्र, तारा, उदय, अस्त, अमावस्या, पूर्णमासी, मंडल, वीथी, युग, संवत्सर, ऋतु, मास, पक्ष, क्षण, लव, मुहूर्त, उत्कापात, दिशादाह आदि निमित्तों से फलकथन किया गया है। सत्ताईस नक्षत्र और उनसे होने वाले शुभाशुभ फल का भी विस्तार से उल्लेख है। सन्धि में इस ग्रंथ में अष्टांग निमित्त का विस्तारपूर्वक विभिन्न दृष्टियों से कथन किया गया है।[10]

लोकविजय-यन्त्र भी एक प्राचीन ज्योतिष—रचना है। यह प्राकृत भाषा मे ३० गाथाओं में लिखा गया है। इसमें प्रधानरूप से सुभिक्ष, दुर्भिक्ष की जानकारी दी गयी है। आरम्भ मे मंगलाचरण करते हुए कहा है—

पणमिय पयारविंदे तिलोचनाहस्स जगपईवस्स
बुच्छामि लोयविजयं जंतं जंतूण सिद्धिकयं ॥

जगत्पति नाभिराय के पुत्र त्रिलोकनाथ ऋषभदेव के चरणकमलों में प्रणाम करके जीवों की सिद्धि के लिए लोकविजय यन्त्र का वर्णन करता हूँ।

इसमे १४५ से आरम्भ कर १५३ तक ध्रुवा बतलाए गए हैं। इन ध्रुवों पर से ही अपने स्थान के शुभाशुभ फल का प्रतिपादन किया गया है। कृषिशास्त्र की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण है।

कालकाचार्य – यह भी निमित्त और ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान थे। इन्होंने अपनी प्रतिभा से शककुल के साहि को स्ववश किया था तथा गर्दभिल्ल को दण्ड दिया था। जैन परम्परा में ज्योतिष के प्रवर्तकों में इनका मुख्य स्थान है। यदि यह आचार्य निमित्त और संहिता का निर्माण न करते, तो उत्तरवर्ती जैन लेखक ज्योतिष को पापश्रुत समझकर अछूता ही छोड़ देते।

वराहमिहिर ने बृहज्जातक में कालकसंहिता का उल्लेख किया है। निशीथ-चूर्णि, आवश्यक-चूर्णि आदि ग्रन्थों से इनके ज्योतिष-ज्ञान का पता चलता है।

उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थसूत्र में जैन ज्योतिष के मूल सिद्धान्तों का निरूपण किया है। इनके मत से ग्रहों का केन्द्र सुमेरु पर्वत है, ग्रह नित्य गतिशील होते हुए मेरु

---

१०. भारतीय ज्योतिष, पृ. २०७.

प्रदक्षिणा करते रहते है। चौथे अध्याय में ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णक और तारों का वर्णन किया है। संक्षिप्त रूप में आई हुई इनकी चर्चाएं ज्योतिष की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

इस प्रकार आदिकाल में ज्योतिष की अनेक रचनाएं हुईं। स्वतंत्र ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य विषयों के धार्मिक ग्रंथों, आगम ग्रंथों की चूर्णियों, वृत्तियों और भाष्यों मे भी ज्योतिष की महत्त्वपूर्ण बातें अंकित की गई। तिलोयपण्णत्ति में ज्योतिर्मण्डल का महत्त्वपूर्ण वर्णन आया है। ज्योतिलोकान्धकार में अयन, गमनमार्ग, नक्षत्र एवं दिनमान आदि का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है।

पूर्व मध्यकाल में गणित और फलित दोनों प्रकार के ज्योतिष का यथेष्ट विकास हुआ। इसमें ऋषिपुत्र, महावीराचार्य, चन्द्रसेन, श्रीधर प्रभृति ज्योतिर्विदों ने अपनी अमूल्य रचनाओं के द्वारा इस साहित्य की श्रीवृद्धि की।

भद्रबाहु के नाम पर अर्हच्चूडामणिसार नामक एक प्रश्नशास्त्र-सम्बन्धी, ६८ प्राकृत गाथाओं में, रचना उपलब्ध है। यह रचना चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु की है, इसमें तो सन्देह है। हमें ऐसा लगता है कि यह भद्रबाहु वराहमिहिर के भाई थे, अतः संभव है कि इस कृति के लेखक यह द्वितीय भद्रबाहु ही होंगे। प्रारम्भ मे वर्णों की संज्ञाएं बतलायी गयी है। अ इ ए ओ, ये चार स्वर तथा क च ट त प य श ग ज ढ द व ल स, ये चौदह व्यंजन आलिंगित संज्ञक हैं। इनका सुभग, उत्तर और संकट नाम भी है। आ ई ऐ औ, ये चार स्वर तथा ख छ ठ थ फ र प ष झ ठ, घ म व ह ये चौदह व्यंजन अभिप्रमित संज्ञक हैं। इनके मध्य, उत्तराधर और विकट नाम भी हैं। उ ऊ अं अः ये चार स्वर तथा ङ, ञं ञ ण न म य व्यंजन दग्धसंज्ञक हैं। इनका विकट, संकट, अधर और अशुभ नाम भी है। प्रश्न में सभी आलिंगित अक्षर हों, तो प्रश्नकर्ता की कार्यसिद्धि होती है।

प्रश्नाक्षरों के दग्ध होने पर कार्यसिद्धि का विनाश होता है। उत्तर-संज्ञक स्वर उत्तर-संज्ञक व्यंजनों में संयुक्त होने से उत्तरतम और उत्तराधर तथा अधर स्वरों से संयुक्त होने पर उत्तर और अधर संज्ञक होते हैं। अधर संज्ञक स्वर दग्धसंज्ञक व्यंजनों में संयुक्त होने पर अधरातर संज्ञक होते हैं। दग्धसंज्ञक स्वर दग्धसंज्ञक व्यंजनों में मिलने से दग्धतम संज्ञक होते है।[11] इन संज्ञाओं के पश्चात् फलाफल निकाला गया है। जय-पराजय, लाभालाभ, जीवन-मरण आदि का विवेचन भी किया गया है। इस छोटी-सी कृति में बहुत कुछ निबद्ध कर दिया गया है। इस कृति की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। इसमें मध्यवर्ती क, ग और त के स्थान पर य श्रुति पायी जाती है।

करलक्खण—यह सामुद्रिक-शास्त्र का छोटा-सा ग्रंथ है। इसमें रेखाओं का महत्व, स्त्री और पुरुष के हाथों के विभिन्न लक्षण, अंगुलियों के बीच के अन्तराल पर्वो के फल, मणिवन्ध, विद्यारेखा, कुल, धन, ऊर्ध्व, सम्मान, समृद्धि, आयु, धर्म, व्रत आदि रेखाओं का वर्णन किया है। भाई, बहन, सन्तान आदि की द्योतक रेखाओं के वर्णन के उपरान्त अंगुष्ठ के अधोभाग मे रहने वाले यव का विभिन्न परिस्थितियों मे प्रतिपादन किया गया है। यव का यह प्रकरण नौ गाथाओ मे पाया जाता है। इस ग्रन्थ का उद्देश्य ग्रंथकार ने स्वयं ही स्पष्ट कर दिया हैं :—

इय करलक्खणमेयं समासओ दंसिअं जइजणस्स।
पुव्वायरिएहिं णरं परिवज्जणं वयं दिज्जा ॥६॥

यतियों के लिए संक्षेप में करलक्षणों का वर्णन किया गया है। इन लक्षणों के द्वारा व्रत-ग्रहण करने वाले की परीक्षा कर लेनी चाहिए। जब शिष्य में पूरी योग्यता हो, वह व्रतों का निर्वाह कर सके तथा व्रती जीवन को प्रभावक बना सके, तभी उसे व्रतों की दीक्षा देनी चाहिए। अतः स्पष्ट है कि इस ग्रंथ का उद्देश्य जनकल्याण के साथ नवागत शिष्य की परीक्षा करना ही है। इसका प्रचार भी साधुओं में रहा होगा।

ऋषिपुत्र का नाम भी प्रथम श्रेणी के ज्योतिर्विदों में परिगणित है। इन्हें गर्ग का पुत्र कहा गया है। गर्ग मुनि ज्योतिष के धुरन्धर विद्वान् थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। इनके सम्बन्ध में लिखा मिलता है—

जैन आसीज्जगद्वंद्यो गर्गनामा महामुनिः।
तेन स्वयं सुनिर्णीतः यः सत्पात्रः केवली।
एतज्ज्ञानं महाज्ञानं जैनर्षिभिरुदाहृतम्।
प्रकाश्य शुद्धशीलाय कुलीनाय महात्मना ॥

११. अर्हच्चूडामणिसार, गाथा १-८.

सम्भवतः इन्हीं गर्ग के वंश में ऋषिपुत्र हुए होगे। इनका नाम ही इस बात का साक्षी है कि यह किसी ऋषि के वंशज थे अथवा किसी मुनि के आशीर्वाद से उत्पन्न हुए थे। ऋषिपुत्र का एक ग्रथ निमित्त-शास्त्र ही उपलब्ध है। इनके द्वारा रची गयी एक सहिता का भी मदनरत्न नामक ग्रंथ में उल्लेख मिलता है। ऋषिपुत्र के उद्धरण बृहत्सहिता की महोत्पली टीका मे उपलब्ध है।

ऋषिपुत्र का समय वराहमिहिर के पहले होना चाहिए। अतः ऋषिपुत्र का प्रभाव वराहमिहिर पर स्पष्ट है। यहां दो-एक उदाहरण देकर स्पष्ट किया जायगा।

ससलोहिवण्णहोवरि संकुण इत्ति होइ णायव्वो।
संजामं पुण घोरं खज्जं सूरो णिवेदई॥

—ऋषिपुत्र निमित्तशास्त्र

शशिरुधिरवर्णे भानौ नभस्थले भवन्ति संग्रामाः।

—वराहमिहिर

अपने निमित्तशास्त्र मे पृथ्वी पर दिखाई देने वाले आकाश में दृष्टिगोचर होने वाले और विभिन्न प्रकार के शब्द-श्रवण द्वारा प्रकट होने वाले इन तीन प्रकार के निमित्तों द्वारा फलाफल का अच्छा निरूपण किया है। वर्षोत्पात, देवोत्पात, रजोत्पात, उल्कोत्पात, गन्धर्वोत्पात इत्यादि अनेक उत्पातों द्वारा शुभाशुभत्व की मीमासा बड़े सुन्दर ढंग से की गई है।

लग्नशुद्धि या लग्नकुंडिका नाम की रचना हरिभद्र की मिलती है। हरिभद्र दर्शन, कथा और आगम शास्त्र के बहुत बड़े विद्वान् थे। इनका समय आठवी शती माना माना जाता है। इन्होने १४४० प्रकरण ग्रन्थ रचे हैं। इनकी अब तक ८८ रचनाओं का पता मुनि जिनविजयजी ने लगाया है। इनकी २६ रचनाएं प्रकाशित हो चुकी है।

लग्नशुद्धि प्राकृत भाषा में लिखी गयी ज्योतिष-रचना है। इसमें लग्न के फल, द्वादश भावों के नाम, उनके विचारणीय विषय, लग्न के सम्बन्ध में ग्रहों का फल, ग्रहों का स्वरूप, नवांश, उच्चांश आदि का कथन किया गया है। जातकशास्त्र या होरा शास्त्र का यह ग्रन्थ है। उपयोगिता की दृष्टि से इसका अधिक महत्व है। ग्रहों के बल तथा लग्न की सभी प्रकार से शुद्धि, पाप ग्रहो का अभव, शुभ ग्रहों का सद्भाव वर्णित है।

महाविराचार्य — ये धुरन्धर गणितज्ञ थे। ये राष्ट्रकूट वश के अमोघवर्ष नृप तुक के समय में हुए थे, अतः इनका समय ई० सन् ८५० माना जाता है। इन्होंने ज्योतिषपटल और गणितसार-संग्रह नाम के ज्योतिष ग्रन्थों की रचना की है। ये दोनों ही ग्रन्थ गणित ज्योतिष के है और इन ग्रंथो से इनकी विद्वत्ता का ज्ञान सहज ही आंका जा सकता है। गणितसार के प्रारम्भ में गणित की प्रशंसा करते हुए बताया है कि गणित के बिना संसार के किसी भी शास्त्र की जानकारी नही हो सकती है। कामशास्त्र, गान्धर्व, नाटक, सूपशास्त्र, वास्तुविद्या, छन्दशास्त्र, अलंकार, काव्य, तर्क, व्याकरण, कलाप्रवृति का पर्याय ज्ञान गणित के बिना सम्भव नही है। अतः गणित विद्या सर्वोपरि है।

इस ग्रंथ में संज्ञाधिकार, परिकर्म-व्यवहार, कलासवर्ण व्यवहार, प्रकीर्ण व्यवहार, त्रैराशि व्यवहार, मिश्रक-व्यवहार, क्षेत्र-गणित व्यवहार, ज्ञातव्य व्यवहार एवं छाया व्यवहार नाम के प्रकरण हैं। मिश्रक व्यवहार में समकुट्टीकरण, विषम कुट्टीकरण और मिश्रक कुट्टीकरण आदि अनेक प्रकार के गणित हैं। पाटीगणित और रेखागणित की दृष्टि से इसमें अनेक विशेषतायें हैं। इस क्षेत्र-व्यवहार प्रकरण में आयत को वर्ग और वर्ग को वृत्त में परिणत करने के सिद्धान्त दिये गये है। समत्रिभुज, विषमत्रिभुज, समकोण चतुर्भुज, विषमकोण चतुर्भुज, वृत्तक्षेत्र, सूची व्यास, पचभुज क्षेत्र एवं बहुभुज क्षेत्रों का क्षेत्रफल तथा घनफल निकाला गया है।

ज्योतिष-पटल मे ग्रहों के चार क्षेत्र, सूर्य के मण्डल, नक्षत्र और ताराओं के संस्थान, गीत, स्थिति और संख्या आदि का प्रतिपादन किया है।

चन्द्रसेन के द्वारा 'केवल ज्ञान होरा' नामक महत्वपूर्ण विशालकाय ग्रथ लिखा गया है। यह ग्रन्थ कल्याणवर्मा के पीछे का रचा गया प्रतीत होता है। इसके प्रकरण सारावली से मिलते-जुलते हैं, पर दक्षिण में रचना होने के कारण कर्णाटक प्रदेशों के ज्योतिष का पूर्ण प्रभाव है। इन्होंने ग्रंथ के विषय को स्पष्ट करने के लिए बीच-बीच मे कन्नड़ भाषा का भी आश्रय लिया है। यह ग्रन्थ अनुमानतः चार हजार श्लोकों में पूर्ण हुआ हैं। ग्रंथ के प्रारम्भ में कहा गया है कि—

होरा नाम महाविद्या वक्तव्यं च भवद्धितम्।
ज्योतिर्ज्ञानैकसारं भूषणं बुधपोषणम्॥

उन्होंने अपनी प्रशंसा भी प्रचुर परिमाण में की है—

आगमः सदृशो जैनः चन्द्रसेनसमो मुनिः।
केवलीसदृशी विद्या दुर्लभा सचराचरे॥

इस ग्रंथ में हेम प्रकरण, दाम्य प्रकरण, शिला प्रकरण मृत्तिका-प्रकरण, वृक्ष-प्रकरण, कर्पास–गुल्म, बल्कल–तृण, रोम–चर्म–पट प्रकरण, संख्या प्रकरण, नष्ट द्रव्य प्रकरण, निर्वाह प्रकरण, अपत्य प्रकरण, लाभालाभ प्रकरण, स्वर-प्रकरण, स्वप्न प्रकरण, वस्तु प्रकरण, भोजन प्रकरण, देह-लोह दिक्षा प्रकरण, अंजन विद्या प्रकरण एवं विष प्रकरण आदि है। ग्रन्थ को आद्योपान्त देखने से अवगत होता है कि यह सहिता-विषयक रचना है, होराविषयक नही।

श्रीधर—ये ज्योतिष-शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान थे। इनका समय दशवी शती का अन्तिम भाग है। ये कर्णाटक प्रान्त के निवासी थे। इनकी माता का नाम अब्बोका और पिता का नाम बलदेव शर्मा था। इन्होंने बचपन में अपने पिता से ही सस्कृत और कन्नड़-साहित्य का अध्ययन किया था। प्रारम्भ में ये शैव थे, किन्तु बाद में जैन धर्मानुयायी हो गये थे। इनकी गणितसार और ज्योतिर्ज्ञानविधि सस्कृत भाषा में तथा जातकतिलक कन्नड़ भाषा मे रचनायें है। गणितसार में अभिन्न गुणक, भागहार, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, भिन्न, समच्छेद, भागजाति, प्रभागजाति, भागानुबन्ध, भागमात्र जाति, त्रैराशिक, सप्तराशिक, नवराशिक, भाण्डप्रतिभाण्ड, मिश्रक व्यवहार, एकपत्रीकरण, सुवर्ण गणित, प्रक्षेपक गणित, समक्रय-विक्रय, श्रेणी-व्यवहार, खातव्यवहार, चितिव्यवहार, काष्ठक व्यवहार, राशि-व्यवहार, एवं छाया व्यवहार आदि गणितों का निरूपण किया है।

'ज्योतिर्ज्ञानविधि' प्रारम्भिक ज्योतिष का ग्रन्थ है। इसमें व्यवहारोपयोगी मुहूर्त भी दिये गये हैं। प्रारम्भ में संवत्सरों के नाम, नक्षत्र-नाम, योग-करण, तथा उनके शुभाशुभत्व दिये गये हैं। इसमें मासशेष, मासाधिपतिशेष, दिनशेष एवं दिनाधिपति शेष आदि गणितानयन की अद्भुत प्रक्रियायें बतायी गयी है।

जातकतिलक—कन्नड़ भाषा में लिखित होरा या जातकशास्त्र सम्बन्धी रचना है। इस ग्रंथ में लग्न, ग्रह, ग्रहयोग एवं जन्म-कुण्डली सम्बन्धी फलादेश का निरूपण किया गया है। दक्षिण भारत में इस ग्रन्थ का अधिक प्रचार है।

चन्द्रोन्मीलन प्रश्न भी प्रश्न-शास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इस ग्रन्थ के कर्ता के सम्बन्ध में भी कुछ ज्ञात नहीं है। ग्रंथ को देखने में यह अवश्य अवगत होता है कि इस प्रश्न-प्रणाली का प्रचार खूब था। प्रश्नकर्ता के प्रश्न-वर्णों का संयुक्त, असंयुक्त, अभिघातित, अधिप्रमित, आलिंगित, और दग्ध—इन संज्ञाओं में विभाजन कर प्रश्नों के उत्तर मे चन्द्रोन्मीलन का खण्डन किया गया है। "प्रोक्तं चन्द्रोन्मीलनं शुक्लवस्त्रैस्तच्चाशुद्धम्" इससे ज्ञात होता है कि यह प्रणाली लोकप्रिय थी। चन्द्रोन्मीलन नाम का जो ग्रन्थ उपलब्ध है, वह साधारण है।

उत्तर मध्यकाल में फलित ज्योतिष का बहुत विकास हुआ। मुहूर्त जातक, संहिता, प्रश्न, सामुद्रिक शास्त्र प्रभृति विषयों की अनेक महत्त्वपूर्ण रचनायें लिखी गयी हैं। इस युग में सर्वप्रथम और प्रसिद्ध ज्योतिषी दुर्गदेव हैं। दुर्गदेव के नाम से यों तो अनेक रचनायें मिलती है, पर दो रचनायें प्रमुख हैं—रिट्ठसमुच्चय और अर्घकाण्ड। दुर्गदेव का समय सन् १०३२ माना गया है। रिट्ठसमुच्चय की रचना अपने गुरु संयमदेव के वचनानुसार की है। ग्रंथ मे एक स्थान पर संयमदेव के गुरु संयमसेन और उनके गुरु माधव चन्द्र बताए गये हैं। रिट्ठसमुच्चय शौरसेनी प्राकृत में २६१ गाथाओं में रचा गया है। इसमें शकुन और शुभाशुभ निमित्तों का संकलन किया गया है। लेखक ने रिष्टों के पिण्डस्थ, पदस्थ, पदस्थ और रूपस्थ नामक तीन भेद किए हैं। प्रथम श्रेणी में अंगुलियों का टूटना, नेत्र-ज्योति की हीनता, रस-ज्ञान की न्यूनता, नेत्रों से लगातार जल-प्रवाह एवं जिह्वा न देख सकना आदि को परिगणित किया है। द्वितीय श्रेणी में सूर्य और चन्द्रमा का अनेकों रूपों में दर्शन, प्रज्वलित दीपक को शीतल अनुभव करना, चन्द्रमा को त्रिभंगी रूप में देखना, चन्द्रलांछन का दर्शन न होना इत्यादि को ग्रहण किया है। तृतीय में निजछाया, परछाया तथा छायापुरुष का वर्णन किया है। प्रश्नाक्षर,

शकुन और स्वप्न आदि का भी विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है।

अर्घकाण्ड में तेजी-मन्दी का ग्रहयोग के अनुसार विचार किया गया है। यह ग्रंथ भी १४९ प्राकृत गाथाओं में लिखा गया है।

मल्लिसेन—ये संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं के प्रकाण्ड विद्वान थे। इनके पिता का नाम जिनसेन सूरि था। ये दक्षिण भारत के धारवाड़ जिले के अन्तर्गत गदक-तालुका नामक स्थान के रहने वाले थे। इनका समय ई० सन् १०४३ माना गया है। इनका आर्यसद्भाव नामक ज्योतिषग्रंथ उपलब्ध है। आरम्भ मे ही कहा है—

सुग्रीवादिमुनीन्द्रैः रचितं शास्त्रं यदार्यसद्भावम्।
तत्सम्प्रत्यार्याभिर्विरच्यते मल्लिषेणेन ॥
ध्वजधूमसिंहमण्डल वृषखरगजवायसा भवन्त्यार्याः।
ज्ञायन्ते ते विद्वद्भिरिहैकोत्तरगणनया चाष्टौ।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि इनके पूर्व भी सुग्रीव आदि जैन मुनियों के द्वारा इस विषय की और रचनायें भी हुई थीं, उन्हीं के सारांश को लेकर आर्यसद्भाव की रचना की गई है। इस कृति में १९५ आर्यायें और अन्त मे एक गाथा, इस तरह कुल १९६ पद्य है। इसमे ध्वज, धूम, सिंह, मण्डल, वृष, खर, गज और वायस—इन आठों आर्यों के स्वरूप और फलादेश वर्णित है।

भट्टवोसरि—'आयज्ञान' तिलक, नामक ग्रन्थ के रचयिता दिगम्बराचार्य दामनन्दी के शिष्य भट्टवोसरि है। यह प्रश्नशास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमे २५ प्रकरण और ४१५ गाथायें है। ग्रन्थकर्ता की सर्वोपज्ञ वृत्ति भी है। दामनन्दी का उल्लेख श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० ५५ मे पाया जाता है। ये प्रभाचन्द्राचार्य के सधर्मा या गुरुभाई थे। अतः इनका समय विक्रम सम्वत की ११वीं शती है[१२] और भट्टवोसरि का भी इन्ही के आस-पास का समय है।

इस ग्रन्थ मे ध्वज, धूम, सिंह, गज, खर, श्वान, वृष, ध्वांक्ष–इन आठ आर्यों द्वारा प्रश्नों के फलादेश का विस्तृत विवेचन किया है। इसमें कार्य, अकार्य, जय-पराजय, सिद्धि असिद्धि आदि का विचार विस्तार पूर्वक किया गया है। प्रश्नशास्त्र की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

उदय प्रभदेव—इनके गुरु का नाम विजयसेन सूरि था। इनका समय ई० सन् १२२० बताया जाता है। इन्होने ज्योतिष विषयक, आरम्भ सिद्धि, अपरनामा व्यवहारचर्या ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ पर वि० सं० १५१४ में रत्नशेखर सूरि के शिष्य हेमहंस मणि ने एक विस्तृत टीका लिखी है। इस टीका मे इन्होंने मुहूर्त संबंधी साहित्य का अच्छा संकलन किया है। लेखक ने ग्रथ के प्रारम्भ में ग्रंथोक्त अध्यायों का संक्षिप्त नामकरण निम्न प्रकार दिया है।

दैवज्ञदीपकालिकां व्यवहारचर्यामारम्भसिद्धिमुदयप्रभदेवनाम् शास्तिक्रमेण तिथिवारमयोगराशिगोचर्य—कार्यागमवास्तुविलग्नोर्मिः।

हेमहंसगणि ने व्यवहारचर्या नाम की सार्थकता दिखलाते हुए लिखा है—

"व्यवहारं शिष्टजनसमाचारः शुभतिथिवारादिषु शुभकार्यकरणादिरूपस्तस्य चर्या।" यह ग्रन्थ 'मुहूर्त चिंतामणि' के समान उपयोगी और पूर्ण है। मुहूर्त विषय की जानकारी इस अकेले ग्रंथ के अध्ययन से की जा सकती है।

राजादित्य—इनके पिता का नाम श्रीपति और माता का नाम वसन्ता था। इनका जन्म कोडिमण्डल के 'यूविनबाग' नामक स्थान मे हुआ था। इनके नामान्तर राजवर्म, भास्कर और वाचिराज बताये जाते है। ये विष्णुवर्धन राजा की सभा के प्रधान पण्डित थे, अतः इनका समय सन् ११२० के लगभग है। यह कवि होने के साथ-साथ गणित के माने हुए विद्वान थे।

"कर्णाटक-कवि-चरित" के लेखक का कथन है कि कन्नड़ साहित्य में गणित का ग्रथ लिखने वाला यह सबसे बड़ा विद्वान् था। इनके द्वारा रचित व्यवहारगणित, क्षेत्रगणित, व्यवहाररत्न तथा जैन-गणित-सूत्रटीकोदाहरण और लीलावती—ये गणित ग्रन्थ उपलब्ध है।

---

१२. प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार, प्रस्तावना, पृ० ९५-९६ तथा पुरातन वाक्य सूची की प्रस्तावना, पृ० १०१-१०२।

पद्मप्रभसूरि—नागौर की तपागच्छीय पट्टावली से पता चलता है कि ये वादिदेव सूरि के शिष्य थे। इन्होंने भुवनदीपक या ग्रहभावप्रकाश नामक ज्योतिष का ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रंथ पर सिंहतिलक सूरि ने वि० सं० १३-३६ में एक विवृत्ति लिखी है। "जैन साहित्य नो इतिहास" नामक ग्रंथ मे इन्होने इनके गुरु का नाम विबुधप्रभ सूरि बताया है। भुवनदीपक का रचना काल वि० सं० १२६४ है। यह ग्रंथ छोटा होते हुए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें ३६ द्वारा प्रकरण है। राशिस्वामी, उच्चनीचत्व, मित्र-शत्रु, राहु का गृह, केतु स्थान, ग्रहो के स्वरूप, द्वादश भावो से विचारणीय बातें, इष्टकाल ज्ञान, लग्न सम्बन्धी विचार, विनष्टगृह, राजयोग का कथन लाभालाभ, विचार-लग्नेश की स्थिति का फल, प्रश्न द्वारा गर्भ-विचार, प्रश्न द्वारा प्रसूव, ज्ञान, यमज्ञ विचार, मृत्युयोग, चौर्यज्ञान, द्रेष्काणादि के फलो का विचार विस्तार से किया है। इसमें कुल १०० श्लोक है। इसकी भाषा संस्कृत है।

नरचन्द्र उपाध्याय—ये कातदृहगच्छ के सिंहसूरि के शिष्य थे। इन्होने ज्योतिष शास्त्र के कई ग्रथो की रचना की है। वर्तमान मे इनके बेड़ा जातक वृत्ति, प्रश्न शतक, प्रश्न-चतुर्विशतिका, जन्म-समुद्रटीका, लग्न विचार और ज्योतिष प्रकाश उपलब्ध है। नरचन्द्र ने सं० १३२४ में माघ सुदी ८ रविवार को बेड़ा जातक वृत्ति की रचना १०५० श्लोक प्रमाण मे की है। ज्ञानदीपिका नाम की एक अन्य रचना भी इनकी मानी जाती है। ज्योतिष-प्रकाश संहिता और जातक सम्बन्धी महत्वपूर्ण रचना है।

अट्ठकवि या अर्हदास—ये जैन ब्राह्मण थे। इनका समय ईस्वी सन् १३०० के आसपास है। अर्हदास के पिता नागकुमार थे। अर्हदास कन्नड़ भाषा के प्रकाण्ड विद्वान थे। इन्होने कन्नड़ मे अट्ठमत नामक ज्योतिष का महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। शक संवत की चौदहवी शताब्दी में भास्कर नाम के आन्ध्र कवि ने इस ग्रंथ का तेलगू भाषा में अनुवाद किया था। अट्ठमत मे वर्षा के चिह्न, आकस्मिक लक्षण, शकुन, वायुचक्र, गृह-प्रवेश, भूकम्प, भूजातफल, उत्पात-लक्षण, परिवेश-लक्षण, इन्द्रधनुर्लक्षण, प्रथम-गर्भ-लक्षण, द्रोणसंख्या, विद्युत-लक्षण, प्रतिसूर्य-लक्षण, संवत्सरफल, ग्रहद्वेष, मेघों के नाम, कुलवर्ण-ध्वनि-विचार, देशवृष्टि, मासफल, राहुचन्द्र, १४ नक्षत्रफल, संक्रान्ति-फल आदि विषयों का निरूपण किया गया है।

महेन्द्रसूरि—ये भृपुपुर-निवासी मदनसूरि के शिष्य तथा फिरोजशाह तुगलक के प्रधान सभा-पण्डित थे। इन्होंने नाड़ीवृत्ति के धरातल में गोल पृष्ठस्थ सभी वृत्तों का परिणमन करके यन्त्रराज नामक ग्रह-गणित का उपयोगी ग्रंथ लिखा है। इनके शिष्य मलयेन्दु सूरि ने इस पर सोदाहरण टीका लिखी है। इस ग्रंथ में परमाक्रान्ति २३ अंश ३५ कला मानी गई है। इसकी रचना शक सम्वत् १२६३ में हुई है। इसमें गणिताध्याय, यन्त्र-घटनाध्याय, यन्त्र-रचनाध्याय, यन्त्र शोधनाध्याय और यन्त्र-विचारणाध्याय—ये पाँच अध्याय हैं।

"क्रमोत्क्रमज्यानयन, भुजकोटिज्या का चापसाधन, क्रान्तिसाधक युज्याखंडसाधन, युज्याफलानयन, सौम्य-गणित के विभिन्न गणितों का साधन, अक्षांश से उन्नतांश साधन, ग्रंथ के नक्षत्र ध्रुवादिक से अभीष्ट वर्ष के ध्रुवादिक का साधन, नक्षत्रों के हृक्कर्मसाधन, द्वादश राशियों के विभिन्न वृत्त सम्बन्धी गणितों का साधन, इष्ट शंकु से छायाकरण साधन, यन्त्रशोधन प्रकार और उसके अनुसार विभिन्न यन्त्रों द्वारा सभी ग्रहों के साधन का गणित बहुत सुन्दर ढंग से बताया गया है। इस ग्रंथ मे पचांग-निर्माण करने की विधि का निरूपण किया है।

'भद्रबाहु-संहिता' अष्टांग निमित्त का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके आरम्भ के २७ अध्यायो में निमित्त और संहिता विषय का प्रतिपादन किया गया है। ३०वें अध्याय में अरिष्टों का वर्णन किया गया है। इन ग्रन्थों का निर्माण श्रुतकेवली भद्रबाहु के वचनों के आधार पर हुआ है। विषयनिरूपण और शैली की दृष्टि से इसका रचनाकाल ८-९वी शती के पश्चात् नहीं हो सकता है। हाँ, लोकोपयोगी रचना होने के कारण उसमें समय-समय पर संशोधन और परिवर्तन होता रहा है।

इस ग्रंथ में व्यञ्जन, अंग, स्वर, भौम, छन्न, अन्तरिक्ष, लक्षण एवं स्वप्न—इन आठों निमित्तों का फल-निरूपणसहित विवेचन किया गया है। उलका, परिवेशण, विद्युत, अभ्र, सन्ध्या, मेघ, बात, प्रवर्षण, गन्धर्वनगर, गर्भ लक्षण

यात्रा, उत्पात, ग्रहचार, ग्रहयुद्ध, स्वप्न, मुहूर्त, तिथि, कारण, शकुन, पाक, ज्योतिष, वास्तु, इन्द्रसम्पदा, लक्षण, व्यञ्जन, चिह्न, लग्न, विद्या, औषध, प्रभृति सभी निमित्तो के बलाबल, विरोध और पराजय आदि विषयों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। यह निमित्त-शास्त्र का बहुत ही महत्वपूर्ण और उपयोगी ग्रंथ है। इससे वर्षा, कृषि, धान्यभाव, एव अनेक लोकोपयोगी बातों की जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

केवलज्ञान प्रश्न चूड़ामणि के रचयिता समन्तभद्र का समय १३वी शती है। ये समन्त विजयत्र के पुत्र थे। विजयपत्र के भाई नेमिचन्द्र ने प्रतिष्ठातिलक की रचना आनन्द संवत्सर मे चैत्रमास की पंचमी को की है। अतः समन्तभद्र का जन्म समय १३वी शती है। इस ग्रथ में धातु, मूल, जीव, नष्ट, मुष्टि, लाभ, हानि, रोग, मृत्यु, भोजन, शयन, शकुन, जन्म, कर्म, अस्त्र, शस्त्र, वृष्टि, अतिवृष्टि, अनावृष्टि. सिद्धि, असिद्धि आदि विषयो का प्ररूपण किया गया है। इस ग्रंथ मे अ च ट त प य श अथवा आ ए क च ट प य श इन अक्षरो का प्रथम वर्ग, आ ए ख छ ठ व फ र प इन अक्षरो का द्वितीय वर्ग, इ ओ ग ज ड द ब ल स इन अक्षरो का तृतीय वर्ग, ई औ घ ञ म व ह न इन अक्षरो का चतुर्थ वर्ग और उ ऊ ण न भ अ अः इन अक्षरों का पंचम वर्ग बताया गया है। प्रश्न कर्ता के वाक्य या प्रश्नाक्षरों को ग्रहण कर संयुक्त, असंयुक्त, अभिहित और अभिघातित–इन पाचों द्वारा तथा आलिंगित अभिधूमित और दग्ध–इन तीनों क्रियाविशेषणों द्वारा प्रश्नो के फलाफल का विचार किया गया है। इस ग्रन्थ में मूक प्रश्नो के उत्तर भी निकाले गये है। यह प्रश्नशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है।

हेमप्रभ—इनके गुरु का नाम देवेन्द्र सूरि था। इनका समय चौंदहवीं शती का प्रथम पाद है। सम्वत् १३०५ में त्रैलोक्य प्रकाश रचना की गयी है। इनकी दो रचनायें उपलब्ध है—त्रैलोक्य प्रकाश और मेघमाला।[13]

त्रैलोक्यप्रकाश बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें ११६० श्लोक है। इस एक ग्रन्थ के अध्ययन से फलित ज्योतिष की अच्छी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। आरंभ में १० श्लोको मे लग्नज्ञान का निरूपण है। इस प्रकरण में भावो के स्वामी, ग्रहो के छः प्रकार के बल, दृष्टि-विचार, शत्रु, मित्र,— वक्री मार्गी, उच्च-नीच, भवों की संज्ञाएं, भावराशि, ग्रहबल-विचार आदि का विवेचन किया गया। द्वितीय प्रकरण मे योगविशेष-धनी, सुखी, दरिद्र, राज्यप्राप्ति, सन्तानप्राप्ति, विद्याप्राप्ति आदि का कथन है। तृतीय प्रकरण में, निधिप्राप्ति घर या जमीन के भीतर रखे गए धन और उस धन को निकालने की विधि का विवेचन है। यह प्रकरण बहुत ही महत्वपूर्ण है। इतने सरल और सीधे ढंग से इस विषय का निरूपण अन्यत्र नही है। चतुर्थ प्रकरण भोजन और पंचम ग्राम-पृच्छा है। इन तीनो प्रकरणो मे नाम के अनुसार विभिन्न दृष्टियो से विभिन्न प्रकार के योगो का प्रतिपादन किया गया है। षष्ट-पुत्र-प्रकरण है, इसमें सन्तान-प्राप्ति का समय, सन्तान-सख्या, पुत्र-पुत्रियो की प्राप्ति आदि का कथन है। सप्तम प्रकरण मे छठे भाव से विभिन्न प्रकार के रोगों का विवेचन, अष्टम मे सप्तम भाव से दाम्पत्य सबध और नवम मे विभिन्न दृष्टियो से स्त्री-सुख का विचार किया गया है। दशम प्रकरण स्त्री-जातक में स्त्रियों की दृष्टि से फलाफल का निरूपण किया गया है। एकादश मे परचक्रगमन, द्वादश में गमनागमन, त्रयोदश मे युद्ध, चतुर्दश मे सन्धिविग्रह, पंचदश मे वृक्षज्ञान, षोडश मे ग्रह-दोष, ग्रह-पीड़ा, सप्तदश मे आयु, अष्टादश में प्रवहण और एकोनविश मे प्रव्रज्या का विवेचन किया है। बीसवे प्रकरण मे राज्य या पदप्राप्ति, इक्कीसवे मे वृष्टि, बाईसवे मे अर्धकाण्ड, तेईसवें मे स्त्रीलाभ, चौबीसवें में नष्ट वस्तु की प्राप्ति एव पच्चीसवें मे ग्रहो के उदयास्त, सुभिक्ष-दुर्भिक्ष, महर्घ, समर्घ और विभिन्न प्रकार से तेजी-मन्दी की जानकारी बतलायी गयी है। इस ग्रन्थ की प्रशसा स्वय ही इन्होंने की है।

श्रीमद्देवेन्द्रसूरीणां शिष्येण ज्ञानदर्पणः ।
विश्वप्रकाशकश्चक्रे श्रीहेमप्रभसूरिणा ॥

श्री देवेन्द्र सूरि के शिष्य श्री हेमप्रभ सूरि ने विश्वप्रकाशक और ज्ञानदर्पण इस ग्रन्थ को रचा।

---

१३. जैन ग्रन्थावली, पृ० ३५६.

मेघमाला की श्लोक संख्या १०० बतायी गयी है। प्रो० एच० डी वेलंकर ने जैन ग्रन्थावली में उक्त प्रकार का ही निर्देश किया है।

रत्नशेखर सूरि ने दिनशुद्धि दीपिका नामक एक ज्योतिष ग्रन्थ प्राकृत भाषा में लिखा है। इसका समय १५ वीं शती बताया जाता है। ग्रन्थ के अन्त में निम्न प्रकाशित गाथा मिलती है।

सिरिवयरसेण गुरुपट्ट-नाहोसरिहेमतिलयसूरीणं।
पायपसाया एसा, रयणसिहरसूरिणा विसिया ॥४४॥

वज्रसेन गुरु के पट्टधर श्री हेमतिलक सूरि के प्रसाद से रत्नशेखर सूरि ने दिनशुद्धि प्रकरण की रचना की।

इसे 'मुनिमणभवणपयांस' अर्थात् मुनियों के मन रूपी भवन को प्रकाशित करने वाला कहा है। इसमें कुल १४४ गाथाएं हैं। इस ग्रन्थ में वारद्वार, कालहोरा, वारप्रारम्भ, कुलिकादियोग, वर्ज्यप्रहर, नन्दभद्रादि संज्ञायें, क्रूरतिथि, वर्ज्यतिथि, दग्धतिथि, करण, भद्राविचार, नक्षत्रद्वार, राशिद्वार, लग्नद्वार, चन्द्र-अवस्था, शुभरवियोग, राजयोग, आनन्दादि योग, अमृतसिद्धियोग, उत्पादियोग, लग्नविचार प्रयाणकालीन शुभाशुभ विचार, वस्तु मुहूर्त, षडष्टकादि, राशिकूट, नक्षत्रयोनि विचार, विविध मुहूर्त, नक्षत्र-दोषविचार, छायासाधन और उसके द्वारा फलादेश एवं विभिन्न प्रकार के शकुनों का विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ व्यवहारोपयोगी है।

चौदहवीं शताब्दी में ठक्कर फेरू का नाम भी उल्लेखनीय है। इन्होंने गणितसार और जोइसार ये दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। गणितसार में पाटीगणित और परिकर्माष्टक की मीमांसा की गई है। जोइससार मे नक्षत्रों की नामावलि से लेकर ग्रहों के विभिन्न योगों का सम्यक् विवेचन किया गया है।

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त हर्षकीर्ति कृत जन्मपत्रपद्धति, जिनवल्लभ कृत स्वप्नसंहिता जयविजय कृत शकुनदीपिका, पुण्यतिलक कृत ग्रहायुसाधन, गर्गमुनि कृत पासावली, समुद्र कवि कृत सामुद्रिक शास्त्र, मानसागरकृत मानसागरीपद्धति, जिनसेन कृत निमित्तदीपक आदि ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण हैं। ज्योतिषसार, ज्योतिषसंग्रह, शकुनसंग्रह, शकुनदीपिका, शकुनविचार, जन्मपत्री-पद्धति, गृहपाल नामक अनेक ऐसे संग्रह ग्रंथ उपलब्ध हैं, जिनके कर्ता का पता ही नहीं चलता है।

अर्वाचीन काल में कई अच्छे ज्तोतिर्विद् हुए हैं जिन्होंने जैन ज्योतिष साहित्य को बहुत आगे बढ़ाया है।[१४] यहाँ प्रमुख लेखकों का उनकी कृतियों के साथ परिचय दिया जाता है। इस युग में सबसे प्रमुख है मेघविजय गणि। ये ज्योतिष शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनका समय वि० सं० १०३६ के आस पास माना गया है। इनके द्वारा रचित मेघ महोदय या वर्षप्रबोध, उदयदीपिका, या रमलशास्त्र और हस्तसंजीवन आदि मुख्य हैं। वर्षप्रबोध में १५ अधिकार और ३५ प्रकरण हैं। इसमें उत्पात-प्रकरण, कर्पूरचक्र, पद्मिनीचक्र, मण्डलूपकरण, सूर्य और चन्द्रग्रहण का फल, मास, वायु-विचार, सवत्सर का फल, ग्रहों के उदयास्त और वक्री अयन मास का विचार, संक्रान्ति फल, वर्ष के राजा, मंत्री, धान्येश, रसेश आदि का निरूपण, आय व्यय विचार, सर्वतोभद्रचक्र एवं शकुन आदि विषयों का निरूपण किया गया है। ज्योतिष विषय की जानकारी प्राप्त करने के लिए यह रचना उपयोगी है।

हस्तसजीवन में तीन अधिकार है। प्रथम दर्शनाधिकार में हाथ देखने की प्रक्रिया, हाथ की रेखाओं पर से ही मास, दिन, घड़ी, पल आदि का कथन एवं हस्तरेखाओं के आधार पर से ही लग्नकुण्डली बनाना तथा उसका फलादेश निरूपण करना वर्णित है। द्वितीय स्पर्शनाधिकार में हाथ की रेखाओं के स्पर्श पर से ही समस्त शुभाशुभ फल का प्रतिपादन किया गया है। इस अधिकार में मूल प्रश्नों के उत्तर देने की प्रक्रिया भी वर्णित है। तृतीय विमर्शनाधिकार में रेखाओं पर से ही आयु, सन्तान, स्त्री, भाग्योदय, जीवन की प्रमुख घटनायें, सांसारिक सुख, विद्या, बुद्धि, राज्यसम्मान और पदोन्नति का विवेचन किया गया है। यह ग्रंथ सामुद्रिक शास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण और पठनीय हैं।

उभयकुशल—इनका समय १८वीं शती का पूर्वार्द्ध है। यह फलित ज्योतिष के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने विवाह

१४. केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि का प्रस्तावना भाग।

पटल और चमत्कारचिन्तामणि टवा नामक दो ग्रंथों की रचना की है। ये मुहूर्त और जातक, दोनों ही विषयों के पूर्ण पंडित थे। चिन्तामणि टवा में द्वादश भावों के अनुसार ग्रहों के फलादेश का प्रतिपादन किया गया है। विवाह पटल में विवाह के मुहूर्त और कुण्डली मिलान का सांगोपांग वर्णन किया गया है।

लब्धचन्द्रगणि—ये खरतर-गच्छीय कल्याणनिधान के शिष्य थे। इन्होंने वि० सं० १०५१ में कार्तिक मास में जन्मपत्री-पद्धति नामक एक व्यवहारोपयोगी ज्योतिष का ग्रन्थ बनाया है। इस ग्रन्थ में इष्टकाल, मया, भयोग, लग्न, नवग्रहो का स्पष्टीकरण, द्वादशभाव, तात्कालिक चक्र, दशबल, विंशोत्तरी दशा साधन आदि का विवेचन किया गया है।

बाघती मुनि—ये पार्श्व-चन्द्रगच्छीय शाखा के मुनि थे। इनका समय वि० सं० १०८३ माना जाता है। इन्होंने तिथिसारिणी नामक ज्योतिष का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। इसके अतिरिक्त इनके दो-तीन फलित ज्योतिष के भी मुहूर्त सम्बन्धी ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनका सारणी ग्रन्थ, मकरन्द सारणी के समान उपयोगी है।

यशस्वतसागर—इनका दूसरा नाम जसवंतसागर भी बताया जाता है। ये ज्योतिष, न्याय, व्याकरण और दर्शन शास्त्र के धुरन्धर विद्वान थे। इन्होंने ग्रहलाघव के ऊपर वार्तिक नाम की टीका लिखी है। वि० सं० १०६२ में जन्मकुण्डली विषय को लेकर "यशोराज-पद्धति" नामक एक व्यवहारोपयोगी ग्रंथ लिखा है। यह ग्रन्थ जन्मकुण्डली की रचना के नियमों के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालता है। उत्तरार्द्ध में जातक पद्धति के अनुसार संक्षिप्त फल बताया है।

इनके अतिरिक्त विनयकुशल, हरिकुशल, मेघराज, जिनपाल, जयरत्न, सूरचन्द्र आदि कई ज्योतिषियों की ज्योतिष सम्बन्धी रचनायें उपलब्ध है। जैन ज्योतिष साहित्य का विकास आज भी शोध-टीकाओं का निर्माण एवं संग्रह-ग्रन्थों के रूप में हो रहा है।[15] संक्षेप में अंक-गणित, बीजगणित, रेखागणित, त्रिकोणमितिगणित, प्रतिभागणित, पंचांग निर्माण गणित, जन्मपत्र निर्माण गणित आदि गणित-ज्योतिष के अंगों के साथ होराशास्त्र, संहिता,[16] मुहूर्त सामुद्रिक शास्त्र, प्रश्नशास्त्र, स्वप्नशास्त्र, निमित्तशास्त्र, रमलशास्त्र, पासाकेवली प्रभृति फलित अंगों का विवेचन जैन ज्योतिष में किया गया है। जैन ज्योतिष साहित्य के अब तक पांच सौ ग्रन्थों का पता लग चुका है।[17] □□

महावीर-वाणी

उत्तम श्रुति मिलने पर भी श्रद्धा का होना दुर्लभतर,
मिथ्यात्वोपासक जन हैं, मत कर प्रमाद, गौतम ! क्षण-भर।
धार्मिक श्रद्धा पा फिर धर्म निभाने वाले दुर्लभतर,
काम-गृद्ध बहुजन हैं, अतः न कर प्रमाद, गौतम ! क्षण-भर॥

—उत्तराध्ययन-सूत्र
पद्यानुवाद—मुनि श्री मांगीलाल 'मुकुल'

१५. भद्रबाहु-संहिता का प्रस्तावना अंश।
१६. महावीर स्मृतिग्रन्थ के अन्तर्गत "जैन ज्योतिष की व्यवहारिकता" शीर्षक निबन्ध, पृ० १६६-१६७।
१७. वर्णी-अभिनन्दन-ग्रन्थ के अन्तर्गत "ज्योतिष का पोषक जैन ज्योतिष", पृ० ४७८-४८३।

स्याद्वाद का इतिहास

□ श्री मिश्रीलाल जैन, एडवोकेट, गुना (म० प्र०)

स्याद्वाद विषयक दार्शनिक साहित्य के इतिहास पर दृष्टिपात करने पर भगवती सूत्र मे ही 'सिय अस्थि, सिय णत्थि सिय अवक्तव्वं ।'—इन तीन भागों का निर्देश प्राप्त होता है। इसके उपरान्त आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय और प्रवचनसार में एक-एक गाथा देकर सातों भागों के नाम निर्देश किए है। दोनों ग्रन्थों में निर्दिष्ट सप्तभंगी के क्रम में अन्तर है। पंचास्तिकाय में स्याद्वाद का निर्देश करने वाली गाथा इस प्रकार है—

सिय अत्थि णत्थि उहवयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं ।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ।।

जो द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से है, वही द्रव्य पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से नही है। वही द्रव्य है और नहीं भी है; इस प्रकार उभयरूप है। वही द्रव्य एक साथ कथन मे नही आता अर्थात् अवक्तव्य है। वही द्रव्य है पर कहने में नही आता, वही द्रव्य नही है और कहने में नही आता, वह द्रव्य है भी और नही भी है, पर कहने मे नही आता है। इस प्रकार द्रव्य की सप्त भंगों द्वारा विवेचना संभव है।

प्रवचनसार में आचार्य कहते है कि किसी पर्याय से उत्पाद और किसी से विनाश, सर्व पदार्थमात्र के होता है और किसी पर्याय से पदार्थ वास्तव मे ध्रुव है।

उप्पादो व विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स ।
पज्जाएण दु केणवि अट्ठो खलु होदि सब्भूदो ।।

आचार्य अमृतचन्द्र और जयसेन प्रवचनसार के टीकाकार है। प्रवचनसार के पाठ से दोनों टीकाकारों ने एवकार (ही) ग्रहण किया है। आचार्य अमृतचन्द्र पंचास्तिकाय की टीका में स्यादस्ति द्रव्यं (स्यात् द्रव्य है) और प्रवचनसार की टीका में स्यादस्त्येव (कथंचित् है ही) लिखते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने भिन्न-भिन्न ग्रन्थो मे पृथक्-पृथक् दृष्टि से व्याख्यान क्यों दिया ? इस प्रश्न का कोई समाधान आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रस्तुत नहीं किया। द्वितीय टीकाकार जयसेन ने इसका रहस्योद्घाटन किया है। वे लिखते है कि स्यादस्ति यह वाक्य सकलवस्तु का बोध कराता है, अतः प्रमाण वाक्य है तथा स्यादस्त्येव द्रव्यं यह वाक्य वस्तु के एक धर्म का वाचक है, अतः नयवाक्य है।

स्यादस्तीति सकलवस्तुग्राहकत्वात् प्रमाणवाक्यं ।
स्यादस्त्येव द्रव्यमिति वस्त्वेकदेशग्राहकत्वान्नयवाक्यम् ।।

प्रवचनसार की टीका मे इसे और स्पष्ट करते है कि पंचास्तिकाय मे स्यादस्ति इस प्रमाण वाक्य द्वारा प्रमाण सप्तभंगी तथा प्रवचनसार में स्यादस्त्येव वाक्य द्वारा प्रमाण सप्तभंगी तथा प्रवचनसार में स्यदस्त्येव वाक्य में एवकार का ग्रहण नय सप्तभंगी को बतलाने के लिए किया गया है।

पूर्व-पंचास्तिकाये स्यादस्तीत्यादि प्रमाणवाक्येन प्रमाण-सप्तभंगी व्याख्याता। अत्र तु स्यादस्त्येव यदेवकार ग्रहणं तन्नयज्ञापनार्थमिति भावार्थः।

आचार्य समन्तभद्राचार्य की आप्तमीमांसा में केवल नयसप्तभंगी का वर्णन है, प्रमाण सप्तभंगी का नहीं। अन्त में आचार्य श्री का कथन है कि एकत्व अनेकत्व आदि विकल्पों में भी नय विशारद को उक्त सप्तभगी की योजना उचित रीति से कर लेनी चाहिए। इस ग्रन्थ में सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, द्वैत-अद्वैत, देव-पुरुषार्थ आदि अनेक दृष्टिकोणों से जैन दृष्टि का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया गया है।

दैव और पुरुषार्थ के प्रचलित मतभेद के सन्दर्भ में आप्तमीमासा मे समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है—न कोई कार्य दैव से होता, न पुरुषार्थ से। दोनों रस्सियों से दधि-मंथन होता है। जहाँ बुद्धिपूर्वक प्रयत्न के अभाव में फल-प्राप्ति हो, वहाँ दैव को प्रधान तथा पुरुषार्थ को गौण तथा

जहाँ बुद्धिपूर्वक कार्य से सिद्धि हो, वहां पुरुषार्थ को प्रधान, दैव को गौण माना जायेगा।

सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मति-तर्क के नयकांड में नय-सप्तभंगी का ही वर्णन किया है। स्याद्वाद सप्तभंगी के वर्तमान रूप के लिए जैन दर्शन दोनों आचार्यों का ऋणी है। जैन दर्शन के इस स्याद्वाद-सिद्धान्त से समस्त जैनेतर दृष्टियों का वस्तुस्पर्शी समन्वय स्वतः हो जाता है इन दोनों आचार्यों ने केवल नय-सप्तभंगी का ही वर्णन किया है, प्रमाणसप्तभंगी का नहीं। यद्यपि उक्त आचार्यों के ग्रंथों का सूक्ष्म परीक्षण करने पर प्रमाण-सप्तभंगी के बीजभूत वाक्यों का अन्वेषण किया जा सकता है; तथापि प्रमाणसप्तभंगी का सर्वप्रथम स्पष्ट निर्देश करने का श्रेय भट्टाकलंक को ही प्राप्त है। अकलंक देव ने राजवार्तिक और विद्यानंदि ने श्लोकवार्तिक में प्रमाण सप्तभंगी और और नयसप्तभंगी का पृथक-पृथक वर्णन किया है। विक्रम की छठी शताब्दी में पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि तथा मल्लवादि ने नयचक्र नामक बृहद् ग्रन्थों की रचना की। नयचक्र मे नय के विविध भंगो द्वारा जैनेतर दृष्टियों के समन्वय का सफल प्रयत्न हुआ है।

आठवीं शताब्दी के एक और महान आचार्य है–हरिभद्रसूरि जिन्होंने विविध शास्त्र तथा काव्य-ग्रन्थों की सर्जना कर मस्तिष्क की प्रौढ़ता और हृदय की सरसता का परिचय किया है। इन्होंने जैनेतर विद्वानों विशेषतः बौद्धों के आक्रमण से जैन दर्शन की रक्षा का भगीरथ प्रयत्न किया। इसकी अनेकांत-जयपताका और अनेकांतवाद-प्रवेश इसके लिए प्रमुखरूप से द्रष्टव्य है।

विक्रम की ११ वीं शताब्दी में हेमचन्द्रसूरि ने स्याद्वादरत्नाकर तथा मुनिचन्द्र सूरि ने अनेकांत-जयपताका टिप्पणग्रन्थों की रचना की।

धर्मभूषण यति ने न्यायदीपिका रची। १८वीं शती में उपाध्याय यशोविजय जी का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने नव्य-न्याय की शैली में अनेक ग्रंथों का निर्माण किया। विमलदास की सप्तभंगीतरंगिणी सप्तभंगी का प्रतिपादन करने वाली अनूठी रचना है।

संक्षेप में उपर्युक्त ग्रन्थ ही स्याद्वाद को प्रतिपाद्य विषय बनाने वाले प्रमुख ग्रंथ हैं।

आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमांसा में प्रमाण-सप्तभंगी तथा नयसप्तभंगी दोनों का संकेत मिलता है। वे लिखते हैं कि आपका युगपत् सर्व पदार्थों का प्रतिभासनरूप तत्त्वज्ञान प्रमाणभूत है, क्योंकि वह स्याद्वाद तथा नयों से संस्कृत हो रहा है।

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासनं।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥

□□

पृथ्वीराज मार्ग,
गुना (म० प्र०)

□□□

महावीर-वाणी

पका हुआ तरु-पत्र ज्यों कि गिर जाता समय बीतने पर,
त्यों मनुजों का जीवन है, मत कर प्रमाद, गौतम ! क्षण-भर।
ज्यों कुशाग्रस्थित ओस-बिन्दु की स्वल्प-काल-स्थिति है सुन्दर,
त्यों मनुजों का जीवन है, मत कर प्रमाद, गौतम ! क्षण-भर ॥

—उत्तराध्ययन-सूत्र
पद्यानुवाद-मुनिश्री मांगी लाल 'मुकुल'

□□□

श्रमण-संस्कृति एवं परम्परा

□ श्री युगेश जैन, दिल्ली

भारतीय संस्कृति एवं इतिहास की संकल्पना एवं संरचना में श्रमण-संस्कृति का महत्वपूर्ण योग-दान रहा है। अनेक ऐतिहासिक शोध-कार्यों एवं पुरातात्विक उत्खननों से यह सिद्ध हो चुका है कि अति प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में वैदिक एवं श्रमण— ये दो सस्कृति-धारायें अजस्र रूप से प्रवाहित होती रही है। जहा वैदिक संस्कृति के मूलाधार यज्ञ, कर्मकाण्ड, वर्णाश्रम-व्यवस्था एवं आनन्दवाद रहे है, वहां त्यागी श्रमणों ने लोकैषणा का त्याग करके निःश्रेयस् की सिद्धि के लिए निवृत्तिपरक मार्ग प्रतिपादित किया है। 'श्रमण' शब्द की रचना 'श्रम' धातु (श्रमु तपसि खेदे च) मे ल्युट् प्रत्यय जोड़कर हुई है। आचार्य हरिभद्रसूरि (दशवैकालिक, सूत्र १।३) का कथन है--"श्राम्यतीति' श्रमणः तपस्यतीत्यर्थः" अर्थात् जो तप करता है, वह श्रमण है। इस प्रकार 'श्रमण' का अर्थ है-- तपस्वी या परिव्राजक। श्रमण शब्द का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। इसे केवल जैनों तक सीमित रखना अनुचित होगा। विभिन्न भाषाओं में उपलब्ध, श्रमण शब्द के विविध रूप (समण, शमण, सवणु, श्रवण, अमण, सरमनाई, श्रमणेर आदि) श्रमण-शब्द की विश्व-व्यापकता, सिद्ध करते है। मिस्र, सुमेर, असुर, बाबुल, यूनान, रोम, चीन, मध्य एशिया, प्राचीन अमरीका, अरब, इसराइल आदि प्राचीन सभ्य देशों में भी श्रमण-परम्परा किसी न किसी रूप में विद्यमान थी, यह अनेक ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों से सिद्ध हो चुका है। विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में श्रमण शब्द तथा वातरशनाः मुनयः (वायु जिनकी मेखला है, ऐसे नग्न मुनि) का उल्लेख हुआ है।[1] बृहदारण्यक उपनिषद् में श्रमण के साथ-साथ 'तापस' शब्द का पृथक् प्रयोग हुआ है।[3] इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल से ही तापस ब्राह्मण एवं श्रमण भिन्न माने जाते थे। तैत्तिरीय आरण्यक में तो ऋग्वेद के 'मुनयो वातरशनाः;' को श्रमण ही बताया गया है।[4] उपर्युक्त उद्धरणो से प्राचीन वैदिक काल से ही श्रमणों का अस्तित्व एयं प्रभाव स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है।

पुरातत्व की दृष्टि से भी श्रमण-संस्कृति की प्राचीनता शनैः शनैः सिद्ध होती जा रही है। भारतीय पुरातत्व का इतिहास मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा से प्रारम्भ होता है। यद्यपि इन स्थानों से प्राप्त मुद्राओं की लिपि— सिन्धु-लिपि का प्रामाणिक वाचन नहीं हो सका है और इसी कारण सिन्धु-सभ्यता के निर्माताओं की जाति अथवा नृवंश के सम्बन्ध में निर्विवाद रूप से कहना सम्भव नहीं; तथापि सिन्धु-घाटी के अवशेषों में उपलब्ध कतिपय प्रतीकों को श्रमण-संस्कृति से सम्बद्ध माना जा सकता है। सर जान मार्शल के अनुसार, मोहंजोदड़ो से प्राप्त कुछ मूर्तियाँ योगियों की मूर्तियाँ प्रतीत होती हैं। इन मूर्तियों में से एक, योगासन-स्थित त्रिमुख योगी की प्रतिमा विशेषतः उल्लेखनीय है। इस मूति के सम्मुख हाथी, व्याघ्र महिष, मृग आदि पशु स्थित हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार, यह पशुपति शिव की मूर्ति है।[5] अन्य विद्वानों के

---

१. तृदिला अतृदिलासो अद्रयोऽश्रमणा अशृथिता अमृत्यवः। ऋग्वेद १०।९४।११. अश्रमणाः—श्रमण--वर्जिताः —सायण-भाष्य।

२. मुनयो वातरशना पिशङ्गा वसते मलाः।—ऋग्वेद १०।१३५।२.

३. श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसः⋯⋯भवति-बृहदारण्यकोपनिषद ४।३।२२

४. वातरशना ह व ऋषयः श्रमणाः ऊर्ध्वमन्थिनो बभवुः- तैत्तिरीयारण्यक २।७.

५. Mohan-jodro and Indus civilization (1931) Vol. I, pp. 52-3. —Sir John Marshal

अनुसार, यह मूर्ति किसी पहुंचे हुए योगी की मूर्ति है।'[६] "इस त्रिमुख मूर्ति के अवलोकन से अर्हत्-अतिशयों से अभिज्ञ कोई भी विद्वान् यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि यह समवशरण-स्थित चतुर्मुख तीर्थंकर का ही कोई शिल्प-चित्रण है जिसका एक मुख उसकी बनावट के कारण अदृश्य हो गया है।"[७] अस्तु, आर्यों के आगमन से पूर्व यहाँ एक समुन्नत संस्कृति एवं सभ्यता विद्यमान थी जो अहिंसा, सत्य, एवं त्याग पर आधारित थी।

इस विषय में अधिकारी विद्वान् श्री चन्दा का निम्नलिखित मत विचारणीय है—

'सिन्धु–घाटी की अनेक मुद्राओं में अंकित, न केवल बैठी हुई देव-मूर्तियाँ योग-मुद्रा में है और वे उस सुन्दर अतीत में योग-मार्ग के प्रचार को सिद्ध करती है, अपितु खड्गासनस्थ देव-मूर्तियां भी योग की कायोत्सर्ग-मुद्रा में स्थित है। यह कायोत्सर्ग-मुद्रा विशेषतः जैन है। आदि पुराण—१५/३ में ऋषभदेव के तप के सम्बन्ध में कायोत्सर्ग-मुद्रा का उल्लेख है। जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की कायोत्सर्ग-मुद्रा मे स्थित एक खड्गासनस्थ मूर्ति (द्वितीय शताब्दी ईस्वी) मथुरा संग्रहालय में है। इस मूर्ति की शैली से सिन्धु-घाटी से प्राप्त मुद्राओं में अंकित खड़ी हुई देव-मूर्तियो की शैली बिल्कुल मिलती है।[८]

'वृषभ का अर्थ है—बैल। ऋषभदेव का चिह्न बैल है। मुद्रा सं. ३ से ५ तक में अकित देव-मूर्तियो के साथ बैल भी अंकित है जो ऋषभ का पूर्व रूप हो सकता है।'[९]

डा. राधाकुमुद मुकर्जी ने भी 'हिन्दू सभ्यता' नामक ग्रन्थ में श्री चंदा के उपर्युक्त मत की पुष्टि की है और ताम्रयुगीन सिन्धु-सभ्यता को जैन धर्म का मूल प्रतिपादित किया है। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता श्री टी. ऐन. रामचन्द्रन् ने हड़प्पा से प्राप्त दो मूर्तियों में से प्रथम मूर्ति को 'नटराज शिव का प्राचीन प्रतिरूप' तथा द्वितीय को तीर्थंकर-मूर्ति माना है। वेदों में वर्णित 'शिश्नदेवाः' का अर्थ लिंग-पूजक के अतिरिक्त शिश्नयुक्त अर्थात् नग्न देवताओं के पूजक भी हो सकता है। उपर्युक्त दोनों मूर्तियों के नग्न होने के कारण इनकी संगति 'शिश्नदेवाः' से स्थापित की जा सकती है तथा सिन्धु-सभ्यता मे श्रमण संस्कृति के बीज ढूंढे जा सकते है। उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि प्रागार्य एवं प्राग्वैदिक काल से श्रमण-संकृति की पुनीत स्रोतस्विनी निरन्तर प्रवाहित होती रही है।

वैदिक वाङ्मय के अतिरिक्त, रामायण,[१०] महाभारत,[११] तथा भागवतपुराण[१२] में श्रमणों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। श्रमण-संस्कृति के आद्य प्रवर्तक भगवान् ऋषभदेव का भी उल्लेख वेदों[१३] तथा पुराणों[१४] में श्रद्धापूर्वक किया गया है। उत्तरकालीन भाष्यकारों ने साम्प्रदायिक दुराग्रह के कारण इन उल्लेखोंका अन्यार्थ सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। वस्तुतः श्रमण एवं ब्राह्मण–दोनों संस्कृतियो–की जन्म-भूमि एक ही भूमि—भारतभूमि—रही है। अन्य प्राचीन साहित्य के अभाव मे हमे श्रमण-संस्कृति के बीज भी वैदिक वाङ्मय में ढूढने होगे। सम्भव है कि अत्यन्त प्राचीन काल मे वेद दोनों संस्कृतियों के मान्य ग्रन्थ रहे हों परन्तु, कालान्तर मे याज्ञिक पुरोहितों के प्राबल्य के कारण वेदो मे से श्रमण-सम्बन्धी उद्धरणो को निकालने की चेष्टा की गई हो जिसके फलस्वरूप श्रमणों ने वेदों का प्रामाण्य अस्वीकृत कर दिया हो। अस्तु, प्राचीन भारतीय साहित्य एव सस्कृति की सरचना मे श्रमणों का योग-दान किसी अन्य सम्प्रदाय या वर्ग से कम नहीं रहा है।

६. Ahimsa in Indian Culture.
—Dr. Nathmal Tantia

७. मुनिश्री नगराज जी, वीर (श्रमण अंक), वीर निर्वाण सं. २४६०, पृष्ठ ४६.

८. माडर्न रिव्यू, जून, १६३२, श्री चंदा का लेख।

६. माडर्न रिव्यू, जून, १६३२, श्री चंदा का लेख।

१०. तापसाः भुंजते चापि श्रमणाश्चैव भुंजते।—रामायण, ~१४।१२

११. महाभारत, १२।१५४।२१.

१२. सन्तुष्टाः करुणा मैत्रा शान्ता दान्तास्तितिक्षवः। आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणाः जनाः।

१३. ऋग्वेद, १०।१०२।६. तथा ४।५८।३.

१४. 'बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनाना श्रमणानामृषीणा-मूर्ध्वमन्थिना शुक्लया तनुवावततार॥' भागवत पुराण ५।३।२०

भगवान् ऋषभदेव के अनन्तर, द्वितीय तीर्थंकर श्री अजितनाथ से लेकर २१वें तीर्थंकर श्री नमिनाथ तक के काल का ऐतिहासिक अनुशीलन, पुरातात्त्विक प्रमाणों के अभाव में, अभी सम्भव नहीं हो पाया है। बाईसवें तीर्थङ्कर श्री नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) का ऐतिहासिक अस्तित्व अनेक विद्वानो द्वारा प्रमाणित किया जा चुका है।[१५] तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ तो अब ऐतिहासिक महापुरुषों की कोटि में आ चुके हैं। अहिंसा के इतिहास में पार्श्वनाथ का 'चातुर्याम' अपूर्व कोटि का माना जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध की सुविकसित अहिंसा का मूल उद्गम पार्श्वनाथ का चातुर्याम ही है।[१६]

भारतीय इतिहास में ईसा-पूर्व छठी शताब्दी का काल विशेष महत्वपूर्ण रहा है। वस्तुतः यह काल संक्रान्ति-काल था जिसमे प्रागैतिहासिक युग की मान्यताएँ शनैः शनैः विकृत रूप धारण कर रही थी। लोग धर्म के वास्तविक स्वरूप को पुरोहित-वर्ग के क्रियाकांड में फँस कर भूल चुके थे और वे अश्वमेध आदि यज्ञो में प्राणियों के बलिदान को ही धर्म की इतिश्री मानने लगे थे। वाणी-रहित दीन एवं निरीह पशुओं का क्रन्दन सामूहिक मन्त्रोच्चार की ध्वनि मे विलीन कर दिया जाता था। क्षणिक आनन्द ही मनुष्य का ध्येय बन गया था और इस ध्येय-पूर्ति का साधन माना जाता था—यज्ञो का कर्मकाण्ड। पुरोहित-वर्ग के वशीभूत कतिपय शक्तिशाली राजाओं का आश्रय पाकर यह यज्ञवाद इतना प्रबल हो चुका था कि किसी साधारण व्यक्ति के लिए इसका विरोध करना असम्भव हो गया था।

ऐसे संकटग्रस्त काल मे वैशाली के राजकुमार वर्द्धमान महावीर ने एक सर्वतोमुखी क्रान्ति का सूत्रपात किया। उन्होंने अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह—इन पांच महाव्रतों (श्रमणों के लिए) तथा अणुव्रतों (श्रावकों के लिए) का विधान करके आचार-जगत् में क्रान्ति की। पारस्परिक खण्डन-मण्डन में व्यस्त दार्शनिकों को स्याद्वाद तथा अनेकान्त का महामन्त्र देकर सन्मार्ग दिखाया। लोक-भाषा में उपदेश देकर उन्होंने पण्डितों के निरंकुश वर्चस्व को समाप्त किया और वैचारिक-जगत् मे क्रान्ति की।

भगवान् महावीर के ही समय में महात्मा बुद्ध का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने श्रमण-संस्कृति की अन्य धारा—बौद्ध धर्म का 'मध्यम मार्ग'—प्रतिपादित किया। भगवान् महावीर तथा महात्मा बुद्ध की समकालीनता के कारण श्रमण-संस्कृति की दोनो धाराओं—जैन तथा बौद्ध—के सिद्धान्तों तथा पारिभाषिक शब्दावली में किंचित् समानता स्वाभाविक ही है। भ० महावीर तथा बुद्ध के लिए प्रयुक्त 'जिन' तथा 'अर्हत्' शब्द इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं। इसी प्रकार दोनों सम्प्रदायों के साधु-संन्यासी 'श्रमण' कहलाए।

इस प्रकार लगभग पाँच हजार वर्षों से श्रमण संस्कृति की स्रोतस्विनी अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होती आ रही है। समय-समय पर इसे अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ा है। एक युग में तो स्थिति यहाँ तक विषम हो गई थी कि श्रमणो तथा ब्राह्मणों का विरोध शाश्वत माना जाने लगा।[१७] विरोधी प्रहारो को सहन करते हुए भी निःश्रेयस् की सिद्धि में संलग्न श्रमण अदम्य सहिष्णुता, त्याग-वृत्ति एवं साधना का आश्रय लेकर श्रमण संस्कृति का विकास एवं प्रसार करते रहे।

भ० महावीर के २५००वें परिनिर्वाण-महोत्सव-वर्ष की इस पावन वेला मे हमारा कर्तव्य है कि हम आचार एव विचार मे श्रमण-संस्कृति के पवित्र आदर्शों को ग्रहण करके देश-विदेश मे इसका प्रचार एवं प्रसार करें।

□□

१४६४, कूचा सेठ,
दरीबा, दिल्ली-६

१५. (क) श्री धर्मानन्द कौशाम्बी—भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृष्ठ ५७
(ख) The Religion of Ahinsa, P. 14.

१६. पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, पृष्ठ २८-२९.

१७. 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' (अष्टाध्यायी, २।४।९) पर पातंजल महाभाष्य—"येषां च—'इत्यस्यावकाशः मार्जार-मूषकं श्रमणब्राह्मणमित्यादौ ज्ञेयः"।

अहिंसा के आयाम : महावीर और गांधी

□ श्री यशपाल जैन, दिल्ली

अहिंसा की श्रेष्ठता :

मानव-जाति के कल्याण के लिए अहिंसा ही एकमात्र साधन है, इस तथ्य को आज सारा संसार स्वीकार करता है, लेकिन कम ही लोग जानते है कि अहिंसा की श्रेष्ठता की ओर प्राचीनकाल से ही भारतवासियो का ध्यान रहा है। वैदिक काल मे हिंसा होती थी, यज्ञों मे पशुओं की बलि दी जाती थी; लेकिन उस युग मे भी ऐसे व्यक्ति थे, जो अनुभव करते थे कि जिस प्रकार हमें दु:ख-दर्द का अनुभव होता है, उसी प्रकार दूसरे प्राणियों को भी होता है, अत: जीवों को मारना उचित नही है। आगे चलकर यह भावना और भी विकसित हुई। महाभारत के 'शान्ति पर्व' मे हम भीष्मपितामह के मुह से सुनते है कि हिंसा अत्यन्त अनर्थकारी है। उससे न केवल मनुष्यों का संहार होता है, अपितु जो जीवित रह जाते है, उनका भी भारी पतन होता है। उस समय ऐसे व्यक्तियों की संख्या कम नही थी, जो मानते थे कि यदि हिंसा से एकदम बचा नही जा सकता तो कम-से-कम उन्हे अपने हाथ से तो हिंसा नही करनी चाहिए। उन्होंने यह काम कुछ लोगों को सौप दिया, जो बाद में क्षत्रिय कहलाये। ब्राह्मण उनसे कहते थे कि हम अहिंसा का व्रत लेते है, हिंसा नही करेंगे, लेकिन यदि हम पर कोई आक्रमण करे अथवा राक्षस हमारे यज्ञ मे बाधा डालें, तो तुम हमारी रक्षा करना। विश्वामित्र ब्रह्मर्षि थे, धनुर्विद्या में निष्णात थे, पर उन्होंने अहिंसा का व्रत ले रखा था। अपने हाथ से किसी को नही मार सकते थे। उन्होने राम-लक्ष्मण को धनुष-बाण चलाना सिखाया और अपने यज्ञ की सुरक्षा का दायित्व उन्हे सौंपा।

मारने की शक्ति हाथ में आ जाने से क्षत्रियों का प्रभुत्व बढ़ गया। वे शत्रु के आने पर उसका सामना करते। धीरे-धीरे हिंसा उनका स्वभाव बन गया। जब शत्रु न होता तो वे आपस मे ही लड़ पड़ते और दु:ख का कारण बनते। परशुराम से यह सहन न हुआ। उन्होंने धनुष-बाण उठाया, फरसा लिया और संसार से क्षत्रियों को समाप्त करने के लिए निकल पड़े। जो भी क्षत्रिय मिलता, उसे वे मौत के घाट उतार देते। कहते है, उन्होंने २१ बार इस भूमि को क्षत्रियों से खाली कर दिया, लेकिन हिंसा की जड़ फिर भी बनी रही। विश्वामित्र अहिंसा के व्रती थे, वे स्वयं हिंसा नहीं करते थे, पर दूसरों से हिंसा करवाने मे उन्हें हिचक नहीं हुई। परशुराम हिंसा से अहिंसा स्थापित करना चाहते थे। दोनों की अहिंसा में निष्ठा थी, किन्तु उनका मार्ग सही नहीं था। उसमे हिंसा के लिए गुजाइश थी और हिंसा से अहिंसा की स्थापना हो नही सकती थी।

बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय :

भगवान बुद्ध ने एक नयी दिशा दी। समाज के हित को ध्यान में रख कर 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' का घोष किया। उन्होंने कहा, "वह काम करो, जिसमें बहु-संख्यक लोगों को लाभ पहुचे, सुख मिले।" इससे स्पष्ट था कि उन्होने अनजाने मारने की मर्यादा को छूट दी अर्थात् जिस कार्य से समाज के अधिकांश व्यक्तियों का हित साधन होता हो, उसे उचित ठहराया, भले ही उससे अल्प-सख्यको के हितों की उपेक्षा क्यो न होती हो।

महावीर और आगे बढ़े :

भगवान महावीर एक कदम आगे बढ़े। उन्होंने सबके कल्याण की कल्पना की और अहिंसा को परम धर्म मान कर प्रत्येक प्राणी के लिए उसे अनिवार्य ठहराया। उन्होंने कहा—

'सव्वे पाणा पिया उया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला-अप्पियवहा।

पिय जीविणो जीविउकामा, (तम्हा) णातिवाएज्ज किंचणं॥

अर्थात्, सब प्राणियों को आयु प्रिय है, सब सुख के अभिलाषी हैं, दुःख सबके प्रतिकूल है, वध सबको अप्रिय है, सब जीने की इच्छा रखते हैं, इससे किसी को मारना अथवा कष्ट नहीं पहुंचाना चाहिए।

हम देखते हैं कि महावीर से पहले भी अनेक धर्म-प्रवर्तकों तथा महापुरुषों ने अहिंसा के महत्व एवं उसकी उपादेयता पर प्रकाश डाला था, लेकिन महावीर ने अहिंसा-तत्व की जितनी विस्तृत, सूक्ष्म तथा गहन मीमांसा की, उतनी शायद ही और किसी ने की हो। उन्होंने अहिंसा को गुण-स्थानो मे प्रथम स्थान पर रखा और उस तत्व को चरम सीमा तक पहुंचा दिया। कहना होगा कि उन्होंने अहिंसा को सैद्धांतिक भूमिका पर ही खड़ा नहीं किया, उसे आचरण का अधिष्ठान भी बनाया। उनका कहना था—

सयं तिवायए पाणे, अदुवन्नेहि घायए।
हणंतं वाणुजाणाइ, देरं वड्ढइ अप्पणो॥

(जो मनुष्य प्राणियो की स्वयं हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है और हिंसा करवाने वालों का अनुमोदन करता है, वह संसार मे अपने लिए बैर बढ़ाता है।

अहिंसा की व्याख्या करते हुए वह कहते है:

तेसिं अच्छण जो एव, निच्चं होयव्वयं सिया।
मणसा कायवक्केण, एव हवइ संजय॥

(मन, वचन और काया, इनमे से किसी एक के द्वारा भी किसी प्रकार के जीवों की हिंसा न हो, ऐसा व्यवहार ही संयमी जीवन है। ऐसे जीवन का निरन्तर धारण ही अहिंसा है।)

सब जीवों के प्रति आत्मभाव रखने, किसी को त्रास न पहुंचाने, किसी के भी प्रति वैर-विरोध-भाव न रखने, अपने कर्म के प्रति सदा विवेकशील रहने, निर्भय बनने, दूसरो को अभय देने, आदि-आदि बातो पर महावीर ने विशेष बल दिया, जो स्वाभाविक ही था। मानव-जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाने और समाज में फैली नाना प्रकार की व्याधियों को दूर करके उसे स्थायी सुख और शांति प्रदान करने के अभिलाषी महावीर ने समस्त चराचर प्राणियों के बीच समता लाने और उन्हें एकसूत्र में बांधने का प्रयत्न किया। उनका सिद्धान्त था—'जीयो और जीने दो', अर्थात यदि तुम चाहते हो कि सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करो तो उसके लिए आवश्यक है कि दूसरों को भी उसी प्रकार जीने का अवसर दो। उन्होंने समष्टि के हित में व्यष्टि के हित को समाविष्ट कर देने की प्रेरणा दी। वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को विकृत करने वाली सभी बुराइयों की ओर उनका ध्यान गया और उन्हें दूर करने के लिए उन्होंने मार्ग सुझाया।

महावीर की अहिंसा प्रेम के व्यापक विस्तार में से उपजी थी। उनका प्रेम असीम था। वह केवल मनुष्य-जाति को प्रेम नही करते थे, उनकी करुणा समस्त जीव-धारियों तक व्याप्त थी। छोटे बड़े, ऊँच-नीच आदि के भेदभाव को उनके प्रेम ने कभी स्वीकार नही किया। यही कारण है कि अहिंसा का उनका महान् आदर्श प्रत्येक मानव के लिए कल्याणकारी था।

जिसने राज्य छोड़ा, राजसी ऐश्वर्य को तिलांजलि दी, भरी जवानी में घर-बार से मुंह मोड़ा, सारा वैभव छोड़कर अकिंचन बना और जिसने बारह वर्षों तक दुर्द्धर्ष तपस्या की, उसके आत्मिक बल की सहज ही कल्पना नहीं की जा सकती। महावीर ने रात-दिन अपने को तपाया और कंचन बने। उनकी अहिंसा वीरों का अस्त्र थी, दुर्बल व्यक्ति उसका उपयोग नहीं कर सकता था। जो मारने की सामर्थ्य रखता है, फिर भी मारता नहीं और निरन्तर क्षमाशील रहता है, वही अहिंसा का पालन कर सकता है। यदि कोई चूहा कहे कि वह बिल्ली पर आक्रमण नहीं करेगा, उसने उसे क्षमा कर दिया है, तो उसे अहिंसक नहीं माना जा सकता। वह दिल में बिल्ली को कोसता है, पर उसमें दम ही नही कि उसका कुछ बिगाड़ सके। इसी से कहा है—"क्षमा वीरस्य भूषणम्।" यही बात अहिंसा के विषय में कही जा सकती है। कायर या निर्वीर्य व्यक्ति अहिंसक नही हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महावीर ने अहिंसा का व्यापक प्रचार-प्रसार किया और उसे धर्म का शक्तिशाली अंग बनाया। उस जमाने में पशु-वध आदि के रूप में घोर हिंसा होती थी। महावीर ने उसके विरुद्ध अपनी आवाज ऊंची की। उन्होंने लोगों में यह विश्वास पैदा किया कि हिंसा अस्वाभाविक है। मनुष्य का स्वाभाविक धर्म अहिंसा

है। उसी का अनुसरण करके वह स्वयं सुखी रह सकता है, दूसरों को सुखी रख सकता है।

इस दिशा में हम ईसा के योगदान को भी नहीं भूल सकते हैं। उन्होंने हिंसा का निषेध किया और यहां तक कहा कि यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर तमाचा मारे तो दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो। उन्होने यह भी कहा कि तुम अपने को जितना प्रेम करते हो, उतना ही अपने पड़ोसी को भी करो।

अहिंसा का व्यापक प्रचार :

इसके पश्चात् अहिंसा के प्रचार के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। कलिंग-युद्ध में एक लाख व्यक्तियो के मारे जाने से सम्राट् अशोक का मन किस प्रकार अहिंसा की ओर आकृष्ट हुआ, यह सर्वविदित है। अपने शिला-लेखो में अशोक ने धर्म की जो शिक्षा दी, उसमे अहिसा को सब से ऊंचा स्थान मिला। तेरहवी-चौदहवी सदी में वैष्णव धर्म की लहर उठी। उसने अहिसा के स्वर को देश के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुंचा दिया। महाराष्ट्र में वारकरी सम्प्रदाय ने भी इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। और भी बहुत से सम्प्रदायों ने हिंसा को रोकने के लिए प्रयत्न किये। सन्तों की वाणी ने लाखों-करोड़ो नर-नारियों को प्रभावित किया।

परिणाम यह हुआ कि जो अहिंसा किसी समय केवल तपश्चरण की वस्तु मानी जाती थी, उसकी उपयोगिता जीवन तथा समाज में व्याप्त हुई। उसके लिए जहां कोई सामूहिक प्रयास नही होता था, वहां अब बहुत से लोग मिलजुल कर काम करने लगे। इन प्रयासों का प्रत्यक्ष परिणाम दृष्टिगोचर होने लगा। जिन मनुष्यों और जातियों ने हिंसा का त्याग कर दिया, वे सभ्य कहलाने लगीं, उन्हे समाज में अधिक सम्मान मिलने लगा।

अहिंसा की सामाजिकता और गांधी :

लेकिन अहिंसा के विकास की यह अन्तिम सीमा नहीं थी। वर्तमान अवस्था तक आने में उसे कुछ और सीढ़ियां चढ़नी थीं। वह अवसर उसे युग-पुरुष गांधी ने दिया। उन्होंने देखा कि निजी जीवन में अहिंसा और बाह्य क्षेत्र में हिंसा, ये दोनों चीजें साथ-साथ नहीं चल सकतीं, इसलिए उन्होंने धार्मिक ही नहीं, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा अन्य सभी क्षेत्रो में अहिंसा के पालन का आग्रह किया। उन्होने कहा :

"हम लोगों के दिल में इस झूठी मान्यता ने घर कर लिया है कि अहिंसा व्यक्तिगत रूप से ही विकसित की जा सकती है और वह व्यक्ति तक ही मर्यादित है। वास्तव मे बात ऐसी नहीं है। अहिंसा सामाजिक धर्म है और वह सामाजिक धर्म के रूप मे विकसित की जा सकती है, यह मनवाने का मेरा प्रयत्न और प्रयोग है।" इतना ही नहीं, उन्होंने यहा तक कहा :

"अगर अहिंसा व्यक्तिगत गुण है तो वह मेरे लिए त्याज्य वस्तु है। मेरी अहिंसा की कल्पना व्यापक है। यह करोडों की है। मैं तो उनका सेवक हू। जो चीज करोड़ों की नही हो सकती है, वह मेरे लिए त्याज्य है और मेरे साथियों के लिए त्याज्य होनी चाहिए। हम तो यह सिद्ध करने के लिए पैदा हुए है कि सत्य और अहिंसा व्यक्तिगत आचार के ही नियम नही है, वे समुदाय, जाति और राष्ट्र की नीति हो सकते है। मेरा यह विश्वास है कि अहिंसा हमेशा के लिए है, वह आत्मा का गुण है, इसलिए वह व्यापक है, क्योंकि आत्मा तो सभी के होती है। अहिंसा सबके लिए है, सब जगहों के लिए है, सब समय के लिए है। अगर वह वास्तव मे आत्मा का गुण है तो हमारे लिए वह सहज हो जाना चाहिए।"

लोगों ने कहा, "सत्य और अहिंसा व्यापार में नहीं चल सकते। राजनीति में उनकी जगह नहीं हो सकती।" ऐसे व्यक्तियों को उत्तर देते हुए गांधी जी ने कहा।

"आज कहा जाता है कि सत्य व्यापार में नहीं चलता, राजकारण में नहीं चलता, तो फिर कहां चलता है? अगर सत्य जीवन के सभी क्षेत्रों मे और सभी व्यवहारों में नहीं चल सकता तो वह कौड़ी कीमत की चीज नही है। जीवन मे उसका उपयोग ही क्या रहा? सत्य और अहिंसा कोई आकाश-पुष्प नहीं हैं। उन्हें हमारे प्रत्येक शब्द, व्यापार और कर्म में प्रकट होना चाहिए।"

गांधीजी ने यह सब कहा ही नहीं, इस पर अमल कर के भी दिखाया। उन्होंने प्राचीनकाल से चली आ रही

अहिंसा की परम्परा को आगे बढ़ाया, उसे नया मोड़ दिया। उन्होंने जहां वैयक्तिक जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा की, वहां उसे सामाजिक तथा राजनैतिक कार्यों की आधार-शिला भी बनाया। अहिंसा के वैयक्तिक एवं सामूहिक प्रयोग के जितने दृष्टान्त हमें गांधीजी के जीवन में मिलते हैं, उतने कदाचित किसी दूसरे महापुरुष के जीवन में नहीं मिलते।

हिंसा-अहिंसा की आंख-मिचौनी :

पर दुर्भाग्य से हिंसा और अहिंसा की आंख-मिचौनी आज भी चल रही है। गांधीजी ने अपने आत्मिक बल से अहिंसा को जो प्रतिष्ठा प्रदान की थी, वह अब क्षीण हो गयी है। अहिंसा की तेजस्विता मन्द पड़ गयी है, हिंसा का स्वर प्रखर हो गया है। इसीसे हम देखते हैं कि आज चारों ओर हिंसा का बोलबाला है। विज्ञान की कृपा से नये-नये आविष्कार हो रहे है और शक्तिशाली राष्ट्रों की प्रभुता का आधार विनाशकारी आणविक अस्त्र बने हुए हैं। हिरोशिमा और नागासाकी के नरसंहार की कहानी और वहां के असंख्य पीड़ितों की कराह आज भी दिग्-दिगंत में व्याप्त है, फिर भी राष्ट्रों की भौतिक महत्वाकांक्षा तथा अधिकार-लिप्सा तृप्त नहीं हो पा रही हैं। संहारक अस्त्रों का निर्माण तेजी से हो रहा है और उनका प्रयोग आज भी कुछ राष्ट्र बेघड़क कर रहे है।

लेकिन हम यह न भूलें कि अहिंसा की जड़ें बहुत गहरी हैं। उन्हें उखाड़ फेंकना सम्भव नहीं है। उसका विकास निरन्तर होता गया है और अब भी उसकी प्रगति रुकेगी नही। हम दो विश्वयुद्ध देख चुके है और आज भी शीतयुद्ध की विभीषिका देख रहे हैं। विजेता और पराजित, दोनों ही अनुभव कर रहे हैं कि यह अस्वाभाविक स्थिति अधिक समय तक चलने वाली नहीं है। यातायात के साधनों ने दुनिया को बहुत छोटा कर दिया है और छोटे-बड़े सभी राष्ट्र यह मानने लगे हैं कि उनका अस्तित्व युद्ध से नहीं, प्रेम से ही सुरक्षित रह सकता है। पर उनमें अभी इतना साहस नही है कि वर्ष में ३६४ दिन संहारक अस्त्रों का निर्माण करें और ३६५वें दिन उन सारे अस्त्रों को समुद्र में फेंक दें। अहिंसा अब नये मोड़ पर खड़ी है और संकेत करके कह रही है कि विज्ञान के साथ अध्यात्म को जोड़ो और वैज्ञानिक आविष्कारों को रचनात्मक दिशा में मोड़ो। जीवन का चरम लक्ष्य सुख और शांति है। उसकी उपलब्धि संघर्ष से नहीं, सद्भाव से होगी। अहिंसा में निराशा को स्थान नहीं। वह जानती है कि उषा के आगमन से पूर्व रात्रि के अन्तिम प्रहर का अन्धकार गहनतम होता है। आज विश्व में जो कुछ हो रहा है; वह इस बात का सूचक है कि अब शीघ्र ही नये युग का उदय होगा और संसार में यह विवेक जागृत होगा कि मानव तथा मानव-नीति से अधिक श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, वह दिन आयेगा जब राष्ट्र नया साहस बटोर पायेंगे और वीर-शासन के सर्वोदय तीर्थ तथा गांधी के रामराज्य की कल्पना को चरितार्थ करेंगे।

भगवान महावीर के निर्वाण-महोत्सव-वर्ष में हम अपने जीवन मे नया मोड़ ला सकें तो उससे हमारा भला होगा और समाज का भी कल्याण होगा। चारित्र्य के बिना ज्ञान और दर्शन अधूरे है, इस सत्य को हमें अच्छी तरह हृदयंगम कर लेना चाहिए।

□□

७/८, दरियागंज,
दिल्ली।

कुछ प्राचीन जैन विद्वान

□ पं० परमानन्द जैन शास्त्री, दिल्ली

श्रीपाल त्रैविद्य देव :

श्रीपाल त्रैविद्य देव द्रमिल संघ और अरुङ्गलान्वय के आचार्य थे। यह अपने समय के बड़े भारी विद्वान् और तपस्वी थे। वे परवादिमर्श और षटदल्लन मे निष्णात योगीश्वर थे। इनकी स्याद्वाद-भूषण, वादीभसिंह, वादीकोलाहल और त्रैविद्य चक्रवर्ती आदि उपाधियां थीं। इससे यह उस समय के बड़े भारी प्रतिष्ठित विद्वान् जान पड़ते हैं।[1]

यस्य वागमृतं लोके मिथ्यैकान्त विषापहम्।
तस्मै श्रीपाल देवाय नमस्त्रैविद्य-चक्रिणे
॥(जैन लेख सं० भा० ३ पृ० ७२)॥

जिनके वचनरूप अमृत से मिथ्या एकान्त रूप विष दूर हो जाता है; उन त्रैविद्य चक्रवर्ती श्रीपाल देव को नमस्कार हो।

सन् ११४५ ई. के एक लेख में उन्हें–'स्याद्वादाचलमस्तके स्थितिरसौ श्रीपाल कण्ठीरवः' लिखा है।[2] यह गद्य-पद्य-रूप दोनों तरह की रचना मे कुशल थे। इससे वे प्रकाण्ड विद्वान् ज्ञात होते है। पर खेद है कि उनकी इस समय कोई रचना उपलब्ध नही है। जैन शिलालेख-संग्रह तृतीय भाग के अनेक लेखों में श्रीपाल त्रैविद्य की प्रशंसा की गई है। इनके अनेक विद्वान शिष्य थे। वादिराज-सूरि ने 'पार्श्वनाथ चरित' की प्रशस्ति में अपने दादा गुरु श्रीपाल देव को 'सिंहपुरैक-मुख्य' लिखा है, जिससे स्पष्ट है कि वे सिंहपुर के निवासी थे। सम्भवतः यह सिंहपुर उन्हें जागीर में मिला हुआ था। इस परम्परा का मठ भी वहीं था। वादिराज और उनकी परम्परा के मुनिजन भी वहां रहे हैं। राजा जयसिंह दक्षिण के चौलुक्य या सोलंकी वंश के राजा थे, वीर और पराक्रमी थे। सिंहपुर उन्हीं के राज्य में था। उनके राज्यकाल के अनेक शिलालेख उपलब्ध हुए हैं। शक सं० ९३८ से ९६४ तक २६ वर्ष तो उनका राज्य निश्चित ही रहा है। वादिराज तो उनकी राजधानी में रहे हैं और उनकी सभा में अनेक वादियों को पराजित भी किया है। वादिराज के गुरु मतिसागर श्रीपाल त्रैविद्य देव के शिष्य थे।

शक सं० १०९७, सन् ११७५ ई०, के एक शिलालेख में होयसल वंश के विष्णुवर्धन पोमसलदेव ने जिन-मन्दिरों के जीर्णोद्धारार्थ और ऋषियों के आहार-दानार्थ वादिराज के वंशज श्रीपाल योगीश्वर को 'शल्य' नाम का एक गांव दान मे दिया था :

इनके दूसरे शिष्य वासुपूज्य व्रतीन्द्र थे, जो बड़े विद्वान थे। ये शिक्षा-दीक्षा और सुरक्षा में निपुण थे। जैसा कि शिलालेख के निम्न पद्य से प्रकट है।

श्रीपाल त्रैविद्य विद्यापति पद कमलाराधना-लब्ध-बुद्धिः,
सिद्धान्ताम्भो-निधान प्रविसरदमृतास्वाद - पुष्ट-प्रमोदः।
दीक्षा-शिक्षा-सुरक्षा-क्रम-वृत्ति-निपुणः सन्तत भव्य-सेव्यः,
सोऽयं दाक्षिण्य-मूर्तिर्जगति विजयते वासुपूज्यः व्रतीन्द्रः॥
जैन लेख सं० भा० ३ पृ० १४८॥

शक सं० १०९५–११७३ ई० में श्रीपाल त्रैविद्य देव के शिष्य वासुपूज्य देव को, होयसल बल्लाल देव के सन्धि विग्रही मंत्री बूचिमप्प ने सिगेनाड माकली में त्रिकूट जिनालय बनवा कर उस गांव के देवता की पूजा और आहार-दानादि के लिए दान दिया था।

---

१. 'इन्तु निरवद्य स्याद्वाद भूषण गण पोषण समे तरुमागि आदीभ सिंह वादिकोलाहल तार्किक चक्रवर्ती-देन्द । श्रीपाल त्रैविद्य देवर्गे।' (जैन लेख सं० भा० १ पृ० ४००)।

२. अकलङ्क सिंहासनारूढसं तार्किक चक्रवर्तिगलु आवन विषयमो षट् तर्कखिलबहु-भङ्गि-सङ्गतं श्रीपाल-त्रैविद्य-गद्य-पद्य-वचो-विन्यासं निसर्ग-विजय-विलासम्।" (जैन लेख सं० भा० ३ पृ० ११५)

इन सब उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि श्रीपाल त्रैविद्य देव और उनकी शिष्य-परम्परा ने जैन शासन की सेवा की है। उक्त श्रीपाल त्रैविद्य देव ईसा की १२वीं शताब्दी के प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान थे।

रत्न कीर्ति :

काष्ठासंघ माथुरान्वय के प्रसिद्ध भ० अनन्तकीर्ति के पट्टधर क्षेमकीर्ति के शिष्य थे : क्षेमकीर्ति के पट्टधर हेमकीर्ति थे। रत्नकीर्ति प्राकृत-संस्कृत भाषा के अच्छे विद्वान् थे। इन्होंने अपने गुरु की आज्ञा से आचार्य देवसेन के 'आराधनासार' की टीका बनाई थी। आराधनासार मूलग्रन्थ प्राकृत भाषा का है, उसमें ११५ गाथाओं में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चार आराधनाओं का कथन किया गया है। टीका विशद, सुगम और सरल है। गाथाओं के अर्थ का बोध कराते हुए वस्तु स्वरूप का विवेचन किया है और आराधनाओं की कथा को यथा स्थान अंकित किया है जिससे पाठकों को गाथाओं का रहस्य समझने में सरलता हो गई है। यद्यपि इस ग्रंथ पर पण्डित प्रवर आशाधर जी की टीका भी उपलब्ध है, जिसे उन्होंने विनय चक्र के अनुरोध से विक्रम की १३वीं शताब्दी में बनाई थी; पर वह अत्यन्त संक्षिप्त है। रत्नकीर्ति की यह टीका विस्तृत है। टीकाकार ने अपनी लघुता व्यक्त करते हुए लिखा है कि मैंने यह टीका यश के निमित्त नही बनाई। किन्तु स्व के बोध के लिए बनाई है :—'मया यमाराधनासाराख्यो ग्रन्थो व्यरचि न पुनर्यशोनिमित्तं, यदुक्तं—न कवित्वाभिमानेन न कीर्ति प्रसरेच्छया। कृतिः किन्तु मदीयेवं स्वबोधायैव केवलम् ॥

टीकाकार ने टीका में उसका रचना-काल नहीं दिया, जिससे उसका समय निश्चित करने में कठिनाई हो रही है। अतएव अन्य सामग्री पर से उसका विचार किया जाता हैं। सं० १४६६ की प्रवचनसार की अमृतचन्द्र कृत तात्पर्य-वृत्ति की लिपि प्रशस्ति में मुनि अश्वसेन, क्षेमकीर्ति और हेमकीर्ति का नामोल्लेख किया है। रत्नकीर्ति के शिष्य थे। अतएव इस टीकाकार का रचना-काल क्षेमकीर्ति विक्रम की १५वीं शताब्दी का मध्यकाल होना चाहिए। प्रस्तुत रत्नकीर्ति विक्रम की १५वीं शताब्दीं के विद्वान् हैं।

रत्नकीर्ति नाम के और भी विद्वान् हुए हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है :—

एक रत्नकीर्ति वे हैं जिनका उल्लेख, खरगोन से ऊन जाने वाली सड़क पर ऋषभदेव का एक विशाल मन्दिर में प्राप्त हुआ है। चौवारा देरा नं० १ में एक बड़ी मूर्ति पर वि० सं० ११८२ का एक लेख अंकित है, जिसमें जैनाचार्य रत्नकीर्ति का नाम अंकित है जिससे यह रत्नकीर्ति विक्रम की १२वीं शताब्दी के उपान्त्य समय के आचार्य जान पड़ते हैं।

दूसरे रत्नकीर्ति वे हैं जिनका उल्लेख सं० १३३४ के एक लेख में पाया जाता है, जिसमें पण्डिताचार्य रत्नकीर्ति द्वारा एक मूर्ति के स्थापित किए जाने का उल्लेख है। १४वीं शताब्दी का यह लेख इन्दौर के म्यूजियम में संरक्षित है।

तीसरे रत्नकीर्ति वे हैं जो नन्दिसंघ बलात्कार गण के भट्टारक धर्मचंद्र के पट्टधर थे। यह स्याद्वाद विद्यासागर, बालब्रह्मचारी, तप के प्रभाव से पूजित और अजमेर पट्ट के पट्टधर थे। यह अजमेर के पट्ट पर सं० १२९६ से १३१० तक रहे हैं। देवगढ़ के सं० १४८१ के लेख में भी इन रत्नकीर्ति का उल्लेख किया गया है।

(जैन लेख सं० भा० ३ पृ० ४६१)

चौथे रत्नकीर्ति वे हैं, जो भट्टारक जिनचन्द्र के शिष्य थे। इनका समय विक्रम की १६वी शताब्दी है। क्योंकि भट्टारक जिनचन्द्र का वि० सं० १५०७ में प्रतिष्ठित होने का उल्लेख पाया जाता है। अनेक ग्रन्थों की लिपि प्रशस्तियों में भी इन रत्नकीर्ति का जिनचन्द्र के शिष्य रूप में उल्लेख पाया जाता है।

पांचवें रत्नकीर्ति काष्ठा संघ माथुरगच्छ पुष्कर गण के भट्टारक कमलकीर्ति के शिष्य थे; उन्होंने संवत् १५१६ में ववागांव के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था।

(जैन लेख सं० भा० ३ पृ० ४६०)

अविद्धकर्ण पद्मनन्दी :

यह मूलसंघ देशीय गण के विद्वान् गोल्लाचार्य के शिष्य थे। यह अविद्धकर्ण थे—कर्णवेध संस्कार होने से पूर्व ही बाल्यावस्था में दीक्षित हो गए थे। इसी से यह

कौमारव्रती कहलाते थे।[3] सिद्धान्त शास्त्र के बड़े भारी विद्वान्, प्रशान्त तपस्वी और धीर-वीर थे। विद्वद् समूह के भूषण थे और प्रफुल्ल कमल के समान सुशोभित होते थे। उनका मन शान्त भावना में निमग्न रहता था। मन में सरस्वती का निवास होने से वे सहज ही सुन्दर शरीर के अधिकारी थे। इनके दो शिष्य थे, कुलभूषण और प्रभाचन्द्र। इनमें कुल भूषण सद्-वृत्त तपस्वी और सैद्धांतिक विद्वान् थे, और प्रभाचंद्र प्रथित तर्ककार थे। वे दर्शन शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान थे। साथ ही सिद्धान्त के भी पारगामी थे। इनकी न्याय शास्त्र की दो कृतियां प्रमेयकमल मार्तण्ड और न्याय कुमुद चन्द्र, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित हो चुके हैं। इनका समय ईसा की ११वी शताब्दी जान पड़ता है।

कुलभूषण :

यह मूल संघान्तर्गत नन्दीगण के भेदरूप देशी गण के गोल्लाचार्य के शिष्य अविद्धकर्ण कौमारव्रती पद्मनन्दी सैद्धान्तिक के शिष्य थे। कुलभूषण को शिलालेख के पद्य में चारित्रसागर और सिद्धान्त के पारगामी बतलाया गया है।[4] यह सिद्धान्त मुनीन्द्र अपने अर्जित यश से उज्ज्वल होने के कारण जंगमतीर्थ के समान थे। मंत्रण, मोक्ष और सद्‌गुणों के समुद्र को बढ़ाने में वे चन्द्रमा के समान थे। तथा सरस्वती देवी के चित्त रूपी वल्ली के पद-पंकज (के निवास) से गर्वयुक्त विद्वत्समुदाय के हृदय कमल के अंतरराग से उनका मन रंजायमान था।[5]

इनके सधर्मा प्रथित तर्ककार प्रभाचन्द्र थे, जो दर्शनशास्त्र के अतिरिक्त सिद्धान्त के विद्वान् एवं कुशल टीकाकार थे। कुलभूषण के शिष्य कुलचन्द्र मुनीन्द्र थे जो अपने अर्जित यश से जंगमतीर्थ के समान थे। सच्चरित्र और विवेक बुद्धि द्वारा कामदेव को अपने पास फटकने नहीं देते थे। वे बड़े तपस्वी और सैद्धान्तिक विद्वान् थे।

कुलभूषण मुनि ने अपना कोई समय नही दिया और न इनकी कोई कृति ही उपलब्ध है जिससे उनके सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त होती। यह ईसा की ११वीं शताब्दी के विद्वान् जान पड़ते हैं। यह अपने समय के प्रभावशाली आचार्य थे।

भट्टारक मल्लिभूषण :

मूलसंघ बलात्कार गण सरस्वती गच्छ के भट्टारक विद्यानन्द के पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए थे। अपने समय के अच्छे विद्वान थे और मल्लिभूषण गुरु के नाम से उल्लेखित किए जाते थे। ब्रह्मश्रुत सागर ने इनका सुन्दरशब्दों में स्मरण किया है। 'तत्पट्टमुनि मल्लिभूषण गुरुभट्टारको नंदतु' (अक्षय निधि विधान कथा पं० ८०)। तत्पाद-पंकज रजो रचितोत्तमांगे, श्री मल्लिभूषण गुरुर्विदुषां वरेण्यः। (पल्लिविधान कथा २४०) इससे स्पष्ट है कि मल्लिभूषण विद्वान भट्टारक थे। ब्रह्मश्रुत सागर ने पल्लविधान कथा की रचना मल्लि भूषण गुरु के उपदेश से रची थी। जैसा कि उसके निम्न पद्यांश से प्रकट है—'श्री मल्लिभूषण गुरु प्रवरोपदेशात् शास्त्रं व्यधापयदिदं कृतिनां हृदिष्टं" २४८।

विरुदावली में मल्लिभूषण को 'प्रवादिगजयूथ-केसरी, और पद्मावती के उपासक बतलाया है। इन्होंने मंडप-

---

३. आविद्ध कर्णादिक पद्मनन्दी सैद्धान्तिकारण्योजनि यस्य लोके।
कौमारदेव व्रतिता प्रसिद्धि र्जीयस्तु सो ज्ञाननिधिः स धीरः॥ —श्रवण बेल्गोल लेख नं० ४०

४. आविद्ध कर्णादिक पद्मनन्दि सैद्धान्तिकाख्योऽजनि-यस्यलोके।
कौमारदेव व्रतिता प्रसिद्धिर्जीयस्तु सो ज्ञान-निधि-सुधीरः॥१५॥
तच्छिष्यः कुलभूषणाख्य यतिपश्चारित्र वारान्निधि—स्सिद्धान्ताम्बुधिपारिगो नत विनेयस्तत्सधर्मो महान्।'
शब्दाम्भोरुहभास्करः प्रथित तर्क ग्रन्थकाः प्रभा—चन्द्राख्यो मुनिराज पण्डितवरः श्री कुन्द-कुन्दान्वयः।
श्रवण बेल्लोल लेख नं० ४०
तस्य श्री कुलभूषणाख्य सुमुनेश्शिष्यो विनेयस्तुतः।
सद्वृत्तः कुलचन्द्र देव मुनिर्यस्सिद्धान्त विद्या निधिः॥
श्रवण बेलगोल नं० ४०

५. मंत्रण मोक्षसद्‌गुण गणब्धि य वृद्धिगे चद्र नंते वा—
क्कांतेय चित्तवल्लि पदपंकजदृप्त बुधालि हृत्सरो—
जांतररागरंजित मनं कुलभूषण दिव्य सेव्य—
सैद्धान्त मुनीन्द्र रूर्जित-यशोज्वल जंगमतीर्थ कल्परू।२
ताडपत्रीय धवला की कन्नड लिपि प्रशस्ति

गिरि और गोपाचल (ग्वालियर) की यात्रा की थी और मंडपगढ़ के सुलतान ग्यासदीन की सभा में सम्मान प्राप्त किया था।[६] यह मालवे का सुलतान था, इसका राज्य-काल सन् १४६९ से १५०० ई० तक रहा है। इसकी राजधानी मण्डप दुर्ग थी।

मल्लिभूषण ने आचार्य अमरकीर्ति को पंचास्तिकाय की प्रति प्रदान की थी और सं० १५४४ में एक निषधी का निर्माण कराया था। जैसा कि निम्न लेख से स्पष्ट है :—

सं० १५४४ वर्षे वैसाख सुदी ३ सोमे श्री मूलसंघे-सरस्वति गच्छे बलात्कार गणे भ० विद्यानन्दि देवः तत्पट्टे भ० श्री मल्लिभूषण, श्री स्तम्भतीर्थ हुंबड ज्ञातीय श्रेष्ठी चांपाभार्यारूपिणी तत्पुत्री श्री अर्जिका रत्नसिरि क्षुल्लिका जिनमती, श्री विद्यानन्द दीक्षिता आर्यिका कल्याणसिरि, तत्वल्लभी अग्रोतकाज्ञातीय साहु देवा भार्या नारंगदेव-पुत्री जिनमती विस्सही कारापिता प्रणमति श्रेयार्थम्।

—दानवीर माणिकचन्द पृ० ४३

भट्टारक मल्लि भूषण की ग्रन्थ-सूचियों पर से तीन रचनाओं का पता चला है। पंच कल्याण पूजा (ईडर) धन्यकुमार चरित पत्र संख्या २०, दि० जैन पार्श्वनाथ मन्दिर चौगान बूंदी (राजस्थान) जैन ग्रन्थ सूची भाग ५ पृ० ३३६), दशलक्षण व्रतोद्यापन पूजा पत्र १४ (ग्रंथ-सूची भाग ४ पृ० ४८९। इनके अतिरिक्त इनकी और भी कृतियाँ होंगी, खास कर ईडर और सूरत के भण्डारों आदि में अन्वेषण करने पर प्राप्त हो सकती हैं।

मल्लि भूषण गुरु के शिष्य ब्रह्म नेमिदत्त थे। उन्होंने इनका अपनी कृतियों में स्मरण किया है। इनका समय विक्रम की १६वीं शताब्दी है। □□

एफ ६२, जवाहर पार्क,
वेस्ट लक्ष्मीनगर,
दिल्ली—५१

□□□

प्रेरक वाणी

धर्मः सुखस्य हेतुर्हेतुर्न विराधकः स्वकार्यस्य।
तस्मात्सुखभङ्गभिया माभूर्धर्मस्य विमुखस्त्वम्॥

अर्थ—धर्म सुख का कारण है। कारण कभी भी अपने कार्य का विरोधी नहीं होता; अतः 'धर्म के आचरण से सुख नष्ट हो जाएगा' ऐसा समझ कर तू धर्म से विमुख मत हो।

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वराः विदुः।
यदीये प्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः॥

अर्थ—आचार्यों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहा है। इनके विपरीत—मिथ्या-दर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र—संसार-परम्परा को बढ़ाने वाले होते हैं।

—आचार्य गुणभद्र

□□□

६. तत्पट्टोद्याचल बाल भास्कर प्रवर परवादि गज यूथ केसरि मण्डपगिरिखाद समस्या प्रचन्द्र पूर्ण विकटवादि गोपाचल दुर्ग मेघाकर्षक भविक जन-सस्यामृत वापि-वर्षण—सुरेन्द्र नागेन्द्र खगेन्द्रादि सेवित चरणार-विंदानां ग्यासदीन सभामध्य प्राप्त सनमान—पत्रोवल्युपस्तकानां श्री मल्लिभूषण भट्टारक वर्षणाम्।
जैन सि० भा० भा० १७ पृ ५१

जैन न्याय-परिशीलन

□ डा० दरबारी लाल कोठिया, वाराणसी

प्राग्वृत्त :

साहित्य, इतिहास और पुरातत्व की साक्षियों से यह सिद्ध हो चुका है कि भारतीय धर्म होते हुए भी जैन धर्म वैदिक और बौद्ध दोनों भारतीय धर्मों से जुदा धर्म है। इसके प्रवर्तक हिन्दू धर्म के २४ अवतारों और बौद्ध धर्म के २४ बुद्धों से भिन्न २४ तीर्थंकर हैं। इनमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव है, जिन्हें आदि ब्रह्मा, आदिनाथ, बृहद्देव, पुरुदेव और वृषभ नामों से भी उल्लेखित किया गया है। युगारम्भ में उन्होंने प्रजा को भोग-भूमि की समाप्ति होने पर आजीविका हेतु कृषि (खेती करने), मसि (लिखने-पढ़ने), असि (तलवार आदि साधनों से रक्षा करने) आदि वृत्तियों की शिक्षा दी थी, इससे इन्हें प्रजापति भी कहा गया है।[1] महापुराण,[2] पउमचरिय[3] आदि के उल्लेखानुसार इनके गर्भ में आने पर हिरण्य (सुवर्ण) की वर्षा होने के कारण इनका हिरण्यगर्भ भी नाम था। प्रजापति, हिरण्यगर्भ और वृषभ नामों से इनकी ऋग्वेद,[4] अथर्ववेद,[5] श्रीमद्भागवत[6] आदि वैदिक वाङ्मय में भी संस्तुति की गई है। भागवत में तो वृषभावतार के रूप में पूरा जीवन-चरित देते हुए इन्हें अर्हत-धर्म का प्रवर्तक भी कहा है। अतः ऋषभदेव की मान्यता प्रायः सभी भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने स्वीकार की है।

ऋषभदेव के बाद विभिन्न समयों में क्रमशः अजितनाथ से लेकर नमिनाथ पर्यन्त बीस[7] अन्य तीर्थंकर हुए, जिनका जैन वाङ्मय में सविशेष वर्णन है और जो महाभारत काल से प्राक्कालीन हैं। इनके पश्चात् महाभारत काल में श्री कृष्ण के समय में बाइसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि हुए, जो उनके चाचा समुद्रविजय के पुत्र थे। इनका वैदिक साहित्य में उल्लेख मिलता है।

अरिष्टनेमि के कोई एक हजार वर्ष पीछे तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ हुए, जो काशी (वाराणसी) के राजा विश्वसेन के राजकुमार थे और जिन्हें ऐतिहासिक महापुरुष मान लिया गया है। इनके अढ़ाई सौ वर्ष बाद चौबीसवें तीर्थंकर वर्द्धमान-महावीर हुए, जो अन्तिम तीर्थंकर और बौद्ध धर्म के शास्ता बुद्ध के समकालीन थे एवं जिन्हें आज २५०० वर्ष हो गए हैं।

द्वादशांग श्रुत :

इन तीर्थंकरों ने जन कल्याण के लिए जो धर्मोपदेश दिया, उसे उनके गणधरों (योग्यतम प्रधान शिष्यों) ने बारह अंगों में निबद्ध किया, जिसे जैन शास्त्रीय भाषा में 'द्वादशांग श्रुत' कहा जाता है। आर्ष, आगम, सिद्धान्त प्रवचन आदि नामों से भी उसका उल्लेख किया जाता है। यह श्रुत मूलतः दो भागों में विभक्त है—(१) अंगप्रविष्ट और (२) अंगबाह्य। अंगप्रविष्ट वह श्रुत है जो तीर्थंकर की साक्षात् वाणी सुनकर गणधर द्वारा रचा जाता है। इसे वे सुविधानुसार बारह भागों में निबद्ध करते हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) आचारांग, (२) सूत्रकृतांग, (३) स्थानांग, (४) समवायांग, (५) व्याख्या-प्रज्ञप्ति, (६) नाथधर्म कथा, (७) उपासकाध्ययन, (८) अन्तःकृद्दश, (९) अनुत्तरोपपादिक दश, (१०) प्रश्नव्याकरण, (११) विपाकसूत्र, और (१२) दृष्टिवाद। इनमें दृष्टिवाद के पांच भेद हैं—(१) परिकर्म, (२) सूत्र, (३) प्रथमानुयोग, (४) पूर्वगत और (५) चूलिका। इनके भी अवा-

१. आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भू स्तोत्र श्लोक २।
२. जिनसेन, महापुराण १२-९५।
३. विमलसूरि, पउमचरि० ३-६८।
४. वही, २, ३३, १५।
५. अथर्ववेद १५, १, २-७।
६. भा. पु., स्क. ५, अ. ३।
७. आचार्य कुन्दकुन्द, चउवीस-तित्थयर-भत्ति, गा. ३,४,५

न्तर भेद किए गए हैं। परिकर्म के ५, पूर्वगत के १४, और चूलिका के पांच भेद हैं। परिकर्म के पाँच भेद ये हैं:—(१) चन्द्र प्रज्ञप्ति, (२) सूर्य प्रज्ञप्ति, (३) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, (४) द्वीपसागर प्रज्ञप्ति और (५) व्याख्या-प्रज्ञप्ति, (यह पांचवें अंग व्याख्या प्रज्ञप्ति से अलग है)। पूर्वगत के १४ भेद निम्न हैं—(१) उत्पाद, (२) आग्रायणीय, (३) वीर्यानुप्रवाद, (४) अस्ति-नास्ति प्रवाद, (५) ज्ञान प्रवाद, (६) सत्य प्रवाद, (७) आत्मप्रवाद, (८) कर्म प्रवाद, (९) प्रत्याख्यान प्रवाद, (१०) विद्यानुवाद, (११) कल्याणनामधेय, (१२) प्राणावाय, (१३) क्रियाविशाल, और (१४) लोक-बिन्दुसार। चूलिका के ५ भेद इस प्रकार हैं—(१) जलगता, (२) स्थलगता, (३) मायागता, (४) रूपगता और (५) आकाशगता। इनमें उनके नामानुसार विषयों का वर्णन है।

श्रुत का दूसरा भेद अंगबाह्य है। यह श्रुत अंगप्रविष्ट श्रुत के आधार से आचार्यों द्वारा रचा जाता है, इसी से इसे अंगबाह्य श्रुत कहा है। इसके १४ भेद किये गये है। वे ये है—(१) सामायिक, (२) चतुर्विंशतिस्तव, (३) वन्दना, (४) प्रतिक्रमण, (५) वैनयिक, (६) कृतिकर्म, (७) दशवैकालिक, (८) उत्तराध्ययन, (९) कल्प्य व्यवहार, (१०) कल्प्याकल्प्य, (११) महाकल्प, (१२) पुण्डरीक, (१३) महापुण्डरीक और (१४) निषिद्धिका। इस श्रुत में मुख्यतया साध्वाचार वर्णित है।

उत्तरकाल में अल्पमेधा के धारक आचार्य इसी द्विविध श्रुत का आश्रय लेकर विविध ग्रन्थों की रचना करते और उन्हें जन-जन तक पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं।

उपलब्ध श्रुत :

ऋषभदेव का द्वादशांग श्रुत अजितनाथ तक, अजितनाथ का शम्भवनाथ तक और शम्भवनाथ का अभिनन्दननाथ तक, इस तरह पूर्व तीर्थंकर का श्रुत उत्तरवर्ती अगले तीर्थंकर तक रहा। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का द्वादशांग श्रुत तब तक रहा, जब तक महावीर तीर्थंकर नहीं हुए। आज जो द्वादशांग श्रुत उपलब्ध है, वह तीर्थंकर महावीर का है। अन्य सभी तीर्थंकरों का द्वादशांग श्रुत नष्ट एवं लुप्त हो जाने से अनुपलब्ध एवं अप्राप्त है। वर्धमान महावीर का द्वादशांग श्रुत भी पूरा उपलब्ध नहीं है। आरम्भ में वह शिष्य-परम्परा में स्मृति के आधार पर विद्यमान रहा। बाद में उसका संकलन किया गया। वर्तमान में जो श्रुत प्राप्त है, वह दिगम्बर परम्परा के अनुसार दृष्टिवाद का कुछ अंश है, शेष ग्यारह अंग और बारहवें अंग का बहुभाग नष्ट एवं लुप्त हो चुका है। श्वेताम्बर परम्परा का मत इसके विपरीत है। उनके अनुसार ग्यारह अंगों की उपलब्धि और बारहवें दृष्टिवाद अंग की अनुपलब्धि है।

धर्म, दर्शन और न्याय :

उक्त श्रुत में धर्म, दर्शन और न्याय तीनों का समावेश रहता है। मुख्यतया आचार के प्रतिपादन का नाम धर्म है। इस धर्म का जिन विचारों द्वारा समर्थन एवं सम्पोषण किया जाता है उन विचारों को दर्शन कहा जाता है। जब धर्म के समर्थन के लिए प्रस्तुत विचारों को युक्ति-प्रतियुक्ति, खण्डन-मण्डन, प्रश्न-उत्तर और शंका-समाधान पूर्वक दृढ़ किया जाता है तो उसे न्याय कहते हैं। धर्म, दर्शन और न्याय में यही मौलिक भेद है। धर्म-शास्त्र कहता है कि 'सब जीवों पर दया करो, किसी जीव की हिंसा न करो' अथवा 'सत्य बोलो, असत्य कभी मत बोलो'। दर्शनशास्त्र धर्मशास्त्र के इस कथन (नियम) को हृदय में उतारता हुआ कहता है कि 'जीवों पर दया करना कर्तव्य है, गुण है, पुण्य है और सुख मिलता है। किन्तु जीव की हिंसा अकर्तव्य है, दोष है, पाप है, और दुःख मिलता है।" इसी तरह 'सत्य बोलना कर्तव्य है, गुण है, पुण्य है, और सुख मिलता है। किन्तु असत्य बोलना अकर्तव्य है, दोष है, पाप है और दुःख मिलता है। न्यायशास्त्र दर्शनशास्त्र के इस समर्थन को युक्ति देकर दृढ़ करता है कि यतः दया जीव का स्वभाव है, अन्यथा कोई भी जीव जीवित नहीं रह सकता। परिवार में, देश में और राष्ट्रों में अनवरत हिंसा रहने पर शान्ति और सुख कभी उपलब्ध नहीं हो सकते। इसी प्रकार 'सत्य बोलना मनुष्य का स्वभाव न हो तो परस्पर में अविश्वास छा जायेगा और लेन-देन आदि सारे सामाजिक व्यवहार या तो भ्रष्ट हो जायेंगे और या समाप्त हो जायेंगे। तात्पर्य यह है कि धर्म जहाँ सदाचार का विधान और दुराचार का मात्र निषेध करता है वहाँ दर्शनशास्त्र उनमें कर्तव्या-

कर्तव्य, पुण्या-पुण्य और सुख-दुःख का विचार पैदा करता है एवं मार्ग-दर्शन करता है तथा न्यायशास्त्र दर्शनशास्त्र के विचार को हेतुपूर्वक मस्तिष्क मे बिठा देता है। वस्तुतः न्यायशास्त्र से विचार को जो दृढ़ता मिलती है। वह चिर-स्थायी, विवेकाधृत और निर्णयात्मक होती है। उसमें संदेह, विपर्यय या अनिश्चितता की स्थिति नहीं रहती। इसी कारण भारतीय दर्शनों में न्यायशास्त्र का महत्वपूर्ण स्थान है।

जैन न्याय का उद्गम :

प्रस्तुत में जैन न्याय, उसके उद्गम और विकास पर विचार करना मुख्यतय: अभीष्ट है। प्रथमत: उसके उद्गम पर विचार किया जाता है।

हम ऊपर दृष्टिवाद अंग का उल्लेख कर आये हैं। इसमें जैन न्याय के प्रचुर मात्रा में उद्गम-बीज उपलब्ध हैं। आचार्य भूतबलि और पुष्पदन्त कृत "षट्खण्डागम" में, जो उक्त दृष्टिवाद अंग का ही अंश है, 'सिया पज्जता, सिया अपज्जता[8] 'मणास-अपज्जता दव्वपमाणेण केवडिया, असखेज्जा,[9] जैसे 'स्यात्' शब्द और प्रश्नोत्तर शैली को लिए हुए प्रचुर वाक्य पाए जाते हैं, जो जैन न्याय के वीज हैं—उनसे उसकी उत्पत्ति हुई है, यह कहा जा सकता है। 'षट्खण्डागम' के आधार से रचित आचार्य कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय, प्रवचनसार आदि आर्ष-ग्रंथों में[10] भी उसके कुछ और अधिक उद्गम-बीज मिलते हैं। "सिय अत्थि-णत्थि उहयं', 'जम्हा,' 'तम्हा' जैसे युक्तिप्रवण वाक्यों एवं शब्द प्रयोगों द्वारा उनमें प्रश्नोत्तर उठा कर विषयों को दृढ़ किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि जैन न्याय का उद्भव दृष्टिवाद अंगश्रुत से हुआ है। दृष्टिवाद का जो स्वरूप दिया गया है, उससे भी उक्त कथन की पुष्टि होती हैं। उसके स्वरूप में कहा गया[11] कि 'उसमें विविध दृष्टियों—वादियों की मान्यताओं का प्ररूपण और उनकी समीक्षा की जाती है।' यह समीक्षा हेतुओं एवं युक्तियों द्वारा ही सम्भव है।

श्वेताम्बर परम्परा के आगमों में भी "से केणट्ठेणं भंते एवमुच्चई जीवाणं भंते ? किं सासया असासया ? गोयमा ! जीवा सिय सासया सिय असासया। गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासया भावट्ठयाए असासया" । जैसे तर्कगर्भ प्रश्नोत्तर मिलते है। 'सिया' या 'सिय' शब्द 'स्यात्' (कथंचिदर्थबोधक) संस्कृत शब्द का पर्यायवाची प्राकृत शब्द है, जो स्याद्वाद न्याय का प्रदर्शक है। यशोविजय ने[12] स्पष्ट लिखा है कि "स्याद्वादार्थी दृष्टिवादार्णवोत्थ:"। स्याद्वादार्थ —जैन न्याय दृष्टिवाद रूप अर्णव (समुद्र) से उत्पन्न हुआ है। यथार्थ में 'स्याद्वाद' जैन न्याय का ही पर्याय शब्द है। समन्तभद्र ने[13] सभी तीर्थंकरों को स्याद्वादी—स्याद्वाद-न्यायप्रतिपादक और उनके न्याय को स्याद्वादन्याय बतलाया है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि ब्राह्मण-न्याय और बौद्ध-न्याय के बाद जैन न्याय का विकास हुआ है, इसलिए उसकी उत्पत्ति इन दोनों से मानी जानी चाहिए। छान्दोग्योपनिषद् (अ० ७) एक 'वाकोवाक्य' शास्त्र-विद्या का उल्लेख किया गया है, जिसका अर्थ तर्कशास्त्र, उत्तर-प्रत्युत्तरशास्त्र, युक्ति-प्रति-युक्तिशास्त्र किया जाता है।[14] वात्स्यायन के न्यायभाष्य[15] मे भी एक आन्वीक्षिकी विद्या का, जिसे न्याय-विद्या अथवा न्यायशास्त्र कहा गया है, कथन मिलता है। तक्षशिला के विश्वविद्यालय में दर्शन-शास्त्र एवं न्यायशास्त्र के अध्ययन, अध्यापन के प्रमाण भी मिलते बताये जाते हैं।[16] इससे जैन न्याय का उद्भव ब्राह्मण न्याय और बौद्ध न्याय से हुआ प्रतीत होता है ?

यह प्रश्न युक्त नही है, क्योंकि उपर्युक्त न्यायों से भी पूर्ववर्ती उक्त दृष्टिवाद श्रुत पाया जाता है और उसमें प्रचुर मात्रा में जैन न्याय के बीज समाविष्ट हैं। अत: उसका उदय उसी से मानना उपयुक्त है। दूसरी बात यह है कि ब्राह्मण न्याय और बौद्ध न्याय में कहीं भी स्याद्वाद

८. षट्खंडा. १।१।७९, धव. पु. १ पृ. ३१९।
९. वही, १।२।५०, पु० ३ पृ० २६२।
१०. पंचा० १४, १३।
११. षट्खं०, धवला, पु. १, पृ. १०८।
१२. अष्टस. टी. पृ. १।
१३. स्वयम्भू० १४, १०२। आप्तमी. का. १३।
१४. दर्शन का प्रयोजन, पृ. १।
१५. न्याय भा. पृ. ४।
१६. विक्रम स्मृति ग्रंथ पृ. ७१८।

का समर्थन नहीं है, प्रत्युत उसकी मीमांसा है। ऐसी स्थिति में स्याद्वाद रूप जैन न्याय का उद्गम स्याद्वादात्मक दृष्टिवाद श्रुत से ही सम्भव है। सिद्धसेन,[१७] अकलंक,[१८] और विद्यानन्द[१९] का भी यही मत है। अकलंक देव ने[२०] न्यायविनिश्चय के आरम्भ में कहा है कि "कुछ गुण द्वेषी तार्किकों ने कलिकाल के प्रभाव और अज्ञानता से स्वच्छ न्याय को मलिन बना दिया है। उस मलिनता को सम्यग्ज्ञानरूपी जल से किसी तरह दूर करने का प्रयत्न करेंगे। अकलंक के इस कथन से ज्ञात होता है कि जैन न्याय ब्राह्मण न्याय और बौद्ध न्याय से पूर्व विद्यमान था और जिसे उन्होने मलिन कर दिया था, तथा उस मलिनता को अकलंक ने दूर किया। अतः जैन न्याय का उद्गम उक्त न्यायों से नही हुआ, अपितु दृष्टिवाद श्रुत से हुआ है। यह सम्भव है कि उक्त न्यायों के साथ जैन न्याय भी फला-फूला हो; अर्थात् जैन न्याय के विकास में ब्राह्मण-न्याय और बौद्ध न्याय का विकास प्रेरक हुआ हो और उनकी विविध क्रमिक शास्त्र रचना जैन न्याय की क्रमिक शास्त्र रचना में सहायक हुई हो। समकालीनों में ऐसा आदान प्रदान होना या प्रेरणा लेना स्वाभाविक है।

जैन न्याय का विकास :

काल की दृष्टि से जैन न्याय के विकास को तीन कालों में बांटा जा सकता है और उन कालों के नाम निम्न प्रकार रखे जा सकते हैं :—

१—आदिकाल अथवा समन्तभद्रकाल (ई० २०० से ई० ६५० तक)।

२—मध्यकाल अथवा अकलंककाल (ई० ६५० से ई० १०५० तक)।

३—अन्त्यकाल अथवा प्रभाचन्द्रकाल (ई० १०५० से ई० १७०० तक)।

१. आदिकाल अथवा समन्तभद्र काल :

जैन न्याय के विकास का आरम्भ स्वामी समन्तभद्र से होता है। स्वामी समन्तभद्र ने भारतीय दार्शनिक क्षेत्र के जैन दर्शन क्षेत्र में युगप्रवर्तक का कार्य किया है। उनसे पहले जैन दर्शन के प्राणभूत तत्व 'स्याद्वाद' को प्रायः आगम रूप ही प्राप्त था और उसका आगमिक तत्वों के निरूपण में ही उपयोग होता था तथा सीधी-सादी विवेचना कर दी जाती थी। विशेष युक्तिवाद देने की उस समय आवश्यकता नहीं होती थी; परन्तु समन्तभद्र के समय में उसकी आवश्यकता महसूस हुई, क्योंकि दूसरी-तीसरी शताब्दी का समय भारतवर्ष के इतिहास मे अपूर्व दार्शनिक क्रान्ति का रहा है। इस समय विभिन्न दर्शनों में अनेक क्रान्तिकारी विद्वान पैदा हुए हैं। यद्यपि महावीर और बुद्ध के उपदेशों से यज्ञप्रधान वैदिक परम्परा का बढ़ा हुआ प्रभाव काफी कम हो गया था और श्रमण—जैन तथा बौद्ध परम्परा का प्रभाव सर्वत्र व्याप्त हो चुका था। किन्तु कुछ शताब्दियों के बाद वैदिक परम्परा का पुनः प्रभाव प्रसृत हुआ और वैदिक विद्वानों द्वारा श्रमण-परम्परा के सिद्धान्तों की आलोचना एवं काट-छांट आरंभ हो गई। फलस्वरूप श्रमण- बौद्ध परम्परा मे अश्वघोष, मातृचेट, नागार्जुन प्रभृति विद्वानों का प्रादुर्भाव हुआ और उन्होंने वैदिक परम्परा के सिद्धान्तों एवं मान्यताओं का खण्डन और अपने सिद्धान्तों का मण्डन, प्रतिष्ठापन तथा परिष्कार किया। उधर वैदिक परम्परा में भी कणाद, अक्षपाद, बादरायण, जैमिनी आदि महा उद्योगी विद्वानों का आविर्भाव हुआ और उन्होंने भी अश्वघोषादि बौद्ध-विद्वानों के खण्डन-मण्डन का सयुक्तिक जवाब देते हुए अपने वैदिक सिद्धान्तों का संरक्षण किया। इसी दार्शनिक उठापटक में ईश्वरकृष्ण, असंग, वसुबन्धु, विन्ध्यवासी, वात्स्यायन प्रभृति विद्वान् दोनों ही परम्पराओं में हुए। इस तरह उस समय सभी दर्शन अखाड़े बन चुके थे और परस्पर में एक दूसरे को परास्त करने में लगे हुए थे। इस सबका आभास उस काल के अश्वघोषादि विद्वानों के उपलब्ध साहित्य से होता है। जब ये विद्वान् अपने-अपने दर्शन के एकान्त पक्षों और मान्यताओं के समर्थन

१७. द्वात्रिंशिका १-३०, ४-१५।

१८. तत्वार्थवार्तिक पृ. २६५।

१९. अष्टसहस्री पृ. २३८।

२०. महात्म्यात्तमसः स्वयं कलिवशात्प्रायो गुणद्वेषिभिः।
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते,
सम्यग्ज्ञानजलैर्वचो निरमलस्तत्रानुकम्पापरैः॥
—न्यायवि० श्लो० २

तथा पर-पक्ष के निराकरण में व्यस्त थे। उसी समय दक्षिण भारत के क्षितिज पर जैन परम्परा में आचार्य गृद्धपिच्छ के बाद स्वामी समन्तभद्र का उदय हुआ। ये प्रतिभा की मूर्ति और क्षात्र तेज से सम्पन्न थे। सूक्ष्म एवं अगाध पाण्डित्य और समन्वयकारिणी प्रज्ञा से वे समन्वित थे। उन्होंने उक्त संघर्षों को देखा और अनुभव किया कि परस्पर के आग्रहों से वास्तविकता लुप्त हो रही है। दार्शनिकों का हठ भावैकान्त, अभावैकांत, द्वैतैकांत, अद्वैतैकान्त, अनित्यैकान्त, नित्यैकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त, हेतुवादैकान्त, अहेतुवादैकान्त, अपेक्षावादैकान्त, अनपेक्षावादैकान्त, दैवैकान्त, पुरुषार्थैकान्त, पुण्यैकान्त, पापैकान्त आदि ऐकान्तिक मान्यताओं में सीमित है। इसकी स्पष्ट झलक समन्तभद्र की 'आप्तमीमासा' में मिलती है।

समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में दार्शनिकों की इन मान्यताओं को दे कर स्याद्वादन्याय से उनका समन्वय किया है। भावैकान्तवादी अपने पक्ष की उपस्थापना करते हुए कहता था कि सब भाव रूप ही है, अभावरूप कोई वस्तु नहीं है···'सर्व सर्वत्र विद्यते' (सब सब जगह है), न कोई प्रागभाव रूप है, न प्रध्वंसाभाव रूप है, न अन्योन्याभावरूप है और न अत्यन्त भावरूप है। अभाववादी इसके विपरीत अभाव की स्थापना करता था और जगत को शून्य बतलाता था।

अद्वैतवादी का मत था कि एक ही वस्तु है, अनेक नही। अनेक का दर्शन मायाविजृम्भित अथवा अविद्योपकल्पित है। अद्वैतवादियों के भी अनेक पक्ष थे। कोई मात्र ब्रह्म का समर्थन करता था, कोई केवल ज्ञान को और कोई केवल शब्द को मानता था। द्वैतवादी इसका विरोध करते थे और तत्व को अनेक सिद्ध करते थे। द्वैतवादियों की भी मान्यतायें भिन्न-भिन्न थीं। कोई सात पदार्थ मानता था, कोई सोलह और कोई पच्चीस तत्त्वों की स्थापना करता था।

नित्यवादी वस्तु मात्र को नित्य बतलाता था। वह तर्क देता कि यदि वस्तु अनित्य हो तो उसके नाश हो जाने के बाद यह जगत और वस्तुएँ स्थिर क्यों दिखाई देती है? अनित्यवादी कहता था कि वस्तु प्रति समय नष्ट हो रही है, कोई भी वस्तु स्थिर नही है। अन्यथा जन्म, मरण, विनाश, अभाव, परिवर्तन आदि नही होना चाहिए, जो स्पष्ट बतलाते है कि वस्तु नित्य नही है, अनित्य है।

इसी तरह भेदवाद-अभेदवाद, अपेक्षावाद-अनपेक्षावाद, हेतुवाद-अहेतुवाद, दैववाद-पुरुषार्थवाद आदि एक-एक वाद (पक्ष) को माना जाता और परस्पर मे संघर्ष किया जाता था।

जैन तार्किक समन्तभद्र ने इन सभी दार्शनिकों के पक्षों का गहराई और निष्पक्षदृष्टि से अध्ययन किया तथा उनके दृष्टिकोणों को समझ कर स्याद्वादन्याय से उनमें सामंजस्य स्थापित किया। उन्होंने किसी के पक्ष को मिथ्या कह कर तिरस्कृत नही किया, क्योंकि वस्तु अनन्त धर्मा है। अतः कोई पक्ष मिथ्या नही है, वह मिथ्या तभी होता है, जब वह इतर का तिरस्कार करता है।

समन्तभद्र ने वादियों के उक्त पक्ष-युगलों में स्याद्वाद-न्याय के माध्यम से सप्तभंगी की विशद योजना करके उनके आपसी संघर्षों का जहां शमन किया, वहा उन्होंने तत्वग्राही एवं पक्षाग्रह-शून्य निष्पक्ष दृष्टि भी प्रस्तुत की। यह निष्पक्ष दृष्टि स्याद्वाद-दृष्टि ही है, क्योंकि उसमें सभी पक्षों का समादर एव समावेश है। एकान्त-दृष्टियो में अपना-अपना आग्रह होने से अन्य पक्षों का न समादर है और न समावेश है।

समन्तभद्र की यह अनोखी किन्तु सही क्रांतिकारी अहिंसक दृष्टि भारतीय दार्शनिकों, विशेषकर उत्तरवर्ती जैन तार्किकों के लिए मार्गदर्शक सिद्ध हुई। सिद्धसेन, अकलंक, विद्यानन्द, हरिभद्र आदि तार्किको ने उनका अनुगमन किया है। सम्भवतः इसी कारण उन्हें 'कलियुग में स्याद्वादतीर्थ का प्रभावक' और 'स्याद्वादाग्रणी' आदि रूप में स्मृत किया है। यद्यपि स्याद्वाद और सप्तभंगी का प्रयोग आगमों में[२१] तदीय विषयों के निरूपण मे भी होता था, किन्तु जितना विशद और विस्तृत प्रयोग एवं योजना उनकी कृतियों में उपलब्ध है उतना उनसे पूर्व प्राप्त नहीं

२१. षट्ख० १. १. ७६, १. २. ५० आदि तथा पंचास्ति० गाथा १४।

है। समन्तभद्र ने 'नययोगान्त' सर्वथा,'[22] 'नयैर्नय-विशारदः'[23] जैसे पदप्रयोगों द्वारा सप्तभग नयों से वस्तु की व्यवस्था होने का विधान बनाया और "कथचित् सदेवेष्टं,[24] "सदेव सर्व 'को' नेच्छेत् स्वरूपादि-चतुष्टयात्"[25] जैसे वचनों द्वारा उस विधान को व्यवहृत किया है।

उदाहरण के लिए हम उनके भाववाद और अभाववाद के समन्वय को उनकी आप्तमीमासा[26] से प्राप्त करते हैं—

वस्तु कथंचित् भावरूप ही है, क्योंकि स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र स्वकाल और स्वभाव से वह वैसी ही प्रतीत होती है। यदि उसे सब प्रकार से भावरूप माना जाए, तो प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव—इन चार अभावों का अभाव हो जाएगा, फलतः वस्तु अनादि, अनन्त, सर्वात्मक और स्वरूप-रहित हो जाएगी। अतः वस्तु स्वरूपचतुष्टय की अपेक्षा भावरूप ही है। इसी तरह वस्तु कथंचित् अभावरूप ही है, क्योंकि परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव से वैसी ही अवगत होती है। यदि उसे सर्वथा अभावरूप ही स्वीकार किया जाए तो विधि रूप में होने वाले सारे ज्ञान और वचन के व्यवहार लुप्त हो जायेंगे और जगत् अन्ध एवं मूक बन जाएगा। अतः वस्तु परचतुष्टय की अपेक्षा से अभावरूप ही है। इसी प्रकार वस्तु कथचित् उभयरूप ही है, क्योंकि क्रमशः दोनों विवक्षाएँ होती है। वस्तु कथचित् अवक्तव्य ही है, क्योंकि एक साथ दोनों विवक्षाएं सम्भव नही है। इन चार भंगों (तत्तद् धर्म के प्रतिपादक उत्तर-वाक्यो) को दिखला कर वचन की शक्यता के आधार पर समन्तभद्र ने[27] अपुनरुक्त तीन भंग (तीन धर्म के प्रतिपादक तीन उत्तरवाक्य) और योजित करने की सूचना देते हुए सप्तभगी-योजना प्रदर्शित की है। इस तरह समन्तभद्र ने भाव (सत्ता) और अभाव (असत्ता) के पक्षो मे होने वाले आग्रह को समाप्त कर दोनो को वास्तविक बतलाया और दोनो को वस्तुधर्म निरूपित किया। इसी प्रकार उन्होने द्वैत-अद्वैत, नित्य-अनित्य आदि पक्षों के आग्रह को भी समाप्त कर उन्हें वास्तविक सिद्ध किया है। उनका कहना था[28] कि इतर पक्ष के तिरस्कारक "सर्वथा" के आग्रह को छोड कर उस पक्ष के संग्राहक "स्यात्" के वचन मे वस्तु का निरूपण करना चाहिए। इस निरूपण में वस्तु और उसके सभी धर्म सुरक्षित रहते हैं। एक-एक पक्ष सत्यांशों का ही निरूपण करते है, सम्पूर्ण सत्य का नहीं। सम्पूर्ण सत्य का निरूपण तभी सम्भव है जब सभी पक्षो को आदर दिया जाए—उनकी उपेक्षा न की जाए। समन्तभद्र[29] ने स्पष्ट घोषणा की कि निरपेक्ष—इतर तिरस्कारक पक्ष-सम्यक् नही है, सापेक्ष—इतरसंग्राहक पक्ष ही सम्यक् (सत्य प्रतिपादक) है।

आचार्य समन्तभद्र ने प्रमाणलक्षण, नयलक्षण, सप्त-भंगीलक्षण, स्याद्वादलक्षण, हेतुलक्षण, प्रमाण-फल व्यवस्था, वस्तुस्वरूप, सर्वज्ञसिद्धि आदि जैन न्याय के कतिपय अंगों-प्रत्यंगों का भी प्रतिपादन किया, जो प्रायः उनके पूर्व नहीं हुआ था अथवा स्पष्ट था। अतः जैन न्याय के विकास के आदिकाल को समन्तभद्रकाल कहना सर्वथा उचित है। समन्तभद्र के इस महान् कार्य को उत्तरवर्ती श्रीदत्त, पूज्य-पाद, सिद्धसेन, मल्लवादी, सुमति, पात्रस्वामी प्रभृति जैन तार्किकों ने अपनी महत्वपूर्ण रचनाओं द्वारा अग्रसर किया। श्रीदत्त ने, जो त्रेसठ वादियों के विजेता थे, जल्पनिर्णय; पूज्यपाद ने सार-संग्रह; सिद्धसेन ने सन्मति; मल्लवादी ने द्वादशार नयचक्र; सुमति ने सन्मति-टीका; पात्रस्वामी ने त्रिलक्षण-कदर्थन जैसी तार्किक कृतियों को रचा है। दुर्भाग्य से जल्पनिर्णय, सारसंग्रह, सन्मतिटीका और त्रिलक्षण-कदर्थन आज उपलब्ध नही है, केवल उनके उल्लेख मिलते है। सिद्धसेन का सन्मति और मल्लवादी का द्वादशारनयचक्र उपलब्ध है, जो समन्दभद्र की कृतियों के आभारी हैं।

हमारा अनुमान है कि इस काल में और भी अनेक

---

२२. आप्तमी० १४।
२३. वही, का० २३।
२४. आप्तमी० का० १४।
२५. वही, १५।
२६. वही, का. ६, १०, ११, १२, १४, १५।
२७. वही, २०, २२, २३।
२८. स्वयम्भू. १०१, १०२।
२९. आप्तमी. १०८, स्वय. ६१, युक्त्यनुशा. का. ५१।

न्याय-ग्रथ रचे गए होगे[30], क्योंकि एक तो उस समय का दार्शनिक वातावरण प्रतिद्वन्द्विता का था। दूसरे, जैन विद्वानों मे धर्म और दर्शन के ग्रथों को रचने की मुख्य प्रवृत्ति थी। बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षित (ई० ७वी, ८वी शती) और उनके शिष्य कमलशील (ई० ७वी, ८वी शती) ने तत्वसंग्रह एव उसकी टीका मे जैन तार्किको के नामोल्लेख और बिना नामोल्लेख के उद्धरण देकर उनकी आलोचना की है। परन्तु वे ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है। इस तरह इस आदिकाल अथवा समन्तभद्र-काल में जैन न्याय की एक योग्य और उत्तम भूमिका तैयार हो गयी थी।

२. मध्यकाल अथवा अकलंक काल :

उक्त भूमिका पर जैन न्याय का उत्तुग और सर्वांग-पूर्ण महान् प्रासाद जिस कुशल और तीक्ष्ण-बुद्धि तार्किक-शिल्पी ने खड़ा किया, वह है अकलक। अकलक के काल में भी समन्तभद्र की तरह जबर्दस्त दार्शनिक मुठभेड़ हो रही थी। एक तरफ शब्दाद्वैतवादी भर्तृहरि, प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल, न्यायनिष्णात उद्योतकर प्रभृति वैदिक विद्वान् अपने पक्षो पर आरूढ थे, तो दूसरी ओर धर्मकीर्ति और उनके तर्कपटु शिष्य एवं व्याख्याकार प्रज्ञाकार, धर्मोत्तर, कर्णकगोमि आदि बौद्धतार्किक अपने पक्ष पर दृढ थे। शास्त्रार्थो और शास्त्र-निर्माण की पराकाष्ठा थी। प्रत्येक दार्शनिक का प्रयत्न था कि वह जिस किसी तरह अपने पक्ष को सिद्ध करे और परपक्ष का निराकरण कर विजय प्राप्त करे। इतना ही नही, परपक्ष को असद् प्रकारो से पराजित एवं तिरस्कृत भी किया जाता था। विरोधी के लिए 'पशु', 'अह्रीक' जैसे शब्दो का प्रयोग करके उसे और उसके सिद्धान्तो को तुच्छ प्रकट किया जाता था। यह काल जहाँ तर्क के विकास का मध्याह्न माना जाता है; वहाँ इस काल में न्याय का बड़ा उपहास भी हुआ है। तत्व के सरक्षण के लिए छल, जाति और निग्रह-स्थानों का खुल कर प्रयोग करना और उन्हे शास्त्रार्थ का अग मानना इस काल की देन बन गया[31]। क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि पक्षो का समर्थन इस काल मे धड़ल्ले से किया गया और कट्टरता से इतर का निरास किया गया।

अकलक ने इस स्थिति का अध्ययन किया और सभी दर्शनो का गहरा एव सूक्ष्म अभ्यास किया। इसके लिए उन्हे काची, नालन्दा आदि के तत्कालीन विद्यापीठो मे प्रच्छन्न वेष मे रहना पडा। समन्तभद्र द्वारा स्थापित स्याद्वादन्याय की भूमिका ठीक तरह न समझने के कारण दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, उद्योतकर, कुमारिल आदि बौद्ध-वैदिक विद्वानो ने दूषित कर दी थी और पक्षाग्रही दृष्टि का ही समर्थन किया था। अत अकलक ने महाप्रयास करके दो अपूर्व कार्य किए—एक तो स्याद्वाद न्याय पर आरोपित दूषणो को दूर कर उसे स्वच्छ बनाया[32] और दूसरा कितना ही नया निर्माण किया। यही कारण है कि उनके द्वारा निर्मित महत्वपूर्ण ग्रथो मे चार ग्रथ तो केवल न्यायशास्त्र पर ही लिखे गए है। यहा अकलक के उक्त दोनो कार्यों का कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है—

१. दूषणोद्धार :

यो अकलक ने विभिन्न वादियो द्वारा दिए गए सभी दूषणो का परिहार कर उनके सिद्धान्तो की कड़ी समीक्षा की है। किन्तु यहा उनके दूषणोद्धार और समीक्षा के केवल दो स्थल प्रस्तुत किए जाते है—

(क) आप्तमीमासा मे समन्तभद्र[33] ने मुख्यतया आप्त की सर्वज्ञता और उनके उपदेश स्याद्वाद की सिद्धि की है और—केवलज्ञान और स्याद्वाद मे साक्षात् (प्रत्यक्ष) एव असाक्षात् (परोक्ष) सर्वतत्वप्रकाशन का भेद बतलाया है[34]। कुमारिल ने मीमासाश्लोकवार्तिक मे सर्वज्ञता पर और धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक मे स्याद्वाद (अनेकान्त) पर आक्षेप किए है : कुमारिल कहते है—

एवं यैः केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः ।
सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम् ।।

---

३०. श्रवणबेलगोला के शिलालेख नं. ५४।६७ मे सुमति-सप्तक नाम के एक महत्वपूर्ण तर्क ग्रंथ का उल्लेख है, जो आज अनुपलब्ध है।

३१. न्यायसू. १।१।१; ४।२।५०; १।२।२,३,४; आदि।

३२. न्यायविनिश्चय की कारिका २, जो पहले फुटनोट मे आ चुकी है।

३३. आप्तमी. का. ५ और ११३।

३४. वही, का. १०५।

नर्ते तदागमात्सिद्धयेन्न च तेनागमो विना ।

—मीमा. श्लो. ८७ ।

जो सूक्ष्मादि विषयक अतीन्द्रिय केवलज्ञान पुरुष के माना जाता है, वह आगम के बिना सिद्ध नहीं होता और उसके बिना आगम सिद्ध नही होता, इस प्रकार सर्वज्ञता के स्वीकार में अन्योन्याश्रय दोष है।'

अकलंक कुमारिल के इस दूषण का परिहार करते हुए उत्तर देते है—

एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम् ।
नर्ते तदागमात् सिद्धयेत् न च तेन विनाऽऽगमः ।।
सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः ।
प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते ।।

—न्यायवि. का. ४१२, ४१३ ।

'यह सच है कि अनुमान द्वारा सिद्ध केवलज्ञान (सार्वज्ञ्य) आगम के बिना और आगम केवलज्ञान के बिना सिद्ध नही होता, तथापि उनमें अन्योन्याश्रय दोष नहीं है क्योंकि पुरुषातिशय—केवलज्ञान अर्थबल—प्रतीति-वश से माना जाता है और इसलिए बीजांकुर के प्रबंध—सन्तान की तरह इन (केवलज्ञान और आगम) का प्रबन्ध (सन्तान) आदि कहा गया है।'

यहाँ स्पष्ट है कि समन्तभद्र ने अनुमान से जिस केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की सिद्धि की थी, कुमारिल ने उसी में अन्योन्याश्रय दोप दिया है। अकलंकदेव ने सहेतुक उसी दोप का परिहार किया और सर्वज्ञता तथा आगम दोनों को अनादि बतलाया है।

(ख) धर्मकीति का स्याद्वाद पर निम्न आक्षेप है—

सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृते. ।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ।।

—प्रमाणवा. १·१८३ ।

'यदि सब पदार्थ उभयरूप—अनेकान्तात्मक है तो उनमे भेद न रहने के कारण किसी को "दही खा" कहने पर वह ऊट को खाने के लिए क्यो नही दौड़ता।'

धर्मकीति के इस आक्षेप का सबल उत्तर देते हुए अकलंक कहते है—

दध्युष्ट्रादेरभेदत्वप्रसंगादेकचोदनम् ।
पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः ।।
सुगतोऽपि मृगो जाते मृगोऽपि सुगतः स्मृतः ।
तथापि सुगतो वन्द्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते ।।
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः ।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति ।।

न्यायवि. का. ४७२, ३७३, ३७४ ।

'दधि और ऊंट को एक बतला कर दोष देना धर्म-कीर्ति का पूर्वपक्ष (अनेकान्त) को न समझना है और दूषक हो कर भी वे विदूषक—दूषक नहीं, उपहास्य होते है, क्योंकि उन्ही की मान्यतानुसार सुगत भी मृग थे और मृग भी सुगत हुआ है। फिर भी सुगत को वन्दनीय और मृग को भक्षणीय कहा जाता है और इस तरह पर्यायभेद से सुगत में वन्दनीय—भक्षणीय की भेदव्यवस्था तथा सुगत व मृग में एक चित्तसन्तान (जीवद्रव्य) की अभेद-व्यवस्था की जाती है, इसी प्रकार वस्तुबल (पर्याय और द्रव्य की प्रतीति) से सभी पदार्थों मे भेद और अभेद की व्यवस्था है। अतः किसी को 'दही खा' कहने पर वह ऊंट को खाने के लिए क्यो दौड़ेगा, क्योंकि सत्-द्रव्य की अपेक्षा अभेद होने पर भी पर्याय की अपेक्षा उनमे भेद है। अत-एव वह भक्षणीय दही (पर्याय) को ही खाने के लिए दौड़ेगा, अभक्षणीय ऊंट (पर्याय) को खाने के लिए नही। यही वस्तु-व्यवस्था है। भेदाभेद (अनेकान्त) तो वस्तु का स्वभाव है, उसका अपलाप नही किया जा सकता।

यहाँ अकलक ने धर्मकीति के आक्षेप का शालीन उप-हास द्वारा बड़ा ही करारा उत्तर दिया है। बौद्ध-परम्परा मे सुगत पूर्व जन्म मे मृग थे, तब वे भक्षणीय थे और जब वही मृग सुगत हुआ तब वह भक्षणीय नही रहा; वन्दनीय बन गया। इस प्रकार एकचित्त सन्तान की अपेक्षा उनमें अभेद है और मृग तथा सुगत दो पर्यायों की दृष्टि से भेद है। इसी प्रकार जगत् की प्रत्येक वस्तु इस भेदाभेद की व्यवस्था का अतिक्रमण नहीं करती। अकलक ने धर्म-कीर्ति के आरोप का उत्तर देते हुए यहां यही सिद्ध किया है। इस तरह अकलंक ने दूषणोद्धार का कार्य बड़ी योग्यता और सफलता के साथ पूर्ण किया है।

(२) नव-निर्माण :

अकलंक देव ने दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य नव-निर्माण का किया। जैन न्याय के जिन आवश्यक तत्वों का उनके

समय तक विकास नहीं हो सका था, उनका उन्होंने विकास किया अथवा उनकी प्रतिष्ठा की। उन्होने अपने चार ग्रथ न्यायशास्त्र पर लिखे है। वे है—(१) न्याय-विनिश्चय-(स्वोपज्ञ वृत्ति सहित), (२) सिद्धिविनिश्चय (स्वोपज्ञ-वृत्ति सहित), (३) प्रमाण-संग्रह (स्वोपज्ञ वृत्ति सहित), और (४) लघीयस्त्रय (स्वोपज्ञ वृत्ति सहित)। ये चारो ग्रंथ कारिकात्मक है। न्यायविनिश्चय में ४८०, सिद्धिविनिश्चय मे ३६७, प्रमाण संग्रह मे ८७ और लघीयस्त्रय में ७८ कारिकाएँ है। ये चारों ग्रथ बड़े क्लिष्ट और दुरूह हैं। न्यायविनिश्चय पर वादिराज ने, सिद्धिविनिश्चय पर अनन्तवीर्य ने और लघीयस्त्रय पर प्रभाचन्द्र ने विस्तृत एवं विशद व्याख्यायें लिखी है। प्रमाण-संग्रह पर भी आचार्य अनन्तवीर्य का भाष्य (व्याख्या) है, जो उपलब्ध नही है।

अकलंक ने इनमें विभिन्न दार्शनिकों की समीक्षापूर्वक प्रमाण, निक्षेप, नय के स्वरूप, प्रमाण की संख्या, विषय, फल का विशद विवेचन, प्रमाण के प्रत्यक्ष-परोक्ष भेद, प्रत्यक्ष के सांव्यवहारिक और मुख्य इन दो भेदों की प्रतिष्ठा, परोक्ष प्रमाण के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम—इन पांच भेदों की इयत्ता का निर्धारण, उनका संयुक्तिक साधन, लक्षण-निरूपण तथा इन्ही के अन्तर्गत उपमान अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव आदि परकल्पित प्रमाणों का समावेश, सर्वज्ञ की अनेक प्रमाणों से सिद्धि, अनुमान के साध्य-साधन अंगो के लक्षणों और भेदों का विस्तृत निरूपण तथा कारण हेतु, पूर्वचर हेतु, उत्तरचर हेतु, सहचर हेतु आदि अनिवार्य हेतुओं की प्रतिष्ठा, अन्यथानुपपत्ति के अभाव से एक अकिंचित्कर हेत्वाभास का स्वीकार और उसके भेदरूप से असिद्धादि का प्रतिपादन, दृष्टान्त, धर्मी, वाद, जाति और निग्रहस्थान के स्वरूपादि का जैन दृष्टि से प्रतिपादन, जय-पराजय व्यवस्था आदि कितना ही नया निर्माण कर के जैन न्याय को न केवल समृद्ध और परिपुष्ट किया, अपितु उसे भारतीय न्यायशास्त्र मे वह गौरवपूर्ण स्थान दिलाया, जो बौद्ध न्याय को धर्मकीति ने दिलाया है। वस्तुतः अकलक जैन न्याय के मध्यकाल के स्रष्टा है। इससे इस काल को 'अकलंक काल' कहा जा सकता है।

अकलंक ने जैन न्याय की जो रूपरेखा और दिशा निर्धारित की, उसी का अनुसरण उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किकों ने किया है। हरिभद्र, वीरसेन, कुमार नन्दि, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य प्रथम, वादिराज, माणिक्य नन्दि आदि मध्ययुगीन आचार्यों ने उनके कार्य को आगे बढ़ाया और उसे यशस्वी बनाया है। उनके सूत्रात्मक कथन को इन आचार्यों ने अपनी रचनाओ द्वारा सुविस्तृत, सुप्रसारित और सुपुष्ट किया है। हरिभद्र की अनेकान्त जयपताका, शास्त्र–वार्ता-समुच्चय, वीरसेन की तर्कबहुल धवला, जयधवला टीकायें, कुमारनदि का वाद न्याय, विद्यानन्द के विद्यानन्द महोदय, तत्वार्थ श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, प्रमाण-परीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासन-परीक्षा, युक्त्यनुशासनालकार, अनन्तवीर्य की सिद्धिविनिश्चय-टीका, प्रमाणसग्रह भाष्य, वादिराज के न्यायविनिश्चय विवरण, प्रमाणनिर्णय और माणिक्यनन्दि का परीक्षामुख इस काल की अनूठी तार्किक रचनायें है।

(३) अन्त्यकाल अथवा प्रभाचन्द्र काल :

यह काल जैन न्याय के विकास का अन्तिम काल है। इस काल में मौलिक ग्रंथों के निर्माण की क्षमता कम हो गई और व्याख्या-ग्रन्थो का निर्माण हुआ। प्रभाचन्द्र ने इस काल में अपने पूर्वज आचार्यो का अनुगमन करते हुए जैन न्याय पर जो विशालकाय व्याख्या-ग्रन्थ लिखे है; वैसे व्याख्याग्रंथ उनके बाद नहीं लिखे गये। अकलंक ने लघीयस्त्रय पर लघीयस्त्रयालकार, जिसका दूसरा नाम 'न्यायकुमुदचन्द्र' है और माणिक्यनन्दि के 'परीक्षामुख पर प्रमेय कमल–मार्तण्ड' नाम की प्रमेयबहुल एवं तर्कपूर्ण टीकाएं प्रभाचन्द्र की अमोघ तर्कणा और उज्ज्वल यश को प्रसृत करती है। विद्वज्जगत् मे इन टीकाओं का बहुत आदर है। अभयदेव की सन्मति-तर्क–टीका और वादि-देवसूरि का स्याद्वाद रत्नाकर (प्रमाणनय तत्वालोकालंकार टीका) ये दो टीकायें भी महत्वपूर्ण हैं। किन्तु ये प्रभाचन्द्र की तर्कपद्धति से विशेष प्रभावित है।

इस काल में लघु अनन्तवीर्य, अभयदेव, देवसूरि, अभयचन्द्र, हेमचन्द्र, मल्लिषण सूरि, आशाधर, भावसेन-त्रैविद्य, अजितसेन, अभिनव धर्मभूषण, चारुकीर्ति, विमलदास, नरेन्द्रसेन, यशोविजय आदि तार्किको ने अपनी व्या-

ख्या या मूल रचनाओं द्वारा जैन न्याय को संक्षेप एवं सरल भाषा में प्रस्तुत किया है। इस काल की रचनाओं में लघु अनन्तवीर्य की प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुखवृत्ति) अभयदेव की सन्मति तर्क टीका, देवसूरि का प्रमाणनय-तत्वालोकालंकार और उसकी स्वोपज्ञ टीका स्याद्वाद रत्नाकर, अभयचन्द्र की लघीयस्त्रय तात्पर्य वृत्ति, हेमचन्द्र की प्रमाण-मीमांसा, मल्लिषेण सूरि की स्याद्वाद-मंजरी, आशाधर का प्रमेय रत्नाकर, भावसेन का विश्व तत्व प्रकाश, अजितसेन की न्यायमणि-दीपिका, चारुकीर्ति की अर्थ-प्रकाशिका और प्रमेय—रत्नालंकार, विमलदास की सप्त-भंगि-तरंगिणी, नरेन्द्रसेन की प्रमाण-प्रमेयकलिका और यशोविजय के अष्टसहस्री-विवरण, ज्ञानबिन्दु और जैन-तर्कभाषा विशेष उल्लेख योग्य जैन न्यायग्रंथ हैं। अन्तिम तीन तार्किकों ने अपने न्याय ग्रन्थों में नव्यन्याय-शैली को भी अपनाया है। इसके बाद जैन न्याय की धारा प्रायः बन्द-सी हो गई और उसके आगे कोई प्रगति नहीं हुई।

जैन न्याय :

उक्त काल-खण्डों में विकसित जैन न्याय का यहाँ संक्षेप मे विवेचन किया जाता है।

"नीयते परिच्छित्ते ज्ञायते वस्तुतत्वं येन सो न्यायः।" इस न्याय शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर न्याय उसे कहा गया है जिसके द्वारा वस्तु स्वरूप जाना जाता है। तात्पर्य यह कि वस्तुस्वरूप के परिच्छेदक साधन (उपाय) को न्याय कहते है। कुछ दार्शनिक न्याय के इस स्वरूप के अनुसार "लक्षणप्रमाणाभ्यामर्थसिद्धिः"[३५] लक्षण और प्रमाण से वस्तु की सिद्धि (ज्ञान) मानते हैं। अन्य दार्शनिक "प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः"[३६] प्रमाणों से वस्तु परीक्षा बतलाते है। कतिपय तार्किक पंचावयव वाक्य के प्रयोगज अनुमान[३७] को न्याय कह कर उससे वस्तु परिच्छित्ति प्रतिपादन करते है। जैन तार्किक आचार्य गृद्धपिच्छ ने 'प्रमाण नयैरधिगमः' (त० सू० १-६) सूत्र द्वारा प्रमाणों और नयों से वस्तु का ज्ञान निरूपित किया है। फलतः अभिनव धर्मभूषण[३८] ने "प्रमाणनयात्मको न्यायः"—प्रमाण और नय को न्याय कहा है। अतः जैन मान्यतानुसार प्रमाण और नय दोनो न्याय (वस्त्वधिगम-उपाय) है।

प्रमाण :

षट्खण्डागम[३९] मेंज्ञानमार्गणानुसार आठ ज्ञानों का प्रतिपादन करते हुए तीन ज्ञानों (कुमति, कुश्रुत और कुअवधि) को मिथ्याज्ञान और पाँच ज्ञानो (मति, श्रुत, अवधि मन.पर्यय और केवल) को सम्यग्ज्ञान निरूपित किया है। कुन्दकुन्द[४०] ने उसका अनुसरण किया है। गृद्धपिच्छ[४१] ने उसमे कुछ नया मोड़ दिया है। उन्होंने मति आदि पाँच ज्ञानों को सम्यग्ज्ञान तो कहा ही है, उन्हें प्रमाण भी प्रतिपादित किया है। अर्थात् उन्होने मत्यादिरूप पंचविध सम्यग्ज्ञान को प्रमाण का लक्षण बतलाया है। समन्तभद्र[४२] ने तत्वज्ञान को प्रमाण कहा है। उनका यह तत्वज्ञान उपर्युक्त सम्यग्ज्ञानरूप ही है। सम्यक् और तत्व दोनों का एक ही अर्थ है और वह है—सत्य—यथार्थ। अतः सम्यग्ज्ञान या तत्वज्ञान को ही प्रमाण कहा है। अकलंक,[४३] विद्यानन्द[४४] और माणिक्यनन्दि[४५] ने उस सम्यग्ज्ञान को "स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मक" सिद्ध किया और प्रमाण-लक्षण मे उपयुक्त विकास किया है। वादिराज,[४६] देवसूरि हेमचन्द्र,[४८] धर्मभूषण[४९] आदि परवर्ती तार्किकों ने प्रायः यही प्रमाण-लक्षण स्वीकार किया है। यद्यपि हेमचंद्र ने सम्यक् अर्थ-निर्णय को प्रमाण कहा है, पर सम्यक् अर्थ-निर्णय और सम्यग्ज्ञान मे शाब्दिक भेद के अतिरिक्त कोई अर्थभेद नही है।

३५-३७, न्याय दी० पृ० ५, वीरसेवामंदिर प्रकाशन।
३८. वही, पृ० ५।
३९. षट्खं० १।१।१५।
४० नियमसा० गा० १०,११,१२।
४१. त. सू. १-६,१०।
४२. आप्तमी. १०१।
४३. लघीय. का. ६०।
४४. प्रमाण प. पृ. ५, वीरसेवा-मंदिर ट्रस्ट प्रकाशन।
४५. परी. मु. १-१।
४६. प्रमाण निर्णय. पृ. १।
४७. प्र. न. त. १-२।
४८. प्र. मी. १।१।२।
४९. न्याय. दी. प. ६।

प्रमाण-भेद :

प्रमाण के कितने भेद सम्भव और आवश्यक हैं, इस दिशा में सर्व-प्रथम आचार्य गृद्धपिच्छ[५०] ने निर्देश किया है। उन्होंने प्रमाण के दो भेद बतलाये है—(१) परोक्ष और (२) प्रत्यक्ष। पूर्वोक्त पाँच सम्यग्ज्ञानो मे आदि के दो ज्ञान— मति और श्रुत—परसापेक्ष होने से परोक्ष तथा अन्य तीन ज्ञान, अवधि, मन पर्यय और केवल इन्द्रियादि परसापेक्ष न होने एव आत्ममात्र की अपेक्षा से होने के कारण प्रत्यक्ष-प्रमाण है। प्रमाण-द्वय का यह प्रतिपादन इतना विचारपूर्ण और कुशलता से किया गया है कि इन्ही दो में सब प्रमाणों का समावेश हो जाता है। मति (इंद्रिय-अनिन्द्रियजन्य अनुभव), स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान)। ये पांचों ज्ञान इद्रिय और अनिन्द्रिय सापेक्ष होने से मतिज्ञान के ही अवान्तर भेद है और इस लिए उनका परोक्ष मे ही अन्तर्भाव किया गया है।[५१]

जैन न्याय के प्रतिष्ठाता अकलंक[५२] ने भी प्रमाण के इन्हीं दो भेदों को मान्य किया है। विशेष यह कि उन्होने प्रत्येक के लक्षण और भेदो को बतलाते हुए कहा है कि विशद ज्ञान प्रत्यक्ष है और वह मुख्य तथा संव्यवहार के भेद से दो प्रकार का है। इसी तरह अविशद ज्ञान परोक्ष है और उसके प्रत्यभिज्ञा आदि पांच भेद है। उल्लेख्य है कि अकलंक ने उपर्युक्त परोक्ष के प्रथम भेद मति (इद्रिय-अनिन्द्रिय-जन्य अनुभव) को सव्यवहार-प्रत्यक्ष भी वर्णित किया है। इससे इंद्रिय-अनिंद्रियजन्य को प्रत्यक्ष मानने की लोकमान्यता का संग्रह हो जाता है और आगम परम्परा का भी संरक्षण रहता है। विद्यानंद[५३] और माणिक्यनंदि[५४] ने भी प्रमाण के यही दो भेद स्वीकार किए और अकलंक की तरह ही उनके लक्षण एवं प्रभेद निरूपित किए है : उत्तरवर्ती जैन तार्किकों ने प्राय: इसी प्रकार का प्रतिपादन किया है।

परोक्ष :

परोक्ष का स्पष्ट लक्षण आचार्य पूज्यपाद[५५] ने प्रस्तुत किया है। उन्होने बतलाया है कि पर अर्थात् इन्द्रिय, मन, प्रकाश और उपदेश आदि बाह्य निमित्तों तथा स्वावरण-कर्मक्षयोपशमरूप आभ्यन्तर निमित्त की अपेक्षा से आत्मा में जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह परोक्ष है। अत मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों उक्त उभय निमित्तों से उत्पन्न होते है, अत. ये परोक्ष कहे जाते है। अकलक[५६] ने इस लक्षण के साथ परोक्ष का एक लक्षण और किया है, जो उनके न्याय-ग्रथों मे उपलब्ध है। वह है अविशद ज्ञान। अर्थात् अस्पष्ट ज्ञान परोक्ष है। यद्यपि दोनों (परापेक्ष और अविशद ज्ञान) लक्षणो में तत्वत: कोई अ तर नही है—जो परापेक्ष होगा, वह अविशद होगा, फिर भी वह दार्शनिक दृष्टि से नया एव सक्षिप्त होने से अधिक लोकप्रिय और ग्राह्य हुआ है। विद्यानंद[५७] ने दोनो लक्षणो को अपनाया है और उन्हे साध्य-साधन के रूप मे प्रस्तुत किया है। उनका मन्तव्य है कि परापेक्ष होने के कारण परोक्ष अविशद है। माणिक्यनदि ने परोक्ष के इसी अविशदता-लक्षण को स्वीकार किया है और उसे प्रत्यक्षादिपूर्वक होने के कारण परोक्ष कहा है। परवर्ती न्यायलेखकों ने[५८] अकलंकीय परोक्ष लक्षण को ही प्राय: प्रश्रय दिया है।

---

५०. 'तत्प्रमाणे', 'आद्ये परोक्षम्', 'प्रत्यक्षमन्यत्'। —त. सू. १-१०, ११, १२।

५१. 'मति: स्मृति: संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्'। —त. सू. १-१३।

५२. लघीय. १-३, प्रमाणसं. १-२।

५३. प्र. परी. पृ. २८, ४१, ४२।

५४. परी. मु. २-१, २, ३, ५, ११ तथा ३-१, २।

५५. 'पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्यात्मनो मतिश्रुत उत्पद्यमानं परोक्षमित्याख्यायेते'। —स. सि. १-११।

५६. 'तयोपात्तानुपात्तपरप्रत्ययापेक्ष परोक्षम्'। — त. वा. १-११।

'ज्ञानस्येव विशदनिर्भासिन: प्रत्यक्षत्वम्, इतरस्य परोक्षता'। —लघीय. १-३ की स्वोपज्ञवृत्ति।

५७. 'परोक्षमविशदज्ञानात्मकम्, परोक्षत्वात्'। —प्रमाणपरी. पृ. ४१।

५८. 'परोक्षमितरत्', प्रत्यक्षादिनिमित्त स्मृतिप्रत्यभिज्ञान-तर्कानुमानागमभेदम्'। —परी. मु. ३-१, २।

५९. 'अविशद: परोक्षम्'। —प्र. मी. १।२।१ आदि।

परोक्ष के भेद :

तत्वार्थसूत्रकार[६०] ने परोक्ष के दो भेद कहे है—(१) मतिज्ञान और (२) श्रुतज्ञान। इंद्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होने वाला ज्ञान मति ज्ञान है तथा मति-ज्ञानपूर्वक होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान—ये आगमिक परोक्ष भेद है। अकलंकदेव[६१] ने आगम के इन परोक्ष भेदों को अपनाते हुए भी उनका दार्शनिक दृष्टि से विवेचन किया है। उनके[६२] विवेचनानुसार परोक्ष प्रमाण की संख्या तो पाँच ही है, किन्तु उनमें मति को छोड़ दिया गया है, क्योंकि उसे संव्यवहार प्रत्यक्ष माना है तथा श्रुत (आगम) को ले लिया है। इसमे सैद्धातिक और दार्शनिक किसी दृष्टि से भी बाधा नही है। इस तरह परोक्ष के मुख्यतया पांच भेद है[६३]—(१) स्मृति, (२) संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), (३) चिंता-(तर्क), (४) अभिनिबोध (अनुमान) और (५) श्रुत-(आगम)।

पूर्वानुभूत वस्तु के स्मरण को स्मृति कहते है; जैसे 'वह' इस प्रकार से उल्लिखित होने वाला ज्ञान। अनुभव तथा स्मरणपूर्वक होने वाला जोड़रूप ज्ञान संज्ञा ज्ञान है। इसे प्रत्यभिज्ञा या प्रत्यभिज्ञान भी कहते हैं। यथा…'यह वही है', अथवा 'यह उसी के समान है' या 'यह उससे विलक्षण है' आदि। इसके एकत्व, सादृश्य, वैसादृश्य प्रातियोगिक आदि अनेक भेद माने गए है। अन्वय (विधि) और व्यतिरेक (निषेध) पूर्वक होने वाला व्याप्ति का ज्ञान चिन्ता अथवा तर्क है। ऊह अथवा ऊहा भी इसे कहते है। इसका उदाहरण है…इसके होने पर ही यह होता है और नही होने पर नही ही होता। जैसे…अग्नि के होने पर ही धुआं होता है और अग्नि के अभाव में धुआं नही ही होता। निश्चित साध्यविनाभावी साधन से जो साध्य का ज्ञान होता है वह अनुमान है। जैसे धूप से अग्नि का ज्ञान। शब्द, संकेत आदिपूर्वक जो ज्ञान होता है, वह श्रुत है। इसे आगम, प्रवचन आदि भी कहते है। जैसे–'मेरु आदिक है' शब्दों को सुनकर सुमेरु पर्वत आदि का बोध होता है। ये सभी ज्ञान परापेक्ष और अविशद है। स्मरण मे अनुभव; प्रत्यभिज्ञान मे अनुभव तथा स्मरण; तर्क में अनुभव, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान; अनुमान में लिंगदर्शन, व्याप्तिस्मरण और श्रुत में शब्द एवं 'संकेतादि अपेक्षित है, उनके बिना उनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अतएव ये और इस प्रकार के उपमान, अर्थापत्ति आदि परापेक्ष अविशदज्ञान परोक्ष प्रमाण माने गए है।

अकलंक ने इनके विवेचन मे जो दृष्टि अपनायी, वही दृष्टि विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि आदि तार्किकों ने अनुसृत की है। विद्यानन्द[६४] ने प्रमाण-परीक्षा में और माणिक्यनन्दि[६५] ने परीक्षा-मुख में स्मृति आदि पाचों परोक्ष प्रमाणों का विशदता के साथ निरूपण किया है। इन दोनों तार्किको की विशेषता यह है कि उन्होने प्रत्येक की सहेतुक सिद्धि करके उनका परोक्ष में ही समावेश किया है। विद्यानन्द[६६] ने इनकी प्रमाणता में सबसे बड़ा हेतु उनका अविसंवादी होना बतलाया है। साथ ही यह भी कहा है कि यदि कोई स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और श्रुत (पद-वाक्यादि) अपने विषय मे विसवाद (बाधा) उत्पन्न करते है तो वे स्मृत्याभास, प्रत्यभिज्ञाभास, तर्काभास, अनुमानाभास और श्रुताभास है। यह प्रतिपत्ता का कर्तव्य है कि वह सावधानी और युक्ति आदि पूर्वक निर्णय करे कि अमुक स्मृति निर्बाध होने से प्रमाण है और अमुक सबाध (विसवादी) होने से अप्रमाण है। इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और श्रुत के प्रामाण्याप्रामाण्य का निर्णय करें। ये पाँचों ज्ञान यतः अविशद है, अतः

---

६०. 'आद्ये परोक्षम्'। —त. सू. १-११।

६१. प्र. सं. १-२, लघी. १-३।

६२. 'परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणे इति संग्रहः।' प्रमाणसं. २।

६३. 'अविसंवादस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा। स्मृतिः संज्ञायाः प्रत्यवमर्शस्य। संज्ञा चिन्तायाः तर्कस्य। चिन्ता अभिनिबोधस्य अनुमानादेः। प्राक् शब्दयोजनात् शेषं श्रुतज्ञानमनेकप्रभेदम्।' लघीय० ३-१० की वृत्ति।

६४. प्र० प० पृ० ४१ से ६५।

६५. प० मु० ३।१ से १०१।

६६. 'स्मृतिः प्रमाणम्, अविसंवादकत्वात्, प्रत्यक्षवत्। यत्र तु विसंवादः सा स्मृत्याभासा, प्रत्यक्षाभासवत्।। प्र० प० पृ० ४२।

परोक्ष है, यह भी विद्यानन्द ने स्पष्टता के साथ प्रतिपादन किया है।

विद्यानन्द[67] की एक और विशेषता है। वह है अनुमान और उसके परिकार का विशेष निरूपण। जितने विस्तार के साथ उन्होंने अनुमान का प्रतिपादन किया है, उतना स्मृति आदि का नही। तत्वार्थश्लोकवार्तिक और प्रमाण-परीक्षा में अनुमान-निरूपण सर्वाधिक है। पत्रपरीक्षा में तो प्रायः अनुमान का ही शास्त्रार्थ उपलब्ध है। विद्यानन्द[68] ने अनुमान का वही लक्षण दिया है जो अकलंकदेव[69] ने प्रस्तुत किया है, अर्थात् 'साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्'—साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान को उन्होंने अनुमान कहा है। साधन और साध्य का विश्लेषण भी उन्होंने अकलंक-प्रदर्शित दिशानुसार किया है। साधन[70] वह है जो साध्य का नियम से अविनाभावी है। साध्य के होने पर ही होता है और साध्य के न होने पर नहीं होता। ऐसा अविनाभावी साधन ही साध्य का अनुमापक होता है, अन्य नहीं। त्रिलक्षण, पंचलक्षण आदि साधन-लक्षण सदोष होने से युक्त नही है[71]। इस विषय का विशेष विवेचन हमने अन्यत्र[72] किया है।

साध्य[73] वह है जो इष्ट—अभिप्रेत, शक्य—अबाधित और अप्रसिद्ध होता है। जो अनिष्ट है, प्रत्यक्षादि से बाधित है और प्रसिद्ध है, वह साध्य—सिद्ध करने योग्य नहीं होता। वस्तुतः जिसे सिद्ध करना है, उसे इष्ट होना चाहिए, अनिष्ट को कोई सिद्ध नही करता। इसी तरह जो बाधित है—सिद्ध करने के अयोग्य है, उसे भी सिद्ध नही किया जाता तथा जो सिद्ध है उसे पुनः सिद्ध करना निरर्थक है। अतः निश्चित साध्याविनाभावी साधन (हेतु) से जो इष्ट, अबाधित और असिद्ध रूप साध्य का विज्ञान किया जाता है, वह अनुमान प्रमाण है।

अनुमान के दो भेद हैं—(१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान। अनुमाता जब स्वयं ही निश्चित साध्याविनाभावी साधन से साध्य का ज्ञान करता है तो उसका वह ज्ञान स्वार्थानुमान कहा जाता है। उदाहरणार्थ—जब वह धूप को देख कर अग्नि का ज्ञान, रस को चख कर उसके सहचर रूप का ज्ञान या कृत्तिका के उदय को देख कर एक मुहूर्त बाद होने वाले संकट के उदय का ज्ञान करता है; तब उसका वह ज्ञान स्वार्थानुमान है। जब वही स्वार्थानुमाता उक्त हेतुओं और साध्यो को बोल कर दूसरों को उन साध्य-साधनों की व्याप्ति (अन्यथानुपत्ति) ग्रहण कराता है और दूसरे, उसके उक्त वचनों को सुन कर व्याप्ति ग्रहण करके उक्त हेतुओं से उक्त साध्यों का ज्ञान करते है तो दूसरों का वह अनुमान ज्ञान परार्थानुमान है।

धर्मभूषण[74] ने स्वार्थानुमान और ज्ञानात्मक परार्थानुमान के सम्पादक तीन अगो और दो अगों का भी प्रतिपादन किया है। वे तीन अग है—(१) साधन, (२) साध्य और (३) धर्मी। साधन तो गमक रूप अंग है, साध्य गम्य रूप से और धर्मी दोनों का आधार रूप से। दो अंग है—(१) पक्ष और (२) हेतु। जब साध्य धर्म को धर्मी से पृथक् नही माना जाता—उससे विशिष्ट धर्मी को पक्ष कहा जाता है तो पक्ष और हेतु—ये दो ही अंग विवक्षित होते है। इन दोनों प्रतिपादनों मे मात्र विवक्षा-भेद है—मौलिक कोई भेद नही है। वचनात्मक परार्थानुमान के, प्रतिपाद्यों की दृष्टि से, दो, तीन, चार और पाँच अवयवों का भी कथन किया गया है। दो अवयव प्रतिज्ञा और हेतु है। उदाहरण सहित तीन, उपनय सहित चार और निगमन सहित वे पांच अवयव हैं।

यहाँ उल्लेखनीय है कि विद्यानन्द[75] ने परार्थानुमान के अक्षर श्रुत और अनक्षर श्रुत—इन दो भेदो को प्रकट करते हुए उसे अकलंक के अभिप्रायानुसार श्रुतज्ञान बत-

---

६७. प्र० प० पृ० ४५ से ५८।

६८. प्र० प० पृ० ४५।

६९. 'साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं तदत्ययो'—न्या० वि० द्वि० भा० २।१।

७०. 'तत्र साधनं साध्याविनाभावनियमनिश्चैयकलक्षणम्।'—प्र० प० पृ० ४५।

७१. प्र० प० पृ० ४५ से ४९।

७२. जैन तर्कशास्त्र में अनुमान विचार, पृ० ९२, वीर-सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, १९६९।

७३. प्र. प, पृ. ५७।

७४. न्या. दी, पृ. ७२, ३-२४।

लाया है और स्वार्थानुमान को[75] अभिनिबोधरूप मतिज्ञान-विशेष कहा है। आगम की प्राचीन परम्परा यही है[76]।

श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तिरायकर्म के क्षयोपशम-विशेष रूप अन्तरंग कारण तथा मतिज्ञानरूप बहिरंग-कारण के होने पर मन के विषय को जानने वाला जो अविशद ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है[77]; अथवा आप्त के वचन, अंगुली आदि के सकेत से होने वाला अस्पष्ट ज्ञान श्रुत है। यह श्रुतज्ञान सन्तति की अपेक्षा अनादि निधन है। उसकी उत्पादक सर्वज्ञ परम्परा भी अनादिनिधन है। बीजांकुरसन्तति की तरह दोनो का प्रवाह अनादिनिघन है। अतः सर्वज्ञोक्त वचनों से उत्पन्न ज्ञान श्रुतज्ञान है और वह निर्दोष पुरुषजन्य एवं अविशद होने से परोक्ष प्रमाण है।

प्रत्यक्ष :

जो इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदि पर की अपेक्षा नही रखता और आत्ममात्र की अपेक्षा से होता है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है[78]। अकलंक देव[79] ने इस लक्षण को आत्मसात् करते हुए भी एक नया लक्षण प्रस्तुत किया है, जो दार्शनिकों द्वारा अधिक ग्राह्य और लोकप्रिय हुआ है। वह है विशद ज्ञान। जो ज्ञान विशद अर्थात् अनुमानादि ज्ञानों से अधिक विशेष प्रतिभासी होता है, वह प्रत्यक्ष है। उदाहरणार्थ—'अग्नि है' ऐसे किसी विश्वस्त व्यक्ति के वचन से उत्पन्न अथवा 'वहां अग्नि है, क्योकि धुआँ दिख रहा है' ऐसे घूमादि साधनों से जनित अग्निज्ञान से, 'यह अग्नि है' अग्नि को देख कर हुए अग्निज्ञान मे जो विशेष प्रतिभास-रूप वैशिष्ट्य अनुभव मे आता है, उसी का नाम विशदता है और यह विशदता ही प्रत्यक्ष का लक्षण है। तात्पर्य यह कि जहाँ अस्पष्ट ज्ञान परोक्ष है, वहाँ स्पष्ट ज्ञान प्रत्यक्ष है।

प्रत्यक्ष के भेद :

प्रत्यक्ष के भेदों का निर्देश सर्वप्रथम आचार्य गृद्धपिच्छ[80] ने किया है। उन्होंने बतलाया है कि प्रत्यक्ष तीन प्रकार का है—(१) अवधिप्रत्यक्ष, (२) मन:पर्ययप्रत्यक्ष और (३) केवल प्रत्यक्ष। पूज्यपाद[81] ने इन्हे दो भेदों में बांटा है—(१) देश प्रत्यक्ष और (२) सर्वप्रत्यक्ष। अवधि और मन: पर्यय—ये दो प्रत्यक्ष ज्ञान[82] मूर्तिक पदार्थ को ही जानने के कारण देश-प्रत्यक्ष है और केवल प्रत्यक्ष[83] मूर्तिक और अमूर्तिक सभी पदार्थों को विषय करने से सर्वप्रत्यक्ष है। किन्तु तीनों ही आत्ममात्र की अपेक्षा से होने और इन्द्रियादि पर की अपेक्षा से न होने तथा पूर्ण विशद होने से प्रत्यक्ष है।

अकलंकदेव[84] ने आगम की इस परम्परा को अपनाते हुए भी उसमें कुछ मोड़ दिया है। उन्होने प्रत्यक्ष के मुख्य और संव्यवहार के भेद से दो नये भेदों का प्रतिपादन किया है। लोक में इन्द्रिय और मनोजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है। पर जैन दर्शन उन्हे परोक्ष मानता है। अकलंक ने प्रत्यक्ष का एक संव्यवहारभेद स्वीकार कर उसके द्वारा उनका संग्रह किया और व्यवहार (उपचार) से उन्हे प्रत्यक्ष कहा। इस प्रकार उन्होने आगम और लोक दोनों दृष्टियो में सुमेल स्थापित कर उनके विवाद को सदा के लिए शान्त किया।

एक दूसरे स्थान पर उन्होने[85] प्रत्यक्ष के तीन भी भेद बतलाए है—(१) इन्द्रिय प्रत्यक्ष, (२) अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष और (३) अतीन्द्रियप्रत्यक्ष। प्रथम के दो प्रत्यक्ष संव्यवहार प्रत्यक्ष ही है, क्योकि वे इन्द्रियपूर्वक व अनिन्द्रियपूर्वक होते है। अन्त का अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष मुख्य प्रत्यक्ष है, क्योकि वह इन्द्रिय और मन की अपेक्षा न करके आत्ममात्र की अपेक्षा से उत्पन्न होता है।

७५. प्र. प. पृ. ५८।
७६. विशेष के लिए देखें, 'जैन तर्कशास्त्र में अनुमान विचार', पृ. ७७-८५।
७७. प्र. प. पृ. ५८।
७८. स. सि. १।१२, पृ. १०३।
७९. लघी. १।३।
८०. 'प्रत्यक्षमन्यत्'—त. सू. १।१२।स. सि. १।२१ की उत्थानिका।
८१. '··· तद्द्वेधा···देशप्रत्यक्षं सर्वप्रत्यक्ष च। देशप्रत्यक्षमवधिमनःपर्ययज्ञाने। सर्वप्रत्यक्षं केवलम्।'
—स. सि. १।२१ की उत्थानिका।
८२. त. सू. १।२७, २८।
८३. त. सू. २।२९।
८४. लघीय. १।३।
८५. प्र. स. स्वोपज्ञवृत्ति. १।२।

विद्यानन्द[८६] ने इन प्रत्यक्षभेदों का विशदता और विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। इन्द्रियप्रत्यक्ष के आरम्भ में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये चार भेद है। ये चारों पांच इन्द्रियों और बहु आदि बारह अर्थभेदों के निमित्त से होते है। व्यंजनावग्रह चक्षु और मन से नही होता, केवल चार इन्द्रियो से वह बहु आदि बारह प्रकार के अर्थों में होता है। अतः ४×१२×५=२४० और १×१२×४=४८ कुल २८८ इन्द्रियप्रत्यक्ष के भेद है। अनिन्द्रियप्रत्यक के ४×१२×१=४८ भेद है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष ये दोनों मतिज्ञान अर्थात् संव्यवहारप्रत्यक्ष के कुल ३३६ भेद है[८७]। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के दो भेद है—(१) विकल प्रत्यक्ष और (२) सकल प्रत्यक्ष। विकल प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है—(१) अवधिज्ञान और (२) मनः पर्ययज्ञान। सकल प्रत्यक्ष मात्र एक ही प्रकार का है और वह है केवल प्रत्यक्ष। इनका विशेष विवेचन प्रमाणपरीक्षा से देखना चाहिए। इस प्रकार जैन दर्शन मे प्रमाण के मूलतः प्रत्यक्ष और परोक्ष—ये दो ही भेद माने गए है।

प्रमाण का विषय :

जैन दर्शन मे यतः वस्तु अनेकान्तात्मक है, अत प्रत्यक्ष प्रमाण हो, चाहे परोक्ष प्रमाण, सभी सामान्य-विशेषरूप, द्रव्य-पर्यायरूप, भेदाभेदरूप, नित्यानित्यरूप आदि अनेकान्तात्मक वस्तु को विषय करते अर्थात् जानते है। कोई भी प्रमाण केवल सामान्य या केवल विशेष आदि रूप वस्तु को विषय नही करते, क्योकि वैसी वस्तु ही नही है। वस्तु तो अनेकान्तरूप है और वही प्रमाण का विषय है[८८]।

प्रमाण का फल :

प्रमाण का फल अर्थात् प्रयोजन वस्तु को जानना और उसका अज्ञान दूर होना है। यह प्रमाण का साक्षात्-फल है। वस्तु को जानने के उपरान्त उसके ग्राह्य होने पर उसमे ग्रहण बुद्धि, हेय होने पर हेय बुद्धि और उपेक्षणीय होने पर उपेक्षा-बुद्धि होती है। ये बुद्धियां उसका परम्परा फल है। प्रत्येक प्रमाता को ये दोनों फल उपलब्ध होते है[८९]।

नय[९०] :

पदार्थों का यथार्थ ज्ञान जहाँ प्रमाण से अखण्ड (समग्र) रूप मे होता है, वहा नय से खण्ड (अश) रूप मे होता है। धर्मी का ज्ञान प्रमाण और धर्म का ज्ञान नय है। दूसरे शब्दो में वस्त्वशग्राही ज्ञान नय है। यह मूलत. दो प्रकार का है—(१) द्रव्यार्थिक और (२) पर्यायार्थिक। अथवा (१) निश्चय और (२) व्यवहार। द्रव्यार्थिक द्रव्य को, पर्यायार्थिक पर्याय को, निश्चय असंयोगी को और व्यवहार सयोगी को ग्रहण करता है। इन मूल नयो के अवान्तर भेदों का निरूपण जैन शास्त्रों में विपुलमात्रा मे उपलब्ध होता है। वस्तु को सही रूप में जानने के लिए उनका सूक्ष्म से सूक्ष्म विश्लेपण किया गया है। विस्तार के कारण वह यहा नही किया जाता। यहाँ हमने जैन न्याय का सक्षेप मे परिशीलन करने का प्रयास किया है। यों उसके विवेचन के लिए एक पूरा ग्रथ अपेक्षित है। □ □

११/२८, चमेली कुटीर,
डुमराव बाग, अस्सी, वाराणसी-५

---

८६. 'तत् त्रिविधम्— इन्द्रियानिन्द्रियातीन्द्रियप्रत्यक्षविकल्पात्। तत्रेन्द्रियप्रत्यक्षं साव्यवहारिकं देशतो विशदत्वात्। तद्वदनिन्द्रियप्रत्यक्षम्···। अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष तु द्विविधं विकलप्रत्यक्ष सकलप्रत्यक्षं चेति। विकलप्रत्यक्षमपि द्विविधम्—अवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं चेति। सकलप्रत्यक्ष तु केवलज्ञानम्। तदेतत्त्रिविधमपि मुख्य प्रत्यक्षम्, मनोक्षानपेक्षत्वात् ···।'
—प्र. प. पृ. ३८, अनुच्छेद ६१।

८७. प्र. प. पृ. ४०।

८८ वही, पृ. ६५।

८९. प्र. प. पृ. ६६।

९०. लघी. नयप्रवेश, का. ३०-४६।

जैन सम्प्रदाय के यापनीय[§] संघ पर कुछ और प्रकाश[†]

☐ डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, एम. ए. डी. लिट्, मैसूर

निगण्ठनातपुत्त या महावीर ने जिस धार्मिक और श्रमण संघ का नेतृत्व किया था, वह उनसे पूर्व पार्श्वप्रभु द्वारा संस्थापित था और इसीलिए भ० महावीर को 'पासावचिज्ज' कहा जाता था अर्थात् वे पार्श्वप्रभु द्वारा प्रचलित धर्म का अनुसरण कर रहे थे। उत्तराध्ययन (२३) में स्पष्ट उल्लेख है कि पार्श्व प्रभु और भ० महावीर के शिष्य परस्पर मिलकर अपने श्रमण आचारों के विभिन्न विवादो को सुलझाने का प्रयास करते है। यही वे विवाद है जिन्होने आगे चल कर जैन परम्परा में कई वर्ग, धर्म-भेद या संप्रदाय पैदा कर दिए।

'समागम सुत्त' में स्पष्ट उल्लेख है कि "महावीर या निगण्ठनातपुत्त के निर्वाण के बाद जैन परम्परा में होने वाली विघटनकारी प्रवृत्तियों एव मतभेदों से महात्मा बुद्ध अच्छी तरह परिचित हो गए थे, अत: उन्होंने अपने शिष्यों को सावधान किया था कि वे ऐसे वर्गभेद की प्रवृत्तियो से बचें।"[१] भ० महावीर के जीवन काल मे ही उनके जामाता जामालि द्वारा प्रचलित 'बहुरत' तथा तिष्यगुप्त द्वारा प्रचलित 'जीवप्रदेश' जैसे सैद्धान्तिक मतभेद तो विद्यमान थे ही।[२] भ० महावीर के निर्वाण के बाद जैन परम्परा दिगम्बर और श्वेताम्बर रूप में विभाजित हो गई जिसका मूल कारण सम्भवतः कुछ साधुओं का दक्षिण भारत में स्थायी रूप से बस जाना हो, जिसके पीछे श्रमण आचारों सम्बन्धी थोड़ी बहुत मतभेदो की तीव्रता हो जो पहले से ही चले आ रहे थे।[३] आर्याषाढ़ (भ० महावीर के निर्वाण के २१४ वर्ष बाद) द्वारा प्रचलित मतभेद जैन परम्परा मे और अधिक विभाजन करने के लिए चिरस्थायी बन सके।[४]

सदियो पूर्व के मथुरा लेख से स्पष्ट है कि गण, कुल, शाखा और संभोग जैसे श्रमण वर्ग भेद जैन परम्परा में पहले से ही विद्यमान थे। दिगम्बर आम्नाय में सघ (मूल, द्रविड़ आदि) गण, (देशी, सेन, काण्डूर आदि) गच्छ, (पुस्तक आदि) अन्वय आदि (कुन्दकुन्दादि) तथा श्वेताम्बर आम्नाय मे खरतर, तपा, अंचल, गच्छ जैसे भेद आज भी विद्यमान है।[५]

---

† यह निबंध १७ जुलाई १९७३ को होने वाली २९वीं अन्तर्राष्ट्रीय ओरिएन्टल काग्रेस के पेरिस अधिवेशन में दक्षिण पूर्वी एशिया (भारत) वर्ग में पढा गया था।

§ प्रारम्भिक अध्ययन के लिए देखो—Indian antiquary VII P. 34, H. Luders : E, IV P. 338, नाथूराम प्रेमी : जैन हितैषी, XIII P. 250-75, A. N. Upadhey : Journal of the University of Bombay 1956, I, VI, PP. 224 ff; श्री प्रेमी का जैन साहित्य और इति० द्वितीय सस्करण बम्बई 1956 PP. 56F, 155F, 521F, P. B. Desai : Jainism in South India, Sholapur. 1757, pp 163-66 आदि।

१. नलिनाक्ष दत्त की Early History of the spread of Budhhism & Buddhist School, p. 200.

२. E. Leumains : Die altem Berichtevon den Schismen Der Jaina I, 5. XVIII pp. 91-135.

३. Dr. Hoernle, Quoted in South Indian Jainism pp 25-27.

४. देखो—विशेषावश्यक भाष्य गाथा २३०४-२५४८।

५. See the Introduction to Reportore D. epigiaphie Jaina By A. Guerinot Paris 1908.

मूलतः अंग्रेजी लेख के अनुवादक—श्री कुन्दनलाल जैन

आचार्य देवसेन (६-१०वी ईस्वी) ने अपने दर्शनसार में संघों का कुछ विवरण दिया है, जो यहाँ उल्लेखनीय है। श्री कलश (विक्रम की मृत्यु के २०५ वर्ष बाद) ने यापनीय संघ की, वज्रनंदी ने (विक्रम की मृत्यु के ५२६ वर्ष बाद) द्रविड़ संघ की, कुमार सेन ने (विक्रम की मृत्यु के ७५३ वर्ष बाद) काष्ठा संघ की तथा रामसेन ने (विक्रम की मृत्यु के ६५३ वर्ष बाद) मथुरा संघ की स्थापना की थी।[6] ऐसे विभाजन आचारों की विभिन्नता के कारण सर्वथा अपरिहार्य थे क्योकि श्रमणो के सघ इस देश के विभिन्न भागों में प्रवास और विहार किया करते थे।

उपर्युक्त गण, कुल, संघ, गच्छ आदि भेदों की कुछ परिभाषायें भी उपलब्ध हैं। जैसे तीन साधुओं के समूह को गण, सात साधुओ के समूह को गच्छ तथा साधुओ की नियमित जाति को सघ कहा जाता था[7]। पर ये परिभाषायें सार्वभौमिक एवं सर्वमान्य न थी। कही-कही गण और संघ को एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त करने के उदाहरण मिलते है। उद्योतन[8] (७७६ ई०) के अनुसार गच्छ शब्द का प्रयोग मूलतः अपने मुखिया के नेतृत्व में विहार करने वाले साधुओं (group) के लिए ही किया जाता था। पारपरिक अर्थ तो दिगम्बर-श्वेताम्बरो के प्रमुख साधुओ से ही ग्रहण किए जा सकते है।

एक कन्नड पाडुलिपि 'गणभेद' मे सघ की अपेक्षा गण को ही अधिक महत्व दिया गया है। इसमे चार गण माने गये है जिन्हे कुछ सघो से अन्तर्वद्ध किया गया है जैसे १. सेनगण (मूलसंघ), २. बलात्कारगण (नंदीसंघ) ३. देशीगण (सिंह सघ) और ४. कालोग्रगण[9] (यापनीय सघ)।

यापनीय संघ की शोध एवं खोज की ओर विशेष ध्यान नही दिया गया है क्योकि एक तो यापनीयों के विरुद्ध कुछ द्वेष या पूर्वग्रह भाव सा रहा है। दूसरे दिगम्बरो तथा श्वेताम्बरो की भांति आजकल उनका कुछ अस्तित्व भी नहीं है। यापनीयो के उद्गम के बारे मे बहुत सी किवदन्तियां (परम्परायें) है। आचार्य देवसेन ने विक्रम की मृत्यु के १०१ या ११० वर्ष बाद 'दर्शनसार' की रचना की थी। वे इस ग्रंथ मे लिखते है कि श्री कलश नामक श्वेताम्बर साधु ने कल्याण नगर मे विक्रम की मृत्यु के २०५ वर्ष बाद यापनीय सघ प्रारम्भ किया था। दूसरे रत्ननदी[10] (१५वीं ई० के बाद) ने अपने भद्रबाहु-चरित मे यापनीय सघ की उत्पत्ति के बारे मे निम्न घटना लिखी है—"महाराज भूपाल करहाटक मे राज्य कर रहे थे। उनकी नृकुलादेवी नाम की प्रिया रानी थी। एक बार रानी ने अपने पति से कहा कि मेरे पैतृक नगर मे मेरे कुछ गुरुजन (मुनि गण) पधारे है, सो आप वहाँ जाकर उनसे अनुनय-पूर्वक प्रार्थना करे कि वे (साधु) यहाँ पधारे और हमारे धार्मिक अनुष्ठानो की शोभा बढावे। महाराज भूपाल ने नृकुला देवी के कथनानुसार अपने मत्री बुद्धिसागर को गुरुओ के पास भेजा जो उन्हे बड़ी प्रार्थना और विनती के साथ करहाटक राज्य मे ले आया। राज्य मे साधुओं के पधारने पर महाराज भूपाल उनकी अगवानी के लिए बड़े ठाट-बाट से गए, पर जैसे ही राजा ने उन साधुओं को दूर से देखा कि वे नग्न दिगम्बर साधु नही है तो राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ और सोचने लगा कि ये सवस्त्र साधु कौन है? इनके पास भिक्षा पात्र है और लाठी भी है। राजा को अच्छा न लगा और उसने उन साधुओं को अनादर पूर्वक वापिस लौटा दिया और अपनी रानी के पास आकर कहा कि उसके गुरुजन तो पाखण्डी और नास्तिक है, मै उनका सम्मान और अगवानी करने का

६. Annals of the B.O.R.I.XV. III-IV, pp. 198ff, Poona 1934.

७. देखो मूलाचार पर यशोनंदी की संस्कृत टीका IV ३२ बम्बई १६२०।

८. कुवलयमाला पृ. ८० पंक्ति १७ एफ, बम्बई १६५६।

६. कालोग्रगण यापनीय संघ से संबधित कण्डूर या काणूर गण का संस्कृत रूप प्रतीत होता है।

१०. देखो रत्ननदी का भद्रबाहु-चरित, कोल्हापुर १६२१, IV पृ. १३५-५४।

H. Jacobi : Uber die entstehung der Svetambara and Digambara, Sektenzdmg XXXVIII pp. 1-42; H. Luders . H1, IV p, 338.

तैयार नहीं हूं क्योंकि वे जैन (दिगम्बर) साधु नहीं हैं। रानी नृकुला देवी अपने पति के अभिप्राय को समझ गई। वह तुरन्त ही उन साधुओं के समीप गई और उनसे प्रार्थना की कि वे वस्त्रादि का त्याग कर निर्ग्रन्थ-वेश धारण कर लें। साधुओं ने रानी का अनुरोध स्वीकार कर तुरंत ही वस्त्रादि का त्याग कर दिया और पीछी कमण्डलु लेकर दिगम्बर मुद्रा में राज्य में प्रवेश किया; तब तो महाराज भूपाल ने उन साधुओ का बड़े ठाट बाट एवं शानदार तरीके से उन साधुओं का स्वागत-सम्मान एवं अगवानी की। इस तरह यद्यपि वे साधु बाह्य तप से दिगम्बर वेश में थे पर उनके आचार और क्रियाकलाप श्वेताम्बर साधुओं जैसे ही थे। आगे चलकर इन्हीं साधुओं ने यापनीय संघ की नीव डाली।

रत्ननंदी का उपर्युक्त कथन १५वीं सदी के बाद का है; अतः इसे पूर्णरूपेण अक्षरशः स्वीकार करने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है, क्योंकि इसके कुछ और भी अभिप्राय निकल सकते है। ऐसा प्रतीत होता है कि रानी नृकुला देवी श्वेताम्बर विचारधारा की रही हो और उन दिनों दक्षिण भारत मे श्वेताम्बर साधुओं को विशेष आदर एवं प्रसिद्धि नही प्राप्त थी, क्योंकि यदि इस करहाटक को आधुनिक महाराष्ट्र के सतारा जिला स्थित 'कहडि' नामक स्थान माना जाता है तो निश्चय ही दक्षिण भारत मे श्वेताम्बर साधुओं की विशेष मान्यता न थी। आचार्य देवसेन और रत्ननंदी के उपर्युक्त विवरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि यापनीय संघ श्वेताम्बरों के वर्गभेद के रूप मे उद्भूत हुआ; भले ही ऊपर से उनका बाह्य परिवेश दिगम्बर साधुओ जैसा रहा हो।

कुछ दिगम्बर विद्वानों की मान्यतानुसार यापनीय जन नास्तिक वर्ग के थे। इन्द्रनंदी ने अपने नीतिसार (१०वें पद्य) मे यापनीयों को निम्न पाच कृत्रिम वर्गों में सन्निहित किया है :—

गोपुच्छिकाः श्वेतवासाः द्राविडो यापनीयकाः।
निःपिच्छकश्चेति पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः॥

यापनीय शब्द का मूल अर्थ अपने आप में एक स्वतंत्र प्रश्न है। इसकी बहुत सी वर्तनी (हिज्जे) मिलती है जैसे यापनीय, जापनीय, यपनी, आपनीय, यापुलिय, आपुलिय, जापुलिय, जावुलिय, जाविलिय, जावलिय, जावलिगेय आदि आदि। 'या' धातु के साथ कारण-प्रत्यय जोड़कर उसके भिन्न-भिन्न अर्थ निकाले गए है। तैलंग के अनुसार यापनीय शब्द का अर्थ है—"बिना ठहरे सदा ही विहार करने वाले"।" प्रवचनसार (११. १०) में दो प्रकार के गुरुओं का उल्लेख मिलता है १. पव्वज्जादायग और २. निज्जावग। 'निज्जावग' का कर्त्तव्य होता है कि पथभ्रष्ट साधुओं को सन्मार्ग पर पुनः स्थापित करना। वे अधीनस्थों पर नियंत्रण रखते है तथा नवागतों का मार्गदर्शन करते हैं। निज्जावग का शुद्ध संस्कृत रूप निर्यापक की जगह निर्यामक ज्यादा उपयुक्त बैठता है"। जैन ग्रंथों में 'जवणिज्ज' शब्द का प्रयोग एक से अधिक अर्थों मे प्रयुक्त किया हुआ मिलता है। 'नायाधम्मकहाओ' में इदिय जवणिज्जे शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ यापनीय न होकर यमनीय होता है, जो यम् (नियत्रणे) धातु से बनता है। इसकी तुलना 'थवणिज्ज' शब्द से की जा सकती है जो स्थापनीय शब्द के लिए प्रयुक्त होता है। इस तरह जवणिज्ज' का सही संस्कृत रूप यापनीय नही हो सकता, अतः जवणिज्ज साधु (यापनीय कहलाने वाले) वे है जो यम-याम का जीवन बिताते थे। इस संदर्भ में पार्श्वप्रभु के 'चउज्जाम, चातुर्याम धर्म से यम-याम की तुलना की जा सकती है"।

यापनीय साधुओं के विषय में हमें कुछ विशद सामग्री उपलब्ध है अतः यह आवश्यक है कि यापनीय संघ और उससे संबंधित साधुओं के विषय में, जिनका विभिन्न स्थानों व घटनाओं से संबंध है और अधिक महत्वपूर्ण सामग्री का विवेचन किया जाए।

सम्राट खारवेल के हाथी गुफा लेख की १४ वीं, पंक्ति में 'यापञावकेहि' शब्द यापनीयों के प्रसंग में कुछ

११. देखो I.A.VII, p. 34, footnote.

१२. See my Paper 'on the meanings of Yapniya' in the श्री कण्ठिका मैसुर १९७२।

१३. Otherwise the expression in the नायधम्मकहाओ cannot be properly explained.

संदेह उत्पन्न करता है, पर इसे सुनिश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता[14]।

कदंब वंशीय मृगेशवर्मन् (४७५-४९० ई०) ने यापनीय, निर्ग्रंथ और कूर्चको को अनुदान दिया था, इनके गुरु का नाम दामकीर्ति उल्लिखित है। आगे मृगेशवर्मन् के पुत्र (४९७-५३७ ई०) ने भी कुछ ग्राम अनुदान मे दिए थे जिनकी आमदनी से पूजा प्रतिष्ठा के अनुष्ठान किए जाते थे और यापनीय साधुओं के चार माह का भरण-पोषण किया जाता था। इसमें जिन गुरुओं के नामोल्लेख है, वे है दामकीर्ति, जयकीर्ति, बंधुसेन और कुमारदत्त। संभवतः ये चारो ही यापनीय हों। आगे कृष्ण वर्मन के पुत्र देव वर्मन (४७५-४९० ई०) ने यापनीय सघ को एक ग्राम दान किया था जिससे मदिर की सुरक्षा और दैनिक देखभाल हो सके[15]।

८१२ ई. के कदंब दानपत्र में निम्न विवरण प्राप्त होता है.—"राष्ट्रकूट राजा प्रभूतवर्ष ने कुछी (ली) आचार्य के शिष्य अर्ककीर्ति द्वारा संचालित मंदिर को स्वयं दान दिया था जो यापनीय नंदी संघ पुन्नाग वृक्ष मूलगण के श्री कीर्ति आचार्य के उत्तराधिकारी थे (बीच में कई आचार्यों को छोडकर) अर्ककीर्ति ने कुन्निगिल देश के शासक (गवर्नर) विमलादित्य का उपचार किया था जो शनिग्रह के दुष्प्रभाव से पीड़ित था[16]। नौवी ई के किरइप्पाक्कम (चिंगलपेट, तमिलनाडु) लेख से देशवल्लभ नामक एक जैन मदिर का पता चलता है जो यापनीय संघ और कुमिलगण के महावीर गुरु के शिष्य अमलमुदल गुरु द्वारा निर्मित कराया गया था[17] और अनुदानपत्र मे यापनीय संघ के साधुओं के भरण-पोषण की भी व्यवस्था का उल्लेख है।

पूर्वी चालुक्यवंश के अम्म द्वितीय ने जैन मंदिर के लिए मलियपुन्डी (आन्ध्र) ग्राम का अनुदान दिया था। इस मंदिर के अधिकारी यापनीय संघ (कोटि) मडुवगण और पुन्यावृह (संभवतः पुन्नागवृक्षगण जैसा ही) नंदीगच्छ के जिननदी के प्रशिष्य और दिवाकर के शिष्य श्री मंदिर देव थे[18]। ९८० ई० का सौदत्ति (सुगंधवर्त्ति) का शिलालेख भी है जो चालुक्यवंश के तैलपदेव से प्रारम्भ होता है। इसमे शातिवर्म और उनकी रानी चन्द कब्बी का भी विशेष उल्लेख है। शातिवर्म ने जो जैन मदिर बनवाया था, उसके लिए उन्होने भूमिदान किया था। इसमे कुछ साधुओं के नाम दिए है जो यापनीय सघ काण्डूर गण के थे। इनके नाम है बाहुबलि देव (भट्टारक), (जिनकी उपमा चद्र, सिंह आदि से की है) रविचन्द्र स्वामी, अर्हनन्दी, शुभचद्र, सिद्धान्तदेव, मौनिदेव और प्रभाचद्र देव आदि[19]। डा० पी बी. देसाई ने होसुर (सौदत्ति, जिला बेलगाव) के एक दूसरे लेख का विवरण दिया है जिसमे यापनीय संघ के काण्डूरगण के उपदेशको (साधुओ, गुरुओ) का उल्लेख है जिनके नाम है शुभचंद्र प्रथम चन्द्रकीर्ति, शुभचद्र द्वितीय, नेमिचन्द्र, कुमारकीर्ति, प्रभाचन्द्र और नेमिचन्द्र द्वितीय[20]।

पता चला है कि बेलगाव की दोड्ड वसदि मे भ० नेमिनाथ की प्रतिमा है जो किसी समय किले के मन्दिर में थी। इसमे जो पीठिका-लेख है, उससे पता चलता है कि यापनीय सघ के पारिसय्य ने १०१३ ई० मे इस मन्दिर का निर्माण कराया था, जिसे साहणाधिपति (संभवतः कदम्बशासक जयकेशि के दण्डनायक) की माता कत्तय्य और जक्कव्वे ने कल्लहविळ्ळ (गोकम के पास) ग्राम की भूमि दान में दी थी। उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि पारिसय्य साधु या गुरु नही थे अपितु कोई सामान्यजन थे जिनके यापनीय सघ से घनिष्ठ सबध रहे होंगे इसीलिए उनका विशेषतया उल्लेख किया गया है[21]। १०२० ई० के रढवग् लेख में स्पष्ट लिखा है कि हूविनबागे की भूमि का दान दण्डनायक दासिमरस ने विख्यात यापनीय सघ पुन्नागवृक्ष मूल गण के प्रसिद्ध उपदेशक

14. E.I. XX No, 7, p. 80,
15. I.A. VI, pp. 24-7, VII pp. 33-5.
16. E.C.XII Gubbi 61.
17. A.R.S.I.E. 1954-35, N. 22 p. 10 Delhi 1938
18. E.I.IX No. 6.
19. Journal of the B.B A.A.S.X 71-72, teut pp. 206-7.
20. Jainism in South India p. 165.
२१. जिनविजय (कन्नड) जनवरी १९३१।

(आचार्य) कुमारकीर्ति पंडित देव को किया था[22]। १०२८-२९ ई० के होसुर (धारवाड) लेख में लिखा है कि पोसवूर के श्राच्छ-गवुन्ड ने सुपारी के बाग एवं कुछ घर वसदि (मन्दिर) को दान में दिए थे। यहाँ यापनीय संघ (पुन्नागवृक्षमूल—पूरा नही पढा जाता) के गुरु जयकीर्ति का स्पष्ट उल्लेख है[23]। हूलि का विवरण दो भागों मे उपलब्ध है, प्रथम, चालुक्यवंशी आहवमल्ल सोमेश्वर (१०४४ ई०) का, दूसरा, जगदेव मल्ल के लिए तथा इनसे सबंधित साधुओं के लिए अनुदान की व्यवस्था है। हूलि के प्रथम विवरण में यापनीय संघ पुन्नागवृक्ष मूल के बालचन्द्र भट्टारक देव का उल्लेख है तथा दूसरे में रामचन्द्र देव का विशेष उल्लेख है[24]। १०४५ ई० के मुगद लेख में भी यापनीय संघ और कुमुदिगण का संदर्भ मिलता है। यह एक पत्र है जिसमें बड़े अच्छे स्पष्टीकरण और साधुओं के नामोल्लेख भी है जैसे श्रीकीर्ति गोरवडि, प्रभाशशांक, नयवृत्तिनाथ, एकवीर, महावीर, नरेन्द्रकीर्ति, नागविविक-वृतीन्द्र, निरवद्यकीर्ति भट्टारक, माधवेन्दु, बालचन्द्र, रामचन्द्र, मुनिचन्द्र, रविकीर्ति, कुमारकीर्ति, दामनंदि, त्रैविद्य गोवर्धन, दामनंदि, वड्ढाचार्य आदि। यद्यपि उपर्युक्त नामो मे कुछ कृत्रिम और जाली है, फिर भी इनमे से बहुत से साधु बड़े विख्यात और ज्ञान तथा चारित्र के क्षेत्र मे अद्वितीय रूप से अत्यधिक प्रसिद्ध थे[25]। मोरब (जिला धारवाड़) विवरण में यापनीय संघ के जयकीर्ति देव के शिष्य नागचन्द्र के समाधिमरण का उल्लेख है, नागचन्द्र के शिष्य कनकशक्ति थे जो मंत्र चूडामणि के नाम से प्रसिद्ध थे[26]। त्रिभुवनमल्ल के शासन में १०९६ ई० के डोनि (जिला धारवार) विवरण में यापनीय संघ वृक्षमूलगण के मुनिचन्द्र त्रैविद्य भट्टारक के शिष्य चारुकीर्ति पडित को उपवन दान का उल्लेख है, इस दान पत्र को मुनिचन्द्र सिद्धान्त देव के शिष्य दायियय्य ने लिपिबद्ध किया था[27]। धर्मपुरी (जिला भिर, महाराष्ट्र) लेख में लिखा है "नाना प्रकार के करों से प्राप्त आमदनी भगवान की पूजा तथा साधुओं के भरण-पोषण के लिए अनुदान रूप मे पोहलकेरे के पञ्चपट्टण, कञ्चुगारस और तेलुंगनगरस द्वारा दी जावे। यह अनुदान यापनीय संघ और वदीयूरगण के महावीर पंडित के सिपुर्द की गई थी जो वसदि के आचार्य भी थे। ११वी सदी के रामलिङ्ग मदिर के कलभावी लेख में पश्चिमी गगवंश के शिवमार का उल्लेख है, शिवमार ने कुमुद वाड नामक ग्राम जैन मदिर को दान दिया था, जिन्हे स्वय ने निर्मित कराया था, और इसे मइलायान्वय कारेयगण (जो यापनीय संघ के संबन्धित है ऐसा वइलहोंगल विवरण में लिखा है) के गुरु देवकीर्ति के सुपुर्द किया था, इनके पूर्वाचार्यों मे शुभकीर्ति, जिनचन्द्र, नागचन्द्र और गुणकीर्ति आदि आचार्यों का भी उल्लेख है[28]।

११०८ ई० मे बल्लालदेव और गण्डरादित्य (कोल्हापुर के शिलाहार वंशीय) के समय में मूल संघ पुन्नागवृक्षमूलगण की आर्यिका रात्रिमती-कन्ति की शिष्या बम्मगवुड ने मंदिर बनवाया था जिसके लिए अनुदान का उल्लेख होन्नुर लेख में विद्यमान है[29]। बइलहोंगल (जिला बेलगांव) का लेख चालुक्यवंशीय त्रिभुवनमल्ल देव के समय का है, इसमे रह महासामन्त अङ्क शान्तियक्क और कुण्डि प्रदेश का उल्लेख है। यह किसी जैन मदिर को दिया गया अनुदान पत्र है, इसमे यापनीय सघ मइलापान्वय कारेयगण के मूल भट्टारक और जिनदेवसूरि का विशेष रूप से स्पष्ट उल्लेख है[30]। विक्रमादित्य षष्ठ के शासन कालीन हुलि (जिला बेलगाव) लेख मे यापनीय सघ कण्डूर गण के बहुबलि, शुभचन्द्र, मौनिदेव और माघनदि

22. Journal of the Bombay Historical Society iii pp. 102-200.
23. S.I.I.XI.I No. 6ᶜ, Madras 1940.
24. E.I.XVIII, Also P. B. Desai, Ibidem pp. 174F.
25. S,I.I.XII, No. 78, Madras 1940.
26. A R·S.I.E. 1928-29, No, 239, p. 56.
27. S.I.I.II, iii No. 140.
28. A R S.I.E. 1961-62 B 460-61.
29. I.A.XVIII P. 309, Also P.B. Desai Ibidem p. 115.
30. I.A.NII p. 102.
31. A.R.S.I.E. 1951-52, No. 33, p. 12.

आदि का उल्लेख मिलता है[32]। एक्साम्बि (जिला बेलगाव) मे विजयादित्य (शिलाहार गण्डारादित्य के पुत्र) के सेनापति काल न (ण) द्वारा निर्मित नेमिनाथ वसदि से प्राप्त लेख द्वारा ज्ञात होता है कि यापनीय सघ पुन्नाग वृक्ष मूल गण के महामडलाचार्य विजयकीर्ति को मंदिर के लिए भूमिदान किया गया था। इनकी गुरु परम्परा निम्न प्रकार मिलती है— मुनिचन्द्र, विजयकीर्ति, कुमारकीर्ति और त्रैविद्य विजयकीर्ति आदि। रट्ट कार्तिवीर्य ने ११७५ ई० मे इस मन्दिर के ससम्मान दर्शन किए थे[33]। १२वी सदी के मध्य मे लिखे गये असिकेरे (मैसूर) लेख में जैन मदिर को दिए गए अनुदान का उल्लेख मिलता है। इस लेख के प्रारम्भिक छन्दो मे से एक छन्द मे मडुवगण यापनीय (सघ) की भूरि भूरि प्रशसा की गई है, मूर्ति प्रतिष्ठा पोन्नाग वृक्ष मूल गण और सघ (यापनीय) के शिष्य माणिकशेट्टि द्वारा कराई गई थी, प्रतिष्ठाचार्य थे कुमारकीर्ति सिद्धान्त जो यापनीय संघ मडवगण से सम्बन्धित थे। एक दूसरे लेख मे इसके दानकर्त्ता का नाम यापनीय सघ के सोमय्य का है। दूसरे अन्य विवरणो की भाति इसमे भी जनसामान्य को यापनीय सघ से सुसम्बद्ध किया है। दूसरे, इस लेख के सम्पादक का मत है कि इसमे से यापनीय शब्द को मिटा दिया गया है। तीसरे, काष्ठामुख प्रतिबद्ध जैसा शब्द बाद मे इसमे जोडा गया है पर यह सब सर्वथा अतिशयोक्ति है। वैसे यापनीयो के विरुद्ध कुछ द्वेष तो अवश्य दर्शाया गया है पर कोई पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध नही है कि उनका काष्ठामुख की ओर झुकाव हो क्योकि काष्ठामुख प्रतिबद्ध शब्द स्वयं बाद मे जोड़ा गया गया है पर यह समझ मे नही आता कि इस असगति को हटाने के लिए जिसने काष्ठामुख प्रतिबद्ध शब्द जोडा है, उसी ने यापनीय शब्द को मिटाया हो[34]। १२वी सदी के लोकपुर के (जिला बेलगाव) विवरण में लिखा है कि ब्रह्म (कल्लभावण्ड के पुत्र) ने उभय सिद्धान्त चक्रवर्ती यापनीय सघ के कण्डूरगण के सकलेन्दु सिद्धान्तिक के शिष्य थे[35]। तेरुलि (जिला गुलबर्गा) मे १२वी सदी की प्रतिमा है जिसके पीठिका लेख से ज्ञात होता है कि इसकी प्रतिष्ठा यापनीय सघ के वडियुर (वन्दियूर) गण के नागदेव सिद्धान्तिक के शिष्य ब्रह्मदेव ने कराई थी[36]। १२वी सदी ई० के मनोलि (जिला बेलगाव) के लेख से विदित होता है कि यापनीय सघ के गुरु मुनिचन्द्रदेव की समाधि निर्मित कराई गई थी जो सिरिया देवी द्वारा सस्थापित वसदि (मन्दिर) के आचार्य थे। इसी मे यापनीय सघ के मुनिचन्द्र के शिष्य पाल्यकीर्ति के समाधिमरण का भी उल्लेख है[37]। १३वी सदी ई० के अदरगुञ्चि (जिला धारवार) के विवरण मे यापनीय सघ और काण्डूरगण की उच्छगि स्थित वसदि को दी जाने वाली भूमि की सीमाओ का लेखा-जोखा प्राप्त होता है[38]।

१३वी सदी के हूकेरि (जिला बेलगाव) विवरण से जो सर्वथा अस्त-व्यस्त और कटा-फटा है, यापनीय सघ के किसी गण (गण का नाम मिट गया है) के त्रैकीर्ति का नामोल्लेख मिलता है[39]।

कगवाड (जिला बेलगाव) के तलघर मे भ० नेमिनाथ की एक विशाल प्रतिमा है जिसके पीठिका–लेख मे धर्मकीर्ति और गाम बम्मरस के नामोल्लेख है, इसमे जो तिथि अकित है, वह १३९४ ई० के समकालीन तिथि है। इस विवरण मे कुछ व्यवधान भी है पर यापनीय सघ और पुन्नागवृक्ष मूल गज के साधुओ मे नेमिचन्द्र (जो तुल्लुवराज्य स्थापनाचार्य भी कहलाते थे) धर्मकीर्ति और नागचन्द्र के नाम भी उल्लेखनीय है[40]।

कुछ बिना तिथियो के भी विवरण उपलब्ध हैं। सिरूर (जमखडि) विवरण से ज्ञात होता है कि पार्श्वनाथ भट्टारक की प्रतिमा कुसुम जिनालय के लिए यापनीय सघ और वृक्षमूल गण के कालिसेट्टि ने भेंट की थी[41]। गरग् (जिला धारवार) विवरण में यापनीय सघ कुमुदि-

32. E.I.XVIII pp. 201F.
33. A.R. of the Mysore Arch. Deptt. 1961, pp. 48 FF.
34. Ed. S. Sattar : J. of the Karnatak University, X, 1965, 159 F F. (Kannada)
३५. कन्नड शोध संस्थान, धारवार १९४२-४८, नं. ४७।
36. A.R.I E. 1960-91, No. 511 also P B. Desai Ibidem p. 404.
37. A.R S.I.E. 1940-41, No. 563-65, p. 245.
38. A.R.S I E 1941-2, No. 3, p. 255.
39. A.R S I.E. 1941-42, No. 6, p. 261.
४०. जिनविजय (कन्नड) बेलगांव जुलाई १९३१।
41. A.R.S.I.E. 1938-39, No. 98, p. 219.

गण के शांतिवीर देव के समाधिमरण का स्पष्ट उल्लेख है, एक और नष्ट हुए इसी तरह के विवरण मे इसी सघ और गण का उल्लेख मिलता है[42]। रयद्रुग (जिला वेल्लरी) विवरण मे निसिदि के निर्माण का उल्लेख है, जिसमे आठ नाम लिखे हैं, उनमे से मूलसघ के चन्द्रभूति तथा यापनीय संघ के चन्द्रेन्द्र, बादय्य और तम्मण्ण के नाम स्वाभिप्रेत है[43]।

कुछ और लेख एव विवरण है जो बहुत विलम्ब से प्रकाश में आये है, उनमे एक है ११२४ ई० का सेडम लेख। जिसमें मडुव गण के प्रभाचन्द्र त्रैविद्य का उल्लेख है। सभवत: यह गण यापनीय सघ से ही सबधित हो[44]। दूसरा है १२१६ ई० का बदलि (जिला बेलगाव) लेख जिसमे यापनीय संघ और कारेय गण का उल्लेख है, इसमें जिन साधुओ के नामोल्लेख है–वे है माधव भट्टारक विनयदेव,`` कीर्ति भट्टारक, कनकप्रभ और श्रीधर त्रैविद्य देव[45]। तीसरा है १२०६ और १२५७ ई० के हन्नकेरि लेख इसमें यापनीय संघ, मइलापान्वय, कारेयगण का सन्दर्भ मिलते है, इसमे जिन गुरुओ के नाम अकित है, वे है कनकप्रभ (जो 'जातरूप धर विख्यातम्' कहलाते थे तथा अपनी निर्ग्रन्थता के लिए अति प्रसिद्ध थे और श्रीधर (कनकप्रभ पंडित)[46]। चौथा है कोल्हापुर के मगलवार पेठ वाले मदिर की पहली मजिल की पीठ वाला कन्नड लेख, जिसमे लिखा है कि वोमियण्ड ने यह पाठशाला बनवाई थी जो यापनीय सघ पुन्नागवृक्ष मूल गण को विजयकीर्ति के शिष्य रवियण्ण का भाई था[47]। पाँचवा जिसकी प्रतिलिपि डा० गुरुराज भट्ट ने मुझे भेजी थी, जो वरंग (द० क०) स्थित प्रतिमा से प्राप्त हुआ है, इसमे काणूर गण का उल्लेख है। श्री भट्ट जी ने इस लेख का गम्भीरता से अध्ययन किया है।

उपर्युक्त यापनीय संघ से संबंधित नाना विवरणों और लेखो का (५वीं सदी से १४वी सदी ई० तक) तिथिक्रम से सर्वेक्षण करने पर सघ के बारे मे बहुत से सुनिश्चित और विस्तृत एव प्रामाणिक तथ्य प्रकाश मे आते है। सर्वप्रथम तो यापनीय जन निर्ग्रन्थों, श्वेतपट और कूर्चको से सर्वथा भिन्न थे। यापनीय संघ का गणो से विशेष सबंध था। जैसे कुमुलिगण या (कुमुदिगण) (कोटि) मडुवगण, कण्डूर या काणूरगण, पुन्नागवृक्ष मूल गण (जो मूल सघ से भी संबधित है) वन्दियूरगण, कारेयगण और नन्दिगच्छ और मइलापान्वय आदि आदि। इस तरह विभिन्नगणो से असंगतता से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सघ क्रमश: गणो के माध्यम से ही विख्यात हो सका। 'गणभेद' ग्रथ के विवरण से ज्ञात होता है कि वे कर्नाटक और उसके चतुवर्ती क्षेत्र मे अत्यधिक उपयोगी और प्रसिद्ध थे। फलत: यापनीय सघ किस तरह क्रमश: लुप्त होता चला गया और दूसरो के साथ मिलने लगा, खास तोर से दक्षिण मे दिगम्बरो के साथ ही। यापनीय सघ के एक साधु को 'जातरूपधर' कहा गया है जो प्राय: दिगम्बर साधुओ द्वारा ही प्रयुक्त होता था। इस सघ के साधुओ ने अपने आचार, दर्शन, विचार आदि का दूसरो के साथ कैसे समन्वय किया; यह अपने आप मे शोध का विषय है। इन्द्रनदि के नीतिमार (७-८) के अनुसार यापनीयो मे सिंह, नदि, सेन और देव सघ आदि नाम से सबसे पहले सघ-व्यवस्था थी फिर बाद मे गण गच्छ आदि की व्यवस्था बनी। लेकिन 'गणभेद' ग्रथ से ज्ञात होता है कि कुछ दिनो बाद गण-विभाजन ने संघो को समाप्त कर उनका स्थान ग्रहण कर लिया। इस गण-पक्षपात का विवरण 'श्रुतावतार' (१०१ लोक) मे स्पष्ट किया गया है जिससे पता चलता है कि किस प्रकार नदि, वीर, देव आदि अत नामो का प्रचलन हुआ[48]।

यापनीय संघ का विवरण जिन स्थानो से मिलता है, उनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस सघ के साधुओ का वर्चस्व एव प्रभुत्व आज के धारवार, बेलगांव, कोल्हापुर और गुलवर्गा आदि जिलो के क्षेत्र मे अत्यधिक विपुलता से था[49]। आन्ध्र और तमिलनाडु मे इस सघ से

42 A.R S I.E 1925-26, No. 5441-42, p. 76.

43. A R.S,I E. 1919 No 109, p. 12.

44. P B Desai : Ibidem p. 403.

45. R.S. Panchamukh · Karnataka Inscription 1, Dharwar 1941, pp. 75-6.

46. K.G. Kundamgar : Inscription from N· Karnatak & Kolhapur State 1931.

४७ जिनविजय (कन्नड) बेलगाव १६३१ (मई-जून)।

48. See Foot Note No 2 on p 11; the Srutavatara is also included in that Volume.

49. See also *P.B.* Desai, Ibidem *pp.* 164F.

संबंधित जो सामग्री प्राप्त है, वह बहुत ही थोडी है। श्रमणवेलगोल मे यापनीय सघ से सबधित कुछ भी सामग्री का न मिलना इस बात का द्योतक है कि इस पीठ का विकास यापनीय साधुओं के अलावा अन्य साधुओ के सहयोग से हुआ। कर्नाटक के उत्तर भाग मे ही यापनीयो का जोर था जो मुख्यतया मदिरो और सस्थाओ से सम्बन्धित रहते थे (और इनमे नेमिनाथ और पार्श्वनाथ की ही प्रतिमाओ के प्रति अधिक आग्रह रहता था)। विशेष महत्व की बात यह दिखाई देती है कि यापनीय साधु मन्दिरो के प्रबन्ध-व्यवस्थापक या सघो के भरण पोषण कर्ता के ही रूप मे विशेषतया दिखाई देते है। जो प्राय: राजाओ या समाज के अन्य विशिष्ट वर्ग के व्यक्तियो से अनुदान मे भूमि, बाग आदि प्राप्त किया करते थे। इनकी कार्य-पद्धतिया अपने क्षेत्र मे थोड़ी बहुत आधुनिक भट्टारको की भाँति प्रचलित थी। जैन नियमो के अनुसार आर्यिका सघ (आर्यिका, कांति क्षान्तिका) की अवस्थिति से तद्भव स्त्री-मुक्ति जैसे सैद्धान्तिक प्रश्नो पर भी कोई प्रभाव न था। जैनियो मे बड़े-बडे दण्डनायको की व्यवस्था होने पर भी अहिसा जैसे प्रमुख सिद्धान्त से कोई बाधा नही पड़ी। आवश्यकता केवल इस बात की थी कि अहिसा और तद्भव स्त्री-मुक्ति की विचारधारा को सही रूप से समझा जावे। उपर्युक्त विवरणो से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यापनीय सघ का जन-सामान्य पर कोई विशेष प्रभाव न था। उसका सम्बन्ध तो कुछ विशिष्ट वशो या व्यक्तियो तक ही सीमित था, जिनकी इस सघ के साधुओ या आचार्यो पर विशिष्ट श्रद्धा-भक्ति थी।

कालान्तर मे सघ, गण, गच्छ, अन्वय आदि शब्दों के अर्थ बदलने लगे थे। सघ और गण प्राय: परस्पर मे ही परिवर्तित होने लगे थे। अब उनका तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धो का विस्तृत अध्ययन एक अभाव की वस्तु हो गया है।

ऊपर देखा ही है कि किस तरह इन्द्रनन्दि ने अपने नीतिसार मे यापनीयो को जैनाभास कहा है और श्रुतसागर ने भी उनके विरुद्ध कई बातें कही है; यहां तक कि यापनीयो द्वारा सस्थापित मूर्तियो की पूजा का भी विरोध किया है, भले ही दिगम्बर प्रतिमाएँ ही क्यों न हो[50]। इन सबके होने पर भी यापनीय साधुओ की उनके उत्कृष्ट ज्ञान और उत्तम चारित्र के कारण विभिन्न लेखों एवं विवरणो मे सम्मान सहित भूरि-भूरि प्रशसा की गई है तथा उन्हे समाज मे उच्च स्थान प्राप्त होने का उल्लेख किया गया है। दक्षिण भारत मे तो यापनीय साधुओ द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमाओ की दिगम्बर लोग बडे भक्ति-भाव से पूजा अर्चना करते है, इसी से विदित होता है कि यापनीय और दिगम्बर आपस मे किस तरह अधिकता से घुलमिल गए थे। अन्त मे एक दृष्टान्त भी है कि यापनीय साधु को ज्ञानरूपधर कहा गया है जो कि दिगम्बरत्व का भी प्रतीक है।

यापनीयो का एक सघ था और इसके गुरुजन (साधुगण) मन्दिरो के अध्यक्ष हुआ करते थे, जिनके निर्माण एव भरण-पोषण के लिए अनुदान रूप मे भूमि या धन प्राप्त होता था। अत: यह स्वाभाविक ही है कि ये परिस्थितिया यापनीय साधुओ की साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास मे पूर्णतया सहायक सिद्ध हुई। हरिभद्र (८वी सदी ई०) ने यापनीयतन्त्र मे लिखा है[51] :—"स्त्रीग्रहण तासामपि तद्भव इव ससारक्षयो भवति इति ज्ञापनार्थ वच. यथोक्तम् यापनीयतंत्रे—णो खलु इत्था अजीवो ण यावि अभव्वो ण यावि दसण विरोहिणी, णो अमाणुसा णो अणारि उप्पत्ति णो असखेज्जाउया, णो अइ (ए) कूरमई णोण उवसत मोहा, णो ण सुद्धाचारा, णो असुद्धवोंदी णो ववसाय वज्जिया, णो अपुव्वकरण विरोहिणी, णो णव गुणठाण रहिया, णो अजोगलद्धीए, णो अकल्लाण भायणति, कहण उभए धम्म साहिगन्ति।"

श्रुतसागर ने लिखा है कि 'कल्पसूत्र' की जानकारी के लिए उन्होंने कल्प का अध्ययन किया था।[52]

पाल्यकीर्ति नाम से प्रसिद्ध, विख्यात् वैयाकरण शाकटायन यापनीय थे, ऐसा मलयगिरि ने कहा है और उनके सस्कृत व्याकरण[53] से निर्युक्ति भाष्य आदि मे लिए गए

५०. षट्प्राभृतादि संग्रह की सस्कृत टीका, बम्बई १९२०, पृ. ७९।

51. See my earlier paper noted above; also Hemachandra's Yogasastra, B.I. ed. p. 5 2.

52. My earlier paper noted in F.N I. on p. 9.

५३. शाकटायन व्याकरण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन १९७१ प्रस्तावना और सपादकीय।

उद्धरणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि अर्ध मागधी भाषा के कुछ पाठ उन्हे स्वीकार्य थे। उन्होने बहुत से ग्रन्थकारो का उल्लेख किया है, जिनमें से कुछ यापनीय सघ के साधु भी थे। जैसा कि कुछ टीकाकारो ने लिखा है कि अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि स्वयंभू आपुलीय या यापनीय संघ के थे[५४] कुछ विद्वानो का कथन है कि पउमचरिउ के कर्ता श्री विमलसूरि भी यापनीय संघ के थे, पर इस सम्बन्ध मे पउमचरिउ के गम्भीर अध्ययन पूर्वक गहन शोध की आवश्यकता है।

विख्यात वैयाकरण शाकटायन ने आत्म-प्रशस्ति मे निम्न प्रकार लिखा है[५५] :—"इति श्री श्रुतकेवलि देशीयाचार्यस्य शाकटायनस्य कृतौ शब्दानुशासने" इत्यादि। सम्भवत. यही तरीका है जिससे यापनीय साधु (गुरु) स्वय को दूसरो से पृथक् समझा करते थे। तत्वार्थ सूत्र के कर्ता उमास्वाति ने भी ऐसा ही वर्णन किया है :—

तत्वार्थ-सूत्र-कर्तारम् उमास्वाति मुनीश्वरम्।
श्रुत केवलि देशीयम् वन्देऽहम् गुणमन्दिरम्॥

सूत्रो और भाष्य का अर्धमागधी भाषा से स्पष्ट मतभेद है और पूज्यपाद स्वामी अनेको स्थलो पर सूत्रो के पाठ से सर्वथा असहमत है।[५६] स्व० प० नाथूराम प्रेमी ने उमास्वाति के यापनीय होने के पक्ष मे प्रबल तर्क प्रस्तुत किये है। उनका मत है कि शिवार्य और अपराजित सूरि भी यापनीय संघ के ही थे। प्राचीन प्राकृत के श्रेष्ठ ग्रन्थ 'आराधना' की रचना शिवार्य ने की थी तथा अपराजित सूरि ने इसकी टीका सस्कृत मे की थी। इनके ग्रंथो मे कुछ प्रसग ऐसे है जो श्वेताम्बर या दिगम्बरी दृष्टिकोणो से बिल्कुल भी मेल नही खाते।[५७] सिद्धसेन दिवाकर तो हर सम्भव दृष्टि से यापनीय थे ही,[५८] इसी लिए हरिभद्र ने इन्हे श्रुत केवली कहा है, सिद्धसेन का दिगम्बरी व श्वेताम्बरी प्रसिद्ध सिद्धान्तो से स्पष्ट मतभेद था, पर कालगति के साथ-साथ यापनीयो द्वारा सस्थापित मंदिर तथा उनमे प्रतिष्ठित मूर्तियाँ आज दिगम्बरी कहलाती है तथा दिगम्बरों द्वारा पूजी जाती है। अत: यह स्वाभाविक ही है कि विख्यात यापनीयों द्वारा निर्मित साहित्य मुख्यतया दक्षिण भारत में ही उपलब्ध है। इसीलिए विमलसूरि के पउम चरिय, रविषेण के पद्मचरित, जटिल (जो सिद्धसेन और उमास्वाति के अत्यधिक ऋणी थे) के वराङ्ग-चरित तथा स्वयंभू के पउम चरिउ आदि ग्रन्थो के गम्भीर अध्ययन एवं गहन शोध खोज की आवश्यकता है।

यहाँ मै एक और आवश्यक एव ठोस बात कह दूँ कि 'गणभेद' ग्रथ के अनुसार आधुनिक कोप्वल (कोप्पक्ष) यापनीयो का मुख्यपीठ था और वहां पल्लिक्कि गुन्डु मे जटिल या जटाचार्य के चरणचिह्न प्राप्त हुए है।[५९] १३वी सदी ई० के प्रारम्भ मे कन्नड़ के प्रसिद्ध कवि जन्न ने जटासिह नदि को काणूर गण का माना है (देखो अनन्तनाथ पुराण I. १७)[६०] जो यापनीय संघ का ही अग था। जब मैंने 'वराग चरित' का सम्पादन किया था तो सबसे पहले यही विवाद उठा था कि इसका कर्ता दिगम्बर था या श्वेताम्बर?[६१]

उपर्युक्त विस्तृत विवरणो से यह स्पष्ट है कि दक्षिण भारत के शिलालेखों व विवरणो में यापनीयो का प्रसंग बहुलता से विद्यमान है, पर हमें यह भी देखना है कि कन्नड और उसके समकक्ष साहित्य मे भी यापनीय संघ के कुछ संदर्भ मिलते है कि नही? हरिषेण की[६२] (१३१-३२ ई०) वृहत्कथा (नं० १३१) मे तथा कन्नड़ के 'वड्डाराध[६३] ने'

---

५४. श्री नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास II आवृत्ति पृ १९९।

५५. शाकटायन व्याकरण कोल्हापुर, १९०७।

56. E.C.VIII, Nagar No. 46, though late in age: it is a valuable record of traditional information

५७ श्री नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, पृ. ५६, FF521F द्वि. आवृत्ति।

५८. 'सिद्ध सेन दिवाकर का न्यायावतार और अन्य कार्य' मे मेरी प्रस्तावना देखो : जैन साहित्य विकास मडल, बम्बई १९७१।

५९. देखो 'वरांगचरित' की मेरी प्रस्तावना, बम्बई १९३८।

60. Annals of the B.O.R.I.XIV. 1-11 Poona 1933, 3rd Ed. Mysore 1972.

६१ सिंघी जैन सीरीज १७, बम्बई १९७०।

62. D. L. Narsimhachar, 4th Ed. p. 93. Mysore 1970.

६३. कन्नड निघण्टु बगलोर ने इस ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया। श्री हम्पा नागराज ने बताया कि कन्नड साहित्य मे जावलिगेय का कहीं उल्लेख नही मिलता।

में थोडा बहुत जापुलि संघ का उल्लेख मिलता है। यद्यपि प्रसग बडे भ्रामक है, फिर भी दोनो ही ग्रथो मे अर्धफालक, काम्बलिक, श्वेतभिक्षु और यापनीय का उल्लेख है। १२वी सदी ई० के कवि जन्न के कन्नड़ अनन्तनाथ पुराण मे काणूर गण (२.२५) के रामचन्द्र देव का उल्लेख है और वह मुनिचन्द्र त्रैविद्य को जावलिगेय विशेषण से अलंकृत करता है, पर उसकी सही और स्पष्ट व्याख्या नही कर पाता है। सम्भवत यह वही मुनिचन्द्र है जिनका उल्लेख पार्श्व पं० (१२२२ ई०) ने अपने कन्नड पार्श्वनाथ पुराण (१३३) मे किया है।[६४] मेरे विचार से जाबलिगेय विशेषण उनके सघ यापनीय के लिए ही जोड़ा गया है। सबसे अधिक रोचक तो यह है कि कवि जन्न ने जटासिह नन्दि को और इन्द्रनन्दि को काणूरगण का बताया है जो कि यापनीय सघ से घनिष्ठता मे सम्बन्धित था। कवि जन्न द्वारा की गई विभिन्न आचार्यो की स्तुति से स्पष्ट ज्ञात होता है कि गणगच्छ आदि की पृथकतावादी प्रवृत्ति को इन कवियो ने नही माना था।

ऐतिहासिक लेखो, विवरणो एव साहित्यिक उल्लेखो यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि यापनीय दिगम्बरो के साथ साथ रहा करते थे। यापनीयो के कुछ मन्दिर और मूर्तियाँ आज भी दक्षिण भारत मे दिगम्बरो द्वारा पूजे जाते है। गुणरत्न (१३८८-१४१८ ई०) को यापनीयो के बारे मे विशेष जानकारी नही है और श्रुतसागर को (१६वी सदी विक्रमी) तो यापनीयो से तनिक भी सहानुभूति नही है और तथ्य यह है कि आज भी बहुत बड़े रूढिवादी विद्वान् यह नही जानते कि जो कुछ थोड़ी-बहुत मूर्तिया दिगम्बर मन्दिरो मे है, वे सब यापनीयो से ही सम्बन्धित हैं। फिर भी यापनीयो द्वारा प्रतिष्ठित एव पूज्य प्राचीन मूर्तियों पर आपत्ति करते हैं। यापनीय आचार्यों द्वारा प्रयुक्त सिद्धान्तिक, त्रैविद्य आदि उपाधियों से विदित होता है कि वे षट्खण्डागम आदि के विशिष्ट अध्येता थे। इस विषय में अभी और अधिक शोध की आवश्यकता है।

हरिभद्र के षड्दर्शन समुच्चय (चौथे अध्याय के प्रारभ से) की टीका करते हुए गुणरत्न ने लिखा है[६५] :—दिगम्बरा पुन नाग्न्यलिङ्गा: पाणिपात्राश्च. ते चतुर्धा—काष्ठा-सघ, मूलसघ, माथुरसघ, गोप्यसघ भेदात्। काष्ठासघे चमरी बालैश्च पिच्छिका, मूलसंघे मयूरपिच्छै: पिच्छिका, माथुरसघे मूलतोऽपि पिच्छिका नाहता, गोप्या मयूर पिच्छिका आद्यस्त्रयोऽपि संघा वन्द्यमाना धर्मवृद्धि भणन्ति, स्त्रीणां मुक्तिम् केवलिना मुक्तिम् सद्व्रतस्यापि सचीवरस्य मुक्ति न मन्यन्ते, गोप्यस्तु वन्द्यमान धर्मलाभं भणन्ति स्त्रीणा मुक्ति केवलिना च भुक्ति च मन्यन्ते। गोप्य यापनीय. इत्युच्यन्ते।"

इस तरह यापनीय का एक दूसरा नाम गोप्य भी था, जिसे दिगम्बरो के अन्तर्गत रखा है; यद्यपि उन्हे स्त्री-मुक्ति और केवलि भुक्ति स्वीकार्य थी, जब कि दिगम्बर इन्हे नही मानते। यापनीयों को स्त्री-मुक्ति और केवलि-भुक्ति जैसे सिद्धान्त मान्य थे, यह शाकटायन के संस्कृत व्याकरण से भी सिद्ध होता है, जिसमे उपर्युक्त शीर्षको मे दो अध्याय भी रचे गये थे जो प्रकाशित भी है।[६५] यह अत्यधिक रुचिकर है कि शाकटायन व्याकरण दक्षिण भारत के दिगम्बरो मे अत्यधिक प्रसिद्ध और प्रचलित है। पर ये दोनो सिद्धान्त (स्त्रीमुक्ति केवलि भुक्ति) श्वेताम्बरो मे ही प्रचलित एव मान्य हैं।

अन्त मे श्रुतसागर (१५वी सदी विक्रमी) यापनीयों को नही मानते। वे इन्द्रनन्दि के छन्द को उद्धृत करते हुए यापनीयो को केवल जैनाभास ही कहते है, और गोपुच्छिक श्वेतवास, द्रविड और यापनीय के विषय मे लिखते है :—"द्रविडा. सावद्य प्रासुक च न मन्यन्ते, उद्भोजन निराकुर्वन्ति यापनीयास्तु वेसरा इवोभय मन्यन्ते, रत्नत्रय पूजयन्ति, कल्प च वाचयन्ति, स्त्रीणा तद्भवे मोक्ष, केवलि जिनाना कवलाहार पर शासने सग्रन्थाना मोक्ष च कथयन्ति।" □□

अध्यक्ष— प्राकृत एवं जैन-विद्या-विभाग,
मैसूर विश्वविद्यालय, मानस-गगोत्री
मैसूर—६ (कर्णाटक)

६४. भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी १९७०, पृ. १६०-६१।

६५. See the Appendix to the Intro. by Dr. Birwe to the शाकटायन व्याकरण noted above. Muni Sri Jambhu Vijayaji is bringing out a new ed. along with the स्वोपज्ञ टीका।

६६ उपर्युक्त षट् प्राभृतादि सग्रह पृ. ११।

पुस्तक-समीक्षा

तीर्थंकर वर्धमान—लेखक—मुनि श्री विद्यानन्दजी। प्रकाशक—श्री वीर-निर्वाण-ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति, इन्दौर पृष्ठ सं०—१००। मूल्य—तीन रुपये।

मुनि श्री विद्यानन्द-कृत इस शोधपूर्ण ग्रन्थ मे 'इक्ष्वाकु वंश केशरी,' 'लिच्छवि-जाति-प्रदीप,' 'नाथ-कुल-मुकुट-मणि' प्रातः स्मरणीय तीर्थंकर महावीर का ऐतिहासिक तथा ज्योतिष-शास्त्रीय जीवन-परिचय है। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक काल-गणना तथा वैशाली-वैभव का युक्तियुक्त विवेचन इसकी मुख्य विशेषता है। पूज्य मुनिश्री ने इसमे महावीर की जन्म-कुण्डली, वैशाली की सरचना तथा महावीर-कालीन भारत की भौगोलिक स्थिति का मानचित्र देकर इसे शोधपूर्ण तथा उपयोगी बनाया है। आरम्भ मे जीवन्त स्वामी (दीक्षा से पूर्व भगवान महावीर की गुप्तकालीन मूर्ति) का चित्र पुस्तक की सुन्दरता मे वृद्धि करता है।

पं० बाबूलाल शास्त्री द्वारा लिखित विद्वत्तापूर्ण भूमिका में प्रस्तुत कृति के सन्दर्भ मे वैदिक तथा श्रमण-संस्कृति का समन्वयात्मक चित्रण किया गया है। पुस्तक मे तथ्यात्मक सामग्री पर्याप्त है। अत शोधार्थी छात्रों तथा साधारण जिज्ञासुओ दोनों के लिए इसकी उपयोगिता स्वय-सिद्ध है। छपाई-सफाई, कागज तथा साज-सज्जा की दृष्टि से पुस्तक सुरुचिपूर्ण है।

वैशाली के राजकुमार—वर्धमान महावीर—लेखक—डा० नेमिचन्द्र जैन। प्रकाशक—उपर्युक्त। पृष्ठ स०—२४८. मूल्य—दो रुपये।

प्रसिद्ध भाषाविद् एव चिन्तक डा० नेमिचन्द्र द्वारा रचित इस पुस्तक मे सरल तथा प्रवाहपूर्ण भाषा मे भगवान् महावीर के प्रेरक जीवन का हृदयग्राही चित्रण किया गया है।

पुस्तक चार खण्डो मे विभाजित है—पूर्वाभास, जीवन, प्रसग तथा देशना। चारो खण्डो मे प्रस्तुत सामग्री आत्म-बोध की ओर पाठक को प्रेरित करती है। छोटे-छोटे आकर्षक उपशीर्षको द्वारा ग्रन्थ की रोचकता में वृद्धि हुई है। इतिहास एव उपन्यास का सरस समन्वय इसकी मुख्य विशेषता है, जिससे पाठक इसे एक बार पढना आरम्भ करके पूरा पढे बिना नहीं छोड़ता।

इस उपयोगी प्रकाशन के लिए लेखक तथा पाठक बधाई के पात्र है। छपाई, साज-सज्जा आदि की दृष्टि मे पुस्तक सुरुचिपूर्ण है।

भगवान् महावीर-आधुनिक सन्दर्भ में—सम्पादक—डा० नरेन्द्र भानावत। प्रकाशक—अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ, समता-भवन, रामपुरिया सडक, बीकानेर। पृष्ठ स०—३५० (सजिल्द) मूल्य—चालीस रुपये।

उपर्युक्त ग्रन्थ मे ५० विद्वान् लेखको के विद्वत्तापूर्ण लेख सकलित है। इनमे ढाई हजार वर्षो के पश्चात्, वर्तमान युग की ज्वलन्त समस्याओ के परिप्रेक्ष्य मे भगवान् महावीर के व्यक्तित्व एव सिद्धान्तो का युक्ति-युक्त विवेचन किया गया है।

जीवन, व्यक्तित्व एव विचार के साथ-साथ राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक तथा सास्कृतिक सन्दर्भो मे, प्रस्तुत ग्रथ को आठ खण्डो मे विभाजित किया गया है। नवम खण्ड 'परिचर्चा' मे 'महावीर और आधुनिक सन्दर्भ' की दृष्टि से प्रस्तुत चार-पांच प्रश्नो पर दस-ग्यारह विद्वानो के विचार सकलित है।

अधिकाश लेखों का प्रतिपाद्य निष्कर्ष है—वर्तमान बहु-आयामी युग मे मनुष्य ने अनेक वैज्ञानिक एवं भौतिक सुविधाये उपलब्ध की है और वह निरन्तर प्रकृति पर विजय प्राप्त करता जा रहा है। विज्ञान मनुष्य को विद्याधर या इजीनियर बना सकता है, परमात्मा नहीं। जीवन के मूल तत्त्वों या आध्यात्मिक चेतना की दृष्टि से महावीर या अन्य वीतराग मनीषियो ने जो दर्शन दिया, वह अतुलनीय है। क्षण-स्थायी सन्दर्भो मे से उसकी तुलना इष्ट नही है।

इस सकलन मे विभिन्न लेखको की विचार-धारायें तथा शैलियां दृष्टिगोचर होती है। कई स्थानो पर पाठक विचारो की पुनरुक्ति, वैचारिक द्वन्द्व या अन्तर्विरोध मे उलझ जाता है।

मुद्रण तथा साज-सज्जा की दृष्टि से ग्रन्थ सुन्दर है। मूल्य कुछ अधिक प्रतीत होता है।

महाकवि दौलतराम कासलीवाल; व्यक्तित्व एवं कृतित्व—लेखक—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल। प्रकाशक—श्री सोहनलाल सोगाणी, मत्री—प्र० का०, दि० जैन अ० क्षेत्र श्री महावीर जी, महावीर–भवन, जयपुर। पृष्ठ स०—११०+३१० मूल्य—१० रुपये।

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल (अध्यक्ष, साहित्य-शोध विभाग, श्री दि० जैन अ० क्षेत्र श्री महावीर जी, जयपुर) की यह अमूल्य कृति 'महावीर-ग्रंथमाला' के १७वें पुष्प के रूप मे प्रकाशित हुई है। कौन-सा जैन-धर्म-जिज्ञासु प० दौलतराम जी के नाम से अपरिचित होगा? बसवा-निवासी तथा जयपुर-राज्य की सेवा मे रत, १८वी शती ई० के उत्तरार्ध मे उत्पन्न, प० दौलतराम कासलीवाल जैन सस्कृति-पुराणों के प्रथम भाषा-गद्य-वचनिकाकार हुए है। प्राजल एवं प्रवाहपूर्ण गद्य के रचयिता प० दौलतराम जी के मुख्य ग्रथ है—जीवधर-स्वामि-चरित, विवेक-विलास, अध्यात्म-बारहखडी, श्रीपाल-चरित, पद्मपुराण (भाषा), हरिवशपुराण (भाषा), परमात्म प्रकाश (भाषा टीका) एवं आदि पुराण। आधुनिक हिन्दी-गद्य के प्रारम्भिक विकास मे पण्डित जी का योगदान महत्वपूर्ण रहा है।

ऐसे महान् साहित्यकार के विषय मे शोधपूर्ण कृति देकर डा० कासलीवाल जी ने एक महान् अभाव की पूर्ति की है। राजस्थानी सन्तों, कवियो एवं ग्रथकारो के महान् अध्येता तथा अनेक शोधपूर्ण ग्रंथो के प्रणेता डा० कासलीवाल जी का यह प्रयास अत्यन्त सराहनीय है।

१०३ पृष्ठो की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना मे विद्वान् लेखक ने महाकवि दौलतराम जी के व्यक्तित्व एव कृतित्व की शोधपूर्ण विवेचना की है। इसके अतिरिक्त दो कृतियो का पूर्ण पाठ तथा छ ग्रथो आशिक पाठ देकर ग्रथ को अधिक उपयोगी बनाया गया है। पुस्तक संग्रहणीय है।

शाकम्भरी प्रदेश के सांस्कृतिक विकास में जैन धर्म का योगदान—लेखक—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल। प्रकाशक—श्रीलाल पारमार्थिक ट्रस्ट फड, रेनवाल (किशनगढ), राजस्थान।

साभर (शाकम्भरी) प्रदेश जैन धर्म, साहित्य एवं पुरातत्त्व की दृष्टि से गरिमापूर्ण रहा है। प्रस्तुत पुस्तक मे इसी प्रदेश के सास्कृतिक गौरव का प्रतिपादन किया गया है। इसके प्रथम अध्याय मे प्रदेश के प्रमुख सास्कृतिक नगरो का, द्वितीय अध्याय मे भट्टारक-परम्परा, शास्त्र भण्डारो, जैन सन्तो तथा उनके काव्य का, तृतीय अध्याय मे प्रसिद्ध जैन मन्दिरो का तथा चतुर्थ अध्याय मे प्रदेश की वर्तमान स्थिति का शोधपूर्ण अनुशीलन किया गया है।

अजमेर से रणथम्भौर के किले तक विस्तृत इस प्रदेश का ऐतिहासिक महत्त्व शोध का विषय है। विद्वान् सम्पादक ने शोधपूर्ण प्रस्तावना लिख कर पुस्तक को अधिक प्रामाणिक बनाया है। विद्वद्वद प० टोडरमल जी से सम्बद्ध इस प्रदेश का खोजपूर्ण चित्रण करके लेखक ने एक बडे अभाव की पूर्ति की है। पुस्तक पठनीय है।

पंप-युग के जैन कवि—लेखक—पं० के० भुजबली-शास्त्री, मूडबिद्री। सम्पादक एव प्रकाशक—प० वर्धमान, पार्श्वनाथ शास्त्री, मन्त्री—आचार्य कुथुसागर-ग्रथमाला, कल्याण-भवन, सोलापुर—२। पृष्ठ स० १६०।

समीक्ष्य पुस्तक मे महाकवि पम्प तथा उनके युग के अनेक कवियो (पोन्न, रन्न, चामुण्डराय, श्रीधराचार्य, दिवाकरनन्दी, शान्तिनाथ, नागचन्द्र, कन्ति, नयसेन आदि) के जीवन एवं कृतित्व का परिचय दिया गया है। कन्नड एवं संस्कृत साहित्य मे महाकवि पम्प का नाम इतना अधिक महत्वपूर्ण है कि वह युग-प्रवर्तक कवि माने जाने लगे। 'आदिपुराण' तथा 'विक्रमार्जुन—विजय' नामक दो ग्रन्थ संस्कृत-साहित्य की अमूल्य निधि है। विद्वान् लेखक ने पम्प तथा अन्य कवियों का मूल्याकन करके एक प्रशंसनीय प्रयास किया है। पुस्तक पाठको के लिए उपयोगी तथा ज्ञानवर्धक है।

हिन्दी की आदि और मध्यकालीन फागु-कृतियां—लेखक—डा० गोविन्द रजनीश। प्रकाशक—मंगल-प्रका-

शन, गोविन्द राजियो का रास्ता, जयपुर—१। पृष्ठ सं० २७५। मूल्य—२८ रुपये।

डा० गोविन्द रजनीश के इस शोध-प्रबन्ध में हिन्दी की आदि और मध्यकालीन फागु-कृतियो का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया। भूमिका-भाग मे फागु-काव्य के परिवेश, परम्परा एव प्रवृत्तियों का विश्लेषण करके हिन्दी की आदिकालीन फागु-कृतियो का काव्य-शास्त्रीय एवं छन्दःशास्त्रीय मूल्याकन किया गया है। मूल भाग मे विभिन्न फागु-कृतियों का परिचय देकर उनका अविकल पाठ दिया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ से पाठकों को फागु-कृतियों का विशिष्ट परिचय प्राप्त होता है। फागु-कृतियों में आध्यात्मिक तत्त्व के अतिरिक्त काव्यगत मनोरजन भी प्राप्त होता है। एक ग्रथ में इतनी फागु कृतियो का समावेश जिज्ञासु पाठको के लिए हितकर है।

छपाई एवं साज-सज्जा की दृष्टि मे भी पुस्तक सुन्दर बन पड़ी है।

तीर्थंकर वर्धमान महावीर—लेखक प० पद्म चन्द्र शास्त्री, प्रकाशक—श्री वीर निर्वाण-ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति, इन्दौर पृष्ठ—११५, मूल्य—आठ रुपए।

परम पूज्य उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्द जी की प्रेरणा से लिखित, उपर्युक्त ग्रन्थ मे भगवान् महावीर के जीवन सम्बन्धी तथ्यों को सप्रमाण प्रस्तुत किया गया है। आरम्भ मे लेखक ने विविध उद्धरणो द्वारा जैन धर्म की प्राचीनता प्रतिपादित की है। विभिन्न ग्रन्थो से उद्धरण देकर लेखक ने महावीर-जीवन-चरित को प्रामाणिक बनाने का प्रयास किया है। यद्यपि लेखक की दृष्टि एव शैली पौराणिक रही है, तथापि शोधार्थी पाठको के लिए भी इसमे यत्र-तत्र शोध-कण बिखरे हुए है। 'मनसुख-सागर' नामक काव्य-ग्रन्थ से उद्धरण देकर पुस्तक को रोचक बनाया गया है। ६२ श्लोकों से युक्त 'देशना-रेखा' मे भगवान् महावीर के सिद्धान्तो का सार देकर लेखक ने इसे अधिक उपयोगी बनाया है।

भगवान् महावीर के भव्य चित्र से सुसज्जित यह पुस्तक पाठकों मे धर्म-प्रभावना करेगी, ऐसी आशा है।

जैन धर्म का मौलिक इतिहास (द्वितीय भाग)—लेखक—आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज। प्रकाशक—जैन इतिहास-समिति, जयपुर। पृष्ठ सं०—८६३, मूल्य ४० रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड मे केवली एवं पूर्वधर मुनियों—इन्द्रभूति गौतम, आर्य सुधर्मा, आर्य जम्बू, आचार्य प्रभव स्वामी, आचार्य श्री भद्रबाहु, आर्य स्थूल-भद्र, आर्य सुहस्ती, वाचनाचार्य, देवर्द्धि क्षमाश्रमण आदि—के जीवन एव कृतित्व का विवेचन किया गया है। पुस्तक पर्याप्त श्रम से तैयार की गई है। इसमे यथासम्भव श्वेताम्बर एवं दिगम्बर आम्नायों के साधन-स्रोतो का उपयोग करके इसे शोध-दृष्टि से परिपूर्ण बनाया गया है।

लेखक की शैली रोचक एवं खोजपूर्ण है। द्वादशांग का परिचय जैन साहित्य के जिज्ञासु पाठको के लिए उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसी आशा है। मुद्रण तथा साज-सज्जा की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ सुन्दर है। प्रस्तुत ग्रन्थ सग्रहणीय है।

फडामेण्टल्स आफ जैनिज्म (अग्रेजी)—लेखक—बैरिस्टर श्री चम्पतराय जैन, प्रकाशक—वीर-निर्वाण-भारती, ६६, तारगर न स्ट्रीट, मेरठ (उ. प्र.)। पृष्ठ सख्या १२१, मूल्य आठ रुपए।

विदेशो मे जैन-धर्म-प्रचार के क्षेत्र मे बैरिस्टर श्री चम्पतराय जैन का योग-दान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। उनकी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'द प्रैक्टिकल पाथ' का सशोधित सस्करण प्रकाशित करके वीर-निर्वाण-भारती ने स्तुत्य प्रयास किया है। आलोच्य पुस्तक मे लेखक ने दर्शनशास्त्र की एक मुख्य विधि अनेकान्तवाद का विश्लेषण करके सप्त तत्त्वो, कर्म-स्वभाव आदि का युक्तियुक्त विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त साधना की अवस्थाओं—गुण-स्थानो की विशद व्याख्या की गई है और धर्म का व्यावहारिक रूप प्रतिपादित किया गया है। अन्त मे जैनधर्म को तुलनात्मक प्राचीनता सिद्ध करके लेखक ने इसे अधिक प्रामाणिक बनाया है।

धर्म-जिज्ञासु पाठकों के लिए यह पुस्तक अवश्यमेव पठनीय है।

चितेरों के महावीर—लेखक—डा० प्रेम सुमन जैन, प्रकाशक—अमर जैन साहित्य-सस्थान, उदयपुर। पृष्ठ स० १७८, मूल्य—छह रुपए।

समीक्ष्य कृति मे श्रमण-परम्परा, महावीर-जीवन-चरित तथा उनके उपदेशो को सरस और सुबोध शैली मे प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास-विधा मे प्रस्तुत यह पुस्तक पाठको के लिए रोचक तथा ज्ञानवर्धक होगी ऐसी आशा है।

मुद्रण तथा साज-सज्जा की दृष्टि से पुस्तक सुन्दर है।

पं० उदय जैन अभिनन्दन ग्रन्थ—प्रधान सम्पादक—डा. नरेन्द्र भानावत। प्रकाशक—प० उदय जैन अभिनन्दन-समारोह--समिति, कानोड़ (राजस्थान)—मूल्य—रु.२०/.

जवाहर--विद्यापीठ, कनोड के सस्थापक--संचालक प० श्री उदय जैन की षष्टि—पूर्ति के अवसर पर प्रकाशित इस अभिनन्दन-ग्रन्थ मे पण्डित जी के जीवन, व्यक्तित्व, विचार एव कर्तृत्व पर अनेक लेखको के लेखो के अतिरिक्त शिक्षा तथा समाज-सेवा से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सामग्री भी सकलित की गई है।

यह ग्रन्थ जीवन एवं कर्तृत्व, शिक्षा, समाज-सेवा तथा राजस्थान की प्रमुख जैन शिक्षण-सस्थाये--शीर्षक चार खण्डो मे विभाजित है। शिक्षा – खण्ड मे 'शिक्षा के उद्देश्य और शिक्षित की पहचान' (डा. रामनारायण मेहरोत्रा), विद्यालयीय शिक्षा—प्रयोजन और प्रक्रिया (प्रो. कमल कुमार जैन), आचार्य (श्री रमेश मुनि शास्त्री) आदि अनेक लेख विशेषत. पठनीय है। राजस्थान की प्रमुख आवासीय शिक्षण-सस्थाओं का परिचय ज्ञानवर्धक है।

प्रयास प्रशसनीय है और छपाई उत्तम है। मूल्य कुछ अधिक लगता है।

पत्र-पत्रिकाएं

१. महावीर-जयन्ती-स्मारिका, १९७५—सम्पादक—प० भंवरलाल पोल्याका। प्रकाशक—श्री रतनलाल छाबड़ा, मन्त्री—राजस्थान जैन सभा, जयपुर-३, मूल्य—चार रुपए।

स्व० पं० चैनसुखदास जी की प्रेरणा से आरम्भ की गई वार्षिक 'महावीर-जयन्ती-स्मारिका' के प्रस्तुत अंक मेश्रेष्ठविद्वानों द्वारा लिखित लेख संकलित हैं। १. भगवान् महावीर, २. भगवान् महावीर-चिन्तन और पथ, ३. अतीत के पृष्ठ, ४. विवेक के दर्पण मे।

पत्रिका का स्तर पूर्ववत् श्रेष्ठ है। अनेक लेख शोध-दृष्टि से परिपूर्ण है। कवितायें तथा एकाकी अध्यात्म-भाव से युक्त है। मुद्रण एव साज-सज्जा की दृष्टि से स्मारिका सुन्दर बन पडी है।

२ श्री महावीर-स्मारिका—प्रधान सम्पादक—श्री अक्षय कुमार जैन, प्रकाशक—जैन मित्र मण्डल, धर्मपुरा, दिल्ली। मूल्य—पांच रुपए।

जैन मित्र मडल की हीरक-जयन्ती पर प्रकाशित इस स्मारिका मे अनेक विद्वानो एव कवियो के लेख एवं कवितायें संकलित है। इसके पांच खण्ड है—१. प्रारम्भिका, २. महावीर—जीवन एव सिद्धान्त, ३. विचार-वीथि, ४. जैन मित्र मंडल, ५. काव्य-पुष्पाजलि। जैनाचार्यों, मुनियो, नेताओ तथा समाज-सेवियो के सन्देश, विद्वानो के शोधपूर्ण लेखो, जैन मित्र मडल के सचित्र परिचय तथा कवियो की हृदयहारिणी कविताओ द्वारा स्मारिका को सर्वांगसुन्दर बनाने का प्रयास किया गया है।

मुद्रण तथा साज-सज्जा की दृष्टि से स्मारिका सुन्दर है।

जैन भारती—महावीर-निर्वाण-विशेषांक
सम्पादक—श्री. बच्छराज सेती
प्रकाशक—श्री. जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा,
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता
पृष्ठ स० १७६+२२. मूल्य—पाच रुपए

समीक्ष्य विशेषांक मे भगवान् महावीर से सम्बद्ध अनेक लेखों तथा कविताओ का सकलन है। अनेक विद्वान् सन्तो, लेखको एव कवियों ने विद्वत्तापर्ण लेखो मे श्रमण-परम्परा तथा भगवान् महावीर के जीवन एवं शिक्षाओ का विवेचन किया है।

मुद्रण एवं साज-सज्जा की दृष्टि से अक सुन्दर है। सामग्री पठनीय तथा संग्रहणीय है।

श्री अमर भारती—महावीर-निर्वाण-विशेषांक
मुख्य सम्पादक—मुनिश्री०नेमिचन्द्र जी
प्रकाशक—सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा-२
पृष्ठ स०—२७७ मूल्य-पाच रुपए।

'अमर भारती' के प्रस्तुत विशेषाक मे भगवान् महावीर के जीवन, सिद्धान्त तथा उपदेशों से सम्बद्ध, अनेक विद्वानो के लेख, कवितायें, कहानियां तथा एकांकी सकलित है। इसे चार खंडो मे विभाजित किया गया है–१. जीवन-रेखा, २. सिद्धान्त, ३. उपदेश तथा ४. वीरायतन । 'वीरायतन' खण्ड मे सन्मति ज्ञानपीठ द्वारा संचालित सस्था वीरायतन के उद्देश्यों एव गतिविधियो की चर्चा है।

मुद्रण तथा साज-सज्जा की दृष्टि से विशेषाक सुन्दर है। सामग्री पर्याप्त परिश्रम से तैयार की गई है। विशेषाक पठनीय तथा सग्रहणीय है।

जैन जगत—भगवान् महावीर-वन्दना-विशेषाक (दिसम्बर-जनवरी-७५)

सम्पादक—श्री ऋषभदास राका

प्रकाशक—भारत जैन महामण्डल, १५-ए, हार्निमन सर्कल, फोर्ट, बम्बई ४००००१

पृष्ठ सं०—१८२ मूल्य—दो रुपए।

प्रस्तुत विशेषाक में २५०० वें महावीर-निर्वाण-महोत्सव कार्यक्रम के शुभावसर पर प्राप्त. आचार्यों एवं मुनियो के आशीर्वचन के अतिरिक्त विभिन्न प्रदेशो मे गठित निर्वाणोत्सव-समितियों के कार्य-कलाप का विवरण दिया गया है। अप्रैल, ७५ के अक मे भगवान् महावीर के जीवन एवं शिक्षाओ के सम्बद्ध विविध लेखो का संकलन है। दोनों अक पठनीय है।

श्रमणोपासक–महावीर-जयन्ती-विशेषांक (अप्रैल-७५)

सम्पादक–सर्वश्री जुगराज सेठिया, डा. मनोहर शर्मा एवं डा. शान्ता भानावत।

प्रकाशक—अ. भा. साधु-मार्गी जैन संघ, समता-भवन, रामपुरिया, बीकानेर । पृष्ठ सं०—१२४ । एक प्रति का मूल्य—५० पैसे।

प्रस्तुत अक मे ख्याति-प्राप्त विद्वानों के, भगवान् महावीर-सम्बन्धी निबन्ध, कथायें, एकाकी तथा कवितायें सकलित है। अनेक लेख विद्वत्तापूर्ण तथा पठनीय है।

जीवन-साहित्य—तीर्थंकर महावीर - विशेषांक । (मार्च-अप्रैल, ७५), संपादक—श्री यशपाल जैन। प्रकाशक—सस्ता-साहित्य मण्डल प्रकाशन, कनाट सर्कस, नई-दिल्ली।

प्रस्तुत विशेषाक मे भगवान महावीर से सम्बद्ध अनेक लेखों मे उपयोगी सामग्री दी गई है। महात्मा गांधी आदि अनेक सन्तो, विविध राजनेताओ, साहित्यकारो तथा विद्वानो ने अपने विद्वत्तापूर्ण लेखो में भगवान् महावीर के चरणो मे श्रद्धाजलि अर्पित की है। विशेषाक सुन्दर तथा पठनीय है।

जैन-सन्देश—शोधाक (३४), सम्पादक–डा. ज्योतिप्रसाद जैन, (फरवरी, ७५)। प्रकाशक—श्री भा० दि० जैन सघ, चौरासी, मथुरा। पृष्ठ सं०—४२, मूल्य–एक रुपया।

विगत गौरवपूर्ण परम्परा के समान, जैन-सदेश के प्रस्तुत शोधाक मे अनेक शोधपूर्ण लेख प्रकाशित किए गए है।

'महावीर-निर्वाण-काल' तथा जैन संस्कृति के प्रतीक मौर्यकालीन अभिलेख विशेषत. पठनीय है। शोधार्थी विद्यार्थियो के लिए यह अक बहुत उपयोगी है।

प्राप्ति-स्वीकृति

१. **सन्मति-वाणी**—महावीर-जयन्ती-अंक। सम्पादक—श्री नाथूलाल शास्त्री आदि। प्रकाशक—श्री दि० जैन मालवा प्रान्तिक सभा एवं मध्यप्रदेशीय दि० जैन तीर्थ-रक्षा समिति, शीशमहल, सर हुकमचन्द मार्ग, इंदौर-२

२. **जैन मिलन**—महावीर जयन्ती अक । प्रधान सम्पादक—डा० भागचन्द जैन, प्रकाशक—जैन मिलन, गाँधी चौक, सदर, नागपुर—१।

३. **महावीर - स्मारिका**—प्रधान सम्पादक—पं० परमानन्द शास्त्री। प्रकाशक—आल इण्डिया दिगम्बर-भगवान् महा वीर २५००वाँ निर्वाण-महोत्सव-सोसाइटी, लक्ष्मी नगर-शकरपुर-उपक्षेत्रीय समिति, दिल्ली।

४. **सन्मति**—श्री-महावीर-जयन्ती विशेषांक, भाषा-मराठी। (मार्च अप्रैल, ७५)। सम्पादक—श्री भा० ज० भीसीकर इत्यादि। प्रकाशक—श्री बाहुबलि ब्रह्मचर्याश्रम, सन्मति कार्यालय, बाहुबलि (कम्भोज) कोल्हापुर।

५. **श्रमणोपासक**—मई, ७५ अंक।

६ **महावीर-शताब्दी-सन्देश**—प्रकाशक—दि० प्र० भगवान महावीर २५वीं निर्वाण-शताब्दी-समिति, १४१७, महावीर-भवन, चादनी चौक, दिल्ली—६।

७. **वीर-परिनिर्वाण**—अप्रैल, ७५। प्रकाशक—भगवान् महावीर २५००वां निर्वाण-महोत्सव-महासमिति, २१०, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली—१।

८. **ऋषभ-सन्देश**—महावीर-जयन्ती-विशेषांक। प्रकाशक—ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम, चौरासी, मथुरा।

९ **सन्मति-सन्देश**—महावीर-जयन्ती-अंक। सम्पादक—श्री प्रकाश हितैषी। ५३५, गांधीनगर, दिल्ली-३१

१०. **आत्म-धर्म**—मार्च, ७५। प्रकाशक-श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट। सोनगढ (सौराष्ट्र),

११. **अहिंसा-वाणी**—अप्रैल, ७५। प्रकाशक—अ० वि० जैन मिशन, अलीगंज (एटा)।

१२. **वीर-वाणी**—(पाक्षिक) मई, ७५। सम्पादक—श्री भवरलाल जैन, मनिहारों का रास्ता, जयपुर—३।

१३. **विश्व-भारती पत्रिका**—जनवरी, मार्च, ७५। प्रकाशक—हिन्दी-भवन, विश्व भारती, शान्ति निकेतन (प० बंगाल)।

१४ **सम्यग्ज्ञान**—अप्रैल, ७५। प्रकाशक—दि० जैन त्रिलोक शोध-संस्थान, ४६१०, पहाडी धीरज दिल्ली।

१५ **तीर्थङ्कर**—फरवरी, ७५। प्रकाशक—हीरा भैया प्रकाशन' ६५, पत्रकार कालोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर-१

१६. **जिनवाणी**—मार्च, ७५। प्रकाशक—सम्यग्ज्ञान प्रचारक-मण्डल। रामलाल जी का रास्ता, जयपुर—३

१७. **जैन जर्नल**—(अंग्रेजी त्रैमासिक) प्रकाशक जैन भवन, कलकत्ता।

१८. **श्रमण**—अप्रैल, ७५। प्रकाशक—पार्श्वनाथ-विद्याश्रम शोध संस्थान। आई. टी. आई. रोड, वाराणसी—५।

१९. **वीर**—महावीर-जयन्ती-विशेषांक। सम्पादक—पं० परमेष्ठी दास जैन। प्रकाशक—अ० भा० दि० जैन परिषद, ६९, तीरगरान स्ट्रीट, मेरठ—२।

—युगेश जैन

□ □ □

काम-भोगों का स्वरूप

सल्लं कामा विसं कामा कामा आसीविसोवमा।
कामे पत्थेमाणा अकामा जंति दोग्गई॥

भावार्थ—काम-भोग शल्य (काँटा) है, विष है, और आशीविष सर्प के समान है। काम भोग के इच्छुक व्यक्ति उनका सेवन न करते हुए भी, दुर्गति को प्राप्त होते है।

सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणंतया॥

भावार्थ—सोने-चाँदी के कैलाश पर्वत के समान असंख्य पर्वत हो जाएँ तो भी तृष्णावान् मनुष्य उनसे थोड़ा-भी तृप्त नही होता। इच्छाएँ तो आकाश के समान अनन्त हैं।

□ □ □

भारतीय नारी की गौरव गरिमा की प्रतीक

श्रीमती रमा जैन का अकस्मात् देहावसान

साहित्य जगत् की अपूरणीय क्षति

सुप्रसिद्ध समाज सेविका, भारतीय संस्कृति की प्रतीक, साहित्य, कला एवं रचनात्मक कार्यों की प्राण, श्रेष्ठ श्राविका, परम विदुषी श्रीमती रमा जैन अब हमारे मध्य नहीं रहीं। २१-२२ जुलाई, १९७५ की रात्रिको २-१० पर हृदय गति रुक जाने से रमा जी का देहावसान हो गया।

प्रसिद्ध उद्योगपति तथा वीर सेवा मंदिर के अध्यक्ष श्री साहू शान्ति प्रसाद जैन की सहधर्मिणी एवं भारतीय ज्ञानपीठ की संस्थापिका-अध्यक्षा श्रीमती रमा जी का साहित्य-जगत् को अपूर्व योगदान रहा है। प्रति वर्ष एक लाख रुपये के ज्ञानपीठ पुरस्कार द्वारा भारतीय भाषाओं के श्रेष्ठ साहित्यकारों का सम्मान तो इस दिशा मे उनकी अलौकिक उदारता का जीवन्त शिलालेख है, जो भाषाओं के समान तथा समुचित मूल्यांकन के द्वारा विभिन्न भाषा-भाषी भारतीयों के एकीकरण तथा एकसूत्रण का अनूठा प्रयोग है।

श्रीमती रमाजी का जन्म सन् १९१७ में कलकत्ते में सेठ रामकृष्ण डालमिया के घर हुआ। बाल्यावस्था से ही सेठ जमनालाल बजाज के पास, वर्धा के प्रेरणाप्रद एवं राष्ट्रीय चेतना-पूर्ण तथा गांधीवादी भावनामय वातावरण में आप का लालन-पालन तथा शिक्षण हुआ। सबके प्रति समता एवं उदारतामय दृष्टि तथा अनुशासन भावना वर्धा की ही देन थी।

उनमे धर्म और दर्शन के प्रति बाल्यकाल से ही आकर्षण था। विवाहोपरान्त जैन दर्शन के प्रति विशेष आकर्षण हुआ जो अन्त में सम्यक् श्रद्धा में परिणत हो गया। फलस्वरूप, उनका सम्पूर्ण जीवन धर्म-प्रभावना, साहित्य-सेवा तथा समाज-सुधार के प्रति समर्पित रहा। गम्भीर एवं व्यापक अध्ययन से उनका मानस अप्रतिम ज्ञान-ज्योति एवं सांस्कृतिक चेतना से समृद्ध हुआ।

सन् १९४४ में वाराणसी में भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना से साहू जी तथा श्रीमती रमा जी के साहित्यिक अनुष्ठान का शुभारम्भ हुआ। 'ज्ञान की विलुप्त और अनुपलब्ध सामग्री का अनुसन्धान एव प्रकाशन तथा लोकहितकारी मौलिक साहित्य की रचना' यह था ज्ञानपीठ का पुनीत उद्देश्य। 'मूर्ति देवी ग्रन्थमाला' तथा अनेकानेक ग्रन्थ ग्रन्थरत्नों के प्रकाशन से यह उद्देश्य पूर्ण प्रतिफलित हुआ। श्रीमती रमाजी के निर्देशन में इस दिशा में जो विविध कार्य सम्पन्न हुए, वे साहित्य-जगत् के लिए गौरव एव प्रेरणा के विषय है। 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' की योजना तो इस क्षेत्र में उनके महान् कार्यों की चरम परिणति सिद्ध हुई।

भगवान् महावीर के २५००वें परिनिर्वाण वर्ष में जो अनेकानेक कार्य सम्पन्न हुए, उनके मूल मे श्रीमती रमा जी की प्रेरणा का प्रमुख स्थान रहा है। मुनि श्री विद्यानन्द जी की प्रेरणा से स्थापित 'वीर-निर्वाण-भारती' के अनेक पुरस्कार आयोजनो में भी आपका सक्रिय योगदान रहा है। समण सुत्तं' का संकलन एवं प्रकाशन अपने आप में एक अभूतपूर्व घटना है। सब सम्प्रदायों के साधु-वर्ग एवं विद्वानो के सहयोग एवं आचार्य विनोबा भावे, श्री जिनेन्द्र वर्णी एव श्रीमती रमा जैन के स्तुत्य प्रयास से ही यह महान् कार्य सम्पन्न हो सका है। जैन कला एवं स्थापत्य विषयक शोध-कार्य की स्थायी योजना, जैन-चित्र-प्रदर्शनी, 'ब्राह्मी : विश्व की मूल लिपि' नामक ग्रंथ का प्रकाशन आदि उनके अनेकानेक महत्त्वपूर्ण कार्य चिरस्मरणीय रहेंगे।

श्रीमती रमा जी सुसम्पन्न एवं सर्व समर्थ परिवारो की पुत्री तथा वधु अवश्य थी, किन्तु वस्तुतः इस सबसे परे, उनका अपने आप में परिपूर्ण, ओजस्वी, स्वयसिद्ध, समुज्ज्वल एवं स्वयंप्रभ व्यक्तित्व था।

श्रीमती रमा जी के असामयिक निधन से देश को अपूरणीय साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक क्षति हुई है। 'अनेकान्त-परिवार' इस अति दुःखद घटना से अत्यन्त शोकाकुल है तथा श्रीमती रमा जी के समस्त सत्कृत्यों एवं पुनीत कार्यों का पुण्य स्मरण करते हुए, भगवान् जिनेन्द्र से प्रार्थना करता है कि दिवगत आत्मा को सुगति तथा शान्ति प्राप्त हो तथा शोकार्त साहू परिवार को इस अपार क्षति एवं भीषण दुःख को सहन करने का बल एव धैर्य प्राप्त हो।

—सम्पादक

परम विदुषी श्राविका स्व० श्रीमती रमा जैन

(१९१७ - १९७५)
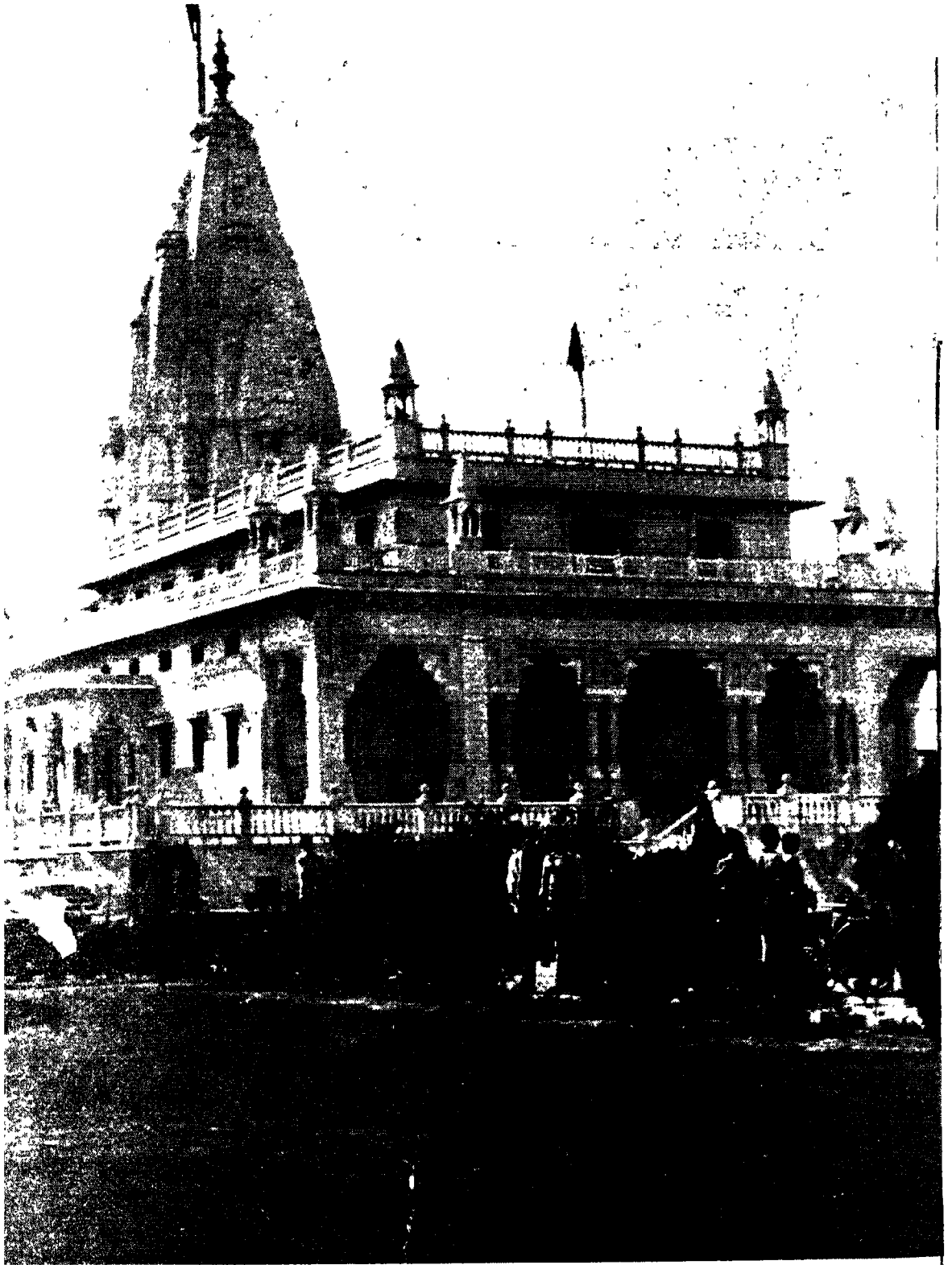
श्री महावीर जिन मन्दिर, जैन नगर, फिरोजाबाद (उ० प्र०) (स्थापित : सेठ छदामी लाल जैन ट्रस्ट